Foreword

It gives me pleasure to introduce this book to the students preparing for the B. A. Examination of our Universities. It has been written with care and assiduity and is in my opinion strictly in keeping with the requirements of the undergraduates. The author is a close student of political Science and, as was expected, he has brought scholarship and experience to bear upon this work. I have no doubt that this book provides, within a short compass, almost all that the B. A. students are required to know on this subject.

A. L. Srivastava.

दो शब्द

अपनी पुस्तक 'फ्राम डायर्की टु सेल्फ़ गवर्नमेण्ट' का हिन्दी संस्करण आज मैं राजनीतिशास्त्र के विद्यार्थियों के सन्मुख उपस्थित करने का दुस्साहस कर रहा हूँ। इसका प्रथम संस्करण सन् १९५० में अँगरेज़ी में प्रकाशित हुआ था और कुछ समय पश्चात ही इसे आगरा यूनीवर्सिटी ने बी. ए. के छात्रों के हेतु राजनीति शास्त्र के तृतीय प्रश्न पत्र की पाठ्य पुस्तक के रूप में स्वीकृत किया। इसका द्वितीय संस्करण हिन्दी में प्रकाशित करने पर मैं किसी प्रकार की क्षमायाचना की आवश्यकता का अनुभव नहीं करता क्योंकि किसी विदेशी भाषा को संजोए रखने की अपेक्षा मातृ भाषा के कलेवर का सौन्दर्य बढ़ना अधिक उत्तम है। आज जब कि भारतवर्ष हिन्दी भाषा को राष्ट्रीय भाषा बनाने का भगीरथ प्रयत्न कर रहा है और जब विद्यार्थी वर्ग अपनी मातृ भाषा द्वारा अध्ययन के लाभ और सुविधा का अनुभव कर रहा है, मुझे विश्वास है कि शिक्षित समाज में मेरी पुस्तक के इस हिन्दी संस्करण को अवश्य अपनाया जाएगा।

जैसा कि पुस्तक के पढ़ने पर ज्ञात होगा मैंने अपनी पुस्तक के इस हिन्दी संस्करण को उत्तम बनाने की भरसक चेष्टा की है। मुझे पूर्ण आशा है कि यह संस्करण प्रथम संस्करण से कहीं अधिक उत्तम और लाभदायक सिद्ध होगा। समस्त पुस्तक को दोहराया गया है—विशेष रूप से नवीन संविधान को। इस बात का अकथ प्रयत्न किया गया है कि पुस्तक में नवीन से नवीन विकास की ओर संकेत हो। इसी लक्ष्य की प्राप्ति के हेतु सन् १९५० के विधान (प्रथम संशोधन) एक्ट की धाराओं की व्याख्यात्मक आलोचना की गई है और सन् १९५२ के प्रतिबन्धक अवरोध एक्ट के ...ीय संशोधन की धाराएँ भी अनुक्रमणिका में दे दी गई हैं। शेख़ अब्दुल्ला और ...र नेहरू की सरकारों के मध्य हुए समझौते की शर्तें भी दी गई हैं जिनके आधार ...श्मीर भारतीय संघ में सम्मिलित हुआ है। साइमन कमीशन से गोलमेज़ तक के वैधानिक विकास पर भी एक अध्याय बढ़ा दिया गया है।

जैसा कि पुस्तक के शीर्षक से ज्ञात होता है, मैंने इसमें सन् १९१९ से सन् ...क के भारतवर्ष के वैधानिक विकास की विश्लेषणा की है। हमारे वैधानिक ... के तीन महान स्तम्भों की—सन् १९१९ का एक्ट, सन् १९३५ का एक्ट और ...िधान—पूर्ण और आलोचनात्मक विश्लेषणा की गई है। इस वैधानिक विकास

सम्पादन में सहयोग दिया। विशेष रूप से मैं अपने पूज्य गुरू डाक्टर आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव के प्रति अनुगृहीत हूँ जिन्होंने समय-समय पर अपनी अमूल्य सम्मति प्रदान की और इस पुस्तक का प्राक्कथन लिखने का कष्ट किया। इतिहास की आराधना में रत होने के कारण वे अपने सहयोगियों और विद्यार्थियों के लिए सदैव ही ज्ञान के एक स्रोत के रूप में हैं। मैं डाक्टर ब्रजमोहन शर्मा के प्रति भी अनुगृहीत हूँ जिनकी सम्मति के प्रति मेरे हृदय में अत्यन्त आदर है। डाक्टर एस. पी. भार्गव, डाक्टर वी. पी. एस. रघुवंशी तथा प्रोफेसर जी. के. वराना की अमूल्य सम्मतियों के लिए भी मैं उनका हृदय से आभारी हूं। मैं अपने विद्यार्थी श्री महेश रावत के प्रति अत्यधिक आभारी हूँ जिन्होंने इस पुस्तक को हिन्दी रूप प्रदान करने मे अमूल्य सहायता प्रदान की। उन्होंने इस पुस्तक की भाषा को सँवारने और अलंकृत करने में अत्यधिक रुचि से कार्य किया। सत्य तो यह है कि उनकी लेखनी के स्पर्श बिना इस पुस्तक का यह हिन्दी संस्करण असम्भव सा ही था। इस पुस्तक के प्रस्तुत करने में मै श्री द्वारका-विहारी माथुर और श्री सुमतप्रकाश जैन के प्रति भी आभारी हूँ। मैं अपनी भगिनी सरस्वती, शीला और राजरानी के प्रति भी अनुगृहीत हूँ जो मुझे सदैव ही साहित्य सेवा की ओर उन्मुख करती रहती हैं। अन्त में मैं अपने विद्यार्थियों के प्रति आभारी हूँ जिनके वास्तविक प्रोत्साहन से ही यह पुस्तक लिखी जा सकी।

अपने पाठकों के प्रति इन शब्दों को मैं इसी आशा के साथ समाप्त करता हूँ कि यह पुस्तक विद्यार्थियों के लिए लाभदाययक सिद्ध हो सके जो वास्तव में विचार और साहित्यिक प्रयत्न के कर्त्ता हैं।

आगरा कालिज,
आगरा।
८ सितम्बर, सन् १९५२

लेखक

की विस्तृत ऐतिहासिक पूर्वपीठिका भी दी गई है जिसका काल सन् १६०० से सन् १९१९ तक है इनके अतिरिक्त देशी राज्यों के भारतीय संघ में एकीकरण पर भी विचार किया गया है।

इस पुस्तक के लिखने में मैंने ज्ञान के अनेक महत्त्वपूर्ण और गौण स्रोतों से सूचना ली है। इस हेतु मैं अपने में मौलिकता का तनिक भी गर्व नहीं करता और उन समस्त लेखकों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिनके ग्रन्थों से मैंने सहायता ली है। मेरी आकांक्षा तो यही है कि इन संकेतों के अध्ययन से विद्यार्थी ज्ञान के इन अमर और मौलिक स्रोतों की ओर भी उन्मुख हों और ज्ञान के उच्चतम शिखर पर पहुँच सकें। यदि कुछ विद्यार्थियों को भी इससे प्रोत्साहन मिल सका तो विद्यार्थियों की सेवा कर मैं अपने को धन्य समझूँगा।

इस विषय की विवेचना करते समय मैंने अपना दृष्टिकोण व्याख्यात्मक और आलोचनात्मक दोनों ही रखा है। ज्ञान के इन दोनों दृष्टिकोणों को मैंने समान महत्त्व प्रदान किया है। मेरा विचार है कि किसी विषय को भली प्रकार समझने के हेतु उस विषय की विश्लेषणा अत्यन्त आवश्यक है—मौलिक विचार इसके पश्चात् ही उत्पन्न हो सकते हैं—और आलोचना मौलिक विचार धारा की प्रत्यक्ष सहायक है। जहाँ तक नवीन संविधान का प्रश्न है मैंने उसके सम्पूर्ण बहिष्कार और देव समान स्तुति का मध्य मार्ग ग्रहण किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्वतन्त्र भारत के निवासियों का यह प्रशंसनीय प्रयत्न है। परन्तु यह कहना भी इतना ही सत्य है कि एक मानव-कार्य होने के नाते यह भी पूर्ण नहीं। परन्तु इसकी अपूर्णता से हमें निराश नहीं होना चाहिए, क्योंकि विश्व के समस्त विधानों के समान इसका विकास भी समय रूपी चरखे पर ही होगा। यदि इस पुस्तक के अध्ययन से विद्यार्थी अपनी मातृ भूमि के विधान के प्रति अपने में आलोचनात्मक प्रवृत्ति और संतुलित प्रेम का विकास कर सकें तो लेखक अपना परिश्रम सफल समझेगा।

इस पुस्तक में हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन और वैधानिक विकास के सम्बन्ध पर भी विचार किया गया है। मैंने यही मत स्थिर किया है कि हमारा वैधानिक विकास हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन के विजयस्वरूप ही है। क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता कि हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन सुव्यवस्थित था, कि भारतमाता के वैरागी पुजारियों का कार्य इस राष्ट्रीय आन्दोलन की लपटों के मध्य में सुगठित और विकासकर था। इससे स्वतन्त्र भारत के युवकों को इस बात का साहस और प्रोत्साहन मिल सकता है कि अपनी मातृ भूमि की सेवा में वह भी अग्रसर हों।

अन्त में उन व्यक्तियों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करना मैं अपना पावन कर्त्तव्य समझता हूँ जिन्होंने अपनी अमूल्य सहायता द्वारा मुझे इस कार्य के

सम्पादन में सहयोग दिया। विशेष रूप से मैं अपने पूज्य गुरु डाक्टर आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव के प्रति अनुगृहीत हूँ जिन्होंने समय-समय पर अपनी अमूल्य सम्मति प्रदान की और इस पुस्तक का प्राक्कथन लिखने का कष्ट किया। इतिहास की आराधना में रत होने के कारण वे अपने सहयोगियों और विद्यार्थियों के लिए सदैव ही ज्ञान के एक स्रोत के रूप में हैं। मैं डाक्टर व्रजमोहन शर्मा के प्रति भी अनुगृहीत हूँ जिनकी सम्मति के प्रति मेरे हृदय में अत्यन्त आदर है। डाक्टर एस. पी. भार्गव, डाक्टर वी. पी. एस. रघुवंशी तथा प्रोफेसर जी. के. घराना की अमूल्य सम्मतियों के लिए भी मैं उनका हृदय से आभारी हूं। मैं अपने विद्यार्थी श्री महेश रावत के प्रति अत्यधिक आभारी हूँ जिन्होंने इस पुस्तक को हिन्दी रूप प्रदान करने मे अमूल्य सहायता प्रदान की। उन्होंने इस पुस्तक की भाषा को सँवारने और अलकृत करने में अत्यधिक रुचि से कार्य किया। सत्य तो यह है कि उनकी लेखनी के स्पर्श बिना इस पुस्तक का यह हिन्दी सस्करण असम्भव सा ही था। इस पुस्तक के प्रस्तुत करने में मैं श्री द्वारका-विहारी माथुर और श्री सुमतप्रकाश जैन के प्रति भी आभारी हूँ। मैं अपनी भगिनी सरस्वती, शीला और राजरानी के प्रति भी अनुगृहीत हूँ जो मुझे सदैव ही साहित्य सेवा की ओर उन्मुख करती रहती है। अन्त में मै अपने विद्यार्थियों के प्रति आभारी हूँ जिनके वास्तविक प्रोत्साहन से ही यह पुस्तक लिखी जा सकी।

अपने पाठकों के प्रति इन शब्दों को मैं इसी आशा के साथ समाप्त करता हूँ कि यह पुस्तक विद्यार्थियों के लिए लाभदायक सिद्ध हो सके जो वास्तव में विचार और साहित्यिक प्रयत्न के कर्त्ता हैं।

आगरा कालिज,
आगरा।
८ सितम्बर, सन् १९५२

लेखक

विषय-सूची

चतुर्थ खंड

(भारतवर्ष का नवीन विधान)

पञ्चम खण्ड

(देशी राज्य)

——.*:——

प्रथम खण्ड

वैधानिक विकास

(सन् १६०० से सन् १९०९ तक)

पहला अध्याय

वैधानिक विकास के स्तम्भ

(सन् १७७३ से १६०६ तक)

"वन्द आँखों से ही हमें भारतवर्ष की प्राप्ति हुई थी। कभी भी किसी भी समय में अँगरेजों द्वारा इतने महत्वपूर्ण कार्य का सम्पादन इतने विलक्षण तथा अभिप्राय रहितरूप से नहीं हुआ था जितनी भारतवर्ष की विजय।"

—लॉर्ड सीले

यद्यपि यह कथन असत्य का प्रतिपादन करता है, परन्तु फिर भी इसमे सत्य का आभास है। यदि हम इस वात पर एक पल के लिए भी विश्वास करें कि भारतवर्ष में ब्रिटिश साम्राज्य का निर्माण अन्धे की खोज ही था, तो ऐसा करना इतिहास को ही असत्य सिद्ध करना है। इसके विपरीत यह साम्राज्य निपुण एव दूरदर्शी राजनीतिज्ञता का, जो समय-असमय क्रूर और अमानुषिक रूप धारण कर लेती थी, परिणाम था। यह साम्राज्य क्लाइव, वारेन हेस्टिग्ज, वेलेज़ली, लॉर्ड डलहौज़ी आदि इसी प्रकार के अन्य महान् साम्राज्यवादियों की ओजपूर्ण देशभक्ति के सतत प्रयत्नों का निश्चित एव वांछित फल था। वस्तुत. ब्रिटिश साम्राज्य का निर्माण भारतवर्ष मे उस दृढ़ भवन के समान हुआ था जिसकी एक-एक ईंट वडे सोच-विचार के पश्चात् तथा अर्थपूर्ण अतर्दृष्टि के साथ रखी गई थी। परन्तु इतना तो सत्य ही है कि प्रारम्भ मे जब अँगरेज़ों ने पूर्व के साथ व्यापार करने का निश्चय किया था तब उनकी दृष्टि मे भारतवर्ष व्यावसायिक दृष्टिकोण से स्वर्ण से पूर्ण एक काल्पनिक स्वर्ग ही था। उस समय उनका ध्येय राजनैतिक अभ्युदय न होकर केवल व्यापारमात्र ही था।

सन् १६०० में इंगलैंड की महारानी एलिज़ाबेथ ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी (East India Company) को पूर्व मे व्यापार करने के लिए पन्द्रह वर्ष की

---

[1] "Our acquisition of India was made blindly Nothing great that has ever been done by Englishmen was done so unintentionally, so accidentally, as the conquest of India."

—Lord Seeley.

अवधि का एक 'आज्ञापत्र' (Charter) प्रदान किया। निश्चय ही वह क्षण उनके लिए शुभ और मगलमय था। भारतवर्ष मे प्रवेश करने के कुछ समय पश्चात् ही ईस्ट इण्डिया कम्पनी के इन व्यापारियो को मुगल-काल की पतनावस्था और उस समय के अव्यवस्थित, खण्डित तथा पारस्परिक युद्धो मे फँसे हुए दुर्बल भारतवर्ष ने विजेता बनने को भी लालायित किया। देश की हीन राजनैतिक अवस्था से लाभ उठाकर यह व्यापारी ही कालान्तर मे शासक बन बैठे।

आज्ञापत्र के अनुसार ईस्ट इण्डिया कम्पनी पन्द्रह वर्ष तक व्यापार करने के लिए अधिकृत थी। और यह भी सम्राट (Crown की विशेष आज्ञा के पश्चात ही सम्भव हुआ था। इस आज्ञा-पत्र से यह स्पष्ट है कि भारतवर्ष मे किए गए ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रत्येक कार्य पर सम्राट (Crown) का ही प्रभुत्व और सत्ता थी। आरम्भ से ही अँगरेज़ अधिकारी सम्राट (Crown) की सत्ता और उसमे स्थित स्वत्वों का प्रयोग करने के लिए अवसर की खोज में रहते थे। वे यह समझते थे कि सावधानी के साथ अधिकारों का उचित और सामयिक प्रयोग अन्त मे शक्ति का रक्षक सिद्ध होता है। वे इस बात में भी विश्वास करते थे कि शक्ति का प्रयोग लाभ के लिए ही होना चाहिए। इसी कारण आज्ञापत्र के नवीनकरण पर वे कम्पनी के शासन में हस्तक्षेप करते रहते थे। कम्पनी की आर्थिक अवस्था अच्छी नहीं थी और उसका शासन भी अव्यवस्थित था। इस कारण उसे पार्लियामेंट से समय-समय पर सहायता माँगनी पडती थी। इस सहायता के बदले में ही पार्लियामेण्ट धीरे-धीरे कम्पनी के कार्यों में इस प्रकार हस्तक्षेप करने लगी कि स्वय कम्पनी को भी उसका प्रत्यक्ष रूप से अनुभव न हुआ। इ गलैंड की सरकार का मुख्य उद्देश्य था राज्य विस्तार। इसी महत्वाकॉक्षा ने इस हस्तक्षेप की प्रवृत्ति को और भी प्रोत्साहन दिया। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार पार्लियामेण्ट धीरे-धीरे कम्पनी के राजनैतिक कार्यक्षेत्र पर अपना प्रभुत्व स्थापित करती गई। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार धीरे-धीरे भारतवर्ष के सम्राट (Crown) के अन्तर्गत आने के पूर्व शासनाधिकार गवर्नर जनरल के हाथों में केन्द्रित होता गया।

इस विकास के इतिहास का विश्लेषण निम्नलिखित सामयिक विभागों द्वारा किया जा सकता है —

(१) व्यापार काल (१६०० से १७६५)

इस काल का आरम्भ सन् १६०० ई० में दिए गए एलिज़ाबेथ के आज्ञा-पत्र (Charter) से होता है। इस काल में कम्पनी का स्वरूप विशेष तथा स्पष्ट रूप से व्यापारी था। किसी भी प्रदेश की सत्ता उनके हाथों में नहीं आई थी। सन १७६० में बर्दवान, मिदनापुर तथा चिटगाव के प्रदेश अधिकार में आने से कम्पनी एक विशाल प्रदेश की अधिकारिणी बन बैठी। और इस प्रकार इस प्रथम काल की

समाप्ति सन् १७६५ मे कम्पनी को 'दीवानी' मिल ने परमानी जा सकती है जब कि बगाल, बिहार और उडीसा का शासन वास्तविक तथा अधिकृत रूप से उसके हाथों में आया।

(२) प्रादेशिक सत्ता का काल (१७६५ से १८५८)

सन् १७६५ से सन् १८५८ तक के इस काल में कम्पनी प्रादेशिक शासक के रूप में रही। सम्राट (Crown) के साथ उसने राजसत्ता का उपभोग तो किया परन्तु उसकी सत्ता प्रतिदिन कम ही होती गई और अन्त में उसके व्यापारिक स्वरूप तथा अधिकारों का अस्तित्व ही मिट गया।

परिणामस्वरूप इस काल मे निम्नलिखित एक्ट पास किए गए :—

(१) लार्ड नार्थ का रेग्यूलेटिंग एक्ट (सन् १७७३)[1]
(२) पिट का इण्डिया एक्ट (सन् १७८४)[2]
(३) चार्टर एक्ट (सन् १७९३)[3]
(४) चार्टर एक्ट (सन् १८१३)[4]
(५) चार्टर एक्ट (सन् १८३३)[5]
(६) चार्टर एक्ट (सन् १८५३)[6]

(१) लार्ड नार्थ का रेग्यूलेटिंग एक्ट (सन् १७७३)

इस तालिका मे प्रथम मुख्य एक्ट सन् १७७३ का था। सर सी. इलबर्ट के शब्दों में इस एक्ट के साथ ही "प्रथम वार भारत सरकार के कार्यों मे पार्लियामेंट का हस्तक्षेप प्रत्यक्ष रूप से हुआ।"[7] इस एक्ट का सार इस की निम्नलिखित धाराओं के अध्ययन से भली प्रकार स्पष्ट हो सकता है :—

(अ) इस एक्ट के अनुसार यह निश्चय हुआ कि भारत की वार्षिक आय का व्योरा आय की प्राप्ति के चौदह दिन के अन्दर कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स (Court of Directors) इंग्लैंड के सरकारी कोष (Exchequer) में भेज देगी, तथा राजनैतिक और सेना सम्बन्धी पत्र आदि भी नियुक्त किए गए सेक्रेटरी ऑफ स्टेट (Secretary of State) के पास भेज दिए जाएँगे।

---

1 Lord North's Regulating Act of 1773.
2 Pitt's India Act of 1784.
3 The Charter Act of 1793.
4 The Charter Act of 1813.
5 The Charter Act of 1833.
6 The Charter Act of 1853.
7 "The first direct interference of Parliament with the Government of India." —Sir. C. Ilbert.

(ब) इस एक्ट द्वारा इंग्लैंड मे स्थापित कम्पनी की व्यवस्था मे भी कुछ परिवर्तन किया गया। कम्पनी के साझीदार बनने के लिए नियत योग्यताओं में वृद्धि की गई और डाइरेक्टर्स (Directors) की अवधि भी बढा दी गई। इस प्रकार इस चार्टर (Charter) द्वारा इंग्लैंड मे कम्पनी के सगठन को स्पष्ट तथा सुगम रूप प्रदान किया गया।

(स) इस एक्ट द्वारा बगाल के गवर्नर का पद गवर्नर जनरल (Governor General) के रूप मे परिवर्तित कर दिया गया। यह भी निश्चित हुआ कि अन्य देशविभागों (Presidencies) के गवर्नर गवर्नर जनरल की अध्यक्षता में रहेंगे—विशेष रूप से युद्ध-घोषणा और सन्धि के विषय में। इस प्रकार इस एक्ट द्वारा प्राचीन पद्धति के एक मुख्य दोष का निवारण कर दिया गया जबकि तीनों देश-विभागों के गवर्नर अपने-अपने क्षेत्र में स्वतत्र रहते थे और अपने-अपने कार्यों के लिए कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स (Court of Directors) के प्रति स्वतत्र रूप से उत्तरदायी होते थे।

(द) बगाल के गवर्नर जनरल की सहायता के लिए चार सदस्यों की एक समिति (Council) का निर्माण किया गया। इन चारों सदस्यों के नाम एक्ट में दे दिए गए थे। इन सदस्यों का कार्य काल पाच वर्ष नियत किया गया। परन्तु सम्राट द्वारा इन को पदच्युत किया जा सकता था। गवर्नर जनरल समिति (Council) में बहुमत से मान्य निर्णय को स्वीकार करने के लिए बाध्य था। इस सबके द्वारा वस्तुत पार्लियामेण्ट की यही चेष्टा थी कि गवर्नर जनरल के जो कि कम्पनी का ही कर्मचारी था—कार्यों पर दृष्टि रखी जाए तथा उसके अधिकारों पर नियन्त्रण रखा जाए।

(क) एक रॉयल चार्टर (Royal Charter) द्वारा कलकत्ता में एक 'सर्वोच्च न्यायालय' (Supreme Court) की स्थापना की गई और यह निश्चय किया गया कि गवर्नर जनरल और उसकी समिति द्वारा बनाए गए प्रत्येक नियम अथवा कानून इस न्यायालय में प्रमाण स्वरूप लिखे जाया करेंगे और प्रकाशित किए जाएगे।

(ख) कर्मचारियों के वेतन में वृद्धि की गई। निजी व्यापार करना नियम विरुद्ध माना गया। घूँस अथवा भेंट (नज़र) स्वीकार करना अवैध तथा निषेध घोषित किया गया।

इस प्रकार प्रोफेसर कीथ के शब्दों में, पार्लियामैण्ट (Parliament) ने अपने अधिकार के बल पर एक ही पल में "इंगलैंड में कम्पनी की व्यवस्था बदल दी, भारतवर्ष में कम्पनी का रूप ही परिवर्तित कर दिया, भारतवर्ष में समस्त अधिकृत प्रदेशों को एक सीमा तक एक ही नियन्त्रण में कर दिया, और कम्पनी को बडे सुचारु

ढग से इंगलैंड के मन्त्रि-मण्डल के निरीक्षण तथा संरक्षण में कर दिया।"[1] इस एक्ट द्वारा भारतवर्ष में केन्द्रीय शासन की नींव भी पडी। परन्तु भारतवर्ष के लिए किसी एक विशेष ढंग की शासन व्यवस्था का निर्माण करने में यह एक्ट असफल रहा। इसके द्वारा कर्मचारियों के अधिकारों और कार्यों पर पारस्परिक निरीक्षण सम्भव हुआ। कर्मचारी एक दूसरे के कार्यों तथा नीति की आलोचना-समालोचना में लग गए। परिणामस्वरूप शासन का सुचारु तथा सरल ढंग से चलना कठिन हो गया। पग-पग पर बाधाएं उपस्थित होने लगीं और शासनप्रणाली मे उलझनें पडती गईं। मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट के शब्दों मे इस एक्ट द्वारा "शासन प्रणाली के प्राथमिक सिद्धान्तों की क्षति हुई। इसके द्वारा एक ऐसे गवर्नर जनरल की व्यवस्था की गई जो अपनी समिति के सन्मुख शक्तिहीन था, और एक ऐसी कार्यकारिणी का निर्माण किया गया जो सर्वोच्च न्यायालय के सन्मुख निर्जीव थी।"[2] इन दोषों का दिग्दर्शन अपने असफलरूप में वारेन हेस्टिंग्ज़ (Warren Hastings) के समय में हुआ। रेग्यूलेटिंग एक्ट (Regulating Act) की धाराओं से उसके हाथ-पैर बँध गए थे, वह कोई भी कार्य करने योग्य न रह गया था। विधान के इतिहास मे आज भी यह एक्ट अपूर्ण एवं असफल राजनीति और नीतिज्ञता का स्वरूप मात्र ही है।

(२) पिट का इण्डिया एक्ट (सन् १७८४)

रेग्यूलेटिंग एक्ट (Regulating Act) के पश्चात् कम्पनी के राजनैतिक क्षेत्र में हस्तक्षेप के धारा प्रवाह को अग्रसर करने वाले नियमों में पिट के इण्डिया एक्ट का अत्यधिक महत्व है। भारतवर्ष के कार्यों के सम्पादन के लिए इस एक्ट द्वारा एक 'बोर्ड आफ कमिश्नर्स' (Board of Commissioners) की स्थापना की गई जिसका नाम 'नियन्त्रक समिति' (Board of Control) रखा गया। इसके सदस्यों की सख्या ६ नियत की गई जो निम्न प्रकार थे—चान्सलर ऑफ दी एक्सचेकर (Chancellor of the Exchequer) सेक्रेटरी ऑफ स्टेट तथा चार प्रिवी कौंसिल (Privy Council) के सदस्य। इनकी नियुक्ति सम्राट द्वारा होती थी, और इनका कार्यकाल उसी की इच्छा पर निर्भर था। इस प्रकार यह पार्लियामेण्ट

---

[1] "......altered the constitution of the Company at home, changed the structure of the Company in India, subjected in some degree the whole of the territories to one supreme control in India and provided in a very efficient manner for the supervision of the Company by the ministry" —Prof. Keith

[2] It violated "the first principles of administrative machinery. It created a Governor-General who was powerless before his Council and an Executive that was powerless before a Supreme Court."

—Montague-Chelmsford Report

की ही एक समिति (Parliamentary Committee) थी। इसके अधिकार में "समस्त नियमों (Acts) की जाच और उन पर नियन्त्रण तथा भारतवर्ष के राजनैतिक एव सेना सम्बन्धी शासन और मालगुजारी सम्बन्धी कार्यों का भार सौंपा गया। व्यापार और व्यवसाय सम्बन्धी कार्यों का सम्पादन कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स (Court of Directors) और कोर्ट ऑफ प्रोप्राइटर्स (Court of Proprietors) अपनी इच्छानुसार ही करते रहे। राजनैतिक कार्यों का जहा तक प्रश्न है वहां तक यह बोर्ड के नियन्त्रण में थे। बोर्ड द्वारा स्वीकृत डायरेक्टर्स के किसी निर्णय को प्रोप्राइटर्स (Proprietors) बदल नहीं सकते थे। इस सम्बन्ध मे प्रोफेसर कीथ का कथन उल्लेखनीय है कि बोर्ड को "कम्पनी के कागज़ात आदि देखने का पूर्ण अधिकार था, कम्पनी के पास भेजे गए समस्त पत्र आदि इस बोर्ड के सम्मुख रखे जाने थे और किसी पत्र आदि का बाहर भेजना भी इसी की इच्छा पर निर्भर था, इस प्रकार के पत्रों मे किसी प्रकार का परिवर्तन इसी की स्वीकृति द्वारा हो सकता था और विलम्ब होने पर इस बोर्ड के आज्ञा पत्र डाइरेक्टर्स की अनुमति लिए बिना भी भेजे जा सकते थे।"

डाइरेक्टर्स मे से ही एक गुप्त समिति (Committee of Secrecy) का निर्माण किया गया जिसमे तीन से अधिक सदस्य नहीं हो सकते थे। जब बोर्ड कोई गुप्त समाचार भेजता था तब यह समिति अन्य डाइरेक्टर्स (Directors) को सूचना दिए बिना ही इन समाचारों को भारतवर्ष भेज देती थी।

इस एक्ट द्वारा भारत सरकार के विधान में भी कुछ परिवर्त्तन किए गए। गवर्नर जनरल की समिति (Council) के सदस्यों की संख्या घटा कर तीन कर दी गई। बम्बई और मदरास के गवर्नरों की अध्यक्षता में भी तीन सदस्यों की एक-एक समिति (Council) रख दी गई। गवर्नर जनरल और गवर्नरों को निर्णायक मत (Casting Vote) का अधिकार दिया गया। सन् १७८४ के एक्ट द्वारा भारत की एकता की टूटी और असम्बद्ध शृंखला को मिलाने के प्रयत्न में और भी विकास हुआ। भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों और देशविभागों के राजनैतिक एव सेना और मालगुज़ारी सम्बन्धी कार्यों के निरीक्षण और नियन्त्रण का अधिकार गवर्नर जनरल और उसकी समिति को दिया गया। इसके अधिकार भी नियत कर दिए गए। इस प्रकार मदरास और बम्बई के गवर्नर गवर्नर जनरल के आधीन हो गए।

इस प्रकार इस एक्ट द्वारा अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गए। इस का भी वही उद्देश्य था जो रेग्यूलेटिंग एक्ट (Regulating Act) का, अर्थात् बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल (Board of Control) की स्थापना द्वारा कम्पनी के कार्यों में सम्राट (Crown) के हस्तक्षेप का विस्तार। इसी के द्वारा एक प्रकार से

हरे शासन की स्थापना हुई। इस सम्बन्ध में सर सी. इलबर्ट का कथन उल्लेखनीय है कि, "कोर्ट ऑफ प्रोप्राइटर्स के मुख्य अधिकार लुप्त हो गए क्योंकि बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल द्वारा स्वीकृत कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स के कार्य क्रम मे किसी प्रकार का परिवर्तन करने अथवा उसे रद्द करने का अधिकार उसे न रहा।" 'भारतीय वैधानिक सुधार' की १६१८ की रिपोर्ट के लेखकों ने एक स्थान पर लिखा है, कि "हमें इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाल लेना चाहिए कि बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल के सभापति के प्रधान पद के कारण डाइरेक्टर्स का कोई वास्तविक अधिकार ही नहीं रहा। उनका पद अब भी लगभग उतना ही महत्वपूर्ण था। किसी कार्य को प्रारम्भ करने का अधिकार सामान्यतया इन्हीं को था। शासन से सम्बन्धित प्रत्येक बात को यह जानते थे, और यद्यपि शासन प्रबन्ध का पूर्ण उत्तरदायित्व सरकार पर ही था, परन्तु फिर भी शासन प्रबन्ध में इनका अत्यधिक प्रभाव था।"[1] परन्तु इतना अवश्य है कि सन् १७८४ के एक्ट द्वारा भारतवर्ष के शासन प्रबन्ध के लिए बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल (Board of Control) और कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स (Court of Directors) दो स्वतंत्र संस्थाओं की स्थापना हुई और भारत से सम्बन्ध रखने वाले कार्यों पर कम्पनी का पूर्ण और अन्तिम नियन्त्रण न रहा। पिट का इण्डिया एक्ट (Pitt's India Act of 1784) भारत के वैधानिक इतिहास में अपना एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है, क्योंकि, जैसा कि सर सी इलबर्ट ने कहा है कि "जटिल और अवरोध-प्रतिरोध की विस्तृत कार्य प्रणाली से पूर्ण सन् १७८४ के पिट के एक्ट द्वारा स्थापित द्वैत शासन का प्रभाव १८५८ तक रहा, यद्यपि उसमें समयानुकूल कुछ सुधार अवश्य होते रहे।"[2] यहां यह बात ध्यान में रखने की है कि इस एक्ट के द्वारा यद्यपि कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स (Court of Directors) को पूर्ण रूप से बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल (Board of Control) के नियन्त्रण मे रख दिया गया था, फिर भी डाइरेक्टर्स को संरक्षण

---

[1] "We must not conclude, however, that the Supremacy of the President of the Board of Control left the Directors with no real control Their position was still a strong one, the right of initiative still rested ordinarily with them, they were still the main repository of knowledge and though the legal responsibility lay with Government they exercised to the last a substantial influence upon details of administration."

—Report on Indian Constitutional Reforms, 1918.

[2] "The double Government established by Pitt's Act of 1784 with its cumbrous and dilatory procedure and its elaborate system of checks and counter-checks, though modified remained substantially in force until 1858"

—Sir C. Ilbert.

और सशोधन के अधिकार प्राप्त थे। इस प्रकार भारतवर्ष से सम्बन्धित कार्यों में उनका भाग महत्वपूर्ण था।

(३) चार्टर एक्ट (सन् १७९३)

अन्य एक्ट के अनुपात मे इस एक्ट का अधिक महत्व नहीं। इस एक्ट द्वारा कम्पनी के राजनैतिक कार्यक्षेत्र में सम्राट (Crown) के हस्तक्षेप का और भी विस्तार हुआ। इस एक्ट की धाराओ के अनुसार यह भी निश्चित हुआ कि भविष्य में गवर्नर जनरल, गवर्नर तथा प्रधान सेनानायक (Commander-in-Chief) की नियुक्ति के अवसर पर इंगलैंड के सम्राट की स्वीकृति आवश्यक होगी।

(४) चार्टर एक्ट (सन् १८१३)

भारतवर्ष के वैधानिक इतिहास में सन् १८१३ के चार्टर एक्ट का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसके द्वारा सम्राट (Crown) की प्रधानता एक महत्वपूर्ण सीमा तक स्वीकार की गई। इस सम्बन्ध में एक्ट की भूमिका (Preamble) अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उसमें इस बात के औचित्य पर ज़ोर दिया गया कि भारतमें जीते हुए प्रदेश और उनकी मालगुज़ारी आदि अभी कम्पनी के अधिकार में ही रहने दिये जाएँ, परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से स्थापित सयुक्त राज्य (United Kingdom) के सम्राट (Crown) की सत्ता पर किसी प्रकार का आक्रमण न हो।

यदि हम इस एक्ट के पूर्व-इतिहास का अध्ययन करें तो भूमिका के यह शब्द अत्यन्त अर्थपूर्ण प्रतीत होंगे। इस एक्ट के पूर्व भारतवर्ष में कम्पनी के कार्यों का विशेष छिद्रान्वेषण हुआ था। लार्ड वेलेज़ली की राज्य-अपहरण की पुष्ट नीति (१७९८-१८०५) ने कंपनी को आर्थिक सकट में फँसा दिया था। इसलिए सन् १८०८ में लोक सभा (House of Commons) में से एक समिति (Committee) की नियुक्ति की गई। अन्य बातों के अतिरिक्त इस समिति का कार्य उन परिस्थितियों की खोज करना था जिनके द्वारा इन सकटों से कुछ मुक्ति मिलना सम्भव हो सके। इस अनुसन्धान की रिपोर्ट जुलाई सन् १८१२ में 'Fifth Report' के नाम से प्रकाशित हुई। इस अनुसन्धान की समाप्ति तक कम्पनी के आज्ञापत्र के नवीनकरण का समय भी आ गया। उसी समय भाग्यवश योरप में व्यावसायिक सकट का दुरागमन हुआ। अँगरेज़ व्यापारियों के लिए योरप के बन्दरगाह के द्वार नेपोलियन ने बन्द करवा दिए थे। इस सकट पर विजय पाने के लिए अँगरेज़ व्यापारियों की दृष्टि एशिया के बन्दरगाहों पर गई। इस सकट से छुटकारा मिलना तभी सम्भव था जब उन्हें एशिया के बन्दरगाहों में जाने की आज्ञा मिल जाती। सन् १८११ के अन्तिम वर्षों में लॉर्ड मैलविल ने बड़ी कुशलतापूर्वक इन व्यापारियों की लाभ-हानि का निदर्शन करते हुए निर्णयात्मक ढग से कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स

(Court of Directors) से कहा था कि वर्त्तमान क्रम को अग्रसर करने के लिए तत्कालीन मन्त्रि-मण्डल पार्लियामेण्ट से उस समय तक प्रार्थना नहीं करेगा जब तक कि उन्हे इस बात का निश्चय न हो जाए कि स्वतन्त्र व्यापारियों को भी भारत से व्यापार करने की स्वतन्त्रता होगी यद्यपि इसके लिए कुछ उचित तथा न्यायसिद्ध नियम बनाए जाएँगे। परिणाम यह हुआ कि कम्पनी को अपने अधिकारों की रक्षा के लिए कठोर चेष्टाएँ करनी पड़ीं। अपने पक्ष मे उन्होंने निम्नलिखित तर्क उपस्थित किए :—

(अ) कि उनकी राजनैतिक सत्ता और व्यावसायिक अधिकारों का पृथक्करण नहीं हो सकता ;

(ब) कि उनके एकाधिकार पर ही उनके व्यापार का लाभ आश्रित है ;

(स) कि यदि व्यापार द्वारा उनके लाभ का अन्त कर दिया जायगा तो केवल मालगुज़ारी से देश का शासन करना सम्भव नहीं ;

(द) कि यदि योरप निवासियों का भारतमें जाना सीमित न रखा गया तो अनेक राजनैतिक सकट उत्पन्न होने लगेंगे। इन सकटों की भयानकता और अप्राकृतिकता का निर्देश वारेन हेर्टिंग्स ने अपनी सम्मति में निम्नलिखित शब्दों में किया है, "यदि योरॅप निवासियो को देश में साधारण रूप से इसी प्रकार प्रवेश करने और वहाँ के निवासियों के साथ सम्पर्क स्थापित करने तथा उनके बीच बसने दिया गया तो इसका परिणाम निश्चय रूप से देश के लिए घातक सिद्ध होगा ; ये लोग वहाँ के निवासियों का अनादर करेंगे, उन्हें लूटेंगे, उन पर अत्याचार करेंगे। अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए वह ऐसे कार्य करेंगे जो नियम विरुद्ध होंगे, और जिन्हें यहाँ का कोई कानून अथवा नियम किसी प्रकार भी नहीं रोक सकेगा। इसमे देश की सरकार के प्रति शत्रुता की भावना जाग्रत हो जायगी, और यद्यपि किसी भी सार्वजनिक विद्रोह को नष्ट करने के लिए वहाँ आवश्यकता से अधिक सेना हो—फिर भी असन्तुष्टता की भावना से साम्राज्य की स्थिरता को भय ही रहेगा।"

इसके विपरीत पूर्व के साथ स्वतन्त्र व्यापार की इच्छा करने वाले प्रार्थियों ने अपने पक्ष को बलशाली बनाने के लिए अनेक तर्क उपस्थित किए। उन्होंने कहा कि कम्पनी के इस एकाधिकार के नष्ट करने का तात्पर्य होगा :—

(अ) अँगरेज़ी व्यवसाय और व्यापार की उन्नति ;

(ब) योरप और अमरीका के विभिन्न देशों से होने वाले भारतीय व्यापार का अन्त ;

(स) व्यापार के व्यय में कमी, विशेष रूप से माल के लाने ले जाने और उसे रखने के गोदामों के व्यय में ;

(द) इंग्लैंड में भारत से आने वाले कच्चे माल के मूल्य में कमी।

अन्तत इस विवाद का निश्चय यही हुआ कि अंगरेज व्यापारियों को भारत से व्यापार करने की आज्ञा तो दे दी जाए परन्तु उन पर कड़े प्रतिबन्ध लगा दिए जाएँ। यह समझौता इस बात का प्रमाण है कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी पर सम्राट (Crown) का पूर्ण प्रभुत्व था। कम्पनी के व्यापारियों ने उस समय यही नैराश्यपूर्ण निष्कर्ष निकाला होगा कि यदि आज सम्राट और पार्लियामेण्ट (King-in-Parliament) अपने तनिक से संकेत मात्र से कम्पनी के व्यापार का एकाधिकार नष्ट कर सकते है तो कल वे भारत के कार्यों और प्रदेशों पर से भी उसका अधिकार हटा सकते है। इस प्रकार एक्ट की उपर्युक्त भूमिका ने कम्पनी के पराभव को और भी दृढ कर दिया।

सम्राट (Crown) की इस प्रामाणिक सत्ता का दिग्दर्शन कराने के अतिरिक्त इस एक्ट का बहुत थोड़ा वैधानिक महत्व है। इस एक्ट द्वारा शासन प्रबन्ध में थोड़े बहुत परिवर्तन भी किए गए। सरकारी कर्मचारियों की भरती और उनकी प्राथमिक शिक्षा में भी कुछ सुधार किए गए। भारतवर्ष में शिक्षा के प्रचार और प्रसार के लिए प्रति वर्ष एक लाख रुपया व्यय करने का आयोजन किया गया। इसी अन्तिम धारा से भारत में पाश्चात्य शिक्षा के विकास को प्रोत्साहन मिला। पाश्चात्य शिक्षा ने एक ओर तो भारत के निवासियों को पाश्चात्य संस्कृति का अनुकरण कर्त्ता मात्र बना दिया, और दूसरी ओर इसी पाश्चात्य शिक्षा ने भारतीयों को स्वतत्रता समानता और स्वराज्य के आदर्शों से परिचित कराकर उनके हृदय में राष्ट्रीयता की भावना की अग्नि प्रज्वलित की।

(५) चार्टर एक्ट (सन् १८३३)

इस वैधानिक विकास की अन्तिम सीढ़ी है सन् १८३३ का चार्टर एक्ट। इस एक्ट के महत्व का प्रतिपादन लॉर्ड मार्ले जैसे व्यक्ति ने किया है। लॉर्ड मार्ले इस एक्ट को "मिस्टर पिट के सन् १७८४ के प्रसिद्ध एक्ट और महारानी विक्टोरिया के भारत सरकार को अपने अधिकार में लेने के मध्यकाल का अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रस्ताव मानते हैं इस काल में इसके समान कोई अन्य महत्वपूर्ण एक्ट नहीं।"[1]

जिस पृष्ठभूमि में इस एक्ट ने जन्म ग्रहण किया था उसके ज्ञान से इस एक्ट का महत्व भली प्रकार जाना जा सकता है। लॉर्ड बेंटिंक ने भारतवर्ष में

---

1 "Most extensive measure of Indian Government between Mr Pitt's famous Act of 1784 and Queen Victoria's assumption of the Government of India there is nothing so important as that Act"
—Lord Morley

पाँच वर्ष तक शान्ति के साथ शासन किया था। इंग्लैंड की परिस्थितियों में भी अभूतपूर्व परिवर्तन हो गए थे। स्थान-स्थान पर उदार भावनाओं और विचारों का बोल-बाला था। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का प्रचार जोर-शोर के साथ किया जा रहा था। जनता के मस्तिष्क में मानव के अधिकार का सिद्धान्त घर करता जा रहा था। लोग सुधारों के लिए चिल्ला रहे थे। रिफार्म एक्ट (Reform Act), जो उसी समय के लगभग पास हुआ था, व्हिग (Whig) दल की उदारता और सिद्धान्तों की स्पष्ट छाप लिए हुए था।

सन् १८३३ के चार्टर एक्ट पर भी इन उदार सिद्धान्तों की स्पष्ट और गहरी छाप थी। इस एक्ट द्वारा ईस्ट इण्डिया कम्पनी के एकाधिकार नष्ट किए गए, राजनैतिक और व्यापारिक क्षेत्रों को पृथक् किया गया; तथा शासन को और भी सुगठित तथा केन्द्रित करने का प्रयत्न किया गया। यही इस एक्ट के महत्त्व की मुख्य-मुख्य धाराएँ थीं।

इस एक्ट की मुख्य धाराओं को संक्षेप में निम्नलिखित रूप से रखा जा सकता है:—

(१) इस एक्ट द्वारा यह निश्चय किया गया कि कम्पनी अपनी सुविधानुसार शीघ्रातिशीघ्र अपने व्यावसायिक क्षेत्र को समाप्त करे। इस धारा से जैसा कि मिस्टर चार्ल्स ग्रान्ट एम० पी० (Mr Charles Grant M P.) ने कहा था, "व्यापारी और शासक के एक स्वरूप को" नष्ट करना था। बकिंघम (Buckingham) जैसे अनेक आलोचकों को यह "अनर्थक एवं असंगत" प्रतीत होता था कि "ऐसे विशाल साम्राज्य का शासन प्रबन्ध साझीदारों की एक व्यापारिक संस्था के हाथों में छोड़ दिया जाए।"[1] यहाँ यह बात ध्यान में रखने की है कि इस एक्ट द्वारा तुरन्त ही व्यापारिक क्षेत्र की समाप्ति सम्भव नहीं हुई, वरन एक विलम्बी कार्य प्रणाली को ही इस एक्ट ने जन्म दिया। भारतवर्ष का शासन अब भी कम्पनी के ही हाथों में रहा, परन्तु अब उसकी दशा वही थी जो दाँतों के बीच जीभ की होती है। अब उसके कार्यों की कड़ी से कड़ी आलोचना और विरोध किया जाने लगा।

(२) इस एक्ट द्वारा यह निश्चय कर दिया गया कि भारतवर्ष में कम्पनी के प्रदेश कम्पनी के पास केवल धरोहर रूप में रहेंगे, जो इंग्लैंड के सम्राट की धरोहर मानी गई। कम्पनी भारत का शासन इंग्लैंड के सम्राट और उसके उत्तराधिकारियों के निमित्त ही करेगी। इस प्रकार कम्पनी का अन्तिम समय निकट आ

---

[1] "It has appeared preposterous to leave the political Government of an immense empire in the hands of a joint stock company" Buckingham

केवल इतना ही नहीं, पार्लियामेण्ट की सत्ता को अधिक स्पष्ट करने के लिए यह भी निश्चय किया गया कि समस्त भारतीय कानून लागू होने से पहले पार्लियामेंट के सन्मुख उपस्थित किए जाने चाहिए।

इस प्रकार इस एक्ट द्वारा गवर्नर जनरल भारत में सम्राट (Crown) की सत्ता का केन्द्र बन गया। भारतीय व्यवस्थापिका सभा और गवर्नर जनरल पर भी सम्राट (Crown) की सत्ता स्पष्ट रूप से स्थापित कर दी गई। इन्हीं धाराओं से भारत में एकात्मक राज्य की नींव पड़ी, जिससे भारतीयों में समान राष्ट्रीयता की भावना का विकास हुआ।

भारतीय कानूनों का विस्तृत एवं क्रमिक एकीकरण करने का विचार भी किया गया। इस एक्ट द्वारा गवर्नर जनरल और उसकी समिति को इस सम्बन्ध में निरीक्षण (commission) प्रकाशित करने का अधिकार भी दिया गया जिसका नाम "भारतीय कानून निरीक्षण" (Indian Law Commission) रखा जाना था।

(६) इस एक्ट में भारतीयों को निश्चित रूप से यह वचन दिया गया कि "भारत में इंग्लैंड के सम्राट की प्रजा का कोई व्यक्ति अपने धर्म, जन्मस्थान, वंश और वर्णभेद के ही कारण कम्पनी की नौकरी से वंचित नहीं किया जाएगा।"

(७) इस एक्ट द्वारा सरकारी कर्मचारियों को हेलीबरी (Haileybury) में स्थित कम्पनी के विद्यालय में शिक्षा प्रदान करने का आयोजन भी किया गया और इसके लिए प्रवेश भी आरम्भ कर दिए गए।

(६) चार्टर एक्ट (सन १८५३)

वैधानिक इतिहास के विकास में अगली महत्वपूर्ण सीढ़ी है सन् १८५३ का एक्ट। इस एक्ट द्वारा भारतवर्ष में एक ओर तो पृथक व्यवस्थापिका सभा का निर्माण किया गया और दूसरी ओर अप्रत्यक्ष रूप से इस एक्ट का प्रजातन्त्रात्मक प्रभाव पड़ा। इस एक्ट द्वारा भारत की अंगरेज़ सरकार ने वर्तमान सरकार का रूप धारण किया, जिसका कार्य केवल कानून बनाना मात्र न था बल्कि आगे भी बढ़ना था। वस्तुतः यह एक्ट एक प्रकार की घटना है जिसने निरकुंश शासन से अधिक प्रजातन्त्र का आस्वाद किया।

इस एक्ट का महत्व इसके विरोध के संकेत से स्पष्ट हो जायगा जो इसके पास होने के समय हुआ था। यह भी आज्ञापत्र के नवीनकरण का ही समय था परन्तु इस अवसर पर इस नवीनकरण के विरोध में एक बात बड़ी विचित्र थी। इसके पहले आज्ञापत्र के नवीन करण पर विरोध अंगरेज लोग करते थे—कभी व्यापारी, कभी वे लोग जिनके विचार मूल रूप से राजनैतिक थे अथवा वे लोग जिनमें मानवी शिष्टाचार की मात्रा कुछ अधिक थी। परन्तु इस बार इस आज्ञापत्र (Charter)

विरोध विशेषरूप से भारतवर्ष ने किया। लन्दन के हेलीबरी (Haileybury) द्यालय मे शिक्षा प्राप्त कर लेने के पश्चात् भारतीयों को यह आशा होने लगी थी कि न्हें भी उच्च पद प्राप्त होने लगेंगे। इस आशा का आधार १८३३ के एक्ट मे या हुआ अंगरेज़ सरकार का आश्वासन था। परन्तु जब उन्हें यह अनुभव हुआ यह वचन कभी व्यावहारिक रूप मे परिणत नही होगा तब उन्हें बडी निराशा ई। क्योकि बीस साल के इस समय मे (सन् १८३३ के एक्ट के लागू होने से अब क)" जैसा कि श्री सी० एल० आनन्द ने अपनी पुस्तक "भारत सरकार के तिहास का परिचय (दूसरा भाग)" में लिखा है, "किसी भी भारतीय की नियुक्ति से पद पर नही हुई है जिसके योग्य वे लोग प्रमाणित हो चुके थे। इसलिए ाभाविक रूप से भारतीयो ने अपने इस नैराश्य का उत्तरदायित्व कम्पनी पर ही ाला। उन्होंने यह निश्चय कर लिया कि अब वे कम्पनी के इस न्याय को तनिक भी सहन नहीं करेंगे। इसलिए तीनो प्रदेशों (Presidencies) निवासियो ने कम्पनी के आज्ञापत्र के नवीनकरण के विरोध में पार्लियामेण्ट ो अपने हस्ताक्षरों सहित प्रार्थना पत्र भेजे। उन्होंने अपने प्रार्थना पत्र मे म्नलिखित मांगें भी पेश की :—

(अ) द्विविध कार्य प्रणाली का अंत और उसके स्थान मे एक सेक्रेटरी ऑफ टेट की नियुक्ति तथा एक 'इण्डिया काउन्सिल' (India Council) का निर्माण जसके कुछ सदस्य चुने हुए हों और कुछ की नियुक्ति की जाए,

(ब) भारत के लिये एक पृथक व्यवस्थापिका सभा का निर्माण;

(स) गवर्नर जनरल इस भारतीय व्यवस्थापिका सभा की सम्मति से ो सब कार्य करे;

(द) प्रदेशो को प्रान्तीय स्वराज्य का स्वरूप प्रदान किया जाए;

(क) निम्न पद के कर्मचारियों के वेतन में वृद्धि और उच्च पद के र्मचारियो के वेतन मे कमी;

(ख) राज्य की नौकरियॉ इंग्लैंड के सम्राट की प्रजा के प्रत्येक सदस्य के लये खुली होनी चाहिएँ और उनमे जो व्यक्ति लिए जाएँ उसका आधार तियोगिता हो।

भोले भाले भारतीय उस समय कदाचित यह नहीं जानते थे कि भूत को गाने के लिये वे प्रेत को न्यौता दे रहे है या इस बात का ज्ञान उन्हें कुछ समय पश्चात् ी हो सका कि जो परिवर्तन किया गया वह और भी दुखदायी और उनके हित का ातक था।

२ अप्रैल सन् १८५२ को लॉर्ड डरबी ने पार्लियामेण्ट की लोक सभा में यह प्रस्ताव रखा कि भारतीय परिस्थितियों की जॉच के लिये एक "विशेष समिति"

(Select (Committee) की नियुक्ति की जाय। प्रस्ताव का एक महत्वपूर्ण अंग निम्नलिखित था —

"नीति और धर्म, परोपकार और मानवता के हित के लिए हमारा यह परम कर्तव्य है कि जितनी अधिक बुद्धिमानी और दूरदर्शिता के साथ हो सके, उतनी ही शीघ्रता से भारत के निवासियों के व्यक्तिगत एव अतर्देशीय कार्यों का अधिक से अधिक मात्रा में निरीक्षण तथा नियत्रण उनके ही हाथों में सौंप दिया जाए।"[1]

विशेष समिति (Select Committee) की रिपोर्ट के आधार पर ही सन् १८५३ का चार्टर एक्ट बना। इसकी मुख्य-मुख्य धाराएँ सक्षेप मे निम्नलिखित हैं :—

(१) सन् १८५३ के चार्टर एक्ट ने कम्पनी के अधिकारों का नवीनकरण किया। भारतीय प्रदेशों को इंग्लैंड की महारानी और उसके उत्तराधिकारियो की धरोहर के रूप में कम्पनी के पास ही रहने दिया गया। इसके अतिरिक्त भी एक महत्व-पूर्ण परिवर्त्तन किया गया। इससे पहले किसी आज्ञापत्र द्वारा कम्पनी को निश्चित अवधि के लिए व्यापार करने की आज्ञा दे दी जाती थी, उदाहरणस्वरूप १५ वर्ष के लिए। परन्तु अब इस एक्ट के अन्तर्गत भारतीय कार्यों पर कम्पनी का अधिकार उसी समय तथा उसी अवधि तक के लिए हो सकता था जितना कि पार्लियामेण्ट आज्ञा दे। इस प्रकार इस एक्ट के साथ ही कम्पनी का अन्त भी समीप ही प्रतीत होने लगा।

(२) इस एक्ट द्वारा डाइरेक्टर्स (Directors) की सख्या २४ से घटाकर १८ कर दी गई, और यह निश्चय किया गया कि इनमें से ६ सदस्यों की नियुक्ति सम्राट (Crown) द्वारा होगी।

(३) इस एक्ट के लागू होने के समय से गवर्नर जनरल बगाल का गवर्नर नहीं रहा। इस एक्ट द्वारा यह निश्चय किया गया कि बगाल के लिए एक पृथक गवर्नर की नियुक्ति की जाय। गवर्नर जनरल को डाइरेक्टर्स (Directors) और बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल (Board of Control) की आज्ञा लेकर एक लैफ्टिनेंट गवर्नर की नियुक्ति करने का अधिकार भी दिया गया।

(४) इस एक्ट का आगामी महत्वपूर्ण कार्य था समिति (Council) के कानूनी सदस्य को पूर्ण सदस्यता प्रदान करना। अब से इस सदस्य को समिति (Council) की कार्यकारिणी बैठकों में बैठने और मत देने का अधिकार भी प्राप्त हो गया।

1 "This is your bounden duty in the interests of humanityd of benevolence, and of morality and religion, that as far and as fast as you can do it safely, wisely and prudently, the inhabitants of India should be wisely entrusted with more and more of the superintendence of their own internal affairs" —Lord Derby.

(५) इस एक्ट की सबसे अधिक मुख्य धारा है भारतवर्ष के लिए पृथक धारा सभा (Legislative Council) की स्थापना करना। कानून सम्बन्धी कार्यों के सम्पादन के हेतु गवर्नर जनरल की समिति (Council) में ६ नये सदस्य और बढाए गए। इनका नाम ही कानूनी सदस्य रखा गया। अब इस समिति (Council) के सदस्यों की संख्या १२ हो गई जो कि निम्न प्रकार थे :—

गवर्नर जनरल; प्रधान सेनानायक (Commander in Chief); चार सदस्य और ६ कानूनी सदस्य;

इन ६ कानूनी सदस्यों में से २ तो कलकत्ता के सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court) के अँगरेज़ न्यायाधीश (प्रधान न्यायाधीश और न्यायाधीश) होते थे और शेष चार सदस्यों की नियुक्ति मद्रास, बम्बई, बंगाल, और आगरा की सरकारें करती थी। प्रान्तीय सरकारों के इन चारों सदस्यों को पाँच हज़ार पौंड वार्षिक वेतन दिया जाता था। परन्तु यहां यह बात ध्यान में रखने की है कि कोई भी प्रस्ताव उस समय तक कानून नही बन सकता था जब तक गवर्नर जनरल अपनी स्वीकृति प्रदान न कर दे।

इस प्रकार पहली बार भारतीय व्यवस्थापिका सभाओं में स्थानीय प्रतिनिधियों को स्थान दिया गया। इस नव जन्मित समिति (Council) का कार्य क्रम ज़बानी और प्रत्यक्ष रूप से हुआ करता था। इस व्यवस्थापिका सभा ने इस बात पर ज़ोर दिया कि भारतीयों पर शासन करने के लिए उनके जीवन का ज्ञान अत्यावश्यक है। क्योंकि जैसाकि वैधानिक सुधारों की रिपोर्ट मे लिखा है कि "समिति (Council) में कम से कम एक सदस्य ऐसा अवश्य था जो स्थानीय ज्ञान का ज्ञाता था और समिति (Council) मे कानून के सिद्धान्तों का भी विशेष विकास हो गया था।" केवल इतना ही नहीं रिपोर्ट में यह भी लिखा है कि कानून से सबधित कार्यों के अतिरिक्त समिति (Council) ने प्रजा के "दुखों का कारण ज्ञात करने और उनके निवारण के लिए एक प्रतिनिधि मण्डल का स्वरूप ग्रहण कर लिया था।" कालान्तर में समिति (Council) के इस स्वरूप और भारतीय अधिकारियों के इस कार्य को इंगलैंड के अधिकारियों ने उनकी अधिकार सीमा से बाहर का ठहराया। क्योंकि इस समिति (Council) की स्थापना करते समय उनका यह किंचित मात्र भी विचार नहीं था कि भारत सरकार को पार्लियामेंट का स्वरूप प्रदान किया जाए। परिणाम-स्वरूप सन् १८६१ का 'काउन्सिल एक्ट' (Council Act) पास किया गया जिसके द्वारा लगभग अर्ध शताब्दी तक भारतवर्ष फिर पार्लियामेण्ट के आधिपत्य में पूर्ण रूप से आ गया।

इस प्रकार जैसा कि मान्टेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट में लिखा है, "कानून बनाना सरकार का विशेष कार्य समझा गया और इसके लिए विशेष व्यवस्था एवं विशेष कार्य

ली की आवश्यकता अनुभव की गई।"[1] इसके अतिरिक्त धारा सभा (Legis-
ive Council) के विकास में इस एक्ट ने एक सीढ़ी और जोड़ दी। "सन् १८३३
कानून के एक सदस्य से विकसित यह धारा सभा (Legislative Council)
यद्यपि केवल अधिकारियों की ही एक सस्था थी" जैसा कि श्री बी० के० ठाकुर ने
लिखा है, "फिर भी इसकी बैठक आम जनता के लिए खुली हुई थी और इसका कार्य-
क्रम अधिकृत रूप से प्रकाशित किया जाता था।"[2]

(६) इस एक्ट द्वारा यह निश्चय किया गया कि बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल (Board of Control) के सदस्यों, सेक्रेटरी तथा अन्य अधिकारियों का वेतन कम्पनी दिया करे। वेतन का निश्चित करना इंग्लैंड के सम्राट का कार्य था। बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल के सभापति का वेतन किसी भी रूप से मुख्य सेक्रेटरी ऑफ स्टेट से कम न हो।

(७) इस एक्ट द्वारा भारतवर्ष में कर्मचारियों की नियुक्ति का अधिकार डाइरेक्टर्स (Directors) से छीन लिया गया और बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल (Board of Control) को इस सम्बन्ध में नियम बनाने का आदेश दिया गया। इस नियम का फल कालान्तर में प्राप्त हुआ जबकि सन् १८५४ में कर्मचारियों की भरती प्रत्यक्ष रूप से प्रतियोगिता द्वारा होने लगी, और जब १८५५ के एक्ट के अनुसार सन् १८५६ में हेलीबरी विद्यालय में प्रवेश वर्जित कर दिए गए। सन् १८५३ का एक्ट कम्पनी की प्रादेशिक सत्ता, साम्राज्य निर्माण के भव्य युग और भारतवर्ष में कम्पनी के शासन के युग का अन्तिम एक्ट है।

(३)

दरबार शासन काल (१८५८ से १९०९)

कम्पनी अपने अस्तित्व को जैसे तैसे बनाए हुए थी। कालान्तर में जार्ज कैम्पबेल (George Campbell), जे० डब्ल्यू० के (J. W. Kaya) और जॉन ब्राइट (John Bright) ने कम्पनी की शासन प्रणाली की कठोर आलोचनाएँ कीं। उदाहरणार्थ, जॉन ब्राइट ने बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल (Board of Control) और कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स (Court of Directors) के "दोहरे शासन" को "इन्द्रजाल की विधि" का नाम देकर उसकी उपेक्षा की जिसने "जनमत को छला उत्तरदायित्व को नष्ट किया और पार्लियामेण्ट के नियंत्रण को शक्तिहीन बन

1 "Legislation was for the first time treated as a special fun
tion of Government requiring special machinery and spec
process. —Montague Chelmsford Report

2 "The Legislative Council thus developed out of the sin
law member of 1833 was a purely official body , its meetings wer
be open to the public and its proceedings were to be offi
published " —Shri B K. Thakor

दिया।"[1] परंतु उस समय यह सब निष्कपट और यथार्थ आलोचनाएँ व्यर्थ सिद्ध हुईं। यह सब आलोचनाएँ खाली बेंचों और उन सदस्यो को सुनाई गई थी जो इन के प्रति उदासीन थे। क्योंकि उस समय तक जनमत अपनी उस परिपक्वावस्था तक नहीं पहुँचा था कि वह उनकी इन आलोचनाओं पर ध्यान दे सके। और जब तक जनमत की किसी विषय के प्रति गहन उत्कंठा तथा चेतना नहीं होती तब तक जनता का प्रतिनिधित्व करने वाली व्यवस्थापिका सभा (Legislative Assembly) भी उक्त विषय को उस उत्साह और लगन के साथ आगे नहीं बढ़ाती जो ऐसे विषयों के प्रतिपादन के लिए वांछनीय है। परंतु सन् १८५७ के विद्रोह के साथ-साथ कम्पनी का भाग्य भी उलट गया। "इस प्रश्न पर समस्त राष्ट्र का सद्विवेक जाग्रत हो उठा, और" जैसा कि ब्राइट ने कहा है, "एक दुर्निवार्य अन्तः प्रकृति एवं अन्तर्जात प्रवृति से प्रेरित होकर उन्होंने अत्यन्त शीघ्र ही यह निष्कर्ष निकाला कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी को समाप्त कर दिया जाना चाहिए।"[2]

लार्ड पामर्स्टन (Lord Palmerston) ने यह प्रस्ताव रखा कि भारत वर्ष का शासन कम्पनी के हाथों से लेकर सम्राट (Crown) को दे दिया जाए। उसने इस विषय पर एक चिरस्मरणीय भाषण दिया उसमें उसने द्विविध शासन को अन्त करने के पक्ष में अपने तर्क उपस्थित किए। उसके मुख्य तर्कों का सार निम्नलिखित रूप से दिया जा सकता है :—

(अ) उसने कहा कि भारतवर्ष जैसे विशाल देश के साम्राज्य का शासन प्रबन्ध एक व्यावसायिक कम्पनी के हाथों में रहना उसी प्रकार अनुचित है जैसे कोई अनुचित और अशुद्ध वैवाहिक सम्बन्ध। सही रूप से कार्य करने के लिए ऐसी व्यापारी संस्था सर्वथा अयोग्य और अप्रवीण थी। उसे यह देखकर आश्चर्य होता था, कि "ऐसे राष्ट्र (इंग्लैंड) ने जिसमें कि जनता के प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त की स्थापना बहुत समय पूर्व ही हो चुकी है, विचारपूर्वक एवं निश्चित रूप से इतने विस्तृत प्रदेशों का, इतने (बड़े जनसमुदाय के) हितों का, और इतनी बड़ी जनसंख्या का शासन प्रबन्ध व्यवसायियों की एक छोटी सी समिति को सौंप दिया है।"

(ब) इसके अतिरिक्त कम्पनी के शासन को उत्तरदायित्व से हीन बतलाया गया। और वास्तव में यह अँगरेजों की अन्तः प्रकृति के ही विरुद्ध था। जैसा कि लार्ड पामर्स्टन ने कहा है "हमारी राजनैतिक कार्य प्रणाली का यह सिद्धान्त है कि शासन से सम्बन्धित जो भी कार्य किया जाए, उसके लिए मन्त्रिमण्डल पार्लियामेंट

1 Double Government is "a system of hocus pocus" which deluded public opinion, obscured responsibility and evaded parliamentary control"

—John Bright

2 "The conscience of the nation had been touched on the question and it came by a leap, as it were, by an irrepressible instinct to the conclusion that the East India Company must be abolished."

—Bright.

के प्रति, जनमत के प्रति और सम्राट के प्रति उत्तरदायी होगा। परन्तु इस ओर भारतवर्ष के शासन प्रबन्ध से सम्बन्धित प्रमुख कार्यों का सम्पादन एक ऐसी समिति के हाथों में है जो पार्लियामेण्ट के प्रति उत्तरदायी नहीं है तथा सम्राट द्वारा जिसकी नियुक्ति नहीं हुई है। इसके विपरीत वह उन व्यक्तियों द्वारा निर्वाचित है जिनका भारतवर्ष से उतना ही सम्बन्ध है जितना साधारण रूप से कुछ सामग्री का अपने अधिकार में रखना।"

(स) इसके अतिरिक्त द्विविध शासन की प्रणाली का मूल स्वरूप ही उलझा हुआ और असुविधाजनक था। उसके उत्तरदायित्व को अनेक कधों पर लाद दिया गया था। "शासन से सम्बधित कार्य और 'उत्तरदायित्व को" जैसा कि लार्ड पामर्स्टन ने कहा है, "डाइरेक्टर्स, गवर्नर जनरल और बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल में बाँट दिया गया था, और यह स्पष्ट है कि इन पदाधिकारियों मे कार्य की एकसूत्रता अथवा समान उद्देश्य की भावना मिलना कठिन है।

प्रस्ताव के द्वितीय वाचन के पश्चात् लार्ड पामर्स्टन के दल के हाथो म शक्ति न रही और इनके मन्त्रिमण्डल को हट जाना पड़ा। इनके बाद जो मन्त्रिमण्डल बना, उसने ऐसे सुझाव और प्रस्ताव रखे जिन पर केवल हँसा जा सकता था। लार्ड जॉन रसल (Lord John Russell) के नेतृत्व में लोक-सभा (House of Commons) ने चौदह प्रस्ताव पास किए, जिनके आधार पर ही लार्ड स्टेनली (Lord Stanley) द्वारा लोक-सभा में भारतवर्ष के शासन प्रबध को समुचित बनाने और सुधारने के हेतु एक और एक्ट पास हुआ जिसे सन् १८५८ का एक्ट कहते हैं।

इस एक्ट की मुख्य धाराओं का निर्देश सक्षेप में निम्न प्रकार से किया जा सकता है —

(१) भारतवर्ष का शासन प्रबंध कम्पनी के हाथों से छीनकर सम्राट (Crown) को सौंप दिया गया। एक्ट की दूसरी धारा के अनुसार यह निश्चित हुआ कि अब से भारतवर्ष का "शासन सम्राज्ञी (Her Majesty) द्वारा और उन्हीं के नाम से होगा, और समस्त प्रदेशों तथा अन्य प्रकार की मालगुजारी एव आय साम्राज्ञी (Her Majesty) के लिए और उन्हीं के नाम में एकत्रित की जाएगी और उनका प्रयोग केवल भारत सरकार के उद्देश्यों और कार्यों की पूर्ति के लिए ही होगा।"

(२) सम्राट (Crown) के नाम से भारतवर्ष का शासन प्रबध सँभालने के लिए 'भारतसचिव' की नियुक्ति की गई। इस एक्ट से पहले कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स (Court of Directors) और बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल (Board of Control) के जो अधिकार थे वे सब इस सचिव को प्रदान कर दिये गए। सम्राट (Crown) को एक और अर्थात् पाचवा 'प्रधान भारत सचिव' नियुक्त करने का अधिकार दे दिया गया। यह निश्चित कर दिया गया कि उसका वेतन भारतीय आय से दिया जाएगा।

(२) भारत सचिव की सहायता के लिए पन्द्रह सदस्यों की एक समिति (Council) की स्थापना की गई, जिनमें से आठ सदस्यो की नियुक्ति सम्राट (Crown) करता था और सात सदस्यों का निर्वाचन ईस्ट इण्डिया कम्पनी (East India Company) के डाइरेक्टर्स (Directors) द्वारा होता था। नियुक्त किए गए और चुने गए—इन दोनों प्रकार के सदस्यों मे ऐसे व्यक्तियों की संख्या अधिक होती थी जो भारतवर्ष मे दस वर्ष नौकरी कर चुके हो अथवा रह चुके हों और कुछ विशेष परिस्थितियों के अतिरिक्त, जिन्हें अपनी नियुक्ति के समय पर भारतवर्ष छोड़े हुए दस वर्ष से अधिक समय व्यतीत न हुआ हो। यह निश्चित कर दिया गया कि भविष्य में इस समिति के लिए जिन सदस्यो की नियुक्ति अथवा निर्वाचन किया जाए उनमें से कम से कम नौ सदस्य उपर्युक्त आधार पर ही लिए जाएँ। सम्राट (Crown) द्वारा नियुक्त किए गए सदस्यों में कोई स्थान खाली होने पर उस स्थान के लिए नए सदस्य की नियुक्ति का अधिकार सम्राट (Crown) को ही था। अन्य सदस्यों के रिक्त स्थान की पूर्ति का अधिकार स्वयं समिति (Council) को था। इन सदस्यो की कोई निश्चित अवधि नही थी; समुचित रूप से कार्य करने के समय तक यह अपने पद पर आसीन रह सकते थे। पार्लियामेण्ट के दोनों भवनों की प्रार्थना पर भी इन्हें पदच्युत किया जा सकता था। इन सदस्यों को पार्लियामेण्ट में बैठने अथवा मत देने का अधिकार नहीं था। प्रत्येक सदस्य को भारत सरकार की आय मे से बारह सौ पौंड वार्षिक वेतन दिया जाता था।

इंगलैण्ड मे होने वाले भारतवर्ष के शासन से सम्बन्धित कार्य के सम्पादन का भार इस समिति (Council) पर ही था, परन्तु यह सब कार्य भारत सचिव के नेतृत्व मे और उसीके आदेशानुसार होता था। भारत सचिव इस समिति (Council) का सभापति होता था। समिति (Council) के सदस्यों में मतभेद होने पर भारत सचिव (Secretary of State) को उन सब की सम्मति न मानने का अधिकार था। भारत सचिव को कोई भी आदेश समिति (Council) को सूचना दिये बिना ही भेज सकने का अधिकार भी था। इस एक्ट के पूर्व की परिस्थिति में ऐसा आदेश कदाचित गुप्त समिति (Secret Committee) के पास होकर ही जाता। भारत सचिव को अपने निर्णय के अनुसार कार्य करने का अधिकार तो था, परन्तु उसे अपने ऐसे निर्णय के कारणों का निर्देश करना पड़ता था। निम्नलिखित बातों मे यदि समिति (Council) बहुमत से अपनी कोई सम्मति देती, तो भारत सचिव उसे मानने के लिए बाध्य था :—

(अ) समिति (Council) के किसी सदस्य के निर्वाचन के सम्बन्ध मे,

(ब) भारतवर्ष मे विभिन्न पदों की नियुक्ति करने के अधिकार के वितरण एवं विभाजन के सम्बन्ध मे,

(स) उपर्युक्त पदाधिकारियों के विरुद्ध की गई पीड़ित अथवा व्यथित दलों की अपीलों की व्यवस्था के सम्बन्ध मे,

(ट) ठेके, क्रय-विक्रय, ऋण देने, इत्यादि के सम्बन्ध में।

१६ जुलाई सन् १८५८ को इस समिति (Council) की आवश्यकता और उपयोग के सम्बन्ध में बोलते हुए लार्ड डर्बी (Lord Derby) ने कहा था कि इस समिति (Council) के निर्माण करने का उद्देश्य ही था भारत सचिव को ऐसे सलाहकार प्रदान करना, जिन्हें भारतवर्ष की परिस्थितियों का विशेष ज्ञान हो और जो अपने कर्त्तव्य के पालन में भारत सचिव और दलवन्दी के प्रभाव से परे हों। इसी सम्बन्ध में लार्ड डर्बी ने आगे कहा था कि समस्त प्रदेशों की विशेष जानकारी, नगर और सेना सम्बन्धी शासन की विभिन्न बातों तथा इन सबसे स्वतंत्र व्यापार और व्यवसाय आदि हितों की रक्षा के लिए ऐसी समिति (Council) की स्थापना नितान्त आवश्यक समझी गई। यह भी आशा की गई कि समिति (Council) के सदस्य स्थाई होने के नाते परस्पर सहयोग की भावना का विकास करेंगे और मिलकर कार्य करेंगे।

(४) अधिक महत्वपूर्ण पदों की नियुक्ति का अधिकार सम्राट (Crown) अथवा भारत सचिव और समिति के हाथ में रहा। लेफ्टिनेन्ट गवर्नर की नियुक्ति का अधिकार गवर्नर जनरल को सौंप दिया गया, परन्तु इसके लिए सम्राट (Crown) की स्वीकृति आवश्यक थी। सेना सम्बन्धी कार्य के सम्पादन का अधिकार भारत सचिव और समिति (Council) में विभाजित कर दिया गया।

(५) बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल (Board of Control) का अस्तित्व ही नष्ट कर दिया गया। ठेके और कानूनी कार्यक्रम के सम्बन्ध मे भारत सचिव और समिति को प्राय एक सस्पष्ट रूप प्रदान किया गया जिससे कि वह ईस्ट एण्डिया कम्पनी के उत्तराधिकारी के नाते अपने अधिकारों को हस्तगत कर सके तथा अपने उत्तरदायित्व को निभा सके इँग्लैंड की सरकार के प्रतिनिधि के रूप में भारत सचिव (Secretary of State) अब मुकदमा चला सकता था और उस पर भी मुकदमा चलाया जा सकता था।

(६) इस एक्ट द्वारा कम्पनी की सैनिक और नाविक शक्ति सम्राट (Crown) को सौंप दी गई। यद्यपि उनका स्वरूप, उनका वेतन और अधिकार, उनका उत्तर-दायित्व उसी प्रकार का रहा जैसा कम्पनी के समय में था।

इस प्रकार सन् १८५८ के एक्ट ने भारतवर्ष के शासन प्रबन्ध में एक क्रान्ति उपस्थित करदी और जैसा कि फ्रैन्डस ऑफ इण्डिया का कथन है "भारतवर्ष के शासन में यह क्रान्ति वह क्रान्ति है जिसका महत्व आगे आने वाली पीढ़ी ही आक सकेगी।"[1] भारतवर्ष की भूमि पर होने वाले कम्पनी के निरकुश और अनधिकृत कार्यों पर अन्य आज्ञापत्रों के समान सन् १८५८ के एक्ट ने अधिकार और प्रभुत्व की अन्तिम छाप लगा दी। वस्तुत. भारतवर्ष में होने वाले कम्पनी के अवैध राजनैतिक

---

1 "Revolution in the Government of India is one, the vastness of which only the next generation will appreciate"

—Friends of India.

अभ्युदय के प्रति उत्तरदायित्व ग्रहण करने और उसे वैध बनाने के लिए ही इस एक्ट का जन्म हुआ था। सन् १६०० ई० के आज्ञापत्र द्वारा कम्पनी को पूर्व के साथ केवल व्यापार करने की अनुमति ही प्रदान की गई थी। उसका तात्पर्य पूर्व के राजनैतिक अभ्युदय एवं उत्थान से कभी भी न था। यदि इंग्लैंड की सरकार न्यायप्रिय और निष्पक्ष थी तो उसे उस आज्ञापत्र को बहुत पहले ही रद्द कर देना चाहिए था और कम्पनी के कर्मचारियों के अनधिकृत कार्यों की निन्दा करनी चाहिए थी। परन्तु इसके विपरीत इंग्लैंड की पार्लियामेण्ट अवैध शासकों की संरक्षक बन बैठी। उन्होंने भारतवर्ष मे कम्पनी के अवैध राज्य-विस्तार को वैध माना और अन्त में सन् १८५८ मे इस नवीन साम्राज्य को उन्होंने स्वयं अपना पोष्यपुत्र मान कर ग्रहण कर लिया। इस प्रकार भारतीय साम्राज्य के विस्तार के लिए कम्पनी और इंग्लैंड के शासकों की नीति और उद्देश्य समान ही थे। इसके अतिरिक्त साम्राज्ञी के सन् १८५८ के घोषणा-पत्र द्वारा भारतवर्ष मे एक प्रकार के पैतृक राज्य की स्थापना हुई, जिसमें भारतीय जन वास्तविक और व्यावहारिक उत्तरदायित्व से परे रह कर ही भाग ले सकते थे और एक सामान्य दर्शक के लिए इस बात में कोई नवीनता और अस्वाभाविकता भी नहीं थी। क्योंकि बालक भले ही बुद्धिमान और चतुर हो परन्तु सफलता और चतुराई की आशाओं के होते हुए भी उत्तरदायित्व का भार सँभालने में वे पिता को छोटे और नासमझ ही जान पडते हैं परन्तु गूढ दृष्टि वालों को यह स्पष्ट हो सकता है कि इसमें अँगरेज़ों की एक दुराकांक्षा थी और वह थी भारतवर्ष को सदा के लिए दासता की बेड़ियों में जकड़ कर रखने की। इसलिए भारतवर्ष को एक प्रकार के दरबार शासक एवं पैतृक निरंकुश शासन के नियंत्रण में रखा गया, जिसका कार्य अनियन्त्रित कर्मचारी राज्य-प्रणाली द्वारा सचालित होता था जो शासक के प्रति उत्तरदायित्व तथा शासित के प्रति अनुत्तरदायित्व का और जो सरकार के प्रति स्वामि भक्ति और जनता के प्रति धृष्टता और कपट का स्पष्ट प्रमाण देता था। इस प्रकार का निरन्कुश शासन जनता के प्रति भले ही शुभचिन्तक और दूरदर्शिता का भाव रखता हो; परन्तु ऐसी सरकार सचिव तन्त्र सरकार का न तो विरोध ही सहन कर सकती है और न उसमें मिल ही सकती है; उस सचिव तन्त्र सरकार का जिसकी विशेषता और बड़प्पन उत्तरदायित्व में ही है और जो अनुत्तरदायित्व और निरकुशता से पूर्ण उत्तम शासन से कही अधिक श्रेष्ठ है। सन् १८५८ के एक्ट द्वारा निर्देशित विधान ही सन् १६२० तक भारतवर्ष में लागू रहा, यद्यपि उसमें विभिन्न प्रकार के अनेक विस्तृत परिवर्त्तन किए गए और इस काल की सब से अधिक व्यापक और सारभूत बात थी भारतीयों का सचिवतन्त्र सरकार रूपी स्वर्ग को भारतवर्ष की भूमि पर उतारने की व्यर्थ चेष्टा करना और अंगरेज़ों का उसमे निरन्तर बाधा उपस्थित करना। इस काल मे वैधानिक दृष्टिकोण से जो एक स्पष्ट उत्थान हुआ वह था व्यवस्थापिका सभा (Legislative Councils) का विकास। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित तीन एक्ट दर्शनीय है :—

(१) भारतीय समिति एक्ट (सन् १८६१)[1]

---

[1] Indian Council Act of 1861.

(२) भारतीय समिति एक्ट (सन् १८६२)[2]
(३) भारतीय समिति एक्ट (सन् १६०६)[3]

(१) भारतीय समिति एक्ट (१८६१)

सन् १८५३ मे बनी हुई व्यवस्थापिका सभा (Legislative Council) ने अपहरणकर्त्ता का रूप धारण कर लिया था। यह इंग्लैंड की लोक सभा (House of Commons) का एक संक्षिप्त स्वरूप सा हो गई थी। इस सभा ने बड़े उत्साह स्वतन्त्रता और ज़ोर के साथ कार्यकारिणी (Executive) से उसके कार्यों के सम्बन्ध में पूँछताछ आरम्भ कर दी थी। वस्तुतः यह विशेषताएँ सचिव तन्त्र सरकार की प्रतिनिधात्मक सभा (Representative Assembly) में पाई जाती है जो कार्यकारिणी (Executive) का अस्तित्व अपने सकेत पर स्थित समझती है। कभी कभी तो इस सभा ने कार्यकारिणी (Executive) पर यह ज़ोर दिया कि वह अपने गुप्त से गुप्त कागज़ात को भी सभा के सामने रखे। इस सभा ने मैसूर की राजकुमारी को दी जाने वाली जागीर के मामले का भी निरीक्षण किया। इस सम्बन्ध में श्री वी० के० ठाकुर ने उचित ही कहा है कि "भारतीय कार्यकारिणी ऐसी व्यवस्थापिका सभा के साथ कार्य करने में असन्तुष्ट थी क्योकि वह इंग्लैंड के मन्त्रिमण्डल के समान उस सभा पर अविश्वास प्रस्ताव पास करने के लिए ज़ोर नहीं डाल सकती थी और न वह इस बात के लिए ही स्वतन्त्र थी कि त्यागपत्र के अन्तिम अस्त्र का उपयोग कर सके और अपने देश मे नवीन निर्वाचन के लिए प्रार्थना कर सके।" इंग्लैंड की सरकार इस सभा की अधिकार-अपहरण नीति से जितनी अधिक चिन्तित एव उद्विग्न थी उतनी आगामी विपत्तियों से नहीं। उनका यह विचार कभी नहीं था कि भारतवर्ष को सचिव तन्त्र सरकार प्रदान की जाए जिसमें कार्यकारिणी (Executive) व्यवस्थापिका सभा के प्रति उत्तरदायी होती है। उस समय उनको निराशा और पराभव की सीमा न रही जब उन्होंने देखा कि जो कुछ वे नहीं चाहते थे, उसी का विकास भारतवर्ष में व्यवस्थापिका सभा (Legislative Council) की कार्य गति से हो रहा है। इँग्लैंड की सरकार का भारतवर्ष के प्रति यह दृष्टिकोण सर चार्ल्सवुड के निम्नलिखित कथन से भली भांति स्पष्ट हो जाएगा क्योंकि ये स्वय सन् १८५३ के एक्ट के निर्माता थे :—

"सन् १८५३ में जिस प्रस्ताव को स्वय मैंने एक विशेष दृष्टिकोण के साथ उपस्थित किया था, वही प्रस्ताव जब प्रयोग में लाया गया, तब उसका स्वरूप ही परिवर्तित हो गया, जिसके फलस्वरूप जो कुछ मेरा विचार था, उसके एकदम विपरीत ही उसका प्रभाव परिलक्षित हुआ। और उस परिवर्तन के कारणस्वरूप जो बाधाएँ एवं दुश्चिन्ताएँ उपस्थित हुई हैं वे अनेक हैं और असामान्य है।"[4]

---

2 Indian Council Act of 1892

3 Indian Council Act of 1909

4 "I have seen a measure which I myself introduced in 1853, with one view, changed by the mode in which it was carried into

इन बाधा पूर्ण परिवर्तनों के कारण इंग्लैंड की सरकार शान्त नहीं बैठ सकती थी। इसलिए उन बाधाओं के निवारण और प्रतिबन्ध के लिए, कालचक्र को उसी स्थान-विशेष पर स्थिर करने के लिए जहां उसे पैतृक शासन में रहना चाहिए— सन् १८६१ का एक्ट पास किया गया। सन् १८६१ के एक्ट ने व्यवस्थापिका सभा की उन समस्त विशेषताओं को जड़ से उखाड़ फेंका जो उसने स्वयं धारण करली थीं। निरंकुशता की शक्ति फिर से अपनी जड़ें दृढ़ करने लगी। एक बार फिर भारतवर्ष पर उत्तरदायी सचिवतन्त्र सरकार के स्थान पर अनुत्तरदायी कर्मचारी राज्य अथवा नौकरशाही का बोझ लाद दिया गया। संक्षेप में सन् १८६१ के एक्ट का महत्व इसी में है कि वह प्रजातन्त्र से विपरीत दिशा की ओर—निरंकुश शासन की ओर संकेत करता है।

इस एक्ट की मुख्य धाराएँ संक्षेप में निम्नलिखित हैं :—

(१) इस एक्ट द्वारा यह निश्चित किया गया कि गवर्नर जनरल की कार्य-कारिणी समिति (Executive Council) में एक पांचवां सदस्य और रखा जाए। अब पांच सदस्यों में से किन्हीं तीन के लिए यह आवश्यक था कि वे कम्पनी के या सम्राट के कर्मचारी स्वरूप भारतवर्ष में १० वर्ष नौकरी कर चुके हों। इनमें से एक सदस्य पांच वर्ष का अनुभवी वकील या बैरिस्टर होता था। प्रधान सेनानायक (Commander-in-chief) को एक विशेष सदस्य की भांति नियुक्त करने का अधिकार इन्हीं के हाथ में रहा।

(२) कानून बनाने के कार्य के सम्पादन के हेतु गवर्नर जनरल की समिति (Council) की संख्या बढ़ादी गई। इन बढ़े हुए सदस्यों की संख्या ६ से कम तथा बारह से अधिक नहीं हो सकती थी। इनकी नियुक्ति गवर्नर जनरल करता था। इन सदस्यों का कार्यकाल दो वर्ष था। इन बढ़े हुए सदस्यों में से कम से कम आधे ऐसे सदस्य होने चाहिएँ थे जो सम्राट (Crown) की सेना अथवा शासन से सम्बन्धित न हों।

इन स्वतंत्र सदस्यों की नियुक्ति का जैसा कि बी के ठाकुर ने कहा है "का ऐतिहासिक महत्व है।" सन् १८५७ के गदर से अँगरेजों को इस बात का अनुभव हो गया था कि भारतीय जनता की सम्मति, उसकी भावनाओं और आकांक्षाओं से पूर्ण रूप से परिचित होने के लिए उन्हें एक मध्यस्थ की सहायता की आवश्यकता पड़ेगी। यह अनिवार्य था कि व्यवस्थापिका सभा (Legislative Council) में नियुक्त किए जाने वाले सदस्यों में अनुभवी और प्रभावशाली भारतीयों को लिया जाए, जिससे कि सरकार को समय-समय पर अपने बनाए हुए नियमों का जनता पर प्रभाव ज्ञात होता रहे और जिससे कि वह उनको सुधारकर भारतीय जनता के लिए उपयुक्त

---

execution so as to give it an operation totally different from that which I intended. The mischiefs resulting from that change have been great."

—Sir Charleswood

वना सके। यह भी आशा की गई कि इस प्रकार के नियुक्त किए गए स्वतंत्र सदस्य जनता के प्रतिनिधियों से समय-समय पर मिला करेंगे और महत्वपूर्ण विषयों पर स्वतन्त्र रूप से वाद-विवाद करके उनके विचार और उनकी सम्मति से परिचित होने की चेष्टा करेंगे। सक्षेप में इन स्वतन्त्र सदस्यों को जन सम्मति का केन्द्र और जनता की आलोचना के स्थान स्वरूप ही लिया गया था।

परन्तु शीघ्र ही यह प्रतीत हो गया कि इन सदस्यों द्वारा यह आशा पूरी न हो सकेगी। जब तक कि विश्व-विद्यालय (जो कि उसी समय के लगभग स्थापित हुए थे) भारतीय नेता और वर्त्तमान प्रकार के प्रतिनिधियो को जन्म न दें, तब तक नियुक्ति के लिए जो व्यक्ति मिल सकते थे वे भारतीय राजा, उनके दीवान या दरबारी, वशगत ज़मींदार अथवा धर्माधिकारी और सरकार से वृत्ति पाने वाले ही होते थे। सन् १८६०—७० के लगभग इन वर्गों के प्रतिनिधि इतने सकुचित विचार वाले व्यक्ति थे, कि वह जनता और जनता की आकांक्षाओं के सम्पर्क में आना ही अपना निरादर समझते थे। वह तो केवल अपने अँगरेज शासकों की हा में हां मिलाना ही अपना परम कर्तव्य समझते थे। व्यावहारिक रूप में वह केवल ऐसे ही विचारों का प्रदर्शन करते थे जिनसे अँगरेज शासक प्रसन्न हो और अपनी कृपादृष्टि से उनके स्वार्थ की पूर्ति कर सकें। इस प्रकार भारतीय प्रतिनिधि का स्वरूप व्यावहारिक रूप में कल्पना मात्र ही रह गया और सन् १८६१ के एक्ट का लक्ष्य भ्रष्ट हो गया।

(३) व्यवस्थापिका सभा (Legislative Council) का कार्य केवल कानून बनाना निश्चित कर दिया गया। कानूनी प्रस्तावों पर विचार करने और उन्हें व्यवस्थापित करने, किसी कानूनी प्रस्ताव को उपस्थित करने के अतिरिक्त किसी अन्य व्यापार को हस्तगत करने, तथा उपस्थित हुए कानूनी प्रस्ताव के निर्देशन के अतिरिक्त किसी अन्य कार्य का सम्पादन दृढ़ रूप से वर्जित कर दिया गया। सार्वजनिक आय और ऋण, धर्म, सेना अथवा नौसेना और विदेश से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्न इस सभा के सन्मुख गवर्नर जनरल की स्वीकृति द्वारा ही आ सकते थे। सभा (Council) द्वारा पास किए गए प्रत्येक एक्ट के लिए गवर्नर जनरल की स्वीकृति आवश्यक थी। सभा (Council) के किसी भी एक्ट को साम्राज्ञी (Queen) भारत सचिव द्वारा समाप्त करवा सकतीं थी।

(४) गवर्नर जनरल और उसकी समिति के कानूनी अधिकार इस प्रकार बढा दिए गए कि साम्राज्ञी के अधिकार में जितने प्रदेश थे उनके लिए अस्थायी नियम और कानून बनाने, तथा उन प्रदेशों में प्रचलित किसी भी नियम अथवा कानून को अस्थाई रूप से परिवर्तित, शोधित और खण्डित करने का अधिकार इन्हें प्रदान किया गया। यह भी निश्चित किया गया कि गवर्नर जनरल समस्त प्रजा के लिए चाहे वह भारतीय हो अथवा अँगरेज अथवा विदेशी, समस्त न्यायालयों के लिए, सम्राज्ञी के अधिकृत प्रदेशों की समस्त वस्तुओं और स्थानों के लिए, और भारत सरकार के उन

समस्त कर्मचारियों के लिए जो उन राज्य में हैं जिन्होंने सम्राज्ञी से सन्धि करली है, कानून और नियम बनाने का अधिकार है। परन्तु निम्नलिखित पर उसका कोई अधिकार नहीं था :—

(अ) पार्लियामेण्ट के कुछ मुख्य नियम;

(ब) पार्लियामेण्ट के अधिकार के सम्बन्ध में, और

(स) इंग्लैंड के विधान के किसी ऐसे अलिखित भाग अथवा कानून पर जिस पर सम्राट (Crown) की राज्यसत्ता और जनता की राजभक्ति आधारित हो।

केवल इतना ही नहीं; गवर्नर जनरल को एक विशेषाधिकार भी दिया गया। आवश्यकता पड़ने पर उसे बिना अपनी समिति (Council) से पूछे नियम बनाने और घोषित करने का अधिकार दिया गया। इस प्रकार बनाए गए नियमों की अवधि ६ महीने से अधिक नहीं हो सकती थी। इस अधिकार का महत्व इसलिए और भी है कि इसी के आधार पर सन् १९१९ और सन् १९३५ में भी गवर्नर जनरल को कानून बनाने के विशेषाधिकार प्रदान किए गए।

(४) इस एक्ट द्वारा मदरास और बम्बई की सरकार को भी कानून बनाने का अधिकार दिया गया। कानून बनाने के उद्देश्य से मदरास और बम्बई के गवर्नर की समितियों (Councils) के सदस्यों की संख्या एडवोकेट जनरल (Advocate General) और कुछ अन्य सदस्यों की नियुक्ति करके बढ़ा दी गई। इन सदस्यों की नियुक्ति का भी वही सिद्धान्त था जो गवर्नर जनरल की समिति (Council) का था। केन्द्रीय और प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं (Legislatures) के अधिकार में आए हुए विषयों का स्पष्ट विभाजन नहीं किया गया। कुछ बातों में प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा द्वारा बनाए हुए कानूनों के लिए गवर्नर जनरल की स्वीकृति आवश्यक मानी गई। इसके अतिरिक्त, प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा के समस्त एक्ट पास तभी माने जा सकते थे जब उन पर गवर्नर की स्वीकृति के साथ-साथ गवर्नर जनरल की स्वीकृति भी हो। गवर्नर जनरल की समिति के एक्ट के समान प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा के एक्ट भी सम्राट (Crown) द्वारा रद्द किए जा सकते थे। कानून बनाने के प्रान्तीय क्षेत्र में भी लगभग उसी प्रकार के प्रतिबन्ध और बाधाएँ थीं।

इस प्रकार इस एक्ट द्वारा केन्द्रीकरण का विकास और स्थानिक अधिकार का ह्रास हुआ। व्यवस्थापक और कार्यकारिणी की शक्ति एक ही सत्ता के हाथों में केन्द्रित हो गई और इस प्रकार गवर्नर जनरल सर्वशक्तिमान हो गया। इस प्रकार इस एक्ट द्वारा निरंकुश शासन को जन्म मिला, जिसका क्षेत्र असीमित था और शासन के प्रति जो उत्तरदायित्व से रहित था। स्वराज्य और सचिव तन्त्र सरकार की रूपरेखा और धारणा को इसने उखाड़ फेंका।

(२) भारतीय समिति एक्ट (सन् १८६२)

सन् १८६२ के भारतीय समिति एक्ट को राष्ट्रीयता के युद्ध में भारतीयों की प्रथम विजय कहा जा सकता है, यद्यपि यह राष्ट्रीयता की भावना अभी अपनी शैशवावस्था में ही थी। इस एक्ट को इण्डियन नेशनल कांग्रेस (Indian National Congress), की प्रथम स्पष्ट एवं व्यक्त फलप्राप्ति कहा जा सकता है। परन्तु यह एक्ट शिक्षित भारतवर्ष की आशाओं और आकांक्षाओं के एक अंश की पूर्ति करने वाला ही था। भारतीयों की मांग पूरी करने के लिए अँगरेज़ों की ओर से इसमें केवल अधूरी चेष्टा ही की गई थी। क्योंकि इसमें भारतीयों को क्या मिला ? प्रजातन्त्र का वेष धरे हुए निरंकुश शासन, प्रान्तीय स्वराज्य के रूप में केन्द्रीकरण और सदस्यों के निर्वाचन के स्थान पर उनकी नियुक्ति !

इस कथन की स्पष्टता भारतीयों की मांगों के तथा उनमें से अँगरेजों द्वारा स्वीकार की हुई मांगों के अध्ययन से भली भांति प्रकट हो जाएगी। अब हमें प्रथम उन परिस्थितियों को देखना चाहिए जिनके कारण इस एक्ट का जन्म हुआ। यह तथ्य निम्नलिखित है —

(अ) अँगरेजी शिक्षा का प्रसार

भारतवर्ष में अँगरेजी शिक्षा के प्रसार के पूर्व बंगाल तथा कुछ अन्य बड़े नगरों को छोड़कर शेष भारतीय नृशंस शासक के सन्मुख भय के कारण गूंगे बन जाते थे। उनका दृष्टिकोण उनके विचार पूर्णरूप से मध्यकालीन एवं प्राचीन थे। वे पूर्णरूप से अपने भाग्य पर विश्वास करते थे और अपने को दैव के आधीन मानते थे। अँगरेजों के अत्याचार और अनाचार को वे अपने ही कर्मों का फल मानते थे। भाग्य के आश्रय के अतिरिक्त उनका कोई अन्य आश्रय नहीं था। ऐसी परिस्थितियों में राजा राममोहन राय जैसा व्यक्तित्व केवल एक विशेषता ही नहीं थी वरन् एक अद्भुत बात भी थी। परन्तु कुछ ही समय में भाग्य के विधान ने पलटा खाया। अँगरेजी शिक्षा का प्रचार और प्रसार भारतवर्ष में बड़े जोरों से हुआ। अँगरेजी शिक्षा अपने साथ आत्म विश्वास और आत्मश्लाघा की भावना भी लाई। भारतीयों को इस बात का अनुभव होने लगा कि व्यक्ति ही अपने भाग्य और अपने भविष्य का निर्माता है। एक स्वतन्त्र प्रेस की स्थापना की गई। इस प्रेस द्वारा शिक्षा का प्रचार और प्रसार तथा अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध आवाज उठाने के लिए एक सुसंगठित और दृढ़ जन सम्मति का संगठन हुआ। परिणामस्वरूप एक के पश्चात् दूसरी भाषा में नवीन साहित्य का जन्म होने लगा और ज्ञान का प्रसार होने लगा। इस प्रकार जिस साहित्य का जन्म हुआ, वह अपने उद्देश्य, भावना और दृष्टिकोण में पूर्ण रूप से आधुनिक था। रेल, आदि यातायात के साधन बढ़ जाने तथा अँगरेजी शिक्षा के विस्तार से भारतीयों के मस्तिष्क का विकास हुआ और साथ ही साथ उनमें भावना,

विचार और दृष्टिकोण की एकता की वृद्धि होने लगी। भारतवर्ष के प्रत्येक प्रदेश में सहस्रों भारतीय जन भारतीय समस्याओं को एकत्रित होकर, सगठित होकर सोचने लगे। अपने शासकों की साम्राज्य विस्तार की लिप्सा और उनके राष्ट्र-घातक कार्यों को वे लोग उनके वास्तविक रूप में समझने लगे, तथा अपने तथा अन्य देशों में होनेवाली विभिन्न घटनाओं से परिचित होने लगे। परिणाम स्वरूप उन्होंने सम्राज्ञी (Her Majesty) की भारत सरकार के कार्यों और उसकी नीति की आलोचना करना प्रारम्भ कर दिया इस प्रकार अँगरेजी शिक्षा के प्रचार और प्रसार से तथा स्वराज्य और स्वतन्त्रता के पाश्चात्य आदर्शों के प्रचालित होने से भारतीय अपनी अटूट और अनन्त निद्रा से जाग उठे और सन् १८९२ का एक्ट उस विशाल भारतीय राष्ट्रीयता के सूर्य की प्रथम किरण है।

(ब) विदेशी नौकर शाही

इसके साथ-साथ विदेशी नौकर शाही का दबाव बड़ा ही कष्टदायक प्रतीत होने लगा। गोरे शासकों ने भारतवर्ष में आकर ऐसा व्यवहार करना आरम्भ किया जो किसी भी व्यक्ति के लिए असहनशील था। वे दिन प्रतिदिन भारतीय जन और उनकी आकांक्षाओं के प्रति असहानुभूति का प्रदर्शन करने लगे। भारतीयों के प्रति उन्होंने छोटे बड़े और घृणा के भाव को प्रोत्साहन दिया। सरकारी कर्मचारियों की, जो केवल नाम के लिए ही जनता के कर्मचारी कहे जाते थे, यह धृष्टता उत्तरी भारत के मुसलमान और दक्षिण के मराठाओं को अत्यन्त कटु लगती थी, क्योंकि अब भी उनके हृदय में उनकी बीती हुई शक्ति और ऐश्वर्य की स्मृति थी। इसलिए भारतीय जन की ओर से बार बार यह मांगें दोहराई जाने लगीं कि इंग्लैंड को व्यवस्थापिका सभा सम्बन्धी अपना वचन तथा राजकीय प्रतिज्ञाओं को पूरा करना चाहिए। इस मांग का क्षेत्र धीरे-धीरे विस्तृत होने लगा और यह आवाज ऊँची ही उठने लगी। और इस मांग का जो प्रभाव हुआ उसका प्रथम दिग्दर्शन सन् १८९२ के एक्ट में होता है।

(स) संगठित राजनैतिक उत्तेजना का दवाव

स्थानीय राजनैतिक उफान, जो अधिकतर शासन में फैले हुए अत्याचार और अनाचार के विरुद्ध उठता था, अन्त में प्रादेशिक संगठन के रूप में दर्शित हुआ। इस प्रकार की समस्त संस्थाएँ इण्डियन नेशनल कांग्रेस (Indian National Congress) के कार्यों में सबसे आगे रहीं। ह्यूम (Hume), वैडरबर्न (Wedderburn) और कॉटन (Cotton) की एक छोटी और उपेक्षित इस राजनैतिक संस्था ने शीघ्र ही अपने शरीर में प्राण और शक्ति का संचार किया। दिसम्बर, सन् १८८५ में अपना कार्य-क्रम आरम्भ करने के समय से ही कांग्रेस ने प्रतिनिधात्मक व्यवस्थापिका सभाओं की मांग की और यह प्रस्ताव रखा कि इन

सभाओं के साथ में समुचित कार्य और अधिकार प्रदान किए जाएं। और बहुत शीघ्र ही इसकी सुनवाई भी हुई। चेम्बर्स ऑफ कॉमर्स (Chambers of Commerce) तथा इस प्रकार की अन्य संस्थाओं द्वारा ईसाइयों ने अपनी सम्मति में इस प्रस्ताव का समर्थन किया और कहा कि भारतीयों को अपनी कठिनाइयां सरकार के सन्मुख स्पष्टतया रखने के लिए अधिक विस्तृत और उचित सामयिक अवसर प्रदान किए जाएँ। उन्होंने यह भी सुझाव रखा कि कार्यकारिणी (Executive) को भी कुछ ऐसे अवसर देने चाहिएँ जब वह जनता द्वारा की गई आलोचना का उत्तर दे सकें और अपनी नीति को जनता के सन्मुख स्पष्ट कर सकें। इससे शासक और शासित दोनों का मतभेद और गलतफहमियां दूर हो सकेंगी। शीघ्र ही यह प्रतीत हुआ कि इन वार्ता का भारतवर्ष के पदाधिकारियों पर कुछ प्रभाव पड़ा है। फरवरी सन् १८८७ के जुबिली महोत्सव में लॉर्ड डफ़रिन (Lord Dufferin) ने यह कहा कि सरकार का यह विचार है कि "राजकीय समिति" (Imperial Council) को बढ़ा दिया जाए और उसके कार्यों में भी कुछ वृद्धि कर दी जाए। वास्तव में इस प्रकार वचन व्यर्थ नहीं था, क्योंकि कुछ समय पश्चात् ही लॉर्ड डफ़रिन ने इस विषय से सम्बन्धित कार्य के लिए एक समिति की नियुक्ति की। इस समिति

इन मांगों के उत्तर में लोक सभा (House of Commons) में एक प्रस्ताव उपस्थित किया। उसी बैठक में भारत सचिव ने भी उसी विषय पर लॉर्ड सभा (House of Lords) में एक प्रस्ताव उपस्थित किया। परन्तु यह दोनों प्रस्ताव पार्लियामेण्ट के अन्य कार्यों के कारण नक्कारखाने मे तूती की आवाज बन कर रह गए। फिर भी सन् १८९१ में भारत सचिव ने एक बार फिर चेष्टा की, परन्तु इस बार भी वह असफल रहा। तीसरी बार सन् १८९२ में वह प्रस्ताव एक्ट रूप में पास हुआ।

इस एक्ट की मुख्य धाराएँ संक्षेप मे निम्न प्रकार थीं :—

(१) व्यवस्थापिका सभाओं का विस्तार

इस एक्ट द्वारा व्यवस्थापिका सभाओं के विस्तार की योजना की गई। केन्द्रीय सभा (Central Council) के 'अतिरिक्त सदस्यों' की अधिक से अधिक संख्या १२ से १६ तक रखी गई। प्रान्तीय सभाओं में मद्रास, बम्बई और बंगाल मे 'अतिरिक्त सदस्यों' की अधिक से अधिक संख्या २०, और संयुक्त प्रान्त (United Provinces) के लिए १५ नियत की गई। सन् १८९७ में पजाब और वर्मा के लिए भी व्यवस्थापिका सभा (Legislative Council) की स्थापना की गई। उनके लिए अतिरिक्त सदस्यों की अधिक से अधिक संख्या ९ नियत की गई।

(२) प्रश्न का अधिकार

इस एक्ट द्वारा यह भी निश्चित किया गया कि कोई भी सदस्य कार्यकारिणी (Executive) से कोई प्रश्न पूछ सकता है, परन्तु उस प्रश्न का उद्देश्य केवल किसी बात की सूचना प्राप्ति ही होना चाहिए। प्रश्न की भाषा मे न तो तर्क की छाया होनी चाहिए और न आक्षेप की, न वह प्रश्न केवल कल्पना की उडान ही होना चाहिए। सूचना देकर ही प्रश्न किया जा सकता था। एक्ट द्वारा सभापति (President) को यह अधिकार प्रदान किया गया कि यदि वह चाहे तो किसी ऐसे प्रश्न को पूछे जाने से रोकदे। यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि प्रश्न के उत्तर पर विवाद करने का अधिकार नहीं था। इस प्रकार इस एक्ट द्वारा सूचना प्राप्त करने का माध्यम तो मिला, परन्तु आलोचना के लिए कोई आश्रय नहीं मिला।

(३) वार्षिक आय सम्बन्धी व्योरे पर विवाद का विधान

इस एक्ट द्वारा आय के वार्षिक व्योरे पर बहस करने का अधिकार भी दिया गया। बैठक के कुछ दिन पहले ही वार्षिक आय के व्योरे की एक-एक प्रति प्रत्येक सदस्य को दे दी जाती थी। प्रत्येक सदस्य उस व्योरे के किसी भी अंश की व्याख्या कर उस पर विवाद कर सकता था। प्रत्येक सदस्य को अपने सुझाव उपस्थित करने की भी स्वतन्त्रता थी। आय-सदस्य, विभाग के अध्यक्ष—यदि वे नियुक्त किए गए अतिरिक्त

सभाओं के साथ में समुचित कार्य और अधिकार प्रदान किए जाएँ। और बहुत शीघ्र ही इसकी सुनवाई भी हुई। चेम्बर्स ऑफ कॉमर्स (Chambers of Commerce) तथा इस प्रकार की अन्य सस्थाओं द्वारा ईसाइयों ने अपनी सम्मति में इस प्रस्ताव का समर्थन किया और कहा कि भारतीयों को अपनी कठिनाइयां सरकार के सन्मुख स्पष्टतया रखने के लिए अधिक विस्तृत और उचित सामयिक अवसर प्रदान किए जाएँ। उन्होंने यह भी सुझाव रखा कि कार्यकारिणी (Executive) को भी कुछ ऐसे अवसर देने चाहिएँ जब वह जनता द्वारा की गई आलोचना का उत्तर दे सकें और अपनी नीति को जनता के सन्मुख स्पष्ट कर सकें। इससे शासक और शासित दोनों का मतभेद और गलतफहमिया दूर हो सकेंगी। शीघ्र ही यह प्रतीत हुआ कि इन बातों का भारतवर्ष के पदाधिकारियों पर कुछ प्रभाव पड़ा है। फरवरी सन् १८८७ के जुबिली महोत्सव में लॉर्ड डफरिन (Lord Dufferin) ने यह कहा कि सरकार का यह विचार है कि "राजकीय समिति" (Imperial Council) को बढ़ा दिया जाए और उसके कार्यों में भी कुछ वृद्धि कर दी जाए। वास्तव में इस प्रकार वचन व्यर्थ नहीं था, क्योंकि कुछ समय पश्चात् ही लॉर्ड डफ़रिन ने इस विषय से सम्बन्धित कार्य के लिए एक समिति की नियुक्ति की। इस समिति के प्रस्ताव सन् १८८८ में भारत सचिव के सन्मुख उपस्थित किए गए। इसी प्रकार आगामी वर्ष में, जब लॉर्ड लैन्सडौन (Lord Lansdowne) लॉर्ड डफरिन के स्थान पर नियुक्त होकर आए, तब उन्होंने भी इसी प्रकार के प्रस्ताव भारत सचिव (Secretary of State) के सन्मुख रखे। यह प्रस्ताव स्वय कुछ अधिक उपयोगी एव प्रयोजनीय नहीं थे। सन् १८६१ के एक्ट द्वारा उस समिति में केवल नियुक्त किए गए सदस्य ही हो सकते थे। उस एक्ट द्वारा इन सदस्यों की सख्या और इनके अधिकार भी निश्चयात्मक रूप से स्थिर कर दिए गए थे। इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि कुछ परिवर्तन करने के लिए एक नवीन एक्ट पास किया जाए। और इसके लिए अँगरेज जनता को भारत के पक्ष में लाना था। इण्डियन नेशनल कांग्रेस (Indian National Congress) ने इस कार्य का भार अपने पर लिया। कांग्रेस ने भारतवर्ष और इंग्लैंड दोनों देशों मे स्थान स्थान पर इस विषय पर जन सम्मति का सगठन आरम्भ कर दिया। कांग्रेस की मागें थीं—प्रत्येक व्यवस्थापिका सभा के आधे सदस्य निर्वाचित प्रतिनिधि होने चाहिएँ, सदस्यो को सरकार के प्रश्न पूछने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए, वार्षिक बजट निश्चित काल में व्यवस्थापिका सभा के सन्मुख रखा जाना चाहिए, और, पजाब में एक पृथक व्यवस्थापिका सभा होनी चाहिए। इन समस्त चेष्टाओं और परिश्रम का फल भी इसे प्राप्त हुआ। सन् १८९० के प्रारम्भ में ही चार्ल्स ब्रेडलॉ (Charles Bradlaugh) ने, जो दिसम्बर, सन् १८८९ में इण्डियन नेशनल कांग्रेस (Indian National Congress) के बम्बई अधिवेशन में भाग ले चुके थे, कांग्रेस की

इन मांगों के उत्तर में लोक सभा (House of Commons) में एक प्रस्ताव उपस्थित किया। उसी बैठक में भारत सचिव ने भी उसी विषय पर लॉर्ड सभा (House of Lords) में एक प्रस्ताव उपस्थित किया। परन्तु यह दोनों प्रस्ताव पार्लियामेण्ट के अन्य कार्यों के कारण नक्कारखाने में तूती की आवाज बन कर रह गए। फिर भी सन् १८९१ में भारत सचिव ने एक बार फिर चेष्टा की, परन्तु इस बार भी वह असफल रहा। तीसरी बार सन् १८९२ में वह प्रस्ताव एक्ट रूप मे पास हुआ।

इस एक्ट की मुख्य धाराएँ संक्षेप मे निम्न प्रकार थीं :—

(१) व्यवस्थापिका सभाओं का विस्तार

इस एक्ट द्वारा व्यवस्थापिका सभाओं के विस्तार की योजना की गई। केन्द्रीय सभा (Central Council) के 'अतिरिक्त सदस्यों' की अधिक से अधिक संख्या १२ से १६ तक रखी गई। प्रान्तीय सभाओ में मद्रास, बम्बई और बंगाल मे 'अतिरिक्त सदस्यों' की अधिक से अधिक संख्या २०, और संयुक्त प्रान्त (United Provinces) के लिए १५ नियत की गई। सन् १८९७ में पंजाब और वर्मा के लिए भी व्यवस्थापिका सभा (Legislative Council) की स्थापना की गई। उनके लिए अतिरिक्त सदस्यों की अधिक से अधिक संख्या ९ नियत की गई।

(२) प्रश्न का अधिकार

इस एक्ट द्वारा यह भी निश्चित किया गया कि कोई भी सदस्य कार्यकारिणी (Executive) से कोई प्रश्न पूछ सकता है, परन्तु उस प्रश्न का उद्देश्य केवल किसी बात की सूचना प्राप्ति ही होना चाहिए। प्रश्न की भाषा में न तो तर्क की छाया होनी चाहिए और न आक्षेप की, न वह प्रश्न केवल कल्पना की उड़ान ही होना चाहिए। सूचना देकर ही प्रश्न किया जा सकता था। एक्ट द्वारा सभापति (President) को यह अधिकार प्रदान किया गया कि यदि वह चाहे तो किसी ऐसे प्रश्न को पूछे जाने से रोकदे। यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि प्रश्न के उत्तर पर विवाद करने का अधिकार नहीं था। इस प्रकार इस एक्ट द्वारा सूचना प्राप्त करने का माध्यम तो मिला, परन्तु आलोचना के लिए कोई आश्रय नहीं मिला।

(३) वार्षिक आय सम्बन्धी ब्योरे पर विवाद का विधान

इस एक्ट द्वारा आय के वार्षिक ब्योरे पर बहस करने का अधिकार भी दिया गया। बैठक के कुछ दिन पहले ही वार्षिक आय के ब्योरे की एक-एक प्रति प्रत्येक सदस्य को दे दी जाती थी। प्रत्येक सदस्य उस ब्योरे के किसी भी अंश की व्याख्या कर उस पर विवाद कर सकता था। प्रत्येक सदस्य को अपने सुझाव उपस्थित करने की भी स्वतन्त्रता थी। आय-सदस्य, विभाग के अध्यक्ष—यदि वे नियुक्त किए गए अतिरिक्त

सदस्य थे—और सभापति उत्तर देकर विवाद को समाप्त कर सकते थे। फिर भी न तो किसी प्रकार का कोई प्रस्ताव ही पास किया जा सकता था और न सदस्यों में मतभेद होने के कारण विभाजन ही हो सकता था। एक्ट का यह विधान वस्तुतः पिछले तीस वर्ष की कार्य प्रणाली से कहीं अधिक उन्नत और विकसित था। सन् १८९२ के एक्ट के पहले भारत सरकार वार्षिक बजट को भारतीय गजट में छाप कर देश निवासियों के सन्मुख रख देती थी, और इसी में ही असीम सन्तुष्टि का अनुभव करती थी। देशवासी भी दर्शक के रूप में उसका अवलोकन मात्र कर सकते थे परन्तु उस पर शंका उत्पन्न करना अथवा आलोचना करना सम्भव नहीं था।

(४) निर्वाचन का प्रश्न

निर्वाचन के सिद्धान्त को इस एक्ट द्वारा प्रचलित नहीं किया गया। कल्पित आशाओं के झुरमुट में इस प्रश्न का वास्तविक अस्तित्व छिप गया। इस एक्ट की धारा १ की उपधारा चार निम्न प्रकार से थी—

गवर्नर जनरल और उसकी समिति भारत सचिव की स्वीकृति लेकर समय-समय पर गवर्नर जनरल, गवर्नर और लेफ्टिनेन्ट गवर्नर द्वारा होने वाली नियुक्तियों के सम्बन्ध में नियम बना सकते है और उस कार्यप्रणाली का भी निर्देश कर सकते हैं जिसके द्वारा इन नियमों का पालन होगा।'

जब कि यह प्रस्ताव उपस्थित किया गया था इस धारा के सम्बन्ध मे लॉर्ड किम्बर्ले (Lord Kimberley) ने अपने विचार निम्न रूप से प्रकट किये थे—

मैं इसलिए सन्तुष्ट हूँ कि एक अंश तक इसमें निर्वाचन के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया गया है, मुझे यह विश्वास है कि इस धारा की सहायता से गवर्नर जनरल के लिए कुछ ऐसे प्रबन्ध करना सरल हो जायगा जिससे कुछ प्रमुख व्यक्ति उसके सन्मुख चुनाव करके लाये जा सकें। गवर्नर जनरल को केवल यही देखना है कि ऐसा क्रम स्थापित किया जा सकता है अथवा नहीं।'

वाद-विवाद को समाप्त करते समय ग्लैडस्टन ने यह स्वीकार किया कि उपधारा की भाषा वास्तव में कुछ ऐसी अनोखी थी कि उसका केवल एक यही यथार्थ और शुद्ध लक्ष्य समझा जा सकता था—यदि सब प्रकार से सम्भव हो तो निर्वाचन सिद्धान्त ग्रहण कर लिया जाय। यदि ऐसा है तो एक नवीन समस्या उठ खड़ी होती है। क्या पार्लियामेण्ट निर्वाचन के नियम को लिखकर स्पष्ट करे अथवा यह बात गवर्नर जनरल और उसकी समिति के निर्णय पर छोड़ दी जाय। ग्लैडस्टन ने दूसरी बात का समर्थन किया। यद्यपि इस बात में वह न्याय का अनुभव करता था कि भारतीय जन का प्रतिनिधित्व केवल छाया मात्र न होकर वास्तविक हो, परन्तु फिर भी मतभेद के सिद्धान्त से उसे घृणा थी। उसका यह विचार था कि मतभेद कदाचित् किसी प्रकार

का मिथ्या बोध अथवा भ्रम उत्पन्न कर दे। इसलिए चुनाव के सिद्धान्त की स्वीकृति उसने गवर्नर जनरल की इच्छा पर ही छोड दी।

इसी प्रकार गैर सरकारी सदस्यों के अधिकार और कार्यों के सम्बन्ध में इस एक्ट द्वारा उन्हें केवल "आलोचना करने, सुझाव उपस्थित करने, किसी विषय के लिए प्रार्थना करने और पूछताछ करने" की स्वतन्त्रता प्रदान की गई। परन्तु व्यवहारिक रूप में गैर सरकारी सदस्यो की आलोचना भी व्यर्थ की बकवास मात्र थी जिसमें कोई शक्ति, कोई प्रभाव नही था।

इस प्रकार शिक्षित भारतवर्ष के परिश्रम का प्रथम फल इस एक्ट द्वारा केवल इतना ही हुआ कि निरकुश विदेशी शासन भारतीयों के प्रति उत्तरदायी होने और उनके नियन्त्रण में रहने का ढोंग रचकर रहने लगा। भारतवासियों के हृदय पर इसका वडा कुप्रभाव पड़ा। अपने शासकों के न्याय और उनकी निष्पक्षता पर से भारतीयों का विश्वास उठ गया।

इतना अवश्य स्वीकार करना पडेगा कि इस एक्ट द्वारा निरंकुश शासन की नींव भी थोड़ी बहुत हिल गई। इस एक्ट के समय से हम भारतवर्ष में सचिवतन्त्र सरकार का आरम्भ मान सकते हैं, भले ही वह एक अणुमात्र हो। परन्तु एक्ट के निर्माताओं की ऐसी कोई धारणा नही थी। आलोचकों की घुटी हुई और प्रभाव रहित आलोचना द्वारा ही वास्तविक नियन्त्रण की ओर उन्मुख होने की ओर आशा की जा सकती है। इस प्रकार यह एक्ट अनजाने में ही सचिवतन्त्र सरकार के आदर्श की ओर भारत सरकार की शासन-प्रणाली को अग्रसर करने वाला सिद्ध हुआ।

(३) मॉर्ले-मिण्टो सुधार (सन् १६०६)[1]

भारतवर्ष में असचिवतन्त्र शासन के युग का अन्तिम एक्ट है सन् १६०६ का मॉर्ले-मिण्टो सुधार एक्ट। लॉर्ड कर्ज़न (Lord Curzon) के शासनकाल मे भारतवासियों के हृदय पर जो घाव हो गये थे, उनको भरने के लिए ही यह एक्ट सम्राट द्वारा पास किया गया था।

इस प्रकार भारतवासियों की प्रतिक्रियाको शान्त करनेके लिए ही इस एक्ट का निर्माण किया गया था। इसलिए निःसन्देह इस एक्ट द्वारा वैधानिक विकास की ओर एक पग और वढाया गया। जहां तक इस ऐक्ट की भाषा का प्रश्न है, निस्सन्देह इस एक्ट द्वारा सचिवतन्त्र के आदर्श का दृढ़ एवं निश्चित निषेध किया गया। परन्तु व्यवहार रूप में यह एक्ट अंगरेजों का निश्चित रूप से समर्पण ही था, जिसके द्वारा वे भारतवर्ष को सचिवतन्त्र सरकार के समीप लाये। प्रतिनिधात्मक संस्थाओं के विकास के इतिहास में तो इस एक्ट का महत्व है ही, परन्तु भारतवर्ष में प्रजातन्त्र की ओर

[1] The Morley Minto Reforms of 1909.

आजाने परन्तु निश्चय रूप मे अग्रसर करने वाले एक्ट के रूप में इसका और भी अधिक महत्व है।

लॉर्ड रिपन (Lord Ripon) के सन् १८८२ के 'स्थानीय स्वराज्य एक्ट' (Local Self Government Act) के आगामी वर्षों में इंग्लैंड में परिवर्तन विरोधी-दल (Conservative Party) का प्रभुत्व रहा। अगरेजों की उदारता जो भारतवर्ष में राजनैतिक जीवन के पौधे की वढ़ती में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करती थी, अव केवल एक छायारूप रह गई थी। यह काल भारतवर्ष के वैधानिक विकास क्षेत्र का प्रवाहहीन और स्थिरता का काल था। परिणामस्वरूप सन् १८९२ के समिति एक्ट (Council Act of 1892) मे निर्वाचन सिद्धान्त को कोई स्थान नहीं दिया गया। इस काल के अन्तिम वर्षों में और विशेपरूप से सन् १९०५ में भारतवर्ष जैसा कि केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा (Central Legislative Council) मे श्री गोखले ने कहा था, "अस्तव्यस्तता और उपद्रव की ओर अग्रसर हो रहा" था। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त और वीसवी शताब्दी के प्रारम्भिक चार-पांच वर्षों में लॉर्ड कर्जन ने यह वतलाया कि किन उपायों द्वारा और किस सीमा तक भारतवर्ष के निवासियों को एक अनुत्तरदायी नौकरशाही सरकार द्वारा पीडित किया जा सकता है। लॉर्ड कर्ज़न ने पूर्वी वगाल और आसाम को सम्पूर्ण बंगाल प्रदेश से हटाकर एक पृथक प्रदेश बनाने की चेष्टा की। वगाल प्रदेश के निवासी इस बात को समझ चुके थे कि इस उपाय से अगरेज सरकार योग्य और निपुण शासन के पर्दे में भारतवर्ष के सबसे अधिक जाग्रत और राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत इस प्रदेश को खण्डित करना चाहती है। विशेपकर हिन्दू जाति को यह विश्वास था कि अपनी इस धीमी परन्तु विश्वस्त और कुशल नीति द्वारा अँगरेज शासक भारत-वर्ष के खण्ड करके उसपर सदा के लिए अपना शासन स्थापित करना चाहते हैं। हिन्दुओं को अँगरेजों की यह नीति मुसलमानों को प्रसन्न करने और उनके राजनैतिक स्तर को ऊँचा उठाने के लिए प्रयोग की हुई प्रतीत हुई। लॉर्ड कर्ज़न इस बात की बधाई के पात्र हैं कि उन्होंने सन् १९४७, जो कि भारत के लिए सबसे अधिक घातक वर्ष था, के बँटवारे के बहुत पहलेही भारतवर्ष की भूमि पर अल्पकालिक और भारतीय मुसलमानों के हृदय में नित्य और स्थायी पाकिस्तान का निर्माण कर दिया। " 'वगाल के बँटवारे' के नाम से जिस आन्दोलन द्वारा सामर्थ्य और प्रभाव की सृष्टि हुई, आगे चलकर कभी उसकी गति रुद्ध नहीं हुई, अपितु" जैसा कि जॉन कोटमैन ने कहा है, "उसका वल वढ़ता ही गया और आगामी प्रत्येक समय में उन्होंने अपने उद्देश्य एव लक्ष्य में वृद्धि की।"[१] शासकों में फिर से भारतवर्ष का फिर से विश्वास विठाने के

1 "The forces released by the 'Bengal Partition' agitation were never again imprisoned but grew in strength and increased their objectives with every decade that passed" —John Coatman.

लिए क्लेशप्रद बँटवारे से किसी शान्तिदायक वस्तु की अधिक आवश्यकता थी। और इस घाव की पीडा को दूर करने के लिए जो औषधि दी गई वही मॉर्ले-मिण्टो सुधार एक्ट था।

वास्तव में मॉर्ले-मिण्टो सुधार एक्ट के पास होने में बँटवारे के विरुद्ध आन्दोलन का काफी प्रभाव पड़ा था। परन्तु इस बात को विस्मरण नहीं करना चाहिये कि इस एक्ट के पास होने में अधिकतर हाथ उदार दल (Liberal Party) का था, जिसने दिसम्बर सन् १९०५ के चुनाव में बहुमत से विजय प्राप्त की थी। परिवर्तन विरोधी दल (Conservative Party) के सदस्यों की तो यही धारणा थी कि भारतवासियों में न तो अपने देश के शासन में भाग लेने की योग्यता ही है और न उनके घावों को ठीक करने की कोई आवश्यकता ही है। उदार दल (Liberal Party) के नेता सर हेनरी केम्पबेल बेनरमैन (Sir Henry Campbell Bannerman) के मन्त्रिमण्डल मे जॉन मार्ले (John Morley) की नियुक्ति भारत सचिव के पद पर हुई। लॉर्ड कर्ज़न के शासन और विशेष रूप से उनके बंगाल के बँटवारे ने भारतवर्ष में अशान्ति उत्पन्न कर दी थी जिसका प्रदर्शन गुप्तरूप से और प्रत्यक्षरूप से भी हो रहा था। इसलिए मॉर्ले को इस उपद्रव को दबाने के लिए कुछ कठोरता से काम लेना पडा। परन्तु बहुत शीघ्र ही उन्हें भी इस बात का अनुभव हो गया कि भारतवासियों को सन्तुष्ट करने के लिए भारत के वैधानिक विकास को एक पग और बढ़ाने की आवश्यकता है। मॉर्ले के अनुसार यह विश्वास ऐसा होना चाहिए था जो शासन को सहानुभूतिपूर्ण बना दे और शासन के कार्यों में जनता को भी कुछ अधिकार प्रदान करे।

लॉर्ड मार्ले के प्रस्ताव के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित थे—

(अ) भारतीय व्यवस्थापिका सभाओं (Indian Legislative Councils) के सदस्यों की संख्या बढ़ाकर, नियुक्ति के स्थान में निर्वाचन सिद्धान्त प्रचलित कर और वाद-विवाद के सम्बन्धमें उन्हें कुछ अधिक स्वतन्त्रता प्रदान कर, इन सभाओं को प्रतिनिधात्मक सभा का वास्तविक स्वरूप प्रदान करना।

(ब) उच्च सरकारी पदों पर भारतीयों को अधिक स्थान देना, और

(स) स्थानीय शासन को व्यापक और प्रभावपूर्ण स्वरूप प्रदान करना, जिससे जैसा कि श्री वी० के० ठाकुर ने कहा है, "स्थानीय स्वराज्य की संस्थाएँ वास्तविक रूप से स्वतन्त्र हो सकें और विभिन्न प्रान्त, शासन की इकाई का स्वरूप त्याग, सत्यरूप में सरकार का स्वरूप धारण कर सकें।"

सन् १९०९ के एक्ट की मुख्य धाराएँ तथा उनके परिशिष्ट रूप नियमों को संक्षेप में निम्न प्रकार से रखा जा सकता है—

(१) इस एक्ट द्वारा व्यवस्थापिका सभाओं (Legislative Councils)

को आकार बढा दिया गया। गवर्नर जनरल की समिति (Council) के सदस्यों की संख्या १६ से बढ़ाकर ६० कर दी गई। बंगाल, मदरास और बम्बई की सभाओं के सदस्यों की संख्या २० से बढाकर ५० और संयुक्त प्रदेश के सदस्यों की संख्या १५ से बढाकर ५० कर दी गई।

(२) इस एक्ट द्वारा यह निश्चित हो गया कि व्यवस्थापिका सभाओं (Legislative Councils) में नियुक्त किये गये और निर्वाचित—दोनों प्रकार के सदस्य होंगे। निर्वाचित सदस्यों की संख्या और उनका अनुपात एक पृथक नियम द्वारा निश्चित किये जाने के लिए छोड़ दिये गये। सन् १८९२ के एक्ट में छिपाकर रखे गये निर्वाचन सिद्धान्त को इस एक्ट द्वारा स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लिया गया। इस प्रकार सन् १९०९ के एक्ट द्वारा जो नियम प्रस्तावित किये गये, उनका उद्देश्य था—

(अ) सरकार में समुचित सरकारी प्रतिनिधित्व हो, और

(ब) देश के विभिन्न वर्गों और समुदायों का जहांतक हो सके वहा तक निष्पक्ष प्रतिनिधित्व हो।

इस प्रकार के नियमों द्वारा नियुक्ति की विधि केवल निम्नलिखित सदस्यों के लिए ही रही—

(अ) सरकारी सदस्यों की नियुक्ति, और

(ब) निर्वाचित सदस्यों की पूर्ति के लिए गैर सरकारी सदस्यों की नियुक्ति।

इस प्रकार अब प्रत्येक सभा (Council) में तीन प्रकार के निम्नलिखित अतिरिक्त सदस्य रहे—

(अ) नियुक्त किये हुए सरकारी सदस्य,

(ब) नियुक्त किये हुए गैर सरकारी सदस्य, और

(स) निर्वाचित सदस्य।

गैर सरकारी सदस्यों की नियुक्ति विशेष हितों और समुदायों के प्रतिनिधित्व के लिए विशेषज्ञों की आवश्यकता की पूर्ति के लिए प्रचलित रखी गई थी क्योंकि और चुनाव में प्राय योग्य व्यक्तियों का अभाव रह जाता है। वास्तव में समूह की स्वाभाविक प्रवृत्ति की विशेषता लिए हुए वर्तमान प्रजातन्त्र राज्य अफलातून (Plato) के बतलाये हुए 'दार्शनिक सम्राट' का निर्माण नहीं कर सकता। आधुनिक प्रजातन्त्र योग्यता और कुशलनीतिज्ञता के स्थान पर बहु संख्या को प्रोत्साहन देता है। आज का प्रजातन्त्र शासन गुणी और योग्य शासकों का शासन न होकर बढ़-चढ़कर बोलने वाले संचालकों का शासन होता है। फिर भी गैर सरकारी सदस्यों की नियुक्ति की धारा के द्वारा सन् १९०९ के एक्ट निर्माताओं का विचार प्रजातन्त्र के इन दोषों का निवारण नहीं था। उनकी आकांक्षा तो यही थी कि व्यक्तियों का एक ऐसा संघ बना

दिया जाय जो नियुक्त किये गये सरकारी सदस्यों की जनता की आकांक्षाओं को कुचलने में सहायता कर सके और उस नींव पर अँगरेजी साम्राज्य का महल सरलता के साथ खड़ा किया जा सके। निर्वाचित सदस्यों के चुनाव के लिए जो निर्वाचन क्षेत्र बनाये गये थे, वे थे—म्यूनिसिपैलिटी, जिला बोर्ड, युनीवर्सिटी, चेम्बर्स आफ कामर्स, विभिन्न व्यापार संघ और जमींदार आदि के सघ। पृथक-पृथक प्रतिनिधित्व की प्राप्ति में मुसलमान सफल हुए। पृथक प्रतिनिधित्व पाकिस्तान का बोडा था जिसे सरकार ने वैधानिक ढग पर स्वीकार किया। यह धारा लॉर्ड कर्ज़न के बंगाल के बँटवारे की तीक्ष्ण और मर्मभेदी अवशेष थी। भारतवर्ष की भूमि में इस प्रकार का बोया हुआ बीज समय पाकर बढ़ चला और अन्त में पाकिस्तान इसी के फलस्वरूप प्रकट हुआ।

(३) इस एक्ट द्वारा यह निश्चित किया गया कि गवर्नर जनरल और मदरास और बम्बई के गवर्नर की व्यवस्थापिका सभाओं के कम से क्रम आधे अतिरिक्त सदस्य, और अन्य व्यवस्थापिका सभाओं के कमसे कम एक तिहाई सदस्य, वे व्यक्ति होने चाहिए जो सम्राट (Crown) की सेना में अथवा शासन से सम्बन्धित कर्मचारी न हों। इस प्रकार प्रत्येक सभा (Council) में सरकारी बहुमत रखना इस एक्ट द्वारा गैर कानूनी नहीं माना गया। परन्तु २७ नवम्बर सन् १९०८ के अपने पत्र नं० १९२ मे भारत सचिव ने यह लिखा कि प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं में सरकारी बहुमत को त्यागा भी जा सकता है। परन्तु पत्र में यह बात निश्चित रूप से कही गई थी कि केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा (Central Legislature) में सरकारी बहुमत पुष्ट रूप से स्थिर रहना चाहिए। इन नियमों के अनुसार आरम्भ से ही सभाओं का निर्माण ऐसा किया गया था कि इन दोनों सिद्धान्तों का व्यावहारिक रूप में प्रयोग हो जाए। इस का यह अर्थ नहीं लगा लेना चाहिए कि प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं में निर्वाचित सदस्यों का ही बहुमत रहेगा। व्यावहारिक रूप में बिलकुल इस के विपरीत ही कार्य होता था। देखने में तो निर्वाचित सदस्यो और नियुक्त किए गए गैर सरकारी सदस्यों का ही बहुमत जान पड़ता था। परन्तु यह गैर सरकारी सदस्य, जिनमें अपने अंगरेज स्वामियो के प्रति स्वामि-भक्त रहने का बड़ा उत्साह था, सदा ही बाजी पलट देते थे। जब किसी बात के निर्णय का अवसर आता था अथवा किसी कार्य के सम्पादन का अवसर आता था, तब प्रायः नियुक्त किए गए सरकारी और गैर सरकारी सदस्य मिलकर बहुमत में हो जाते थे। इस प्रकार सामन्त शाही वैधानिक भ्रम के आवरण में फलफूल रही थी, और निर्वाचित सदस्यों का कार्य व्यर्थ में चिल्लाना अथवा दीवारो से लडना ही था। इसके अतिरिक्त जो कुछ एक्ट द्वारा दिया गया था वह बाद के उन नियमों द्वारा छीन लिया गया जिनके द्वारा निर्वाचित सदस्यों का प्रतिनिधित्व निश्चित होना था। इस प्रकार वे व्यक्ति जिन्हें सदस्यता का चुनाव लडने को अधिकार दिया गया, जमींदार अथवा बड़े बडे धनी और व्यापारी वर्ग के थे। ऐसे व्यक्तियों का स्वयं का जीवन सामन्त शाही के दृढ होने

मे ही सन्तुष्ट और समुन्नत रह सकता था। इस प्रकार यह जानते हुए कि उनके लिए समृद्धि किस ओर है, उनका सामन्त शाही का पक्षपाती होना आवश्यक ही था। इसके पश्चात जो कुछ निर्वाचन में रह गया उसकी कमी मुसलमान सदस्यों द्वारा पूरी कर दी गई जिन्हें कि अंगरेजों ने पृथक निर्वाचन देकर प्रसन्न कर दिया था। यह स्वीकार करना ही पडेगा कि सन् १६०६ के एक्ट मे निर्वाचन सिद्धान्त को केवल सैद्धान्तिक रूप में ही स्वीकार किया गया, और इसके द्वारा जिन व्यवस्थापिका सभाओं का निर्माण किया गया उन्हें किसी प्रकार से भी प्रतिनिधात्मक नहीं कहा जा सकता। सन् १६०६ के एक्ट द्वारा प्रतिनिधात्मक प्रजातन्त्र के आवरण मे निर्वाचित सामन्तशाही निरकुश शासन को ही जन्म मिला।

(४) और कुछ नहीं तो कम से कम लिखित रूप में एक्ट द्वारा व्यवस्थापिका सभाओं के कार्यों मे भी वृद्धि हुई। सन् १८६२ के एक्ट द्वारा व्यवस्थापिका सभा के सदस्यों को केवल यही अधिकार प्राप्त हुए थे कि वे वार्षिक बजट के ब्योरे पर वादविवाद कर सकते है और कार्य्य कारिणी (Executive) से शासन के सम्बन्ध में प्रश्न पूछ सकते हैं। परन्तु उन्हें किसी भी विषय पर किसी प्रकार का प्रस्ताव उपस्थित करने अथवा सभा को मत के विषय में विभाजित करने का अधिकार नहीं था। अब तक यह प्रथा थी कि कार्यकारिणी (Executive) के बनाए हुए बजट पर वादविवाद करने के लिए प्रत्येक व्यवस्थापिका सभा में दो दिन नियत कर दिए जाते थे। सन् १६०६ के एक्ट द्वारा इस विषय मे कुछ वृद्धि हुई। इस एक्ट ने सभा (Councils) को यह अधिकार दिया कि बजट तथा अन्य किसी भी जनहित के विषय पर सभा (Council) प्रस्ताव उपस्थित कर सकती है और इन विषयों पर मत भी दे सकती है। जो कुछ भी इस प्रकार दिया गया वह सब कुछ निम्नलिखित धारा के अनुसार फिर से छीन लिया गया। यह प्रस्ताव कार्यकारिणी (Executive) से प्रार्थना पत्र के रूप में ही उपस्थित किए जा सकते थे, परन्तु कार्यकारिणी (Executive) इन प्रस्तावों को स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं थी। 'सरकार' जैसा कि लॉर्ड मॉर्ले ने अपने दिसम्बर सन् १६०८ के भाषण में कहा था, "जैसा उचित समझेगी उसी प्रकार इन प्रस्तावों को सावधानी अथवा असावधानी के साथ काम में लाएगी।"[1] इस प्रकार कार्य कारिणी (Executive) की सत्ता को नष्ट न होने दिया गया। कार्यकारिणी (Executive) अब भी व्यवस्थापिका सभा (Lesiglative Council) की आशाओं पर पानी फेर सकती थी। प्रश्न पूछने के अधिकार को इस प्रकार आगे बढा दिया गया कि प्रश्न के उत्तर पर भी प्रश्न किया जा सकता था, परन्तु सभापति चाहे तो उसे इस प्रकार के प्रश्नों को रोकने का अधिकार था। "सन् १८६२ से भारतीय

---

1. The Governments will deal with these resolutions as carefully or as carelessly, as they think fit"

—Lord Morley

व्यवस्थापिका सभा जिसमें यद्यपि ऐसे प्रतिनिधि होते थे जो वास्तव में निर्वाचित होते थे, केवल खिलौने के पृथक पृथक समूह मात्र थीं, और कार्य के क्षेत्रमें भी उनका कोई प्रतिनिधित्मक स्वरूप न था।"[1]

दिसम्बर सन् १६०८ के अपने भाषण में लॉर्ड मॉर्ले ने इन प्रस्तावों को "भारतवर्ष और इंग्लैंड के इतिहास में एक महत्व पूर्ण अध्याय का आरम्भ" करने वाला तथा "स्वय वैधानिक सुधार का एक अध्याय" बतलाया। लॉर्ड मॉर्ले का यह कथन कुछ अधिक उच्छृङ्खल सा प्रतीत होता है। पार्लियामेण्ट द्वारा जो कानून अथवा नियम भारतवर्ष के लिये बनाए गए थे उन सब में एक तारतम्य है, एकसूत्रता है, और उनमें किसी प्रकार का विभाजन अवास्तविक और जबरदस्ती लादा हुआ माना जायगा। परन्तु सन् १६०६ के एक्ट का सन् १८७२ के एक्ट से इस सम्बन्ध में अधिक महत्व है कि इस एक्ट द्वारा वैधानिक प्रयोगों के एक युग का अन्त और दूसरे युग का प्रारम्भ होता है।

जन-सम्मति द्वारा भी इस एक्ट का स्वागत इसी रूप में हुआ। भारतवासियों ने इस एक्ट को वैधानिक विकास मार्ग के एक महत्वपूर्ण पग के रूप में ही स्वीकार किया। भारतवासी भी पाश्चात्य अर्थ में नागरिक बनने के लिए बहुत समय से उत्सुक थे, जिन्हें कि व्यवस्थापिका सभाओं में अपने प्रतिनिधि चुन कर भेजने का अधिकार होता है जिससे कि वह कार्यकारिणी की नीति और उसके शासन को जनता की इच्छा के अनुकूल बना सके। इस प्रकार बिना प्रतिनिधात्मक व्यवस्थापिका सभाओं के पाश्चात्य अर्थ की राजनैतिक स्वतन्त्रता असम्भव थी। राजनैतिक स्वतन्त्रता का समस्त तत्व एवं सार और नागरिकता का महत्व दोनों ही मताधिकार में अन्तर्हित थे। भारतीयो को इस बात का पूर्ण ज्ञान था कि स्वतन्त्रता और स्वराज्य से पहले उन्हें मताधिकार पर विजय पानी थी। सन् १८९२ में उनका परिश्रम और चेष्टायें व्यर्थ और असफल रहो। इसलिये निर्वाचन सिद्धान्त की स्वीकृति—भले ही वह सीमित और अधूरी थी—भारतीयों की प्रथम विजय थी।

यहाँ यह बात अवश्य ध्यान मे रखने की है कि इस एक्ट द्वारा किसी नवीन लक्ष्य की पूर्ति नहीं हुई। अंगरेजों के सन्मुख अब भी उसी दरबार-राज्य का आदर्श था। प्रजातन्त्र के सम्बन्ध में स्वय लॉर्ड मॉर्ले ने दृढ़तापूर्वक कहा था कि इस सम्बन्ध मे कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हो सकता। उसने प्रत्यक्ष रूप से यह कहा कि "यदि यह कहा जाए, भारतवर्ष में पार्लियामेण्ट-प्रणाली स्थापित करने में इन सुधारो

---

[1] "Nevertheless the Indian Legislatures from 1892, though containing representatives who were really elected were in numbers mere toy assemblies, nor could they claim a representative character."
—B. K. Thakore.

के अध्याय का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से हाथ हो तो मेरा इससे किसी प्रकार का कैसा भी सम्बन्ध नहीं होगा।"[1] परन्तु इस एक्ट ने भारत को सचिवतंत्र सरकार के लक्ष्य की ओर अग्रसर किया यद्यपि स्वय लॉर्ड मॉर्ले ही इसे न देख सके। भारतीय व्यक्तियों के विचार और आदर्श, उनकी इच्छाओं और आकांक्षाओं के विशेषरूप मे केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा (Central Legislative Council) मे प्रकट करने के लिए लार्ड मॉर्ले के यह प्रस्ताव अत्यन्त महत्वपूर्ण थे, प्रतिनिधात्मक सरकार के विवेचन आलोचना आदि उन सिद्धान्तों के विकास के लिए भी इस एक्ट ने क्षेत्र प्रदान किया जो वर्तमान प्रजातन्त्र के स्तम्भ हैं। परिणाम स्वरूप मॉर्ले-मिण्टो सुधार एक्ट ने भारत वर्ष की प्राचीन पैतृक शासन व्यवस्था और सन् १९१९ की प्रत्यक्ष और स्पष्ट सचिवतन्त्र शासन प्रणाली के मध्य में सेतु का कार्य किया।"[2] मॉर्ले-मिन्टो सुधार के अतिरिक्त हमें राष्ट्रीयता के जबरदस्त प्रवाह की शक्ति को भी स्वीकार करना पड़ेगा जिसके द्वारा भारतवर्ष के इतिहास में सचिवतन्त्र शासन की नींव पड़ी और जिसे स्वयं लार्ड मॉर्ले तथा अन्य कोई भी व्यक्ति नही रोक सकता था। परन्तु यह भी सत्य है जैसा कि लॉर्ड मॉर्ले के आलोचकों ने कहा है कि, "यद्यपि लार्ड मॉर्ले ने हमें यह विश्वास दिलाया कि भारतवर्ष में पार्लियामेण्ट शासन प्रणाली स्थापति करने तथा ऐसे कार्य में तनिक सा भाग लेने की भी इसकी इच्छा नहीं थी, परन्तु उसके एक्ट का अवश्य ही यह परिणाम हुआ।" परन्तु यहाँ यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि इस एक्ट की सबसे अधिक दोषपूर्ण और असभ्य परन्तु साथ ही साथ न भूलने योग्य बात थी मुसलमानों के लिए पृथक निर्वाचन क्षेत्र की स्थापना, जिसने भारत वर्ष की भूमि में पाकिस्तान के बीज को बड़ा गहरा बो दिया।

---

[1] "If it could be said that this chapter of reforms led directly or indirectly to the establishment of a Parliamentary system in India, I, for one, would have nothing at all to do with it."

—Lord Morley

[2] "In the upshot, the Morley Minto Reforms proved to be the bridge between the old paternal system of Government in India and the open and avowed beginning of the Parliamentary system made by the 1919 Reforms"

—John Coatman

द्वितीय खण्ड

सन् १६१६ का एक्ट

पहला अध्याय

सन् १६१६ के ऐक्ट के पूर्व शासन की व्यवस्था

"भारतवर्ष की सरकार इंग्लैंड की सरकार के आधीन है, और कोई सरकार उस समय तक आधीन नहीं होती जब तक कि वह अपने से उच्च सरकार के नियंत्रण में न हो तथा कोई कार्य करने और न करने की अनुमति उससे ले।"[1]

सन् १८५८ के एक्ट, जिसके द्वारा भारतवर्ष का शासन प्रबन्ध प्रत्यक्ष रूप से सम्राट (Crown) के नियन्त्रण में आया, भारतवर्ष के लिए जो विधान उपस्थित किया गया, उसमें आरम्भ से ही पार्लियामेंण्ट की सत्ता की स्पष्ट और गहरी छाप थी। यदि हम इस सम्बन्ध मे तनिक विचार कर देखे तो यह स्वाभाविक ही प्रतीत होगा। इंग्लैंड में पार्लियामेन्ट की सत्ता सर्वोच्च है, वहां का सम्राट (His Majesty) पार्लियामेन्ट के आवरण में अकार्य साधक छायामात्र है। भारतवर्ष सम्राट के साम्राज्य का एक अंग था, इस प्रकार यह स्वाभाविक ही था कि उसे भी पार्लियामेण्ट की सत्ता का बोझ अपने पर लादना पडा।

गृह शासन (Home Government)

ब्रिटिश पार्लियामेण्ट की इस सत्ता और अधिकार का प्रदर्शन और प्रयोग इंग्लैंड मे स्थित भारत सचिव और उसकी समिति (Council) द्वारा होता था। भारत सचिव स्थायी रूप से मन्त्रिमण्डल का सदस्य होता था। भारत सरकार को यह आदेश था कि "समय-समय पर प्राप्त होने वाले भारत सचिव के आदेशों और उसकी आज्ञाओं का समुचित पालन किया जाए।"[2] वास्तव में भारतवर्ष पर शासन करने की मुख्य नीति भारत सचिव के निजी निर्णय पर अवलम्बित रहती थी, यद्यपि वह पार्लियामेण्ट और मन्त्रिमण्डल से भी इस संबन्ध मे सम्मति लेता

---

[1] "The Government established in India is subordinate to the Government at home and no Government can be subordinate unless it is within the power of the superior Government to order that what is to be done or left undone" —From Gladstone's Despatch.

[2] गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया एक्ट की धारा ३२ के अनुसार

था। सचालक का स्थान वेस्ट मिनिस्टर (West-minister) था, और डाउनिंग स्ट्रीट (Downing Street) तथा व्हाइट हॉल (White Hall) के साथ सम्पर्क बनाए रखकर वह वहीं से भारतवर्ष के अधिकारियों के लिए आदेश भेज देता था। क्योंकि, जैसा कि लार्ड कर्ज़न ने प्रत्यक्ष रूप से कहा था, शासन प्रबन्ध के सम्बन्ध में भारत सरकार एक नियन्त्रित शाखा मात्र थी।

भारत सरकार

(अ) केन्द्रीय शासन

सन् १८५८ के एक्ट द्वारा भारतवर्ष के लिए जो सर्वोच्च सरकार स्थापित की गई उसमें भारतवर्ष में गवर्नर जनरल और उसकी समिति और इंग्लैंड में भारत सचिव और उसकी समिति थे, शासन के यह दोनों अग सम्राट और उनकी पार्लियामेण्ट (His Majesty 'n Parliament) के आधीन थे। गृह सरकार (Home Government in Enlgand) की सत्ता के कारण उत्पन्न हुए प्रतिबन्धों के अतिरिक्त भारतवर्ष की सरकार प्रत्येक कार्य तथा स्थानीय कार्यों के संबन्ध में गवर्नर जनरल और उसकी समिति पर आश्रित थी। अपने क्षेत्र में वह सर्व सत्ताधारी था। "भारतवर्ष के प्रत्येक भाग के शासन के अधिकार" उसे प्राप्त थे और "उन समस्त भागों के उत्तम शासन के लिए वह उत्तरदायी था।" गवर्नर जनरल को यह आदेश था कि वह प्राय. अपनी समिति (Council) से सम्मति लेकर कार्य करे। परन्तु असाधारण तथा अतिरिक्त अवसरों में उसे अपने मन्त्रिमण्डल के अधिकार को स्वीकार न करने का भी अधिकार था। अन्य अनेक नीति विरुद्ध परन्तु वैधानिक भ्रमों के समान, गवर्नर जनरल के कार्य, निरकुश होते हुए भी सरकारी रूप से समस्त सरकार के कार्य समझे जाते थे। यह इस कारण था क्योंकि भारतवर्ष के कार्यों के लिए गवर्नर जनरल ही भारत सचिव के प्रति, और उसके द्वारा ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के प्रति उत्तरदायी था। परन्तु निर्णय अथवा विवेकहीन उत्तरदायित्व शाब्दिक रूप में एक सत्य भ्रान्ति है। भारतवर्ष के शासन प्रबन्ध के सम्बन्ध में गृह सरकार के प्रति गवर्नर जनरल की आधीनता उसकी स्वाधीनता के बराबर थी। और गृह सरकार के प्रति उसके उत्तरदायित्व का अर्थ भारतीयों और उनके कार्यों के प्रति निरकुश एव क्रूर अनुत्तरदायित्व। इस प्रकार, असत्यवत् ही सही, आधीनता ही उसकी शक्ति और उसके अधिकारों का आधार और आश्रय था।

गवर्नर जनरल की समिति (Council) में ६ सदस्य थे। प्रधान सेनापति (Commander-in-chief) को विशेप सदस्यता प्राप्त थी। सामान्य रूप से कार्य प्रणाली यही थी कि प्रत्येक विपय पर सामूहिक रूप से वादविवाद होता था और अन्त में बहुमत द्वारा उस वादविवाद का परिणाम निश्चय किया जाता था। लॉर्ड केनिंग (Lord Canning) के समय में विभाग वितरण की प्रणाली

प्रारम्भ की गई। समिति (Council) के सदस्यों में, मन्त्रि मण्डल की भांति विभाग के रूप मे कार्य विभाजित कर दिया जाता था। मुख्य विभाग, जिनके आधार पर नामकरण होता था निम्नलिखित थे :—

१. आय,
२. कानून,
३. गृह,
४. अर्थ,
५ व्यापार और व्यवसाय,
६. शिक्षा।

इनके अतिरिक्त विदेश और राजनैतिक विभाग था, जो स्पष्ट रूप से गवर्नर जनरल के हाथों में था, क्योंकि भारतवर्ष मे साम्राज्यशाही के हित का उससे अधिक विश्वासनीय और सिद्ध-हस्त रक्षक कौन हो सकता था ?

(ब) प्रान्तीय शासन

सन् १९१९ के एक्ट के भारत में प्रवेश करने के पूर्व के भारतवर्ष के मानचित्र को यदि हम देखें तो ज्ञात होगा कि उस समय भारतवर्ष आठ प्रमुख तथा ६ छोटे प्रान्तो में विभाजित था। इन प्रान्तों में वर्मा सम्मिलित नहीं था। आठ प्रमुख प्रान्त निम्नलिखित थे—मदरास, बम्बई, बंगाल, सयुक्त प्रान्त, पजाब, मध्यप्रदेश और बरार, बिहार और उड़ीसा, तथा आसाम, इनमें से मदरास, बम्बई और बगाल प्रदेश कहलाते थे। इनका शासन प्रबन्ध गवर्नर और उनकी समिति द्वारा सचालित होता था। संयुक्त प्रान्त, पंजाब, तथा बिहार और उडीसा के प्रान्तों के शासन प्रबन्ध का भार लेफ्टिनंट गवर्नर पर था। परन्तु इनकी सहायता के लिए कार्यकारिणी समिति (Executive Council) नहीं होती थी। आसाम और मध्य प्रदेश का शासन प्रबन्ध चीफ कमिश्नर के हाथों मे था। इनके अतिरिक्त कुर्ग, अजमेर, मेरवाडा, बलूचिस्तान, अंडमान द्वीप, देहली तथा उत्तर पश्चिमी सीमा प्रदेश—यह ६ छोटे प्रान्त थे।

सन् १९१९ के एक्ट के पूर्व भारतवर्ष का शासन एकात्मक राज्य के केन्द्रीय स्वरूप पर होता था। भारतवर्ष में पैतृक राज्य अथवा दरबार राज्य स्थापित करने की आवश्यकता ही इस प्रकार के शासन का आधार थी, क्योंकि यहा के निवासी अगरेज शासकों की दृष्टि में स्वराज्य भोगने के लिए अयोग्य थे। इस प्रकार भारत वर्ष का शासन केन्द्रीय शासन प्रणाली के सिद्धान्तों के अनुकूल था, जो पूर्ण रूप से गवर्नर जनरल और उसकी समिति के कठोर नियन्त्रण मे था। स्वभावतः ही प्रान्तीय शासन का कोई पृथक अस्तित्व नहीं था तथा उस पर केन्द्रीय शासन का यथेष्ट मात्रा में उसी प्रकार नियन्त्रण था जिस प्रकार एक सर्वोच्च सत्ता का अपने

आधीन वस्तु पर होता है। इस आधीन स्थिति का भली भांति तथा स्पष्ट दिग्दर्शन कराने के लिए प्रान्तीय सरकारों को सरकारी रूप से स्थानीय सरकार का नाम प्रदान किया गया था। प्रत्येक क्षेत्र में—चाहे वह आयसम्बन्धी हो चाहे व्यवस्थापक अथवा शासन सम्बन्धी—प्रान्तीय सरकारों के हाथ पैर जकड़े हुए थे और भारत सरकार के सन्मुख वे प्रत्येक प्रकार से विवश थीं। कदाचित् ही कोई ऐसा विषय होगा जिस में भारत सरकार हस्तक्षेप नहीं कर सकती थी, वस्तुतः जिसमें उसने हस्तक्षेप न किया हो।

सिविल सर्विस

जैसा कि उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होगा, केन्द्र तथा प्रान्तों में शासन की सर्वोच्च सत्ता क्रमशः गवर्नर जनरल और उसकी समिति, गवर्नर और उसकी समिति तथा लेफ्टिनेंट गवर्नर में निहित थी। जिस शासन प्रणाली का क्रम यह पदाधिकारी प्रचलित करते थे उसमें विशेष भाग सिविल सर्विस अथवा उच्च सरकारी पदाधिकारियों को इतने अधिकार प्राप्त थे कि वास्तव में इनके सामूहिक रूप को भारत सरकार का रूप कहा जा सकता था। इस एक्ट के पूर्व गवर्नर जनरल, उस की समिति (Council) के व्यवस्थापक सदस्य (Law member), मदरास, बम्बई और बगाल के गवर्नर तथा हाई कोर्ट (High Court) के प्रधान न्यायाधीश (Chief Justice) के अतिरिक्त प्रत्येक उच्च सरकारी पदाधिकारी की नियुक्ति सिविल सर्विस में ही से होती थी। वाइसराय की समिति (Council) में भी कानून विभाग तथा आर्थिक सकट के समय अर्थ विभाग के अतिरिक्त अन्य विभागों का भार सिविल सर्विस के सदस्य ही सँभालते थे। लेफ्टिनेन्ट गवर्नर भी इसी सिविल सर्विस के सदस्य होते थे। प्रान्तीय हाई कोर्ट के न्यायाधीशों की एक निश्चित सख्या भी सिविल सर्विस की कर्मचारी ही होती थी।

भारतीय सिविल सर्विस अन्य देशों से अनेक प्रकार से भिन्न थी, इस विभिन्नता का उल्लेख किराल पुत्र ने बडी योग्यता से किया है जो निम्न प्रकार से है—

(अ) प्रथम, भारतीय सिविल सर्विस में प्रमुख रूप से अगरेज ही थे। सिविल सर्विस में जो भरती होती थी, निस्सन्देह उसका आधार प्रतियोगिता थी, परन्तु इस की परीक्षा लन्दन में होती थी। इसलिए स्वभावत ही भारतीयों की सख्या इसमें एक दम नहीं के समान थी। साम्राज्य शाही के हित की सुरक्षा के लिए यही आवश्यक समझा गया था कि सिविल सर्विस का स्वरूप ब्रिटिश ही रखा जाए।

(ब) दूसरे, भारतवर्ष में सिविल सर्विस केवल शासन प्रबन्ध सभालने वाली ही सस्था न थी। इसे सरकार को सम्मति प्रदान करने का भी अधिकार था।

इन्होंने तो इस बात पर भी बल दिया था कि भारतीय नीति सम्बन्धी प्रत्येक विषय में उनकी सम्मति मांगी जानी चाहिए। "वास्तव में इन्होंने एक शासक वर्ग का स्वरूप धारण कर लिया था जिसके आचार, विचार तथा सिद्धान्त अत्यन्त दृढ़ थे।"[1]

(स) तीसरे, सिविल सर्विस का सम्बन्ध "केवल राजनैतिक शासन प्रबन्ध से ही नहीं था" हाई कोर्ट बेन्च के अन्तर्गत उच्च सरकारी पद उन के लिए सुरक्षित थे। सेक्रेटेरियट (Secretariat) के द्वारा वे शासन की प्रत्येक शाखा, प्रत्येक अंग पर नियंत्रण रखते थे। जन कार्य विभाग, वनो के प्रबन्ध, पुलिस आदि जैसे स्थिर कार्यों के लिए भी भारतीय सिविल सर्विस के पदाधिकारी आदेश भेजा करते थे। वास्तव में सिविल सर्विस के कार्य वह भी थे जो किसी देश के जहां सचिवतन्त्र सरकार होती है—विभिन्न विभागों के अध्यक्षों के होते हैं।

भारतीयता की प्रगति

सन् १६१६ के एक्ट के पूर्व की कार्यकारिणी प्रणाली के सम्बन्ध में उपर्युक्त बातें जान कर हमें भारतीयता के विकास की ओर भी एक दृष्टि डाल लेनी चाहिए। सन् १८६१ के एक्ट द्वारा निरंकुश नौकरशाही नियन्त्रण की दृढ भित्ति को नष्ट किया गया था। शासन प्रबन्ध के सम्बन्ध में इस एक्ट द्वारा यह निश्चय किया गया था कि सरकार में लोकप्रिय प्रतिनिधियों को भी स्थान प्राप्त होना चाहिए। इसी एक्ट द्वारा एक व्यवस्थापिका सभा की स्थापना की गई थी जिसमें भारतीय दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करने के लिए कुछ भारतीयों की नियुक्ति की गई थी। लॉर्ड डफरिन के सन् १८६२ के भारतीय समिति एक्ट (Indian Council Act) ने भारतीय प्रतिनिधित्व को और भी महत्व दिया। लॉर्ड डफरिन की सम्मति थी कि व्यवस्थापिका सभा के आकार को और भी बढा कर दिया जाए तथा उसमें निर्वाचित भारतीय प्रतिनिधियों को स्थान दिया जाए। पन्तु इंग्लैंड के तत्कालीन मन्त्रिमंण्डल ने निर्वाचन सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया। व्यवस्थापिका सभा का आकार अवश्य वढा दिया गया, और उसमें कुछ भारतीय प्रतिनिधियों को स्थान भी दिया गया, परन्तु यह भारतीय प्रतिनिधि सामान्य रूप से नियुक्त किए जाते थे, यद्यपि कुछ विशेष संस्थाओं द्वारा इनका निर्वाचन होता था। इस सभा को वजट पर वाद विवाद करने और कार्यकारिणी से प्रश्न आदि पूछने का भी अधिकार दिया गया। सन् १६०८ के मॉर्ले-मिन्टो सुधार एक्ट ने भारतीय प्रतिनिधित्व को और भी प्रोत्साहन दिया। इस एक्ट द्वारा भारतीय व्यवस्थापिका सभाओं के लिए प्रथम वार निर्वाचन सिद्धान्त प्रयोग में लाया गया। परन्तु अनेक प्रतिबन्धों से

---

1 "In fact they constituted a governing caste with rigid conventions and formulas."

—Kerala Putra.

घिरे रहने के कारण यह एक्ट कुछ विशेष उपयोगी सिद्ध न हुआ। परन्तु निर्वाचन सिद्धान्त को स्वीकार कर लेना ही उस समय एक महत्वपूर्ण परिवर्तन था। अब इन व्यवस्थापिका सभाओं मे तीन प्रकार के सदस्य होते थे—सरकारी सदस्य, नियुक्त किए गए गैर सरकारी सदस्य और निर्वाचित प्रतिनिधि। यहां यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि लगभग समस्त प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं में सरकारी सदस्यों की संख्या अल्प ही थी। परन्तु बगाल के अतिरिक्त, लगभग सभी प्रान्तों में सरकार नियुक्त किए गए गैर सरकारी सदस्यों की सहायता से निर्वाचित प्रतिनिधियों को पराजित कर देती थी। केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा (Central Legislature) में, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सदैव ही सरकार का स्पष्ट एव प्रत्यक्ष बहुमत रहा करता था। व्यवस्थापिका सभाओं के आधार में वृद्धि होने के पश्चात् इन्हे केवल बजट पर वाद-विवाद करने का ही अधिकार प्रदान नहीं किया गया, बल्कि प्रस्ताव उपस्थित करने और मत देकर सभा को विभाजित करने का अधिकार भी इन्हे प्रदान किया गया। जनहित के लिए इन सदस्यों को प्रस्ताव उपस्थित करने का भी अधिकार था। इस एक्ट द्वारा गवर्नर जनरल और प्रान्तीय गवर्नर की कार्य-कारिणी समितियों (Executive Councils) में भारतीय सदस्य रखने की भी व्यवस्था की गई। वास्तव में यह एक महान परिवर्तन था। इस व्यवस्था को बड़े झंझट और कठिनाई से ही कार्य रूप में परिणत किया गया, क्योंकि सम्राट एडवर्ड सप्तम द्वारा इस का कड़ा विरोध किया गया था। लॉर्ड मॉर्ले ने तो भारत सचिव की समिति (Council) में भी एक भारतीय की नियुक्ति कर दी थी, एक ऐसे भारतीय का जिसे कभी शासन प्रबन्ध अनुभव प्राप्त नहीं हुआ हो, इस सरकारी सर्वोच्च पद पर पहुँचना निम्नलिखित तीन बातों से अत्यन्त महत्वपूर्ण था :—

(१) भारतीय सिविल सर्विस पर विदेशियों के एकाधिकार पर यह एक प्रत्यक्ष प्रहार था।

(२) इस नियुक्ति का तात्पर्य था विभिन्न विभागों पर केवल सरकारी नियन्त्रण न हो कर गैर सरकारी नियन्त्रण के सिद्धान्त की स्वीकृति। इस सम्बन्ध मे यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि इस के द्वारा जाति भेद तथा वर्ण भेद भी नष्ट होगया। भारत सरकार ने अब तक वर्ण भेद से ही काम लिया था परन्तु लॉर्ड मॉर्ले ने इस प्रवृत्ति का विरोध बड़े दृढ़ शब्दों में किया।

(३) इस नियुक्ति द्वारा भारतवर्ष के शासन प्रबन्ध के मूल सिद्धान्तों में भी अप्रत्यक्ष रूप से कुछ परिवर्तन हुआ। अब तक अगरेजों ने सदैव ही भारतीयों को कार्यकारिणी के कार्यों से परे रखा था, उनके मतानुसार भारतीय किसी उत्तर-दायित्व को सभालने के योग्य नहीं थे। इस प्रकार उस समय शासन का यही सिद्धान्त प्रचलित था कि शासन का भार सम्भालने के योग्य होने पर ही भारतीयों

को उत्तरदायित्व का भार सौंपा जाए परन्तु सन् १६०६ के एक्ट द्वारा तो अधिक अयोग्य भारतीयो को भी उत्तरदायित्व का भार सौंपा गया। यहां एक अगोचर एंव अति-सूक्ष्म परिवर्त्तन लक्षित किया जा सकता है जिसे सन् १६१६ के एक्ट में स्वीकार किया गया था। और वह परिवर्त्तन इस सिद्धान्त की स्वीकृति था कि उत्तरदायित्व से ही योग्यता की उत्पत्ति हो सकती है। जितना ही एक व्यक्ति पर अधिक विश्वास रखा जाएगा, वह व्यक्ति उतने ही उत्तरदायित्व का अनुभव भी करेगा और अपने में उसका विकास भी करेगा। इस लिए अब यह सिद्धान्त प्रचलित हुआ कि उत्तरदायित्व की उत्पत्ति शून्य से नहीं हो सकती। उत्तरदायित्व की भावना का विकास उत्तरदायित्व ही से हो सकता है।

सन् १६१६ के एक्ट के पूर्व के शासन प्रबन्ध की उपर्युक्त रूपरेखा के पश्चात् पाठक को सन् १६१६ के एक्ट द्वारा होने वाले परिवर्त्तनों के समझने में कोई कठिनाई अनुभव न होगी।

दूसरा अध्याय

सन् १६१६ के एक्ट की विशेषताएं

इतिहास क्रमिक विकास की एक धारा है। प्रकृति के समान मानव के कार्यों का भी कोई मूल उदाहरण नहीं है। परन्तु उसके स्वरूप को ही परिवर्तित कर देने वाले महत्वपूर्ण परिवर्तन उनमें होते हैं, और यह उन्हीं में से एक है।"[1]

इन शब्दों के साथ ६ फरवरी सन् १६२१ को चेम्सफोर्ड ने लार्ड का उद्घाटन किया। उनके यह शब्द सन् १६१६ के एक्ट के महत्व को समझने के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं, वास्तव में सन् १६१६ के भारत सरकार के एक्ट द्वारा जो परिवर्तन किए गए उनका महत्व किसी क्रान्ति से कम न था। वास्तव में यह एक्ट जैसा कि सम्राट (King Emperor) ने राज्यकीय घोषणा (Royal Proclamation) में कहा था "भारत सरकार को उत्तम और श्रेष्ट बनाने तथा वहाँ की जनता को अधिक सन्तुष्ट करने के लिए पास किए गए अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रस्तावों में स्थान पायेगा।"[2]

स्वराज्य के लिए भारतवर्ष का नया कदम

गदर के समय से ही भारतवर्ष स्वतन्त्रता और स्वराज्य प्राप्ति के लिए गिरता पड़ता चेष्टा करता रहा था। भारतीयों की माँगों के उत्तर में अगरेजों ने उन्हें पैतृक शासन में रह कर योग्यता प्राप्त करने और उस समय तक ठहरने के लिए कहा जब तक कि वे शासन का भार सँभालने योग्य न हो जाएँ। और क्योंकि उस समय तक भारतीय जन अपने पैरों पर खड़े होने योग्य नहीं थे इस कारण उन्हें

---

[1] "History is a continuous process In human affairs, as in nature, there are no absolute beginnings But there are changes of degree so great as to be changes of kind and this is one of them"

—Lord Chelmsford.

[2] "An act which would take its place among the great historic measures passed by Parliament for the better Government of India for the greater contentment of her people"

—From the Royal Proclamation

उत्तरदायी सरकार प्रदान नहीं की जा सकती थी, सन् १६०६ के मार्ले मिण्टो सुधार एक्ट तक यही विचार धारा प्रचलित थी परन्तु मान्टेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट के साथ ही पाँसा पलट गया, कुछ साधारण परिवर्त्तनों को छोड कर सन् १६१६ के एक्ट का आधार यही रिपोर्ट थी।

रिपोर्ट के लेखकों का कथन था कि "भारतवर्ष के राजनैतिक भविष्य को केवल सुन्दर और मोहक शब्दावली से ही नहीं जीता जा सकता .... यह स्वयं जनता की इस योग्यता पर ही निर्भर है कि वे आपत्तियों का सामना करें और उन्हें नष्ट करें।"[1] वस्तुतः पुरानी कथा ही इस प्रकार फिर से दोहराई जा रही थी। परन्तु जैसा कि ज्ञात होगा परिवर्त्तन के चिन्ह आगे ही थे। रिपोर्ट के लेखकों ने इस बात पर जोर दिया कि "इस योग्यता का पोषण और इसका विकास केवल स्वतन्त्रता द्वारा ही सम्भव हो सकता है।" वास्तव में यह कथन ग्लैडस्टन के उस विश्वास का पोषक ही था कि, "केवल स्वतन्त्रता ही मनुष्यों को स्वतन्त्रता के योग्य बनाती है।"[2] इसलिए शासन संचालन के पूर्व योग्यता प्राप्त करने के सिद्धान्त को त्याग दिया गया। इस बात पर ज़ोर दिया गया कि अपने स्वत्वों की रक्षा के लिए अपने मताधिकार का प्रयोग करके भारतीयों को अपने पैरों पर खडे होने का अभ्यास करना चाहिए। मान्टेग्यू चेम्सफार्ड की यह विचारधारा अँगरेज सरकार की इस घोषित नीति के अनुकूल थी। "शासन प्रबन्ध के प्रत्येक क्षेत्र मे भारतीयों की अधिक से अधिक भरती और स्वराज्य की संस्थाओं का इस दृष्टिकोण से क्रमिक विकास करना कि भारतवर्ष में—ब्रिटिश साम्रज्य के एक पूर्ण अश के रूप में—उत्तरदायी सरकार को शीघ्राति शीघ्र प्राप्त किया जा सके।" इस प्रकार प्रथम बार भारतवर्ष के शासन प्रबन्ध के सम्बन्ध में अगरेज़ों के दृष्टिकोण मे एक परिवर्त्तन लक्षित हुआ। यह परिवर्त्तन उदार निरकुश शासन को त्यागने और उत्तरदायी सरकार की घोषणा के पक्ष मे था। इस रिपोर्ट मे भारतवर्ष को उदार निरंकुश शासन से निकल कर प्रादेशिक स्वराज्य का युग प्रदान करने का आश्वासन दिया गया। इसलिए दरबार सरकार को जिस का आधार केन्द्रीकरण होता था, सचिव तन्त्र सरकार का स्वरूप प्रदान करने का आश्वासन दिया गया। भारतवर्ष के नवीन एक्ट की यह मोन्टेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट—जिसका महत्व किसी धर्म पुस्तक के महत्व से कम नहीं—कूपलैंड के शब्दों मे "स्वतान्त्रतवाद शासन में विश्वास की घोषणा समान है। सन् १६१६ के एक्ट के द्वारा कूपलैंड के

---

1 "India's political future is not to be won merely by fine phrases...... it depends on the capacity of the people themselves to face difficulties and dispose them of."

—Montague-Chelmsford Report.

2 "It is liberty alone which fits man for liberty."

—Gladstone.

दूसरा अध्याय

सन् १६१६ के एक्ट की विशेषताएं

इतिहास क्रमिक विकास की एक धारा है। प्रकृति के समान मानव के कार्यों का भी कोई मूल उदाहरण नहीं है। परन्तु उसके स्वरूप को ही परिवर्तित कर देने वाले महत्वपूर्ण परिवर्तन उनमें होते हैं, और यह उन्हीं में से एक है।"[1]

इन शब्दों के साथ ६ फरवरी सन् १६२१ को चेम्सफोर्ड ने लार्ड का उद्घाटन किया। उनके यह शब्द सन् १६१६ के एक्ट के महत्व को समझने के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं, वास्तव में सन् १६१६ के भारत सरकार के एक्ट द्वारा जो परिवर्तन किए गए उनका महत्व किसी क्रान्ति से कम न था। वास्तव में यह एक्ट जैसा कि सम्राट (King Emperor) ने राज्यकीय घोषणा (Royal Proclamation) में कहा था "भारत सरकार को उत्तम और श्रेष्ठ बनाने तथा वहाँ की जनता को अधिक सन्तुष्ट करने के लिए पास किए गए अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रस्तावों में स्थान पायेगा।"[2]

स्वराज्य के लिए भारतवर्ष का नया कदम

गदर के समय से ही भारतवर्ष स्वतन्त्रता और स्वराज्य प्राप्ति के लिए गिरता पड़ता चेष्टा करता रहा था। भारतीयों की माँगों के उत्तर में अगरेजों ने उन्हें पैतृक शासन में रह कर योग्यता प्राप्त करने और उस समय तक ठहरने के लिए कहा जब तक कि वे शासन का भार सँभालने योग्य न हो जाएँ। और क्योंकि उस समय तक भारतीय जन अपने पैरों पर खड़े होने योग्य नहीं थे इस कारण उन्हें

---

[1] "History is a continuous process In human affairs, as in nature, there are no absolute beginnings But there are changes of degree so great as to be changes of kind and this is one of them"

—Lord Chelmsford.

[2] "An act which would take its place among the great historic measures passed by Parliament for the better Government of India for the greater contentment of her people"

—From the Royal Proclamation

उत्तरदायी सरकार प्रदान नहीं की जा सकती थी, सन् १६०६ के मार्ले मिण्टो सुधार एक्ट तक यही विचार धारा प्रचलित थी परन्तु मान्टेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट के साथ ही पाँसा पलट गया, कुछ साधारण परिवर्त्तनों को छोड कर सन् १६१६ के एक्ट का आधार यही रिपोर्ट थी।

रिपोर्ट के लेखकों का कथन था कि "भारतवर्ष के राजनैतिक भविष्य को केवल सुन्दर और मोहक शब्दावली से ही नहीं जीता जा सकता .. .. यह स्वयं जनता की इस योग्यता पर ही निर्भर है कि वे आपत्तियों का सामना करें और उन्हे नष्ट करे।"[1] वस्तुतः पुरानी कथा ही इस प्रकार फिर से दोहराई जा रही थी। परन्तु जैसा कि ज्ञात होगा परिवर्त्तन के चिन्ह आगे ही थे। रिपोर्ट के लेखकों ने इस बात पर जोर दिया कि "इस योग्यता का पोषण और इसका विकास केवल स्वतन्त्रता द्वारा ही सम्भव हो सकता है।" वास्तव मे यह कथन ग्लैडस्टन के उस विश्वास का पोषक ही था कि, "केवल स्वतन्त्रता ही मनुष्यों को स्वतन्त्रता के योग्य बनाती है।"[2] इसलिए शासन संचालन के पूर्व योग्यता प्राप्त करने के सिद्धान्त को त्याग दिया गया। इस बात पर ज़ोर दिया गया कि अपने स्वत्वों की रक्षा के लिए अपने मताधिकार का प्रयोग करके भारतीयों को अपने पैरों पर खडे होने का अभ्यास करना चाहिए। मान्टेग्यू चेम्सफार्ड की यह विचारधारा अँगरेज सरकार की इस घोषित नीति के अनुकूल थी। "शासन प्रबन्ध के प्रत्येक क्षेत्र मे भारतीयों की अधिक से अधिक भरती और स्वराज्य की संस्थाओं का इस दृष्टिकोण से क्रमिक विकास करना कि भारतवर्ष मे—ब्रिटिश साम्राज्य के एक पूर्ण अंश के रूप मे—उत्तरदायी सरकार को शीघ्राति शीघ्र प्राप्त किया जा सके।" इस प्रकार प्रथम बार भारतवर्ष के शासन प्रबन्ध के सम्बन्ध में अगरेज़ों के दृष्टिकोण मे एक परिवर्त्तन लक्षित हुआ। यह परिवर्त्तन उदार निरंकुश शासन को त्यागने और उत्तरदायी सरकार की घोषणा के पक्ष में था। इस रिपोर्ट में भारतवर्ष को उदार निरंकुश शासन से निकल कर प्रादेशिक स्वराज्य का युग प्रदान करने का आश्वासन दिया गया। इसलिए दरबार सरकार को जिस का आधार केन्द्रीकरण होता था, सचिव तन्त्र सरकार का स्वरूप प्रदान करने का आश्वासन दिया गया। भारतवर्ष के नवीन एक्ट की यह मोन्टेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट—जिसका महत्व किसी धर्म पुस्तक के महत्व से कम नहीं—कूपलैंड के शब्दों मे "स्वतान्त्रतवाद शासन में विश्वास की घोषणा समान है। सन् १६१६ के एक्ट के द्वारा कूपलैंड के

---

[1] "India's political future is not to be won merely by fine phrases...... .it depends on the capacity of the people themselves to face difficulties and dispose them of."

—Montague-Chelmsford Report.

[2] "It is liberty alone which fits man for liberty."

—Gladstone

शब्दों में, "सिद्धान्त तथा व्यावारिक दोनों प्रकार से क्रान्ति का सा प्रभाव हुआ, सचिवतन्त्र शासन के परित्याग को ही अस्वीकार कर दिया गया।"[1]

परन्तु इस परिवर्त्तन के कारण क्या थे? क्या यह हमारे गोरे अधिकारियों की हम पर कुछ कृपा हुई थी? क्या यह सम्राट की ओर से भेजा गया प्रसाद अथवा उपहार था? कुछ सामान्य बुद्धिवाले व्यक्ति इसी प्रकार के प्रश्न पूछ सकते हैं। परन्तु सत्य कुछ और ही है। साम्राज्यवाद कभी भी उदार नहीं हो सकता, कभी उपहार नहीं दे सकता, कभी दानशील नहीं हो सकता! शासन प्रबन्ध में किया गया परिवर्त्तन वास्तव में भारतवर्ष के स्वय के अकथ परिश्रम का तथा भारतवासियों के राष्ट्रीय आन्दोलन और उसके बलिदान का ही फल था। कुछ अश मॉर्ले-मिण्टो सुधार एक्ट की प्रतिक्रिया-स्वरूप, कुछ अश में प्रथम महायुद्ध के कारण स्वरूप—इस प्रकार यह एक्ट केवल परिस्थितियों द्वारा ही निर्मित हुआ था। इस परिवर्त्तन को प्रकाश में लाने वाले तथ्यों को उनके महत्त्व के अनुसार सक्षेप में निम्न लिखित रूप में रखा जा सकता है.—

(१) राष्ट्रीय आन्दोलन और अमानुपिक शमन मे वृद्धि

सन् १६०८ से सन् १६१८ तक के काल में राजनैतिक शिक्षा और राष्ट्रीय आन्दोलन की बहुमुखी प्रगति हो चुकी थी। अखिल भारतीय काग्रेस (All India National Congress) का सगठन प्रतिदिन बढने लगा था। इस सस्था में लगभग सभी शिक्षित भारतीय प्रवेश करने लगे थे। इनके अतिरिक्त अशिक्षित जनता को भी इस सस्था ने आकर्षित किया। सन् १६०६ की सूरत विभाजन की घटना के पश्चात अखिल भारतीय काग्रेस में गर्म दल का प्रभाव विकसित होने लगा। बगाल मे बम और पिस्तौल की शक्ति बढ़ने लगी। निस्सन्देह यह आन्दोलन भारतवर्ष पर भारतीयों का एकाधिकार सिद्ध करने के लिए ही था, जॉन कोटमैन का विचार है कि यह आन्दोलन भारतवर्ष पर हिन्दुओं के एकाधिकार के लिए था, और अपनी स्थिति को सुरक्षित रखने के लिए सुसगठित तथा दृढ़ भारतीय मुसलमानों ने इसका विरोध किया[2]। यह कह कर जान कोटमैन ने इतिहास को असत्य सिद्ध करने की व्यर्थ चेष्टा की है और एक साम्राज्यवादी के विकृत एव दूषित दृष्टिकोण को निदर्शन किया है। सत्य तो यह है कि अँगरेजों ने कोटमैन जैसे व्यक्तियों के कथन का प्रचार करके भारतीय मुसलमानों के हृदय में इस बात की जड जमानी चाही कि भारतवर्ष पर हिन्दू अपना एकाधिकार जमाना चाहते हैं, जिससे कि अँग्रेज मुसलमानों को राष्ट्रीय आन्दोलन के विरोध में रखकर उस आन्दोलन

---

[1] It was "a declaration of belief in the philosophy of liberalism Thus in fact as in words, the revolution was effected, the repudiation of Parliamentary Government was itself repudiated"

—Coupland.

[२] सम्राट की सन् १६१७ की घोषणा से।

की शक्ति को क्षीण कर सकें। इस प्रकार अँग्रेज साम्राज्यवाद के हित के लिए एक आश्रय खडा करना चाहते थे। प्रथम महायुद्ध के पहले से ही भारतवर्ष में क्रान्ति का जन्म हो चुका था। दिसम्बर सन् १९१२ में ही देहली में तत्कालीन वाइसराय लार्ड हार्डिञ्ज के जीवन पर आक्रमण किया गया था। प्रथम महायुद्ध के झंझावात मे जब भारतवर्ष पर अधिक से अधिक सेना और धन देने के लिए पहले से भी अधिक दबाव डाला जाने लगा। भारतीय नेता यही अनुभव करने लगे थे कि उनकी मागें अब स्वीकार करली जाएंगीं, परन्तु यह व्यर्थ ही था। महायुद्ध के द्वितीय अक मे ही भारतवर्ष में जोरो के साथ अन्तर्देशीय अशान्ति का प्रकोप हुआ। महायुद्ध के पश्चात् के आर्थिक सकट के कारण राजनैतिक क्रांति की जडे और भी दृढ़ होती गई। भारतवर्ष मे इस क्रान्ति के चिन्ह सन् १९०८ मे ही प्रकट होने लगे थे जब कि बगाल में बमो का प्रयोग बडे भयानक रूप मे होने लगा था। सन् १९०९ मे लन्दन में एक पजाबी छात्र द्वारा सर विलियम कर्जन विली (Sir William Curzon Wyllie) की हत्या ने अँग्रेज सरकार को पूर्णतः यह अनुभव करा दिया था कि यदि भारतवर्ष को दासता की बेडियों मे ही सड़ने दिया गया तो भारतवर्ष अपने शासकों को भी जीवित नहीं रहने देगा। साथ ही साथ भारतीय जन अपने संगठन को अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर दृढ़ कर रहे थे। उदाहरणार्थ अमरीका मे स्थापित दल 'गदर' ने भारतवर्ष की स्वतन्त्रता के लक्ष्य का बडे जोरों से प्रचार किया। हमारे वैधानिक विकास मे इस राष्ट्रीय आन्दोलन का भी बहुत बडा भाग था। विशेष रूप से उसी के कारण मान्टेग्यू चेम्सफोर्ड सुधार एक्ट पास किया गया।

(२) नौकरशाही शासन की अनुपयुक्तता

इसके अतिरिक्त नौकरशाही शासन भी अब काल विरुद्ध हो चला था। जनता की नवीन और आधुनिकतम आवश्यकताओं की पूर्ति इस शासन द्वारा नहीं हो सकती थी। इसलिए सुधार की आवश्यकता अनुभव की गई।

सरकारी कर्मचारी (Civil Servants) मुगल बादशाहो के समान स्वायत्त वातावरण मे पले थे। परन्तु अब सेक्रेटेरियट (Secretariat) द्वारा उनपर अत्यन्त अधिक मात्रा में नियन्त्रण रखा जाने लगा। परिणाम यह हुआ, जैसा कि किरल पुत्र (Keralo Putra) ने कहा है कि सरकारी कर्मचारी अब किसी प्राण रहित मन्त्र के समान हो गए जिनका शासित जनता से किसी प्रकार का सम्पर्क नहीं रहा।" एक समय ऐसा था जब यातायात के तीव्र साधनों के न होने के कारण जिले के स्थानीय अधिकारियों को यथेष्ट स्वतन्त्रता और अधिकार दे दिये जाते थे। उस समय यह कर्मचारी अपने अधिकृतक्षेत्र के निवासियों के हितार्थ, उनकी इच्छाओं और अकांक्षाओं को ध्यान में रख कर वास्तविक अर्थ में कुछ कार्य कर सकते थे। परन्तु अब रेल, तार, टेलीफून ने संसार को अत्यन्त छोटा बना दिया जिसके कारण यह कर्मचारी सरकारी यन्त्र के निर्जीव, केवल चलने वाले पुरजे मात्र रह गए, जिनका अपना कोई अधिकार और मत, जिनकी अपनी कोई शक्ति नहीं थी।

अब वे केवल प्रतिनिधि मात्र रह गए, उच्च अधिकारियों की आज्ञाओं को शिरोधार्य करने वाले साधारण नौकर का सा उनका स्वरूप होगया था। इसी समय में भारतवर्ष की परिस्थितियों में बडे तीव्र परिवर्तन हुए। इसी समय में यह मत प्रतिपादित किया गया कि जनता की भावनाओं और उनकी आकॉक्षाओं से स्थानीय अधिकारियों को अवश्य परिचित होना चाहिए और उनकी भावनाओं का आदर होना चाहिए। परन्तु तत्कालीन केन्द्रीय शासन व्यपस्था में यह सम्भव नहीं था। इस परिवर्तन और इसकी आवश्यकता के सम्बन्ध में किरल पुत्र का कथन उल्लेखनीय है कि, "शासन की व्यवस्था सरकार का ही एक अग है और प्रत्येक स्थान पर सरकार राजनैतिक ही होती है। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी की भारतवर्ष की राजनीति बीसवीं शताब्दी की राजनीति से भिन्न थी। उन्नीसवी शताब्दी में सरकार से तात्पर्य था योग्य और उचित शासन जिसमें जहाँ तक सम्भव हो सके वहाँ तक जनता के सामाजिक जीवन में न्यून हस्तक्षेप हो। परन्तु आज इसका अर्थ सामूहिक विचारों, सामाजिक तथ्यों, राजनैतिक शक्ति, और केवल इन्हीं की समालोचना ही नहीं, अपितु अनिश्चित, सदिग्ध एव अस्थिर भावों और सुप्त भावनाओं की जो सदैव ही राजनीति के लिए स्थापित तत्व है और जो कभी किसी समय भी राजनीति के तत्व बन सकते हैं—समालोचना है। सक्षेप में राजनैतिक तथ्य और कार्य प्रेरक तथ्यों में जो प्राचीन भेद माना जाता था उसका अब धीरे-धीरे लोप होता जा रहा था। केवल कार्यकारिणी की कार्यदक्षता का, जिससे कि भारतीय सरकारी कर्मचारियों ने एक अद्भुत सीमा तक पहुँचा दिया था, स्वरूप ऐसा नहीं था जो उस उच्च राजनैतिक कार्य कुशलता एव दक्षता तक उठ सकता जिसके द्वारा जटिल सामाजिक प्रवृत्तियों का ज्ञान सम्भव हो सकता है और जिसके द्वारा वस्तुओं को समझने की वह दृष्टि मिल सकती है जिससे मानव मस्तिष्क उद्वेलित है।" क्योंकि यह कार्यप्रणाली काल के विरुद्ध थी इसलिए अधिक समय तक यह टिक भी नहीं सकती थी। एक न एक माण्टेग्यू को भारतीय राजनैतिक रगमच पर प्रवेश करना ही पड़ता। इसलिए यह कहना अधिक अनुपयुक्त नहीं है कि राजनीति शास्त्र का विकास विशेष रूप से क्रमिक ही है जिससे अतर्हित सामाजिक तत्वों के उभाड के कारण ही परिवर्त्तन होते हैं। इस प्रकार माण्टेग्यू चेम्सफोर्ड सुधार एक्ट को स्वय भारतीयों की सामाजिक प्रवृत्तियों और राजनैतिक चित्तवृत्ति ने ही आगे बढने का प्रोत्साहन दिया।

(३) दोषपूर्ण मॉर्ले मिन्टो सुधार एक्ट

मार्ले-मिन्टो सुधार एक्ट में अनेक दोष थे जिनके कारण यह एक्ट भारत-वासियों को अधिक समय तक सन्तुष्ट नहीं रख सकता था। इस एक्ट के द्वारा व्यवस्थापिका सभा और कार्यकारिणी दोनों की शक्ति और अधिकार के स्त्र भिन्न-भिन्न थे और दोनों अपने-अपने क्षेत्र के लिए विभिन्न अधिकारियों के प्र उत्तरदायी थे, व्यवस्थापिका सभा भारतीय जनता के प्रति उत्तरदायी थी अ

कार्यकारिणी लन्दन की पार्लियामेण्ट के प्रति। शक्ति की यह द्विविधता स्पष्ट रूप से अव्यवस्थित और नियम विरुद्ध थी। यह अवश्यम्भावी था कि दोनों में संघर्ष होगा और कार्य में इस प्रकार क्षति पहुँचेगी। भारतवर्ष की जनता इस प्रकार की कार्य प्रणाली से कभी सन्तुष्ट नहीं हो सकती थी जिसका स्वरूप अनुत्तरदायी था, जो विभाजित थी और जिस पर इंग्लैंड पार्लियामेण्ट की सत्ता की स्पष्ट छाप थी।

इसके अतिरिक्त मॉर्ले-मिन्टो सुधार एक्ट द्वारा भारत सरकार का रूप निरंकुश ही रखा गया था। इस प्रकार के निरंकुश शासन का जनता से सम्पर्क हो सकता था, परन्तु वह भी एक उदार व्यवहार के रूप में ही। परन्तु कदाचित् ही कभी जनता का प्रभाव इस पर पड़ा हो। व्यवस्थापिका सभाओं के सदस्यों की संख्या में वृद्धि होने से व्यवस्थापिका सभा में जनता का प्रभाव अवश्य बढ़ गया। इसी वृद्धि के साथ-साथ भारतीय जनता को मतदान का महत्व ज्ञात हुआ जिसके द्वारा वे अपने प्रतिनिधि चुनकर कार्यकारिणी को जनता के हित के लिए कार्य करने के उचित मार्ग पर ला सकते थे। परिणामस्वरूप भारतीयों ने शासन व्यवस्था पर अधिक से अधिक अपना नियन्त्रण रखने की माँग की। मॉर्ले-मिन्टो सुधार एक्ट से उन्हें बड़ी-बड़ी आशाएँ थीं। परन्तु शीघ्र ही उनकी समस्त आशाओं पर तुषारपात हो गया। सुधार एक्ट के कार्यरूप में परिणत होने पर यह स्पष्ट हो गया कि भारतवर्ष की राष्ट्रीय भावनाओं को सन्तुष्ट करने के लिए अँगरेज़ न तो अधिक उत्सुक ही थे और न अधिक तत्पर ही। सरकारी सदस्यों ने अपना एक पृथक दल स्थापित कर लिया था। यह सदस्य सदैव सरकार के पक्ष में रहते थे—चाहे अनाचार हो अथवा अत्याचार—उन्हें इसकी कोई चिन्ता नहीं थी। उनका मत सदैव सरकार के पक्ष में ही रहता था। ग़ैर सरकारी प्रस्तावों का विरोध वे सदा करते थे, चाहे वे प्रस्ताव उचित हों अथवा अनुचित, न्यायपूर्ण हों अथवा अन्यायपूर्ण। ग़ैर सरकारी सदस्यों को आलोचना करने के अतिरिक्त और कोई कार्य नहीं था। परन्तु उनकी आलोचनाएँ भी शून्य में ही गूँजा करती थीं। कारण इसका यही था कि केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा में सरकारी सदस्यों के दल की तूती बोलती थी, और प्रान्तों में नियुक्त किए गए और सरकारी सदस्यों का बहुमत था। इस प्रकार दोनों स्थानों पर ग़ैर सरकारी सदस्यों के प्रस्तावों के विपक्ष में ही अधिक मत ठहरते थे। इस प्रकार मॉर्ले-मिन्टो सुधार एक्ट द्वारा भारतीयों की क्षुधा और भी अधिक तीव्र और तीक्ष्ण होती गई, और यह स्वाभाविक ही था कि उस ज्वाला को शान्त करने के लिए वे अपने भोजनरूपी लक्ष्य की ओर धीरे-धीरे चलने की अपेक्षा दौड़ पड़ते।

(४) प्रथम महायुद्ध और उसके प्रभाव

उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त सन् १९१४-१८ के प्रथम महायुद्ध का भी भारत-

वर्ष की परिस्थितियों पर यथेष्ट प्रभाव पड़ा। इस युद्ध के प्रभावों का संक्षिप्त वर्णन निम्न प्रकार से किया जा सकता है :—

(अ) जब युद्ध का श्रीगणेश हुआ, तब भारतीयों ने अँगरेज़ों को पूर्ण सहायता दी। भारतीय सैनिकों ने युद्ध में अपूर्व साहस और अद्वितीय वीरता का परिचय दिया। मित्रराष्ट्र के लिए वे अपने प्राण हथेली पर रखकर आगे बढ़े। सन् १८९४ में श्री ए० ओ० ह्यूम ने यह भविष्यवाणी की थी कि, "एक महायुद्ध भारतवर्ष के लिए यह सिद्ध करने का अवसर होगा कि यदि शान्ति के समय में समान नागरिक अधिकारों के लिए भारतवर्ष चिल्ला-चिल्ला कर अपनी मांग उपस्थित कर सकता है तो युद्ध के समय में युद्ध के सकटों को अगीकार करने के लिए भी वह सदैव इच्छुक और तत्पर है।"[१] और प्रथम महायुद्ध इस कथन का उज्ज्वल और जीवित प्रमाण था। इसका एक बडा महत्वपूर्ण परिणाम हुआ। भारी से भारी और भयानक से भयानक उत्तरदायित्व को सँभालने के लिए भारतवासियों की योग्यता पर अब कोई अँगुली नहीं उठाई जा सकती थी। जब बालकों ने अपनी शक्ति और साधनों का प्रदर्शन योग्य रूप से कर दिया, तो उन्हें उनके पैरों पर खड़ा होने से कौन रोक सकता था ? इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि अपनी योग्यता के बल पर भारतीयों को राजनैतिक अधिकार और अन्य सुविधाएँ दिए जाने से मना नहीं किया जा सकता था। इस प्रकार इस युद्ध द्वारा भारतवर्ष के स्वायत्तशासन के आदर्शों का विस्तृत रूप से पुनरुत्थान हुआ। इस युद्ध द्वारा उन तर्कों को भी एक प्रकार का आश्रय मिला जिनके द्वारा स्वायत्त शासन के सिद्धान्तों का प्रचलन और विस्तार किया गया था।

(ब) इसके अतिरिक्त, इस युद्ध द्वारा प्रजातन्त्र की धारा का प्रवाह एक और रूप से तीव्र हुआ। युद्धकाल में ही अँगरेज और मित्रराष्ट्रों के राजनीतिज्ञों ने डंके की चोट स्वायत्त शासन के अधिकारों का पक्ष ग्रहण किया था। इस अधिकार का तात्पर्य जनता के अधिकार से था, यदि शासन करने का नहीं, तो कम से कम अपने शासक चुनने का। अब यदि अँगरेज एक ओर तो यह कहते जाते कि यह युद्ध स्वायत्त शासन की रक्षा के लिए, "प्रजातन्त्र के हेतु ससार को सुरक्षित रखने के लिए" हो रहा है, और यदि इसके साथ-साथ दूसरी ओर वे भारतवर्ष को स्वराज्य देने से मना करते, तो दोनों ओर से पिस गये होते। इस कारण भारतवर्ष के लिए उत्तरदायी सरकार की घोषणा अत्यावश्यक समझी गई।

---

[१] "A Great war will be India's opportunity of proving that if in periods of peace she clamours ... . for equal civil rights, in the hour of war, she is ever ready and anxious to accept equal military risks"

—A O Hume

(स) इसके अतिरिक्त इस युद्ध के कारण भारतवर्ष की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर भी प्रभाव पडा। वार्सा की सन्धि में भारतवर्ष के भी हस्ताक्षर लिए गये। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष अपने स्वयं के अधिकार से राष्ट्रसंघ (League of Nations) का भी सदस्य हो गया। निस्सन्देह यह सब बातें महत्वपूर्ण थीं। अब भारतीय जन 'अधिक ज़ोर और न्याय के साथ' तर्क उपस्थित कर सकते थे, जैसा कि कोटमैन जैसे व्यक्ति को भी जो साम्राज्यशाही का अकथ भक्त था, यह स्वीकार करना पडा कि, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र की यह स्थिति ब्रिटिश साम्राज्य के आधीन रहने की स्थिति से असंबद्ध एव परस्पर विरोधी थी।" इसलिए कम से कम अप्रत्यक्ष रूप मे ही इन विरोधों को दूर करने के लिए उपाय करने पडे। और इसी के लिए सन् १९१९ का एक्ट पास हुआ।

इन सब घटनाओं और परिस्थितियों के कारण २० अगस्त सन् १९१७ को सम्राट की ओर से एक घोषणा प्रकाशित हुई। इस घोषणा में स्पष्ट तथा असन्दिग्ध रूप से यह कहा गया कि, "इंग्लैण्ड की सरकार की नीति, जिसके अनुरूप भारत सरकार की नीति भी है, शासन के प्रत्येक अग में भारतवासियों की वृद्धि तथा स्वराज्य सस्थाओं का क्रमिक विकास है, जिससे कि भारतवर्ष, ब्रिटिश साम्राज्य के एक अनन्य भाग के रूप में शीघ्रातिशीघ्र उत्तरदायी सरकार पा सके।"[1]

"यहाँ मैं और यह कहना चाहूँगा कि इस नीवि मे सफलता की प्राप्ति क्रमिक रूप से ही प्राप्त हो सकती है। अंगरेज सरकार और भारत सरकार को, जिन पर भारतवासियों के हित और उन्नति का उत्तदायित्व है वैधानिक विकास के परिमाण और उसके समय का निश्चय करेंगे और इस निश्चय का आधार उन व्यक्तियों का सहयोग होना चाहिए जिन्हें इस प्रकार से कार्य के नवीन अवसर प्रदान किये जायेंगे ; उनको उत्तरदायित्व की प्रवृत्ति की सीमा को देखकर ही उनमें विश्वास की निहिति की जानी चाहिए।"

यह घोषणा निम्नलिखित तीन सिद्धान्तों का स्पष्ट दिग्दर्शन कराती है—

(१) इस घोषणा मे भारत सरकार की व्यवस्थापिका सभा और कार्यकारिणी दोनों ही अगों की प्रत्येक क्षेत्र मे भारतीयों के अनुपात बढ़ाने के सिद्धान्त को दृढ़ रूप से स्वीकार कर लिया गया।"

---

1. "The policy of His Majesty's Government with which the Government of India are in complete accord, is that of increasing association of Indians in every branch of the administration and the gradual development of self governing institutions with a view to the progressive realisation of responsible Government in India as an integral part of the British Empire"

—From His Majesty's Proclamation, 1917.

(२) "स्वराज्य संस्थाओं का क्रमिक विकास, जिससे कि भारतवर्ष, ब्रिटिश साम्राज्य के एक अनन्य भाग के रूप में, शीघ्रातिशीघ्र उत्तरदायी सरकार पा सके।" यही अब अँगरेज सरकार का लक्ष्य निश्चित हुआ। इस प्रकार से भारतवर्ष को डामीनियन (Dominion) के रूप में स्वराज्य देने का आश्वासन दिया गया।

(३) नवीन रूप से स्थापित इस आदर्श की प्रगति तथा विकास की सर्वेसर्वा तथा निरीक्षक इंग्लैण्ड की सरकार रहे।

घोषणा के अनुसार सन् १९१७--१८ के शीतकाल में मिस्टर माण्टेग्यू भारतवर्ष पधारे। भारतवर्ष में यथेष्ट विचार विमर्श के पश्चात् उन्होंने पार्लियामेण्ट के सन्मुख अपनी रिपोर्ट उपस्थित की। इस रिपोर्ट पर उनके हस्ताक्षरों के साथ-साथ तत्कालीन गवर्नर जनरल लॉर्ड चेम्सफोर्ड के हस्ताक्षर भी थे। इस रिपोर्ट के निर्णय ही सन् १९१९ के एक्ट के मूल आधार थे। इसलिए इन निर्णयों का भी बड़ा महत्त्व है। यह निर्णय संक्षेप में निम्न प्रकार थे—

(अ) स्थानीय संस्थाओं पर जहां तक सम्भव हो सके वहां तक जनता का पूर्ण नियन्त्रण होना चाहिए और बाह्य नियन्त्रण से उन्हें अधिक से अधिक सम्भव स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

(ब) प्रान्त ही ऐसी प्रयोगशालाएँ हैं, जहा उत्तरदायी सरकार की प्राप्ति के लिए प्राथमिक कार्यों का आरम्भ किया जाना चाहिए।

(स) भारत सरकार पूर्ण रूप से इँगलैण्ड की सरकार के प्रति उत्तरदायी रहनी चाहिए। इस उत्तरदायित्व के अतिरिक्त प्रान्तों में होने वाले परिवर्तनों के सम्बन्ध में उसके अधिकार अविभाजित रहने चाहिएँ। साथ ही साथ भारतीय व्यवस्थापिका सभा के सदस्यों की संख्या में वृद्धि कर उसे अधिक प्रतिनिधात्मक स्वरूप प्रदान किया जाना चाहिए तथा सरकार को प्रभावित करने के लिए उसे अधिक अवसर मिलने चाहिए।

उपर्युक्त परिवर्तनों के अनुपात से भारत सरकार और प्रान्तीय सरकार पर से पार्लियामेण्ट और भारत सचिव के नियन्त्रण में कमी होनी चाहिए।

माण्टेग्यू चेम्सफोर्ड सुधार एक्ट और मॉर्ले-मिण्टो सुधार एक्ट

उपर्युक्त बातों के अध्ययन से माण्टेग्यू चेम्सफोर्ड सुधार एक्ट और मॉर्ले-मिण्टो सुधार एक्ट की विभिन्नता स्पष्ट हो जाती है। सन् १९०९ के मॉर्ले मिण्टो सुधार एक्ट द्वारा व्यवस्थापिका सभाओं को केवल सम्मति देने का अधिकार था, किसी प्रकार के अन्य अधिकार अथवा उत्तरदायित्व से उनका कोई सम्बन्ध नहीं था। परन्तु माण्टेग्यू चेम्सफोर्ड सुधार एक्ट में इस बात को सबसे प्रथम ही स्पष्ट कर दिया गया था कि जब तक प्रान्तीय सरकारें भारत सरकार की प्रतिनिधि मात्र रहेंगी और जब तक

उन्हे शासन प्रबन्ध की स्वतन्त्रता नही दी जायगी तब तक स्वायत्त शासन की संस्था की प्राप्ति असम्भव है। मॉर्ले मिण्टो सुधार एक्ट का दृष्टिकोण था कि भारतवासियों के हित के लिए अँगरेजों के अधिकार ही मे भारतवर्ष का शासन सुन्दरतम ढग से चल सकता था ; इस प्रकार यह शासन भारतीयों के हितार्थ हो सकता था, परन्तु इसके संचालन में उन्हें कोई भाग नहीं दिया जा सकता था। इस विचारधारा के मतानुसार अँगरेज सरकार भारतवर्ष के सम्बन्ध में एक उदार निरकुश शासन का स्वरूप तो ग्रहण कर सकती थी, परन्तु उत्तरदायी सरकार का नहीं। इसके विपरीत माण्टेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट इस विचारधारा के विरुद्ध सजीव विद्रोह थी।

इस नवीन एक्ट की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित थीं—

(अ) द्वैत शासन (Dyarchy)

जैसा कि सम्राट की घोषणा मे ऊपर लिखा जा चुका है, उत्तरदायी सरकार की प्राप्ति धीरे-धीरे क्रमिक विकास के ढग पर हो सकती थी, एक क्षण मे नहीं। यह इसलिए आवश्यक समझा गया था कि भारतवासी शासन प्रबन्ध की जटिल समस्याओं को हल करने और उनका उत्तरदायित्व सँभालने योग्य नहीं समझे गये थे। इस क्रमिक विकास की नीति ने उस क्षण एक प्रकार का भ्रमजाल उत्पन्न कर दिया था। उत्तरदायी सरकार की प्राप्ति के लिए क्या कार्य किये जाएँ—किस प्रकार आगे बढाये जाएँ—यह निश्चय करना एक जटिल समस्या हो गई थी। कार्यकारिणी या तो व्यवस्थापिका सभा के प्रति उत्तरदायी हो सकती थी, अथवा नहीं। परन्तु इस कार्य प्रणाली का क्रमिक विकास किस प्रकार सम्भव था! इस समस्या का हल द्वैत शासन में मिला! शासन के क्षेत्र को विभाजित करना उचित समझा गया। इस राजनैतिक द्वैतता का व्यवहारिक आधार यह अनुमान था कि यदि भारतवासी एक प्रान्त के समस्त कार्यों को नहीं सँभाल सकते थे तो कुछ को तो सँभाल सकते है, और इस प्रकार अनुभव प्राप्त करके भविष्य मे अधिक कार्य सँभालने योग्य हो सकेंगे। इस लिए इस एक्ट के अनुसार प्रत्येक प्रान्त की व्यवस्थापिका सभा मे से कुछ मन्त्री चुने गए और कुछ विशेष विषयों का भार उनके हाथों मे सौंप दिया गया। यह मन्त्री अपने अपने प्रान्त की व्यवस्थापिका सभा के बहुमत के प्रति उत्तरदायी थे। इन विषयों के सम्बन्ध में यह निश्चित कर दिया गया कि गवर्नर मन्त्रियों की सम्मति से ही कार्य करेगा। शेष अन्य विषय गवर्नर और उसकी कार्यकारिणी समिति (Executive Council) के लिए सुरक्षित रखे गए। इस समिति (Council) के सदस्य अब भी सरकारी ही होते थे जो व्यवस्थापिका सभा के साथ अपनी नीति पर विचार विमर्श करते हुए भी पहले के समान भारत सचिव के प्रति उत्तरदायी थे। द्वैत शासन सन् १९१९ के एक्ट की मुख्य परन्तु साथ ही साथ अपूर्व एव विलक्षण विशेषता थी।

(ब) उत्तरदायी निरकुश शासन का आश्वासन (Responsive Autocracy)

इस प्रकार प्रान्तों में सुरक्षित विषयों के सम्बन्ध में फिर भी निरकुश शासन स्थिर रहा। हस्तान्तरित विषयों (Transferred Subjects) के सम्बन्ध में अवश्य यहा आशिक रूप में उत्तरदायी शासन स्थापित हुआ। परन्तु प्रान्तीय सुरक्षित क्षेत्र में अब भी गवर्नर ही सर्वेसर्वा रहा। उसके अधिकार इतने विस्तृत थे कि यदि वह चाहता तो हस्तान्तरित क्षेत्र पर भी अपना पूर्ण प्रभाव डाल सकता था। अपने सुरक्षित क्षेत्र के सम्बन्ध में वह केवल पार्लियामेण्ट के प्रति उत्तरदायी था।

केन्द्रीय कार्यों के सम्बन्ध में यह बात और भी सच थी। ज्वाइन्ट रिपोर्ट (Joint Report) के लेखकों ने अपना यह मत दिया था कि प्रान्तों में उत्तरदायी सरकार के अतिरिक्त केन्द्र में अब भी निरकुश शासन ही रहना चाहिए। सैद्धान्तिक रूप में भारत सरकार केवल पार्लियामेण्ट के प्रति उत्तरदायी रहे। परन्तु व्यावहारिक रूप में प्रतिनिधात्मक सभा के साथ सम्पर्क बनाए रख कर भारतीय जन सम्मति के प्रति यह उत्तरदायी रहे, इस लिए सैद्धान्तिक रूप में केन्द्र में निरकुश शासन का ही प्रभाव पड़ा, इस प्रकार यह सम्भव था कि साम्राज्यशाही के हित के लिए प्रतिनिधात्मक सभा के प्रति उत्तरदायी रहने का शब्दाडम्बर से परिपूर्ण आश्वासन कदाचित् समाप्त हो जाए।

(स) इसका लिखित एवं अचल स्वरूप (Its written and rigid character)

सन् १६१६ के एक्ट द्वारा जो भारतीय विधान प्रस्तावित किया गया था वह मुख्य रूप से लिखित और प्रभावित था। उसका आधार ब्रिटिश पार्लियामेण्ट द्वारा प्रस्तावित किया हुआ एक प्रस्ताव था।

इस एक्ट की दूसरी विशेषता थी इस का अचल (Rigid) स्वरूप "अचल विधान," जैसा कि सर जॉन मेरियट ने कहा है, "वह है जो केवल एक विशेष अतिरिक्त एव व्यवस्थित कार्य प्रणाली द्वारा ही जो साधारण कानून-निर्माण की कार्यप्रणाली से भिन्न हो, परिवर्तित एव सशोधित किया जा सके।" भारतीय विधान की दृढ़ता इसी तत्व में अंतर्हित थी कि कुछ विषयों के अतिरिक्त, भारतीय व्यवस्थापिका सभा तथा प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाएँ इसमें किसी प्रकार का वैधानिक परिवर्त्तन नहीं कर सकती थीं, केवल ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के एक्ट द्वारा ही इस एक्ट का खण्डन किया जा सकता था।

(द) भारतीय व्यवस्थापिका सभा का सत्ताहीन स्वरूप (Its non-sovereign character)

इस एक्ट द्वारा जिन भारतीय व्यवस्थापिका सभाओं का निर्माण किया गया था वे प्रोफेसर डाइसी के शब्दों में "कानून निर्माण करने वाली सत्तारहित संस्थाएँ" थीं। उनकी शक्ति और उनके अधिकार का स्रोत गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया एक्ट (Government of India Act) था जो देश का सर्वोच्च एव सर्वश्रेष्ठ नियम था। भारतीय व्यवस्थापिका सभाओं के नियम तथा कानून उसी समय वैध माने जा सकते थे जब सर्वोच्च नियम से उनका किसी प्रकार का विरोध नहीं होता था। नवीन एक्ट की यह एक अन्य विशेषता थी।

(क) एकात्मक स्वरूप (Its Unitary form)·

इसके अतिरिक्त,हमारा विधान संघात्मक न होकर अभी तक एकात्मक था। "सघ का तात्पर्य," जैसा कि प्रोफेसर डाइसी ने लिखा है, "है राज्य की शक्ति का कुछ समान इकाइयों में वितरण, जिनका मूल विधान हो; और जिनपर विधान का ही नियन्त्रण हो।" भारतवर्ष के वैधानिक क्रम के लिए यह परिभाषा अभी उपयुक्त नहीं थी। स्विटज़रलैंड और सयुक्त राज्य अमरीका के समान यहां की इकाई और प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाए स्वतत्र और समान स्थिति की नहीं थी। इसके विपरीत वे केन्द्र के आधीन थीं। गर्वनर जनरल जिसमे शासन तथा व्यवस्थापक क्षेत्र के समस्त अधिकार अंतर्हित थे, उनके लिए भी सर्वेसर्वा था। एकात्मकता का अर्थ यही है कि शासन सम्बन्धी अधिकार केन्द्रीय शक्ति में सन्निहित रहें।

(ख) द्विपाक्षिक व्यवस्था (A Half way House Arrangement):

जिस समय इस एक्ट का जन्म हुआ था उस समय भारतवर्ष में तीन प्रकार के व्यक्ति थे जिन्हें सन्तुष्ट करना था! प्रथम प्रकार के व्यक्ति वे थे जो अपने देश के शासन तथा अपने देश के भाग्य निर्माण में भारतीयों का अधिक प्रभुत्व चाहते थे। द्वितीय प्रकार के व्यक्ति कुछ विशेष प्रकार के हितों के प्रतिनिधि थे और तृतीय प्रकार के लोग वे थे जो भारतीय राजनैतिक संस्थाओं को अधिक उदार स्वरूप देने के लिए शीघ्रता करने में संकट का अनुभव करते थे। सन् १९१९ के एक्ट द्वारा इन तीनों प्रकार के वर्गो को, जिनके दृष्टिकोण और विचारों मे यथेष्ट अन्तर था, सन्तुष्ट करने की चेष्टा की गई थी। इसलिए स्वभावतः ही यह एक्ट प्रगति तथा बाधा में एक प्रकार का मध्यस्थ था। तत्कालीन जाग्रत राष्ट्रीय भावना को तथा उन पक्षपात-पूर्ण व्यक्तियों की चेतावनी को जो सिद्धान्त से कहीं अधिक अनुभव को स्थान देते थे और इसलिए जो किसी भी नवीन तथा न परखी हुई वस्तु को स्वीकार करने के पक्षपात मे न थे, इस एक्ट द्वारा शान्त करने की चेष्टा की गई थी। और "इस का परिणाम था" जैसाकि देवेन्द्रनाथ बनर्जी ने कहा है, "निरंकुश शासन और लोकप्रिय शासन के मध्य में द्विपाक्षिक व्यवस्था का जन्म।"[1]

[1] "The result was a half way house arrangement between autocracy and popular Government."

—Debendra Nath Banerjee.

(ग) इसका सामाजिक एव लचीला स्वरूप

इस एक्ट की अन्तिम परन्तु महत्वपूर्ण दो विशेषताएँ थीं—इसका सामाजिक स्वरूप और लचीला पन । इस एक्ट द्वारा प्रस्तावित शासन प्रणाली भारतवर्ष के वैधानिक नाटक की कथा की अन्तिम घटना नहीं थी । भविष्य में आने वाले उत्तराधिकारी एक्ट के पूर्व का यह केवल एक दृश्य मात्र था जो नि सन्देह अत्यधिक महत्वपूर्ण था । नौकरशाही से उत्तरदायी सरकार की ओर अग्रसर होने वाले इस युग की आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर ही इस एक्ट का निर्माण किया गया था, क्योंकि भारतवर्ष में अगरेजों की नीति का लक्ष्य अब उत्तरदायी सरकार ही था। इस एक्ट द्वारा यह निश्चय किया गया कि भविष्य में किए जाने वाले सुधारों के लिए दस वर्ष पश्चात् फिर एक समिति (Commission) कानूनी व्यवस्था द्वारा स्थापित की जाएगी । उस समिति की रिपोर्ट का आधार भारतीयों की वह योग्यता और कार्यकुशलता होगी जिसका प्रमाण वे सन् १९१९ के एक्ट के अनुसार सौंपे गए उत्तरदायित्व के सम्बन्ध में देंगे । अपने कार्य मे भारतीय जितने अधिक योग्य और कुशल सिद्ध होंगे, उतने ही अधिक अधिकार, कार्य और उतना ही अधिक उत्तरदायित्व उन्हें सौंपा जाएगा । इस नवीन सुधार से असन्तुष्ट भारतीयों के लिए इस एक्ट का यह सामाजिक स्वरूप ही धैर्य का आश्रय था । उनकी आशा कुछ समय के लिए टल सी गई, परन्तु वह नष्ट न हुई । विधान की इसी धारा में हमें भावी साइमन कमीशन (Simon Commission) के चिन्ह भी अतर्हित मिलते हैं । जहा तक विधान के लचीलेपन का प्रश्न है, यह जान लेना चाहिये कि आवश्यकता पडने पर गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया एक्ट (Government of India Act) के अन्तर्गत बने हुए नियमों द्वारा विधान में महत्वपूर्ण परिवर्तन किए जा सकते थे, इसके लिए पार्लियामेण्ट के किसी प्रस्ताव की आवश्यकता न थी । इस एक्ट में वैधानिक परिवर्त्तनों की मुख्य विशेषताओं को उद्धृत कर दिया गया था । इन्हें नियमों द्वारा व्यवहारिक तथा विस्तृत रूप प्रदान किया जा सकता था ।

तीसरा अध्याय

भारत सचिव

"सरकार के सम्बन्ध में भारत सचिव के शासन सम्बन्धी और आर्थिक नियन्त्रण के क्षेत्र इतने विशाल हैं कि यह कहना असम्भव है कि वैधानिक रूप से भारत सरकार कुछ स्वतन्त्रता का भोग कर रही है।"[1]

—सर तेजबहादुर सप्रू

तत्कालीन भारत सचिव ड्यूक ऑफ अर्गाईल (Duke of Argyle) ने लॉर्ड मेयो (Lord Mayo) के शासनकाल में २४ मई सन् १८७० को भारत सरकार को एक पत्र भेजा था जिसमें उन्होंने यह स्पष्ट किया था कि भारतवर्ष सम्बन्धी समस्त बातों पर अन्तिम नियन्त्रण और आदेश गृह-सरकार का है न कि पार्लियामेन्ट के प्रस्ताव के अनुसार सम्राट (Crown) द्वारा भारतवर्ष मे नियुक्त किये गये पदाधिकारियों का, क्योंकि भारतवर्ष में स्थापित की हुई सरकार प्रारम्भ तथा स्वाभाविक रूप से ही गृह सरकार के आधीन थी। उस समय से इस सिद्धान्त को अखण्ड एवं अभेद्य ही रखा गया था। सम्राट के भारतवर्ष के साम्राज्य का प्रधान प्रतिनिधि भारत सचिव ही था, तथा वैधानिक रूप से वह केवल ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के प्रति ही उत्तरदायी था।

कदाचित् यह कार्य की सरलता के लिए हो कि सन् १९१९ के पूर्वकाल में भारत सचिव ने भारतवर्ष मे पदाधिकारियों को यथेष्ट मात्रा मे अधिकार प्रदान कर दिये थे। ज्वाइण्ट रिपोर्ट कमेटी में यह कहा गया था कि, "व्यावहारिक रूप में यह असम्भव है कि एशिया के एक इतने विस्तृत एवं दूरस्थ आधीन देश का शासन प्रबन्ध व्हाइट हॉल से किया जाए; और जैसा कि हमने भी लक्षित किया है कि भारत सचिव सदैव ही अपने अधिकांश अधिकार तथा उत्तरदायित्व को भारत सरकार को सौंप देता है, और

---

1 "The residium of control both administrative and financial exercised by the Secretary of State in relation to the Government is so enormously large that it is impossible to hold, constitutionally that the Government of India enjoys any large measure of independence."

—Sir Tej Bahadur Sapru

भारत सरकार इन्हें स्थानीय सरकारों को सौंप देती है।"[1] पार्लियामेण्ट के प्रति भारत सचिव के उत्तरदायित्व की बड़ी व्यावहारिक सीमाएँ बँध गई थीं। इस प्रकार मान्टेग्यू चेम्सफोर्ड सुधार एक्ट के पूर्व यह धारणा बड़ी व्यापक हो गई थी कि भारत सचिव को भारतवर्ष के शासन के सम्बन्ध में कम से कम हस्तक्षेप करना चाहिए। इसके विपरीत सन् १९१९ के एक्ट में मिस्टर मान्टेग्यू ने भारत सचिव और भारतवर्ष में सरकारी पदाधिकारियों में मुख्य और गौण का सम्बन्ध स्थापित किया।

वेतन तथा अन्य सुविधाएँ

सन् १९१९ के एक्ट के तृतीय भाग में भारत सचिव और उसकी समिति का वर्णन दिया गया है। इस एक्ट द्वारा यह निश्चित किया गया कि भारत सचिव का वेतन तथा उसके विभाग का अन्य व्यय भारतवर्ष की आय में से न किया जाकर पार्लियामेण्ट द्वारा दिया जाएगा। ज्वाइन्ट कमेटी में इस बात पर यथेष्ट बल डाला गया कि इण्डिया ऑफिस (India Office) का समस्त व्यय ब्रिटिश पार्लियामेण्ट द्वारा दिया जाए, क्योंकि यह व्यय किसी अन्य प्रकार की प्रतिनिधि संस्था का नहीं है। इस प्रकार भारत सचिव तथा उसके विभाग का वेतन तथा अन्य व्यय का भार इँग्लैंड के कोष पर पड़ा। वास्तव में यह परिवर्तन भी अत्यन्त महत्वपूर्ण था। इसी परिवर्तन के कारण इण्डिया ऑफिस के प्रबन्ध और व्यवस्था पर पार्लियामेण्ट का नियन्त्रण पूर्ण तथा प्रत्यक्ष रूप से स्थापित हो गया। अब सम्राट (His Majesty) के अन्य मन्त्रियों के समान भारत सचिव की नीति को भी उसके वेतन के आधार पर चुनौती दी जा सकती थी। इस प्रकार स्वभावतः ही भारतीय कार्यों पर पार्लियामेण्ट का नियन्त्रण और भी अधिक दृढ़ तथा स्थिर होता गया। भारत सचिव और पार्लियामेण्ट का सम्बन्ध अब मुख्य और गौण से भी अधिक प्रभावपूर्ण हो गया।

भारत सचिव के अधिकार और कार्य

भारत सचिव के वैध तथा वैधानिक स्तर का विस्तृत वर्णन गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया एक्ट (Government of India Act) की द्वितीय धारा में दिया गया है।

भारतवर्ष के शासन प्रबन्ध और आय से सम्बन्धित प्रत्येक कार्य पर भारत सचिव को निरीक्षण, आदेश और नियन्त्रण के अधिकार प्राप्त थे। उसके अधिकारों की

---

[1] It has been, of course, impossible in practice that the affairs of a vast and remote Asiatic dependency should be administered directly from the White Hall, and, as we have seen, large powers and responsibilities have always been left by the Secretary of State to the Government of India and again by the Government of India to local Governments "

—Joint Report Committee

सीमा से कोई वस्तु वाहर नहीं थी। नियुक्त किये गये अथवा पहले से ही कार्य करने वाले समस्त पदाधिकारी उसी के नियन्त्रण में थे।

भारत सचिव के अधिकार और कार्यों का वर्णन संक्षेप में निम्न प्रकार से हो सकता है—

केन्द्रीय क्षेत्र

ज्वाइन्ट सेलेक्ट कमेटी केन्द्र में उत्तरदायित्व को विभाजित करने अथवा किसी नियम अथवा प्रस्ताव द्वारा अधिकार अपहरण की नीति के अत्यन्त विरुद्ध थी। क्योंकि उसे इसमें सन्देह था कि भारतीय अपने देश का शासन सँभाल सकेंगे। इसलिए इस कमेटी का मत था कि यदि भारत सचिव कुछ अधिकार भारतवर्ष में लोकप्रिय सरकार को देना निश्चित करता है तो वह अपने उत्तरदायित्व पर ही अपने कुछ अधिकार उसे सौंप सकता था, परन्तु केन्द्रीय सरकार तथा प्रान्तीय सरकारों के सुरक्षित क्षेत्र में इन दिये हुए कार्यों तथा अधिकारों के लिए भी स्वयं भारत सचिव को ही पार्लियामेण्ट के प्रति उत्तरदायी रहना पड़ेगा। इसलिए भारत सचिव और उसकी समिति को भारत सचिव के, भारत सरकार के निरीक्षण, आदेश और नियन्त्रण को नियम द्वारा व्यवस्थित रखने तथा उनपर प्रतिवन्ध रखने का अधिकार दिया गया।[1] इस वात का आश्वासन अवश्य दिया गया कि यह चेष्टा की जायगी कि अवशेष निरंकुश शासन जनता की आकांक्षाओं का अधिक से अधिक ध्यान रखे। इस सम्वन्ध में इस सिद्धान्त का जैसा कि 'होम एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ इण्डियन अफेयर्स' की समिति ने लिखा था, प्रयोग किया जाने वाला था कि, "जहां किसी सम्मति पर भारत सरकार और व्यवस्थापिका सभा सहमत हों, वहां सामान्य रूप से उनका संयुक्त निर्णय ही स्वीकार किया जाना चाहिए।"[2]

पार्लियामेण्ट के एक कानून द्वारा उत्तरदायी शासन प्रदान न करके उसके क्रमिक विकास के सिद्धान्त को स्वीकार करने का एक कारण और भी था। सुधार के पूर्व के समय मे, जव अँगरेजों की नीति भारत पर दरवार राज्य के आधार पर ही शासन करना था, कार्यकारिणी पूर्ण रूप से निरंकुश थी। परन्तु अव इस नवीन योजना में, जव कि अँगरेजों का विचार भारतवर्ष को क्रमशः उत्तरदायी सरकार प्रदान करना था, कार्यकारिणी की स्थिति में कुछ परिवर्तन होना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य था। लोकप्रिय कार्यकारिणी को स्वेच्छाचारी न रहकर अव व्यवस्थापिका सभा के नियन्त्रण में रहना और उसके प्रति उत्तरदायी

---

[1] एक्ट की धारा २१ के अनुसार।

[2] "Where the Government of India find themselves in agreement with a conclusion of the Legislative Assembly, their joint decision should ordinarily prevail."

—Committee on Home Administration of Indian affairs.

'होना था'। यह परिवर्तन वास्तव में बड़ा उद्विग्न सा करने वाला एक क्रान्ति के समान था, दूसरे शब्दों में यह परिवर्तन कार्यकारिणी को स्वतन्त्रता से आधीनता की ओर, निरंकुशता से दासता की ओर ले जाने वाला था। ऐसा परिवर्तन एक समय में और एक साथ नहीं किया जा सकता था। क्योंकि इसके लिए एक विभिन्न प्रकार की प्रवृत्ति और स्वभाव की आवश्यकता थी। इसलिए कार्यकारिणी की स्थिति में यह परिवर्तन कानून के आधार पर न करके एक प्रथा के रूप में विकसित होने के लिए छोड़ दिया गया, जिससे कि सर्वशक्तिमान कार्यकारिणी का मानसिक सतुलन नष्ट न हो और वह अपने आप को धीरे-धीरे इस परिवर्तित वातावरण के अनुकूल बनाती चली जाए।

केन्द्रीय क्षेत्र पर भारत सचिव के नियन्त्रण को सरलता से समझने के लिए निम्नलिखित भागों में उसका वर्णन किया जा सकता है :—

(१) भारत सचिव का शासन प्रबन्ध पर नियन्त्रण

(अ) गवर्नर जनरल द्वारा नियन्त्रण तथा निरीक्षण :

गवर्नर जनरल तथा उसकी समिति को यह आदेश था[१] कि भारतवर्ष के शासन तथा सेना सम्बन्धी जो भी आदेश उन्हें भारत सचिव से प्राप्त हों उनका पालन पूर्ण रूप से किया जाए।

गवर्नर जनरल और उसकी समिति को बिना भारत सचिव और उसकी समिति की अनुमति के युद्ध घोषित करने अथवा सन्धि करने का अधिकार न था।[२] किसी से युद्ध करने अथवा सन्धि करने के लिए उसे कारणों सहित भारत सचिव को लिखना पड़ता था।

इस प्रकार शासन के क्षेत्र पर भारत सचिव का यथेष्ट मात्रा में नियन्त्रण रहता था।

(ब) नियुक्ति के सम्बन्ध में भारत सचिव के अधिकार :

निम्नलिखित व्यक्तियों की नियुक्ति के अवसर पर भारत सचिव सम्राट (Crown) को सम्मति प्रदान करता था :—

गवर्नर जनरल,[३]

गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी समिति (Executive Council) के सदस्य,[४]

---

[१] एक्ट की धारा ३३ के अनुसार

[२] एक्ट की धारा ४४ तथा उसी में कुछ अन्य लिखित नियमों के अनुसार

[३] एक्ट की धारा ३४ के अनुसार

[४] एक्ट की धारा ३६ के अनुसार

गवर्नर ;[१]

गवर्नर की कार्यकारिणी समिति के सदस्य[२];

लेफ्टिनेंट गवर्नर[३];

पब्लिक सर्विस कमीशन (Public Service Commission)[४];

भारत के ऑडीटर जनरल (Auditor General)[५];

कलकत्ता, मद्रास और बम्बई के प्रधान न्यायाधीश (Chief Justices), न्यायाधीश (Judges) और विशप (Bishops) ।[६]

(स) सिविल सर्विस पर उसका नियन्त्रण :

गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया एक्ट (Government of India Act) द्वारा भारत सचिव के लिए कुछ विशेष अधिकार सुरक्षित कर दिए गए थे। इन सुरक्षित अधिकोरों में से कुछ अधिकार ऐसे भी थे जिनके द्वारा भारत सचिव सिविल सर्विस के वर्गीकरण के सम्बन्ध में, उनकी भरती के नियम, उनकी नौकरी, वेतन, भत्ता, आचरण तथा सुशासन आदि के लिए नियम बना सकता था। परन्तु यह अधिकार भारतवर्ष में स्थित कर्मचारियों और भारत सचिव में विभाजित थे। यहाँ यह बात विस्मरण नहीं करनी चाहिए कि भारत सचिव और उसकी समिति सदैव ही सिविल सर्विस पर अपने सरक्षण का दिग्दर्शन कराते रहते थे। भारतीय सिविल सर्विस भारतवर्ष में ब्रिटिश साम्राज्य की लौह चट्टान के रूप में थी। इसमें भारतवर्ष के उच्च श्रेणी के अति योग्य पुरुष ही थे। जबतक सिविल सर्विस को अँगरेज़ों के हित के सम्पादन मे लगाया जा सकता था, भारतवर्ष में अँगरेज़ों का राज्य सुरक्षित था। इसी लिए भारत सरकार की सिविल सर्विस से सम्बन्धित साधारण से साधारण विषय पर तथा किसी विशेष अवसर पर सिविल सर्विस (Civil Service) के किसी सदस्य पर भारत सचिव का पूरा-पूरा नियन्त्रण रहता था। एक्ट के अनुसार भारतीय व्यवस्थापिका सभा को सिविल सर्विस के नियमों पर कोई अधिकार नहीं था। इस प्रकार इस क्षेत्र में भी भारत सचिव का नियन्त्रण असीमित था।

(द) सेना पर भारत सचिव का नियंत्रण :

सेना के सम्बन्ध में भारत सचिव का नियन्त्रण और भी पूर्ण था। भारत

---

[१] एक्ट की धारा ४६ के अनुसार

[२] एक्ट की धारा ४७ के अनुसार

[३] एक्ट की धारा ५४ के अनुसार

[४] एक्ट की धारा ९६ सी. के अनुसार

[५] एक्ट की धारा ९६ डी. के अनुसार

[६] एक्ट की धारा ११८ के अनुसार

सरकार के पास एक विशाल सेना स्थित थी। भारतवर्ष में सेना स्थापित रखने का प्रश्न साम्राज्यशाही का प्रश्न था, क्योंकि भारतवर्ष में ब्रिटिश साम्राज्यशाही का आधार सेना ही थी। इस प्रकार इस सम्बन्ध में भारत सचिव का निरीक्षण तथा नियन्त्रण और भी दृढ़ हो गया था। यहाँ उसका आरम्भ और प्रतिनिषध साथ साथ रहते थे।

(क) भारत सचिव का आय-सम्बन्धी नियन्त्रण.

भारतवर्ष में स्थित पदाधिकारियों को आय सम्बन्धी स्वतन्त्रता देने के पक्ष में ज्वाइन्ट सेलेक्ट कमेटी (Joint Select Committee) ने लिखा था कि, "इससे अधिक कोई बात भारतवर्ष और ग्रेट ब्रिटेन के सम्बन्धों को हानि नहीं पहुँचा सकती, जितनी कि इस बात का विश्वास कि भारतवर्ष की आय-सम्बन्धी नीति का सम्पादन ग्रेट ब्रिटेन के व्यापार और व्यवसाय के हित के लिए व्हाइट हॉल से होता है। इस समस्या का सबसे अधिक सरल हल यही है कि आय के सम्बन्ध में भारतवर्ष को स्वतन्त्रता प्रदान करदी जाए।"[1] परन्तु आय सम्बन्धी यह स्वतन्त्रता, जिसे ज्वाइन्ट सेलेक्ट कमेटी (Joint Select Committee) ने "निरहस्तक्षेप का विशेष विषय" का नाम दिया था, "भारतवर्ष के शासन सम्बन्धी नियन्त्रण को पार्लियामेण्ट के सर्वोच्च अधिकार को सीमित किए बिना, और सम्राट (Crown) के प्रतिनिषेध के अधिकार को सीमित किए बिना," किसी नियम द्वारा प्राप्त नहीं हो सकती थी, "और उपर्युक्त दोनों अधिकारों की सीमा का निर्देश ब्रिटिश साम्राज्य के किसी नियम में नहीं किया गया था।" इसलिए आय सम्बन्धी स्वतन्त्रता का विकास एक प्रथा के आधार पर ही हो सकता था।

इस क्रमिक विकास के आधार पर आय सम्बन्धी स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को ब्रिटिश सरकार ने वास्तविक रूप में स्वीकार कर लिया था। लकाशायर के एक प्रतिनिधि मण्डल को भारतवर्ष से आने वाले रूई के माल के कर के सम्बन्ध में उत्तर देते हुए २२ मार्च सन् १९२१ को तत्कालीन भारत सचिव मिस्टर मान्टेग्यू ने कर सम्बन्धी स्वतन्त्रता का समर्थन निम्नलिखित शब्दों में किया था, "दोनों भवनों द्वारा स्थापित समिति की रिपोर्ट तथा लॉर्ड सभा (House of Lords) में लॉर्ड कर्ज़न के आश्वासन के पश्चात् मेरे लिए यह नितान्त असम्भव था कि उस अधिकार में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करता, जिसे मैं सोचता हूँ कि वह न्यायपूर्ण है और जिसे भारत सरकार के पास रहने देने के लिए मैंने निश्चय कर दिया है,

---

1 "Nothing is more than likely to endanger the good relations between India and Great Britain, than a belief that India's fiscal policy is dictated from White Hall in the interests of the trade of Great Britain A satisfactory solution of the problem can only be guaranteed by the grant to India of fiscal autonomy" —Joint Select Committee.

वह अधिकार है भारतवर्ष के हित को पहले सोचने का, उसी तरह से जिस प्रकार कि हम साम्राज्य के किसी भाग द्वारा बिना किसी उपालम्भ के साम्राज्य के अन्य भाग तथा हमारी ओर से बिना किसी आलोचना के, अपने नागरिकों की आवश्यकताओं को प्रथम रखकर, अपने ऐसे आय-सम्बन्धी प्रबन्ध कर लेते हैं जो उनकी आवश्यताओं के लिये अति उत्तम हैं।" ३० जून सन् १९२१ को भारत सचिव ने एक पत्र में लिखा कि सम्राट (His Majesty) की सरकार की ओर से, उसने भारत वर्ष के लिए आय सम्बन्धी स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में ज्वाइन्ट सिलेक्ट कमेटी की स्थिति (Joint Select Committee) की सम्मति स्वीकार करली है। इन नवीन परिस्थितियों में भारत सचिव का दिग्दर्शन कराते हुए उसने लिखा था कि :—

"किसी विषय पर जब भारत सरकार और भारतीय व्यवस्थापिका सभा सहमत हों तो भारत सचिव को जहां तक हो सके वहां तक कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। और जब किसी विषय में उसका हस्तक्षेप हो तो उसका विस्तार साम्राज्य के अन्तर्राष्ट्रीय हितों की रक्षा अथवा साम्राज्य में आय सम्बन्धी उन व्यवस्थाओं के, जिसकी सदस्या स्वयं इंग्लैंड की सरकार हो, प्रबन्ध की सीमा तक ही होना चाहिए।"

इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि आय सम्बन्धी स्वतन्त्रता का अर्थ व्यावहारिक रूप में यह कदापि नहीं था कि भारतीय आर्थिक समस्याओं पर भारतीयों को वाद-विवाद करने अथवा उन्हें सुलझाने की पूर्ण स्वतन्त्रता हो। परन्तु सैद्धान्तिक अर्थ में यह अवश्य ही भारत की विजय थी।

इस एक्ट द्वारा जो आर्थिक अधिकार भारत सचिव को विशेष रूप से प्रदान किए गए थे, हमें उन पर भी एक दृष्टि डाल लेनी चाहिए। यह अधिकार निम्नलिखित थे :—

(१) भारत सचिव और उसकी समिति को यह अधिकार था कि सम्राट (Crown के अधिकार की किसी वस्तु को वह भारत सरकार के कार्य के लिए कुछ समय के लिए बेचदे अथवा उसे गिरवीं रख कर कुछ धन प्राप्त कर सके, और उन्हीं के अधिकार में किसी अन्य वस्तु को खरीद ले।[1] अपनी समिति (Council) की बैठक में इस विषय पर बहुमत प्राप्त हो जाने पर ही वह ऐसा कर सकता था।

(२) कम्पनी के हाथों से भारत वर्ष का शासन जब सम्राट (Crown) के हाथों में पहुँच गया था, तभी से भारत सचिव और उसकी समिति को संस्था की वैध अथवा कानूनी स्थिति प्रदान कर दी गई थी। वह मुकदमा चला सकता था, और स्वयं उस पर भी उस के पदाधिकार के सम्बन्ध में मुकदमा चलाया जा सकता था। सन् १९१९ के एक्ट ने भी इस स्थिति को स्वीकार किया। यहां यह बात ध्यान में

---

[1] एक्ट की धारा २८ (१) के अनुसार।

रखनी चाहिए कि किसी आश्वासन अथवा लिखित-पढ़त के लिए भारत सचिव अथवा उसकी समिति (Council) का कोई सदस्य व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी नहीं था। इस प्रकार का उत्तरदायित्व तथा इस सम्बन्ध में हुई हानि को भारतवर्ष की आय में से पूरा किया जाता था।

(३) भारत सचिव और उसकी समिति को यह आदेश था कि प्रत्येक वर्ष के मई मास के प्रथम अट्ठाईस दिनों में, जब कि पार्लियामेण्ट की बैठक होती थी, "पार्लियामेंट के दोनों भवनों के सम्मुख पिछले वर्ष का भारतवर्ष तथा अन्य स्थानों की आय तथा व्यय का विस्तृत ब्योरा, तथा उस वर्ष का अनुमानित ब्योरा उपस्थित करे, साथ ही साथ भारतवर्ष की नैतिक तथा भौतिक अवस्था तथा उस की उन्नति का वर्णन भी उपस्थित करे।[1]

भारत सचिव और हस्तान्तरित पक्ष

(१) नियमों द्वारा नियन्त्रण

सन् १६१६ के एक्ट के उद्देश्य, जैसा कि पहले भी अन्यत्र लिखा जा चुका है, निम्न लिखित थे :—

(अ) भारतवर्ष के शासन प्रबन्ध में भारतीयों का अधिक से अधिक सम्पर्क,

(ब) साम्राज्य में एक प्रमुख अंग के रूप में ही भारतवर्ष में स्वायत्त शासन की संस्थाओं के क्रमिक विकास द्वारा उत्तरदायी शासन की प्राप्ति, और

(स) प्रान्तीय सरकारों को प्रान्तीय मामलों में भारत सरकार के अधिकार से अधिक से अधिक स्वतन्त्रता प्रदान की जाय, परन्तु भारत सरकार के उत्तरदायित्व में इस स्वतन्त्रता द्वारा कोई बाधा उपस्थित न हो।

परिणाम स्वरूप ज्वाइन्ट रिपोर्ट (Joint Report) ने निम्नलिखित सम्मति प्रदान की थी :—

"अब जब कि इंग्लैंड की सरकार ने भारतवर्ष में उत्तरदायी संस्थाओं के विकास के लिए अपनी नीति की घोषणा कर दी है, हमारा विचार है कि उस देश (भारतवर्ष) के आन्तरिक शासन-प्रबन्ध के सम्बन्ध में पार्लियामेण्ट से उसके उत्तरदायित्वों पर कुछ प्रतिबन्ध लगाने की प्रार्थना करनी चाहिए। हमारा विचार है कि अब यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि भारतवर्ष में जिन विषयों के सम्बन्ध में वहां की प्रतिनिधात्मक संस्थाओं को उत्तरदायित्व सौंप दिया गया है, उन विषयों के सम्बन्ध में पार्लियामेण्ट अपने नियन्त्रण के अधिकार का प्रयोग न करे, और यह प्रणाली प्रान्तों में उत्तरदायी सरकार के विकास के समानान्तर रहे जिसका अन्त उत्तरदायी भारत सरकार ही हो।" यहां इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि

[1] एक्ट की धारा २६ के अनुसार।

पार्लियामेण्ट के नियन्त्रण में जो न्यूनता की गई थी वह हमपर कोई विशेष कृपा नहीं थी। उत्तरदायी सरकार की घोषणा में ही यह बात अंतर्हित थी। क्योंकि, जैसाकि मान्टेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट में लिखा गया था कि, "यह बात सत्य ही है कि शासन प्रबन्ध की प्रणाली पर अधिक लोकप्रिय नियन्त्रण उच्च सरकारी नियन्त्रण को सीमित करने के साथ ही हो सकते हैं।"[१]

इस लिए ब्रिटिश पार्लियामेण्ट को यह स्पष्ट करना पड़ा कि भारत सचिव और उसकी समिति के निरीक्षण, आदेश और नियंत्रण के अधिकारों को, सन् १९१९ के गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया एक्ट (Government of India Act of 1919) को प्रभाव पूर्ण बनाए रखने के लिए, भारत सचिव और उसकी समिति किसी नियम अथवा किसी अन्य प्रकार द्वारा जैसा भी वह उचित समझे, कम कर सकते थे।[२]

हस्तान्तरित विषयों के सम्बन्ध में बनाए गए भारत सचिव और उसकी समिति के नियमों में यह स्पष्ट कर दिया गया था कि-"इन विषयों के सम्बन्ध में इन के निरीक्षण, आदेश और नियंत्रण के अधिकार केवल निम्नलिखित बातों में ही प्रयोग किए जाएंगे :—

(१) केन्द्रीय विषयों के शासन को सुरक्षित रखने;

(२) जब दो प्रान्त किसी एक विषय पर सहमत न हो पाएं, तब उनके झगडे का निपटारा करने;

(३) साम्राज्य के हितों की रक्षा करने;

(४) भारतवर्ष तथा साम्राज्य के अन्य अंगों के मध्य में भारत सरकार की स्थिति निश्चित करने;

(५) निम्नलिखित के सम्बन्ध में अपने अधिकार और कर्त्तव्यो के प्रयोग और पालन के लिए :—

(अ) हाई कमिश्नर (High Commissioner) के नवीन पद के सम्बन्ध में;

(ब) प्रान्तीय ऋण के सम्बन्ध में; और

(स) ऑल इण्डिया सर्विस के सम्बन्ध में पार्लियामेण्ट के अधिकारों के सम्बन्ध में।"

---

[१] "It is almost a truism to say that any extension of popular control over an official system of Government must be accompanied by some relaxation of the bounds of superior official authority."

—Montague Chelmsford Report.

[२] एक्ट की धारा १९ ए० के अनुसार।

ज्वाइन्ट सेलेक्ट कमेटी (Joint Select Committee) ने यह लिखा था कि, "भारत सचिव द्वारा भरती की गई ऑल इण्डिया सर्विस के अधिकार और उसकी उन्नति पर प्रभाव डाल सकने वाले हस्तान्तरित विषयों के व्यय पर भारत सचिव और उसकी समिति का नियन्त्रण होना चाहिए, और वह इस पर अपना नियन्त्रण स्थायी रखेंगे ; और उन्हें इंग्लैंड में माल के क्रय पर नियन्त्रण रखने का अधिकार भी होना चाहिए।"

उपर्युक्त कथन से यह ज्ञात हो जाएगा कि सन् १९१९ के एक्ट के अन्तर्गत हस्तान्तरित विषयों के क्षेत्र में भारत सचिव के नियन्त्रण में कुछ कमी हो गई थी। परन्तु यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि भारत सचिव के नियन्त्रण में कमी हो जाने का अर्थ उसके नियन्त्रण का पूर्ण परित्याग नहीं था। उसके अधिकारों और नियन्त्रण को समाप्त करने की अपेक्षा उन्हें स्थायी बनाने के लिए एक्ट और भी अधिक दृढ़ था। "भारत सरकार के सम्बन्ध में सम्राट के तथा भारत सचिव और उसकी समिति के अधिकारों को इस एक्ट की कोई धारा समाप्त नहीं कर सकती थी।"[1] एक्ट की धारा १९ ए के द्वारा अधिकारों में की गई न्यूनता के साथ उपर्युक्त बात का एकीकरण वास्तव में एक अनोखा कार्य था।

(२) अप्रत्यक्ष नियन्त्रण

हस्तान्तरित क्षेत्र में नियमों द्वारा नियन्त्रण के अतिरिक्त भारत सचिव का अप्रत्यक्ष प्रभाव भी यथेष्ट मात्रा में था। अर्थ विभाग तथा सिविल सर्विस से सम्बन्धित विषयों के सम्बन्ध में यह प्रभाव विशेष रूप से परिलक्षित होता था।

एक्ट के अनुसार ऑल इण्डिया सर्विस के सदस्यों पर मन्त्रियों का कोई अधिकार नहीं था। उन्हें इस बात का भी अधिकार नहीं था कि वे सिविल सर्विस के सदस्यों से बाहर किसी को अपना सेक्रेटरी बना सकें। एक्ट के अनुसार सिविल सर्विस के सदस्यों के हित की रक्षा का उत्तरदायित्व भारत सचिव पर था। यदि कभी अपने अधिकार के प्रयोग द्वारा अथवा इस दृष्टिकोण से कि कुछ नियमों का खण्डन किया गया है, यदि कोई मन्त्री सिविल सर्विस के किसी ऐसे सदस्य को चुनता था जिसे किसी विशेष स्थान पर नियुक्त होने का अधिकार नहीं था, तो तुरन्त ही मन्त्रियों के विरुद्ध असन्तुष्टता का प्रवाह फैल जाता था। इस बात के उदाहरण कुछ कम नहीं हैं जब कि मन्त्रियों तक को अपनी सफाई देने के लिए कहा गया था। सिविल सर्विस के सदस्यों को कुछ नियमों के अनुसार भारत सचिव से अपील करने का अधिकार था। ऐसी परिस्थितियों में मन्त्रियों को भी सिविल सर्विस के सदस्यों की स्थिति का महत्व स्वीकार करना पड़ता था, क्योंकि भारत सचिव के प्रत्यक्ष निरीक्षण में होने के नाते उन्हें एक्ट द्वारा वास्तव में महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया था। उनका महत्व

---

[1] एक्ट की धारा १३१ के अनुसार।

वास्तव में भारत सचिव प्रान्तीय शासन प्रबन्ध में भी सिविल सर्विस के सदस्यों द्वारा अपना अधिकार जमा सकता था, क्योंकि ये सदस्य अपने हितों की रक्षा के लिए भारत सचिव को अत्यन्त प्रसन्न और सन्तुष्ट रखना अपना प्रधान कर्त्तव्य समझते थे।

इसी प्रकार हस्तान्तरित भाग के आर्थिक क्षेत्र में भी अप्रत्यक्ष रूप से ही भारत सचिव का पूर्ण नियन्त्रण था। प्रत्येक प्रान्त में अर्थ-विभाग कार्यकारिणी समिति (Executive Council) के एक सदस्य के नियन्त्रण में रहता था।[1] एक या दो को छोडकर अर्थ सदस्य सदा ही सिविल सर्विस का सदस्य होता था। अर्थ सदस्य के नीचे अर्थ सचिव (Finance Secretary) होता था। अर्थ सचिव भी भारतीय सिविल सर्विस का सदस्य हुआ करता था। और सिविल सर्विस के समस्त सदस्यों का झुकाव भारत सचिव की ओर था क्योंकि अब वही उनके हितों का संरक्षक था। एक्ट के अनुसार मन्त्रियों को केवल यह अधिकार था कि वे एक उप-सचिव की नियुक्ति की प्रार्थना कर सकते थे। किसी मन्त्री द्वारा उपस्थित किए गए ऋण अथवा आय सम्बन्धी प्रस्तावों का तथा हस्तान्तरित विषयों से सम्बन्धित आर्थिक विषयों का निरीक्षण ही उसका कार्य था। मन्त्रियों को किसी कर के बढाने अथवा घटाने का भी अधिकार नहीं था। उन्हें शासन से सम्बन्धित व्यय के लिए योजना उपस्थित करने का अधिकार अवश्य प्राप्त था, जिसके लिए यह निश्चित कर दिया गया कि अर्थ विभाग को दी जाने वाली अनुमानित सूची में इसे भी रख दिया जाए। इस प्रकार भेजे गए प्रस्तावों का निरीक्षण करना तथा उन पर सम्मति प्रदान करना अर्थ-विभाग का कार्य था। इस प्रकार स्वभावतः ही अर्थ-विभाग ऐसी योजना को अस्वीकार करने के लिए बाध्य था, जिसका निरीक्षण करने का उसे सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ हो, अथवा जिसकी स्वीकृति अप्रत्यक्ष रूप से भारत सचिव ने न प्रदान की हो। इस प्रकार इस क्षेत्र में भी—अप्रत्यक्ष रूप से ही सही—भारत सचिव के हाथों में पूरा-पूरा नियन्त्रण था।

व्यवस्थापक नियन्त्रण

अब हमें भारत सचिव के व्यवस्थापक नियन्त्रण पर भी थोड़ा विचार कर लेना चाहिए जिसका विस्तार सरकार के सुरक्षित और हस्तान्तरित, दोनों पक्षों तक था।

भारतीय व्यवस्थापिका सभा पर भारत सचिव के नियन्त्रण को बतलानेवाली धाराओं की संख्या एक्ट में तो अत्यन्त न्यून थी। परन्तु एक्ट द्वारा प्रतिपादित सम्राट (Crown) के प्रतिनिषेध के अधिकार के नाते भारत सचिव इस नियन्त्रण का प्रयोग करता था। भारतीय व्यवस्थापिका सभा का प्रत्येक कानून गवर्नर जनरल की स्वीकृति प्राप्त कर लेने के पश्चात् भारत सचिव के पास भेजा जाता था। सम्राट (His Majesty) को उस नियम को अस्वीकृत करने का अधिकार था। ऐसी परिस्थिति में वह नियम व्यर्थ पड़ा रहता था अथवा नष्ट हो जाता था। वस्तुतः

[1] 'निक्षेपण नियम' (Devolution Rules) के नियम ३६ के अनुसार।

प्रतिनिषेध का अधिकार वास्तविक न होकर सैद्धान्तिक अधिक था। इस का प्रयोग बिरले ही हुआ करता था।

इससे हमें यह धारणा नहीं बना लेनी चाहिए कि व्यवस्थापक क्षेत्र में भारत सचिव का नियन्त्रण अपूर्ण अथवा असार था। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं पर वह निम्नलिखित मुख्य साधनों द्वारा अपने नियन्त्रण का प्रयोग कर सकता था :—

(१) उत्तर पश्चिमी सीमा प्रदेश, अजमेर-मेरवाड़ा, कुर्ग, आदि छोटे तथा गौण स्थानों के उत्तम शासन प्रबन्ध तथा शान्ति और सुरक्षा के लिए गवर्नर जनरल और उसकी समिति को नियम (Regulations) बनाने का विशेषाधिकार प्रदान किया गया था।[1] इस स्थिति में गवर्नर जनरल भारत सचिव के नियन्त्रण में था।[2]

(२) भारतवर्ष एव उसके किसी एक भाग के उत्तम शासन एव शान्ति और सुरक्षा के हेतु इस एक्ट द्वारा गवर्नर जनरल को (गवर्नर जनरल और उसकी समिति को नहीं) आर्डिनेन्स (Ordinance) बनाने और घोषित करने का अधिकार प्राप्त था। इन आर्डिनेन्स की अवधि अधिक से अधिक ६ मास हो सकती थी। यह आर्डिनेन्स भी भारतीय व्यवस्थापिका सभा के एक एक्ट के समान ही सम्राट (His Majesty) द्वारा अस्वीकृत किया जा सकता था। इस लिए स्वभावत ही, यदि गवर्नर जनरल भारत सचिव को कोई सूचना दिए बिना ही आर्डिनेन्स घोषित कर देता (यद्यपि अत्यन्त आवश्यक होने पर ही ऐसा किया जा सकता था), तो वह तुरन्त ही उस नवीन आर्डिनेन्स की सूचना भारत सचिव को देकर उसकी स्वीकृति प्राप्त कर लेता था।

(३) इसके अतिरिक्त, गवर्नर जनरल की पूर्व स्वीकृति के बिना प्रान्तीय धारा-सभाएँ उप धाराओं में निर्देश किए गए नियमों पर किसी प्रकार का विचार आदि नहीं कर सकती थीं।[3]

इसी प्रकार प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं के समस्त एक्ट भारत सचिव के पास भेजे जाते थे जहाँ सम्राट (Crown) के प्रतिनिषेध के अधिकार का प्रयोग

---

[1] एक्ट की धारा ७१ के अनुसार।

[2] एक्ट की धारा ७१ की उपधारा ३ और ४ के अनुसार।

[3] एक्ट की धारा ८० (अ) की उप धारा ३ के अनुसार—(प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा का अध्याय देखिए)।

किया जाता था।[1] इस सम्बन्ध में एक्ट की धारा ८१ (अ) (१) के अन्तर्गत बने हुए कुछ नियमों के सम्बन्ध में भी जिन्हें रिजर्वेशन आफ बिल्स रूल्स (Reservation of Bills Rules) कहते हैं, कुछ लिखना उचित है। इन नियमों द्वारा यह निश्चित किया गया कि (अ) कुछ निश्चित प्रस्ताव, जिन पर कि पहले गवर्नर जनरल की स्वीकृति नहीं ली गई थी, उसके विचारार्थ आवश्यक रूप से सुरक्षित रखे जाएं; और (ब) उसी प्रकार की परिस्थिति में कुछ अन्य प्रस्तावों को वैकल्पिक रूप से सुरक्षित रखा जाए। इस स्थिति में भी भारत सचिव की सम्मति का महत्व गवर्नर जनरल के लिए ही अधिक था।

"व्यवस्थापक नियन्त्रण के इस क्षेत्र के सम्बन्ध में एक सामान्य संकेत ही यथेष्ट होगा," जैसा कि सर तेज बहादुर सप्रू ने कहा है, "और वह यह है; प्रान्तीय व्यवस्थापक क्षेत्र में यद्यपि भारत सचिव के दर्शन कहीं भी प्रत्यक्ष रूप में नहीं होते परन्तु गवर्नर जनरल की आधीनता उसके अधिकार को यदि प्रत्यक्ष नियन्त्रण का स्वरूप प्रदान नहीं करती तो कम से कम प्रभावपूर्ण तो अवश्य ही बना देती है।"[2] और "जहां तक भारत सरकार का सम्बन्ध है वहां कदाचित् ही कोई ऐसा महत्वपूर्ण व्यवस्थापन कार्य हो जिसकी," जैसा कि सर तेज बहादुर सप्रू ने अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर कहा है, "सूचना पहले से ही पत्र अथवा तार द्वारा उसको न दी जाती हो, यद्यपि उनमें भारत सचिव की पूर्व स्वकृति की आवश्यकता नहीं थी।"

उपर्युक्त वर्णन के अध्ययन करने के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत सचिव संसार के समस्त देशों के पदाधिकारियों से कहीं अधिक प्रभावशाली व्यक्ति सिद्ध होता है। यदि कोई व्यक्ति यह प्रश्न करे कि सन् १९१९ के एक्ट के अन्तर्गत भारत सचिव के क्या कार्य थे, तो उसका सबसे अधिक उचित उत्तर एक प्रश्न के रूप में ही हो सकता है कि ऐसे कौन से कार्य थे जिन्हें भारत सचिव सन् १९१९ के एक्ट के अन्तर्गत नहीं कर सकता था। वास्तव में उसके कंधों पर उत्तरदायित्व का इतना व्यापक और भारी भार था कि स्वयं उसके कंधे दुखने लग जाते होंगे। वस्तुतः भारत सचिव के पद में साम्राज्यशाही के जागरण और सावधानी की मूर्तिमत्ता थी। साम्राज्यशाही की भय और प्रगति की कच्ची नींव से शंकित होकर, स्वयं अपने

[1] एक्ट की धारा ८२ के अनुसार

[2] In this sphere of Legislative control one general remark may suffice, and it is this though the Secretary of State does not come in anywhere directly, the Governor Generals's subordination to him gives him a powerful voice if not a palpable control, in regard to provincial legislation." ---Sir Tej Bahadur Sapru.

समर्थकों और भक्तों के लिए भार बन जाने के कारण, समय-समय पर भारत सचिव को कदाचित यह अनुभव हुआ हो कि साम्राज्यशाही भी कैसा प्रतिबन्ध एव अवरोध है।

(२) इण्डिया काउन्सिल

यदि इण्डिया काउन्सिल (India Council) के सम्बन्ध में कुछ न कहा जाए तो भारत सचिव का वर्णन अपूर्ण ही रह जाएगा। इस काउन्सिल का जन्म सन् १८५८ के एक्ट द्वारा हुआ था।

(अ) निर्माण

सन् १८५८ के एक्ट के अन्तर्गत इण्डिया काउन्सिल के सदस्यों की सख्या १५ थी, इनमें से ८ सदस्यों की नियुक्ति सम्राट (Crown) द्वारा होती थी, शेष ७ सदस्यों का निर्वाचन ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स (Court of Directors) करते थे। समय-समय पर इण्डिया काउन्सिल के विधान में परिवर्तन होते रहे थे। सन् १६१६ के एक्ट के अनुसार इण्डिया काउन्सिल के सदस्यों की सख्या ८ से कम और १२ से अधिक नहीं हो सकती थी। सख्या का निश्चित करना भारत सचिव का कर्त्तव्य था।

(ब) सदस्यों की योग्यताएँ

इण्डिया काउन्सिल के कम से कम आधे सदस्यों के लिए यह आवश्यक था कि वे भारतवर्ष में कम से कम दस वर्ष नौकरी कर चुके हों अथवा वहाँ रह चुके हों, और काउन्सिल के सदस्य बनने के समय पर उन्हें भारतवर्ष छोड़े हुए पाँच वर्ष से अधिक समय व्यतीत न हुआ हो।

(स) अवधि तथा नियुक्ति

इण्डिया काउन्सिल में कोई स्थान रिक्त होने पर उस स्थान के लिए नए सदस्य की नियुक्ति का अधिकार भारत सचिव को था। प्रत्येक सदस्य का कार्य-काल सामान्य रूप से पाँच वर्ष था। परन्तु जनता के हितार्थ कुछ विशेष कारणों से भारत सचिव किसी सदस्य को आगामी पाँच वर्षों के लिए फिर से नियुक्त कर सकता था। इस प्रकार की परिस्थितियों में उस सदस्य की नियुक्ति फिर से करने के कारण पार्लियामेण्ट के दोनों भवनों के सन्मुख एक ब्योरे के रूप में रखे जाते थे। इण्डिया काउन्सिल के प्रत्येक सदस्य को किसी भी समय अपने पद से त्याग-पत्र देने का अधिकार था। पार्लियामेण्ट के दोनों भवनों के प्रार्थना करने पर इण्डिया काउन्सिल का कोई भी सदस्य सम्राट (Crown) द्वारा पदस्थ किया जा सकता था।

(द) वेतन, भत्ता तथा अन्य सुविधाएँ

इण्डिया काउन्सिल के प्रत्येक सदस्य को १२०० पौन्ड वार्षिक वेतन मिलता

था। परन्तु अपनी नियुक्ति के अवसर पर यदि कोई सदस्य भारतवर्ष का निवासी होता था तो उसे वेतन के साथ-साथ ६०० पौन्ड वार्षिक भत्ता भी मिलता था। इण्डिया काउन्सिल के किसी भी सदस्य को पार्लियामेण्ट में बैठने तथा मत देने का अधिकार नहीं था।

(क) काउन्सिल की बैठक की कार्य प्रणाली

इण्डिया काउन्सिल की प्रत्येक बैठक में भारत सचिव सभापति का पद ग्रहण करता था। उसकी अनुपस्थिति में उपसभापति सभापति के पद पर आसीन होता था। यदि भारत सचिव और उपसभापति दोनों ही अनुपस्थित होते थे, तो उपस्थित सदस्य अपने में से एक सभापति चुन लिया करते थे। बैठक में यदि किसी विषय पर मतों की सख्या समान होती थी तो सभापति अपने निजी मत द्वारा उसका निर्णय करता था। भारत सचिव की अनुपस्थिति में इण्डिया काउन्सिल में यदि कोई कार्य कर दिया जाता था, तो वह उसी समय वैध माना जाता था जब उस पर भारत सचिव की स्वीकृति हो। यदि काउन्सिल की बैठक में भारत सचिव की उपस्थिति में किसी विषय पर मतभेद होता था तो भारत सचिव का निर्णय अन्तिम माना जाता था। जिन विषयों के सम्वन्ध में एक्ट द्वारा स्पष्ट बहुमत का निर्देश कर दिया गया था, उन विषयों के सम्बन्ध में यह निर्णय मान्य नहीं माना जाता था। मतभेद की ऐसी परिस्थिति में भारत सचिव अथवा इण्डिया काउन्सिल का कोई भी सदस्य, जो उस बैठक में उपस्थित था, अपनी सम्मति तथा इस सम्बन्ध में उपस्थित किए गए अपने तर्कों को लिखवा सकता था।

(ख) कार्य

इण्डिया काउन्सिल को जो कार्य सौंपे गए थे वे लगभग वही थे जो पहले कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स (Court of Directors) के थे। एक्ट के नियमों के अन्तर्गत तथा भारत सचिव के निरीक्षण में इण्डिया काउन्सिल के सदस्य इंग्लैंड और भारत सरकार के बीच में होने वाले कार्यों का सम्पादन और पत्र-व्यवहार करते थे। परन्तु साथ ही साथ इन सदस्यों का एक विशेष कार्य भी था। वह कार्य कदाचित् भारत सचिव के हाथो में केन्द्रित होने वाले अधिकारों के सम्बध में संतुलन रखने का था। कुछ निश्चित विषयों में, विशेष रूप से भारतवर्ष की आय से सम्बन्धित किसी अनुदान आदि के विषय में इण्डिया काउन्सिल की बैठक में स्पष्ट बहुमत आवश्यक माना गया था। यह कार्य जिसे अर्ध प्रतिनिषेध का नाम प्रदान किया गया है, इण्डिया काउन्सिल और भारत सचिव दोनों के सम्बन्धों के दृष्टिकोण से इण्डिया काउन्सिल की उच्च स्थिति का द्योतक है। एक्ट में इस बात पर ज़ोर दिया गया था—यद्यपि न्यून मात्रा में ही—कि दो विषयों के अतिरिक्त समस्त विषयो के सम्बंध में भारत सचिव इण्डिया काउन्सिल से सम्मति अवश्य ले। चाहे तो वह काउन्सिल

की एक बैठक प्रति सप्ताह बुला लिया करे, चाहे उन विषयों के सम्बन्ध मे अपनी नीति का प्रदर्शन करने से पहले ही उनको काउन्सिल के सम्मुख उपस्थित कर दे! निम्नलिखित दो विषयों के सम्बन्ध में भारत सचिव न टो इण्डिया काउन्सिल की सम्मति मानने के लिए बाध्य ही था और यदि वह चाहता तो काउन्सिल को सूचना दिए ही बिना वह इस सम्बध में कार्य कर सकता था —

(१) असाधारण आवश्यकता पड़ने पर भारत सचिव इण्डिया काउन्सिल की सम्मति प्राप्त किए बिना ही आदेश दे सकता था। परन्तु उसे अपने इस कार्य से सम्बधित कारण इंण्डिया काउन्सिल के सदस्यों के सम्मुख उपस्थित करने पडते थे, और

(२) "जब किसी आदेश अथवा सूचना का सबध किसी युद्ध घोषणा, अथवा किसी सधि, अथवा जन-सुरक्षा, अथवा साम्राज्य रक्षा, अथवा किसी देशीय राजा से सधि करने से सम्बध रखता हो, और इसलिए इस प्रकार के कार्य को गुप्त रखने के कारण ऐसे अवसर पर इण्डिया काउन्सिल की बैठक बुलाकर उसके बहुमत की आवश्यकता नहीं हो" तो भारत सचिव अपने विवेक से, इण्डिया काउन्सिल को उसकी सूचना दिए बिना ही कार्य कर सकता था।

(ग) इण्डिया काउन्सिल की उपयोगिता

इण्डिया काउन्सिल सन् १८५८ के एक्ट की एक अप्रधान रचना थी। इसलिए इसके स्थायित्व के सम्बन्ध में हमें एक बार पिछले इतिहास को देखना पड़ेगा। सन् १८५८ के गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया बिल (Government of India Bill of 1858) के सम्बन्ध में बोलते हुए अर्ल ऑफ डरबी (Earl of Derby) ने कहा था, "यद्यपि यह आवश्यक था कि भारत सरकार के कार्यों का सम्पादन उच्च पदाधिकारी तथा मन्त्रियों द्वारा ही हो, जिनकी नियुक्ति, सरकार के अन्य पदाधिकारियों के समान सम्राट (Crown) द्वारा हो और जो पार्लियामेण्ट के प्रति उत्तरदायी रहें, परन्तु यह सोचना असम्भव सा ही था कि इस प्रकार नियुक्त किए गए किसी व्यक्ति को भारत के विभिन्न प्रान्तों के शासन और उन्नति से सम्बन्धित विस्तृत और जटिल कार्यों के करने का अनुभव तथा ज्ञान होगा, भारतवर्ष के उत्तम शासन प्रवन्ध के लिए यह आवश्यक समझा गया कि मन्त्री की सहायतार्थ एक समिति की स्थापना भी करदी जाए, जिसके द्वारा उसे न्यूनाधिक रूप में सहायता और सम्मति प्राप्त हो सके।" इस प्रकार इण्डिया काउन्सिल की स्थापना की गई। इसकी स्थापना, जैसा कि अर्ल ऑफ डरबी ने कहा था कि, "मन्त्री और पार्लियामेण्ट के मध्य के आवरण रूप नहीं जैसी कि कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स की सस्था होती—परन्तु मन्त्री को सम्मति प्रदान करने के लिए हुई थी, फिर वह उसे अपने उत्तरदायित्व पर स्वीकार अथवा अस्वीकार करने के लिए स्वतन्त्र था।"[१] इस प्रकार काउन्सिल की

---

[1] "Not to be as a screen between the minister and Parliament,

स्थापना का मुख्य उद्देश्य यही था कि मन्त्री को, जो कि भारतवर्ष के सम्बन्ध मे अनुभवहीन तथा ज्ञानरहित होता था, भारतीय समस्याओं के सम्बन्ध में उचित और अनुभवपूर्ण सम्मति प्रदान करे। इस काउन्सिल को एक विशेष कार्य और भी सौंपा गया। यह कार्य कदाचित्, जैसा कि क्रूई कमेटी ने संकेत किया था, "भारत सचिव के हाथों में केन्द्रित होने वाले अधिकारों के सम्बंध में सतुलन रखने का था। इस बात से वह पूर्णतः स्पष्ट है कि सन् १८५८ के एक्ट के अनुसार काउन्सिल की बैठक में स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुए बिना भारतवर्ष की आय में से किसी प्रकार का अनुदान प्रदान नहीं किया जा सकता था।"[1] सन् १९१९ के एक्ट के अंतर्गत भी यही परिस्थिति थी। इण्डिया काउन्सिल "अपने जन्म के समय से लेकर," जैसा कि देवेन्द्रनाथ बनर्जी ने कहा है, "प्रभावपूर्ण सलाहकार समिति के रूप में रही। किसी विषय को प्रारम्भ करने का इसे अधिकार न था।"

सन् १८५८ में इण्डिया काउन्सिल का निर्माण करने में कदाचित न्याय सगत तत्व रहे हों। यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि इण्डिया काउन्सिल सन् १९१९ के एक्ट में स्थान पाने योग्य न थी। देवेन्द्रनाथ बनर्जी ने इस कथन मे दृढ़ रूप में सत्यता का प्रतिपादन किया है कि "वर्त्तमान समय मे हमें काउन्सिल समय के देखते भ्रम जान पड़ती है, जितनी शीघ्रता से इससे छुटकारा मिले भारत सरकार के लिए उतना ही उत्तम है।"[2] ऐसी ही आवेशपूर्ण भावना तथा प्रभावशाली शब्दों में क्रूई कमेटी (Crewe Committee) के अधिकांश सदस्यों ने अपनी रिपोर्ट में इण्डिया काउन्सिल को समाप्त करने के लिए लिखा था।

काउन्सिल के विरुद्ध जो प्रभावशाली तर्क स्थापित किए गए थे, उन्हें संक्षेप में निम्नलिखित रूप से रखा जा सकता है :—

(१) सन् १९१९ के एक्ट के उद्देश्य की घातक

सन् १९१९ के एक्ट का उद्देश्य था भारतीयों को उत्तरदायी सरकार की प्राप्ति

---

as the Court of Directors might have been, but to give the minister advice which on his own responsibility he would be at liberty either to accept or to reject." —Earl of Derby

[1] "To act as a counterpoise to the centralization of powers in the hands of Secretary of State. It is clearer from the fact that no grant or appropriation of any part of the revenues of India could be made, under the act of 1858 without the concurrence of a majority of votes at a meeting of Council." —Crewe Committee.

[2] "The Council seems to us to be an anachronism at present, the sooner got rid of the better for the Government of India"

—Debendra Nath Banerjee.

निश्चित किया गया था कि काउन्सिल में भारतीयों को अधिक स्थान देकर तथा उसकी अवधि कम करके उसे अधिक लाभदायक बनाया जाए। उसकी अवधि कम करने से भारतवर्ष से ऐसे नवीन सदस्य प्राप्त हो सकेंगे जिनका अनुभव प्रौढ़ तथा नवीन होगा, तथा इँग्लैंड में भारतीय सदस्यों को सात वर्ष की लम्बी अवधि व्यतीत नहीं करनी पड़ेगी। इसलिए इस एक्ट के अन्तर्गत इण्डिया काउन्सिल का कार्य काल सात वर्ष के स्थान पर पाँच वर्ष कर दिया गया। काउन्सिल मे भारतीय सदस्यों की सख्या एक से बढाकर तीन कर दी गई। "जहाँ तक भारतीय सदस्यों का प्रश्न है," जैसा कि सर तेज बहादुर सप्रू ने कहा है, "प्रत्यक्ष अनुभव यह सिद्ध करता है कि अधिक समय तक इँग्लैंड में रहना उनके लिए अत्यन्त कठिन हो जाता है, और ऐसे अवसरों की कमी नहीं रही है जब कि इँग्लैंड में एक भी भारतीय सदस्य उपस्थित नहीं रहा हो।"

उपसहार रूप में हम रैमजे मैकडोनल्ड के कथन का उल्लेख कर सकते हैं —

"यदि इस काउन्सिल का कोई प्रयोग है, तो वह घात-प्रतिघात की दुरुह प्रणाली का ही है। भारतीय नियन्त्रण तथा विशेष तथा उचित राजनैतिक सम्मति को त्याग यह काउन्सिल सचिवतत्र शासन के वास्तविक हित का नाश करती है। यह विशेषज्ञों की सम्मति अथवा सरकार न होकर अधिकारियों की सम्मति तथा सरकार है। यह भारतीय सम्मति का विशेषण न होकर नौकरशाही का विशेषण है। इसका स्वरूप सिविल सर्विस के समान है जिसकी स्थापना ही व्यवस्थापिका सभा के मार्ग में बाधा स्वरूप हुई है, और जैसे-जैसे भारतवर्ष में प्रतिनिधात्मक सस्थाओं की स्थापना और विस्तार होता जा रहा है, वैसे ही यह उत्तरोत्तर नियम विरुद्ध होती जा रही है।"[1]

---

[1] "The Council is cumbersome machine of check and counter-check, if it has any use at all. It destroys real parliamentary interest without giving Indian control or expert political advice . . It is not Government or advice by the experts, but by the official It is an adjunct to bureaucracy, not to Indian opinion It is a Civil Service imposed as a check upon a legislature and it becomes more and more anomolous as representative institutions in India are established and broadened " —Ramsay Macdonald

चौथा अध्याय

भारतीय व्यवस्थापिका

"भारतीय व्यवस्थापिका सभा के सम्बन्ध में एक्ट की स्पष्ट धारणा यही है कि भारत सरकार के निर्णय तथा उसकी नीति पर भारतीय व्यवस्थापिका सभा का पूर्व समय के अनुपात में अधिक प्रभाव होना चाहिए, और पार्लियामेण्ट के प्रति अपने उत्तरदायित्व का ध्यान रखते हुए सरकार नवीन विधान के इस सिद्धांत को पूर्णरूपेण प्रभावशाली बनाने की चेष्टा करेगी। अबसे केन्द्रीय सरकार के प्रत्येक क्षेत्र में आपके प्रभाव का विस्तार होगा। शासन से सम्बन्धित प्रत्येक क्षेत्र में इसे स्वीकार किया जाएगा।"[1] (ड्यूक ऑफ कनॉट के भाषण से)

केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा का नाम भारतीय व्यवस्थापिका सभा रक्खा गया। पारिभाषिक रूप से इस सभा का निर्माण गवर्नर जनरल तथा दो भवनों Chambers से किया गया था। यह दोनों भवन काउन्सिल ऑफ स्टेट (Council of State) तथा लेजिस्लेटिव एसेम्बली (Legislative Assembly) थे। साधारण रूप से कोई भी प्रस्ताव उस समय तक नियम का स्वरूप ग्रहण नहीं कर सकता था जब तक कि दोनों भवन उस पर अपनी स्वीकृति प्रदान नहीं कर देते थे। यह स्वीकृति या तो बिना किसी संशोधन के स्पष्ट होनी चाहिए थी, अथवा उसमें किए गये संशोधन ऐसे होने चाहिए थे जिन्हें दोनों भवन स्वीकार कर सकते थे।

निर्माण

काउन्सिल ऑफ स्टेट के, जो भारतीय व्यवस्थापिका सभा का द्वितीय

---

1 "It is the clear intention of the Act that the policy and decisions of the Government of India should be influenced to an extent incomparably greater than they have been in the past by views of the Indian Legislature, and the Government will give the fullest possible effect, consistent with their own responsibilities to Parliament, to this principle of the new Constitution From now onwards your influence will extend to every sphere of the Central Government. It will be felt in every part of the administration"

—From the Duke of Connaught's address of the Assembly.

भवन था, सदस्यों की संख्या अधिक से अधिक ६० हो सकती थी। इसमें कुछ सदस्य तो निर्वाचित होते थे तथा कुछ सदस्यों की नियुक्ति की जाती थी। सरकारी सदस्यों की संख्या २० से अधिक नहीं हो सकती थी। यहा यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि यह सिद्धान्त दो प्रकार की प्रणालियों का मिश्रण था—कनाडा की समस्त सदस्यों की नियुक्त करने की प्रणाली तथा आस्ट्रेलिया की समस्त सदस्यों को निर्वाचित करने की प्रणाली था।

काउन्सिल ऑफ स्टेट में मुसलमान, सिख तथा योरुपियनों को विशेष प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया था। नियमों के अनुसार काउन्सिल ऑफ स्टेट में निम्न प्रकार के सदस्य होते थे—३४ निर्वाचित सदस्य, ६ नियुक्त किए गए गैर सरकारी सदस्य, और २० सरकारी सदस्य।

लेजिस्लेटिव एसेम्बली विश्व के समस्त प्रथम भवनों से भिन्न थी, क्योंकि इसमें भी कुछ सदस्य तो निर्वाचित होते थे और कुछ की नियुक्ति की जाती थी। इस भवन के सदस्यों की संख्या एक्ट के अनुसार अधिक से अधिक १४० हो सकती थी, इसमें निर्वाचित सदस्यों की संख्या १००, तथा शेष अन्य प्रकार के सदस्यों की संख्या ४० थी, जिनमें से २६ सदस्य सरकारी होते थे। नियमों के अनुसार वस्तुत. निर्वाचित सदस्यों की संख्या १०२ और नियुक्त किए गए सदस्यों की संख्या ४१ हो सकती थी। इन ४१ सदस्यों में से २६ सरकारी सदस्य होते थे, और बरार के चुनाव के परिणाम के आधार पर एक व्यक्ति की नियुक्ति की जाती थी। लेजिस्लेटिव एसेम्बली में मुसलमान, सिख तथा योरुपियनों को जातीय प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया था, तथा ज़मींदारों और भारतीय व्यवसाइयों के हित की रक्षा के लिए इन्हें विशेष प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया था।

अवधि

सामान्यतया, काउन्सिल ऑफ स्टेट की अवधि उसकी प्रथम बैठक के समय से पाँच वर्ष नियत की गई थी। इसकी तुलना में यह बात ध्यान में रखने की है कि फ्रांस, अमरीका, कनाडा, और आस्ट्रेलिया के द्वितीय भवन एक प्रकार से स्थायी होते हैं, जिसमें से निश्चित सदस्यों की एक संख्या प्रतिवर्ष अथवा प्रति तीसरे वर्ष अवकाश ग्रहण करती जाती है और उनके स्थान पर नये सदस्यों का आगमन होता है।

इसी प्रकार लेजिस्लेटिव एसेम्बली की अवधि उसकी प्रथम बैठक के समय से तीन वर्ष नियत की गई थी।

किसी भी भवन को उसकी निश्चित अवधि समाप्त होने से पूर्व ही गवर्नर जनरल को विसर्जित करने का अधिकार था। गवर्नर-जनरल यदि किसी विशेष अवसर पर इस बात की आवश्यकता अनुभव करता तो उसे किसी भवन की अवधि को बढ़ाने का भी अधिकार था। इस कार्य के सम्बन्ध में वह किसी भवन के प्रति उत्तर-

दायी नहीं था। इस सम्बन्ध में यहां यह बतला देना उचित होगा कि कनाडा, आस्ट्रेलिया और दक्षिणी अफ्रीका के गवर्नर जनरल को उन देशों के प्रथम भवन की अवधि को बढ़ाने का अधिकार नहीं है।

किसी भवन के विसर्जन के पश्चात् गवर्नर जनरल इस बात के लिए बाध्य था कि उस भवन की आगामी बैठक के लिए कोई दिनांक निश्चित करे। यह दिनांक उस भवन के विसर्जन के दिनांक से ६ मास के समय से, तथा भारत सचिव की स्वीकृति के पश्चात् ९ मास के समय से अधिक नहीं हो सकता था।

गवर्नर जनरल को, यद्यपि वह लेजिस्लेटिव एसेम्बली तथा काउन्सिल ऑफ स्टेट दोनों में से किसी का सदस्य नहीं था, किसी बैठक में भाषण देने, उसे कुछ काल के लिए स्थगित करने तथा उसकी बैठक बुलाने का अधिकार था। इंग्लैंड के सम्राट (His Majesty) के समान गवर्नर जनरल यहाँ का नाममात्र का शासक नहीं था, परन्तु वह इंगलैंड के प्रधान मंत्री (Prime Minister) के समान सरकार का वास्तविक अर्थ मे अध्यक्ष था। इस प्रकार एक उत्तरदायी व्यवस्थापिका सभा के प्रति नाममात्र के लिए भी उत्तरदायी न रह कर वह उसे समाप्त कर सकता था।

नियुक्त किए गए सदस्य और उनकी अवधि

नियुक्त किए सदस्य या तो कोई पदाधिकारी होते थे अथवा ग़ैर सरकारी होते थे। व्यवस्थापिका सभा मे उसकी नियुक्ति गवर्नर जनरल द्वारा होती थी। नियुक्त किया गया एक ग़ैर सरकारी सदस्य उस भवन की अवधि की पूर्णता तक, जिसका वह सदस्य था, सदस्यता का उपभोग करता था; यदि उसका कार्यकाल उस भवन की अवधि से कम होता था, तो उसकी नियुक्ति के समय ही गवर्नर जनरल उसका कार्यकाल निश्चित कर देता था। नियुक्ति के सिद्धांत के सम्बन्ध में भारतीय वैधानिक सुधार की रिपोर्ट के अनुच्छेद २७५ का उल्लेख उचित होगा जो निम्न प्रकार है :—

"गवर्नर जनरल द्वारा गैर सरकारी सदस्यों की नियुक्ति के सम्बन्ध मे हमारी यह सम्मति है कि किसी प्रकार के स्थिर अथवा निश्चयात्मक नियम प्रतिपादन किए जाएँ। असमानता को दूर करने तथा प्रतिनिधित्व में हुए दोषों के निवारण के हेतु यह स्थान उसके हाथों में सुरक्षित समझे जाने चाहिएँ।"[1]

योग्यता और प्रतिबन्ध

एक्ट द्वारा यह निश्चित कर दिया गया था कि सरकारी पदाधिकारी किसी

---

1. "In respect of the non-official members to be nominated by the Governor General, we advise that no hard and fast rule should be laid down, These seats should be regarded as a reserve in his hands for the purpose of adjusting inequalities and supplementing defects in representation." —Report on Indian Constitutional Reforms.

भवन की सदस्यता के लिए चुनाव नहीं लड सकते थे। किसी भवन का कोई गैर-सरकारी सदस्य यदि सम्राट (Crown) की सरकार में किसी पदाधिकारी का स्थान ग्रहण कर लेता था तो उसकी सदस्यता उससे छिन जाती थी।

एक्ट द्वारा यह भी निश्चित कर दिया गया था कि एक सदस्य एक साथ ही दोनों भवनों का सदस्य नही हो सकता था। यदि वह दोनों के लिए निर्वाचित हो जाता था तो यह उसकी इच्छा पर निर्भर था कि दोनों में से वह किसी एक भवन की सदस्यता स्वीकार कर ले।

एक्ट द्वारा यह भी निश्चित कर दिया गया था कि गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी समिति (Executive Council) के प्रत्येक सदस्य की नियुक्ति भारतीय व्यवस्थापिका सभा के किसी भवन में होनी चाहिए। इस प्रकार दूसरे भवन का सदस्य न होने पर भी उसे उस भवन में भाषण देने का अधिकार था।

एक्ट द्वारा यह भी निश्चित कर दिया था कि भारतवर्ष के विभिन्न राज्यों (Indian States) के किसी भी शासक अथवा प्रजाजन की नियुक्ति किसी भी भवन में की जा सकती थी।

यदि किसी व्यक्ति को फौजदारी के सम्बन्ध में न्यायालय द्वारा ६ महीने से अधिक का निर्वासन अथवा कारागृहवास का दण्ड मिला हो और इस सम्बन्ध में उसे क्षमा प्रदान न की गई हो, तो दण्ड की समाप्ति के समय से पाँच वर्ष तक के लिए वह व्यक्ति चुनाव नहीं लड़ सकता था। निर्वाचन में भ्रष्ट व्यवहार तथा अवैध कार्य करने वाले व्यक्तियों के लिए भी इसी प्रकार का दण्ड-विधान निश्चित था।

निम्न लिखित को चुनाव में मतदान का अधिकार नहीं था —

(अ) वह व्यक्ति जो भारतीय प्रजा का सदस्य न हो,
(ब) वह व्यक्ति जो पागल हो,
(स) स्त्री (उन प्रांतों के अतिरिक्त जहाँ यह अयोग्यता अस्वीकार कर दी गई थी), और
(द) वे व्यक्ति जिनक आयु २१ वर्ष से कम हो।

यह निश्चित कर दिया गया था कि चुनाव लड़ने वाले व्यक्ति की आयु २५ वर्ष से कम न होनी चाहिये।

सदस्यों के अधिकार

भारतीय व्यवस्थापिका सभा के प्रत्येक सदस्य को भाषण की स्वतन्त्रता थी। किसी भवन में दिए गए अपने वक्तव्य अथवा मत देने के आधार पर अथवा किसी भवन के कार्य-क्रम की प्रकाशित हुई सरकारी रिपोर्ट में दिए गए वक्तव्य के आधार पर उसे कानून के अतर्गत नहीं लिया जा सकता था। यहाँ यह बात ध्यान मे रखने की

है कि यदि कोई सदस्य अपने वक्तव्य को स्वयं अपनी ओर से प्रकाशित करवाता था, तो कानून के सामने उपस्थित होने से उसे कोई नहीं बचा सकता था, क्योंकि अपने वक्तव्य को पृथक रूप से प्रकाशित करना अपराध था, अपने वक्तव्य को प्रकाशित करने का अर्थ होता था, उसका निजी तथा वैयक्तिक प्रकाशन। भवन के नियमों और आदेशों का पालन प्रत्येक सदस्य को करना पडता था। इस प्रकार व्यवस्थापिका सभा के किसी भवन में भी भाषण की स्वतंत्रता का तात्पर्य व्यवस्थापिका सभा के नियमों का परित्याग नहीं था। भ्रष्ट तथा अनुचित भाषा का प्रयोग करने अथवा इसी प्रकार का कोई अन्य कार्य करने पर किसी भी सदस्य पर अनुशासन भंग का अपराध लगाया जा सकता था। इसके अतिरिक्त एक्ट के अंतर्गत दोनों भवनों के सदस्य जूरी अथवा न्यायाधीश के सलाहकार के रूप में कार्य करने के उत्तरदायित्व से मुक्त थे। इसके अतिरिक्त निम्नलिखित आधारों पर किसी व्यक्ति को दीवानी के कानून के अनुसार न तो गिरफ्तार ही किया जा सकता था और न उसे हवालात में रोका ही जा सकता था :—

(अ) यदि वह गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया एक्ट (Government of India Act) के अतर्गत स्थापित किसी व्यवस्थापक भवन का सदस्य था, तो उस भवन की बैठक होने के समय तक।

(ब) यदि वह किसी ऐसे भवन की किसी समिति (Committee) का सदस्य था तो उस समिति की बैठक होने के समय तक।

(स) यदि वह भारतीय व्यवस्थापिका सभा के किसी भवन का सदस्य था, तो दोनों भवनों की संयुक्त बैठक होने के समय तक, और यदि वह किसी समिति (Committee) का सदस्य था तो समितियों की संयुक्त बैठक होने के समय तक।

(द) और इसी प्रकार की बैठकों के चौदह दिन पूर्व और पश्चात् के समय तक।

भवनो के सभापति

एक्ट द्वारा यह निश्चित कर दिया गया था कि लेजिस्लेटिव एसेम्बली में एक सभापति और एक उप-सभापति, तथा काउन्सिल ऑफ स्टेट में एक सभापति होगा।

एक्ट द्वारा यह भी निश्चित कर दिया गया था कि लेजिस्लेटिव एसेम्बली के सभापति की नियुक्ति एसेम्बली की प्रथम बैठक से चार वर्ष तक गवर्नर जनरल द्वारा की जाएगी। परन्तु उसके पश्चात् लेजिस्लेटिव एसेम्बली के सदस्य आपस में ही से एक सभापति का निर्वाचन करेंगे, और इस प्रकार चुने गए सभापति के लिए गवर्नर जनरल की स्वीकृति आवश्यक होगी। उपसभापति का निर्वाचन लेजिस्लेटिव एसेम्बली के सदस्य अपने में से प्रारम्भ से ही कर सकेंगे। परन्तु उसके लिए भी गवर्नर जनरल की स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक था। काउन्सिल ऑफ स्टेट के सभापति की नियुक्ति

का अधिकार गवर्नर जनरल को था। इस सभापति की नियुक्ति काउन्सिल ऑफ स्टेट के सदस्यों में से ही की जाती थी। इस सम्बन्ध में यह बात स्मरण रखने योग्य है कि आस्ट्रेलिया और दक्षिण अफ्रीका सघ की सेनेट (Senate) के सदस्य अपने सभापति का आपस में से ही निर्वाचन करते हैं। काउन्सिल ऑफ स्टेट के प्रभाव और महत्व की रक्षा के हेतु, भारतवर्ष में इस द्वितीय भवन को, इस नियुक्ति के सम्बन्ध में, औपनिवेशिक व्यवस्थापिका सभाओं की समानता में रखना चाहिए था।

भारतवर्ष में इन दोनों भवनों के सभापतियों का पद इगलैंड की लोक सभा (House of Commons) के स्पीकर (Speaker) के पद के समान ही था। भवन में अनुशासन रखने का उत्तरदायित्व इन्हीं पर था। उनका पद सर्वोच्च तथा सर्वश्रेष्ठ समझा जाता था। उनका प्रमुख कर्त्तव्य यही देखना था कि भवन का कार्य-क्रम नियमित, निष्पक्ष एव अनुशासित ढग से हो रहा है।

भारतीय व्यवस्थापिका सभा के अधिकार

आलोचनात्मक निरूपण

यह स्वत सिद्ध है कि साधारण रूप से केन्द्रीय सरकार के सम्बन्ध में तथा विशेष रूप से केन्द्रीय आय के सम्बन्ध में सन् १९०९ के मॉर्ले-मिन्टो सुधार एक्ट के पश्चात् मान्टेग्यू चेम्सफोर्ड सुधार एक्ट द्वारा जो उन्नति अथवा प्रगति हुई वह अपूर्ण एव असार थी। मॉर्ले-मिन्टो सुधार एक्ट के समान ही, अब भी भारतीय व्यवस्थापिका सभा एक दर्शक रूप में ही आलोचना कर सकती थी, तथा उसकी सम्मति पर भी विरले ही ध्यान दिया जाता था। एक्ट के अन्तर्गत उसका स्वरूप आधीनता का स्वरूप तथा उसकी सम्मति एव निर्णय सीमित थे। उसके सदस्यों की इच्छा की स्वीकृति तथा अस्वीकृति गवर्नर जनरल के स्वेच्छाचारी निर्णय पर अवलम्बित थी। यद्यपि इस गवर्नर जनरल की नियुक्ति भारतीय व्यवस्थापिका सभा द्वारा नहीं हुई थी, फिर भी वह परात्पर का स्वरूप ग्रहण किए हुए था। व्यवस्थापिका सभा का प्रत्येक अश गवर्नर के प्रभाव एव नियन्त्रण में था।

इस विषय में प्रोफेसर डाइसी का कथन उल्लेखनीय है कि सन् १९१९ के एक्ट के अन्तर्गत "भारतीय व्यवस्थापिका सभा का स्वरूप सत्तारहित व्यवस्थापिका सस्था के समान है।"[1] और यही ब्रिटिश पार्लियामेण्ट का भी लक्ष्य था। सन् १९१९ के एक्ट द्वारा प्रस्तावित विधान के निर्माण का मूल स्वरूप ही ऐसा था कि इसके अतिरिक्त भारतीय व्यवस्थापिका सभा का कुछ अन्य स्वरूप ग्रहण करना असम्भव था। भारतीय व्यवस्थापिका सभा पर विदेशी सत्ता का प्रभाव इसी से अधिक स्पष्ट हो जाता है कि पार्लियामेण्ट ने सन् १९१९ के एक्ट का निर्माण कर उसे, भारतीयों

[1] "The Indian Legislature is non-sovereign law-making body"
—Prof Dicey

की अनिच्छा होते हुए भी, भारतवर्ष के कन्धों पर लाद दिया। ब्रिटिश पार्लियामेण्ट को सर्वोच्च सत्ता तथा विधान सम्बन्धी पूर्ण अधिकार प्राप्त थे। इस प्रकार भारतीय व्यवस्थापिका सभा को जन्म से ही आधीनता की बेड़ियाँ प्राप्त हुई थी, और उसे इस परतन्त्रता में ही जीवनयापन करना था।

भारतीय व्यवस्थापिका सभा के समस्त अधिकार अन्य स्रोत अर्थात् गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया एक्ट (Government of India Act) से प्राप्त किए गए थे। पार्लियामेण्ट का यह एक्ट ही देश का सर्वोच्च कानून अथवा नियम था। भारतीय व्यवस्थापिका सभा के कानून उसी समय तथा उतने ही में वैध माने जाते थे जब तक वे इस सर्वोच्च कानून के प्रति असम्बद्ध, प्रतिकूल अथवा विरोधी न हों। भारतीय व्यवस्थापिका सभा की आधीनता सन् १६१६ के एक्ट के निम्नलिखित शब्दों में भली प्रकार व्यक्त की गई है, "भारतवर्ष में किसी अधिकृत संस्था द्वारा बनाए गए नियम अथवा कानून, यदि वे इस एक्ट अथवा ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के अन्य एक्ट की किसी धारा के प्रतिकूल अथवा विरोधी होंगे, केवल उस विरोध की सीमा तक अवैध माने जायँगे।"[1] इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि कोई भारतीय न्यायाधीश किसी ऐसे व्यवस्थापन सम्बन्धी कार्य को, जिसके सम्पादन का कानूनी अधिकार उसके कर्ता को न था, अवैध ही घोषित करेगा।" एम्प्रेस बनाम बरा (Empress *versus* Burrah) के मुकदमे में प्रिवी काउन्सिल (Privy Council) के सदस्य लॉर्ड सेलबून ने अपना निर्णय देते हुए भारतीय व्यवस्थापिका सभा के इस गौण स्थान को इस प्रकार व्यक्त किया था कि, "भारतीय व्यवस्थापिका सभा के अधिकार इम्पीरियल पार्लियामेण्ट के, जो इसकी जननी थी, बनाए गए एक्ट द्वारा सीमित हैं, और इन अधिकारों के घेरे की सीमा से परे निस्सदेह वह कुछ नहीं कर सकती।"

विशिष्ट अधिकार एवं प्रतिबन्ध

अब हमें भारतीय व्यवस्थापिका सभा के विशिष्ट अधिकार और कार्यों तथा उस पर लगाए गए प्रतिबन्धों पर भी एक दृष्टि डाल लेनी चाहिए।

(१) भारतीय व्यवस्थापिका सभा के व्यवस्थापक अधिकार

भारतीय व्यवस्थापिका सभा के अधिकार का निदर्शन एक्ट की धारा ६५ की उपधारा (अ) से (ख) तक में किया गया था। भारतीय व्यवस्थापिका सभा को निम्नलिखित के सम्बध में कानून बनाने का अधिकार था :—

(अ) ब्रिटिश भारतवर्ष के समस्त निवासियों, समस्त न्यायालयों, और समस्त स्थानों तथा वस्तुओं के सम्बन्ध में;

(ब) भारतवर्ष के अन्य भागों में स्थित सम्राट (His Majesty) की प्रजा और सम्राट (Crown) के कर्मचारियों के सम्बन्ध में;

---

[1] एक्ट की धारा ८४ (सी) के अनुसार

(स) ब्रिटिश भारत में तथा उससे बाहर रहने वाली सम्राट (His Majesty) की भारतीय प्रजा के सम्बन्ध में,

(द) सेना एक्ट (Army Act) तथा हवाई सेना एक्ट (Air Force Act) की सीमा के बाह्य क्षेत्रों में, सम्राट (His Majesty) की भारतीय सेना में कार्य करने वाले सरकारी पदाधिकारियों, सैनिकों तथा अन्य कर्मचारियों के सम्बन्ध में, चाहे वे कहीं कार्य कर रहे हों,

(क) नौसेना अनुशासन एक्ट (Naval Discipline Act) के नियन्त्रण की सीमा के बाहर के क्षेत्रो में गवर्नर जनरल और उसकी समिति द्वारा स्थापित की हुई नौसेना के कर्मचारियों तथा उससे सम्बन्धित समस्त व्यक्तियों के सम्बन्ध में, चाहे वे कहीं कार्य कर रहे हों,

(ख) उन कानूनों के परिवर्त्तन तथा खण्डन के सम्बन्ध में जो ब्रिटिश भारत में कुछ समय के लिए लागू किए गए थे, अथवा जो उन व्यक्तियों पर लागू थे जिनके सम्बन्ध में भारतीय व्यवस्थापिका सभा को क़ानून बनाने का अधिकार था।

कानूनी प्रतिबन्ध

भारतीय व्यवस्थापिका सभा पर लगाए गए प्रतिबन्ध निम्नलिखित थे :—

(१) किसी एक्ट द्वारा ब्रिटिश पार्लियामेण्ट की स्वीकृति प्राप्त किए बिना भारतीय व्यवस्थापिका सभा को निम्नलिखित के सम्बन्ध में कोई कानून बनाने का अधिकार नहीं था :—

(अ) सेना एक्ट (Army Act) हवाई सेना एक्ट (Air Force Act) तथा ब्रिटिश भारत में लागू किए गए सन् १८६० के पश्चात् के पार्लियामेण्ट द्वारा पास किए गए किसी एक्ट को खण्डित करने तथा सशोधित करने के सम्बन्ध में,

(ब) पार्लियामेण्ट के किसी एक्ट को खण्डित करने के सम्बन्ध में जिसके द्वारा भारत सचिव को भारत सरकार के लिए इँगलैंड में ऋण लेने का अधिकार प्राप्त था,

(स) पार्लियामेण्ट की सत्ता तथा प्रभुत्व को कम करने के सम्बन्ध में,

(द) ग्रेट ब्रिटेन के लिखित विधान के सम्बन्ध में, जिसपर किसी अनुपात में भी, इँगलैंड के सम्राट (Crown) के प्रति किसी व्यक्ति की राजभक्ति आश्रित हो,

(क) ब्रिटिश भारत पर सम्राट (Crown) की सत्ता अथवा अधिकार को कम करने के सम्बन्ध में।

(२) भारतीय व्यवस्थापिका सभा को यह अधिकार भी नहीं था कि भारत सचिव की पूर्व स्वीकृति बिना वह हाई कोर्ट (High Court) के अतिरिक्त किसी अन्य न्यायालय को योरुप में पैदा हुई सम्राट (His Majesty) की प्रजा अथवा उनके बच्चों को प्राण दण्ड देने का अधिकार प्रदान कर दे। भारतीय व्यवस्थापिका

सभा को किसी भी हाई कोर्ट (High Court) को समाप्त करने का भी अधिकार नहीं था।

(३) इनके अतिरिक्त यह निश्चित कर दिया गया था[1] कि गवर्नर जनरल की पूर्व स्वीकृति बिना कोई भी सदस्य किसी भी भवन में कोई ऐसा प्रस्ताव उपस्थित नहीं कर सकता था जिसका सम्बन्ध निम्नलिखित से हो :—

(अ) भारतवर्ष की जनता की आय अथवा ऋण के सम्बन्ध में, अथवा भारतवर्ष की आय पर कोई दोषारोपण के सम्बन्ध में,

(ब) भारतवर्ष में सम्राट (His Majesty) की प्रजा के किसी वर्ग के धर्म, धार्मिक मन्त्र, रीति, तथा आचार-विचार के सम्बन्ध में;

(स) सम्राट (His Majesty) की सेना, हवाई सेना, नौ सेना के अनुशासन अथवा स्थायित्व के सम्बन्ध में;

(द) देशी राजाओं तथा राज्यों (Indian States) से सरकार के सम्बध के बारे में;

और न कोई ऐसा प्रस्ताव ही उपस्थित किया जा सकता था,

(अ) जिसके द्वारा किसी ऐसे प्रान्तीय विषय अथवा प्रान्तीय विषय के किसी अंश की व्यवस्था हो, जिसके सम्बन्ध में कानून बनाने का अधिकार गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया एक्ट (Government of India Act) के किसी भी नियम द्वारा भारतीय व्यवस्थापिका सभा को प्रदान नहीं किया गया था, अथवा

(ब) जिसके द्वारा किसी प्रांतीय व्यवस्थापिका सभा के एक्ट का खण्डन अथवा सशोधन होता हो; अथवा

(स) जिसके द्वारा गवर्नर जनरल के बनाए गए एक्ट अथवा आर्डिनेन्स का खण्डन अथवा सशोधन होता हो।

(४) गवर्नर जनरल के प्रमाणित करने के अधिकार द्वारा एक और प्रतिबन्ध लगा हुआ था।[2] यह निश्चित कर दिया गया था कि व्यवस्थापिका सभा के किसी भवन में जब कोई प्रस्ताव अथवा सशोधन उपस्थित किया जा चुका हो अथवा उपस्थित किया जाने वाला हो, तब गवर्नर जनरल यह प्रमाणित करके कि वह प्रस्ताव अथवा उसकी कोई विशेष धारा अथवा वह संशोधन ब्रिटिश भारत की शान्ति और सुरक्षा के लिए घातक था, उस प्रस्ताव के सम्बन्ध में होने वाले समस्त कार्य-क्रम को रोक सकता था। इस प्रकार प्रमाण द्वारा गवर्नर जनरल एक प्रतिबन्धक प्रतिनिषेध के अधिकार का उपभोग करता था।

---

[1] एक्ट की धारा ६७ (२१) के अनुसार

[2] एक्ट की धारा ६७ ए के अनुसार.

(ब) न्यायालय द्वारा निश्चित प्रतिबन्ध

इन प्रस्तावित प्रतिबन्धों के अतिरिक्त सर तेज बहादुर सप्रू ने एक और प्रतिबन्ध बतलाया है जिसका निदर्शन रीज़ बनाम कीज़ (Reyes *versus* Keyes) के मुकदमे में हुआ था। यह हम पहले ही देख चुके है कि भारतीय व्यवस्थापिका को ब्रिटिश भारत के समस्त निवासियों, समस्त न्यायालयों, और समस्त स्थानों तथा वस्तुओं के सम्बन्ध में कानून बनाने का अधिकार था।[१] इस मुकदमे में यह निर्णय किया गया था कि एक्ट की उपर्युक्त शब्दावली भारत सरकार को सम्राट (Crown) की उस प्रजा की स्थिति मे जो भारतवर्ष में आकर निवास कर रही है, हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं प्राप्त करती। इस प्रकार जो कानून भारतीय व्यवस्थापिका सभा बना सकती थी उनका क्षेत्र केवल देशीय ही हो सकता था। "इस प्रकार यह ज्ञात होगा," जैसा कि सर तेज बहादुर सप्रू ने कहा है, "कि यद्यपि कीज़ और रीज़ के मुकदमे के निर्णय का प्रभाव विशेष रूप से योरोपीयन ब्रिटिश प्रजा पर ही पड़ता है परन्तु इसके द्वारा भारतीय व्यवस्थापिका सभा के स्वीकृत अधिकारों में वास्तविक रूप से कमी हो गई।

(स) अन्तिम स्वीकृति का प्रतिबन्ध

भारतीय व्यवस्थापिका सभा के दोनों भवनों मे स्वीकृति प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी, एक प्रस्ताव की जीवन यात्रा सरल नहीं हो पाती थी। इसके पश्चात् भी गवर्नर जनरल को प्रसन्न करने के लिए प्राणपण से चेष्टा करनी पड़ती थी जिससे वह उसकी जीवनदायक अन्तिम स्वीकृति प्राप्त कर सके। गवर्नर जनरल उस पर अपनी स्वीकृति प्रदान कर सकता था। परन्तु वह अस्वीकृति भी प्रदान कर सकता था। यह भी सम्भव था कि वह उस प्रस्ताव को सम्राट (His Majesty) के विशेष निरीक्षण के लिए सुरक्षित रख ले। वह उस प्रस्ताव को किसी भी भवन में फिर से विचार करने के लिए भेज सकता था। परन्तु कोई प्रस्ताव उस समय तक एक्ट का रूप ग्रहण नहीं कर सकता था जब तक कि वह गवर्नर जनरल की अन्तिम स्वीकृति प्राप्त न कर ले। यदि उस प्रस्ताव को सम्राट (His Majesty) के निरीक्षण के लिए रख लिया जाता था, तो वह प्रस्ताव उसी समय एक्ट का स्वरूप ग्रहण कर सकता था जब सम्राट और उनकी समिति (His Majesty in Council) उस पर अपनी अस्वीकृति प्रदान कर दे और उस स्वीकृति की सूचना गवर्नर जनरल के पास पहुँच जाए। केवल इतना ही नहीं, गवर्नर जनरल द्वारा स्वीकृत भारतीय व्यवस्थापिका सभा के किसी भी एक्ट को सम्राट और उनकी समिति (His Majesty in Council) अस्वीकृत कर-

---

१ एक्ट की धारा ६५ (ए) के अनुसार

सकती थी। वह प्रस्ताव उसी क्षण अवैध घोषित हो जाता था जिस क्षण इसकी सूचना गवर्नर जनरल के पास पहुँच जाती थी।

(द) विशेष निरंकुश कानून का प्रतिवन्ध

कार्यकारिणी सभा का प्रतिनिषेध का अधिकार भारतीय विधान की कोई अनोखी वस्तु नहीं थी। इसका प्रचलन इँगलैंड, कनाडा तथा अन्य स्वतन्त्र उपनिवेशों में भी था। भारतवर्ष में इस अधिकार के स्थायित्व से उतना भय नहीं था जितना इसके बहुधा प्रयोग किए जाने से, और जिसकी आशा भी भारतवर्ष में अधिक थी, क्योंकि यहाँ अन्तिम स्वीकृति प्रदान करना और न करना गवर्नर जनरल की अपनी इच्छा पर निर्भर था, जबकि कनाडा में गवर्नर, सम्राट (King) के नाम में स्वीकृति अथवा अस्वीकृति प्रदान करता था और सम्राट (King) जैसा कि हम सब को ज्ञात है, वही चाहेगे और कहेगे जो उनके उपनिवेशों के मन्त्री चाहते हैं।

ज्वाइन्ट सेलेक्टी कमेटी (Joint Select Committee) का कथन था कि एक्ट की धारा ६७ (ए) के अन्तर्गत गवर्नर जनरल को कानून निर्माण करने का निश्चित एवं स्थाई अधिकार प्रदान किया गया है, जिससे अपने उत्तरदायित्व को पूर्ण रूपेण निभाने के लिए प्रत्येक अवसरों पर गवर्नर जनरल और उसकी समिति को कानून निर्माण का साधन प्राप्त हो सके।" वास्तव में यह अधिकार भारतीय व्यवस्थापिका सभा की आधीनता पर एक और छाप थी।

यह भी निश्चित कर दिया गया था[1] कि जब व्यवस्थापिका सभा का कोई भी भवन गवर्नर जनरल के कथनानुसार किसी प्रस्ताव को उपस्थित अथवा पास करने मे असफल सिद्ध हुआ हो, तो गवर्नर जनरल स्वयं उस प्रस्ताव को ब्रिटिश भारत के हित, उसकी शान्ति तथा सुरक्षा के लिए प्रमाणित कर सकता था। उसके पश्चात वह प्रस्ताव एक्ट का स्वरूप ग्रहण कर लेता था। इस प्रकार निर्माण किए गए एक्ट, व्यावहारिक रूप मे आते ही पार्लियामेण्ट के दोनों भवनो के सन्मुख उपस्थित किए जाते थे जिससे कि जैसा कि ज्वाइन्ट सेलेक्ट कमेटी (Joint Select Committee) का कथन है, "वह (पार्लियामेण्ट) भी उस परिस्थिति को भली प्रकार समझ ले जिसके कारण यह कानून विशेष रूप से निर्मित करने पडे।" इसके साथ ही यह भी निश्चित कर दिया गया था कि इस प्रकार के एक्ट उस समय तक कानून का स्वरूप प्राप्त नहीं कर सकेंगे जब तक कि इसकी प्रतिलिपियां पार्लियामेण्ट के दोनों भवनों के सन्मुख कम से कम आठ दिन तक न रखी जाएँगी, और उसके पश्चात् जब तक सम्राट और उनकी समिति (His Majesty in Council) उस पर अपनी स्वीकृति प्रदान न कर देंगे और गर्वनर जनरल को इस स्वीकृति की सूचना प्राप्त न हो जायगी। परन्तु यह व्यवस्था एक प्रकार का ढोंग ही थी, क्योंकि

---

[1] एक्ट की धारा ६७ (ए) के अनुसार।

यह लगभग असम्भव ही था, जैसा कि देवेन्द्रनाथ वनर्जी ने कहा है कि, "पार्लियामेण्ट इस धारा के अनुसार गवर्नर जनरल द्वारा किए गए कार्य को कभी भी अस्वीकृत न करेगी, चाहे उसने (गवर्नर जनरल ने) कितने ही स्वेच्छाचार से काम लिया हो, क्योंकि इस प्रकार की अस्वीकृति उसके (गवर्नर जनरल के) त्याग पत्र का कारण हो सकती थी, और यह एक ऐसी परिस्थिति थी जिसका सामना सामान्य रूप से पार्लियामेण्ट कभी न करना चाहेगी।" यह भी निश्चित कर दिया गया था कि यदि गवर्नर जनरल की सम्मति में कोई परिस्थिति आवश्यक थी, तो वह यह आदेश दे सकता था कि इस प्रकार कोई भी एक्ट तुरन्त ही लागू कर दिया जाए। कालान्तर में इसे भी सम्राट और उनकी समिति (His Majesty in Council) द्वारा समाप्त किया जा सकता था।

प्रमाणित करने के इस अधिकार की आलोचना सर तेज बहादुर सप्रू ने निम्नलिखित आधारों पर की है —

"हितार्थ' शब्द का बड़ा विचित्र अर्थ हो सकता था। गवर्नर जनरल द्वारा इस शब्द का प्रयोग नमक कर को एक रुपया चार आने से बढाकर, दो रुपया आठ आने करने से लेकर जन सुरक्षा प्रस्ताव (Public Protection Bill) पास करने तक किया गया था। मिस्टर मान्टेग्यू के कथन से 'हितार्थ' शब्द के अर्थ के व्यापक क्षेत्र को जाना जा सकता है। उनका कथन है कि," यह कोई ऐसा प्रस्ताव नहीं जो किसी विशेष हित से सम्बन्धित हो, परन्तु यह वह प्रस्ताव है जिसे वाइसराय आवश्यक समझे।"[1] पूर्व समय में अधिकारी गण की सहायता द्वारा पास किए गए कानूनों के समान अब उसे उनकी सहायता की अपेक्षा नहीं थी। क्योंकि अब वह उसे कार्यकारिणी के आदेश के समान स्पष्ट रूप से पास कर सकता था। "अवस्थान को वर्त्तमान परिस्थिति में भी प्रमाणित करने का यह व्यापक अधिकार," जैसा कि सर तेज बहादुर सप्रू ने कहा है, "उत्तरदायी सरकार की ओर अग्रसर होती हुई व्यवस्थापिका सभा की उन्नति के विरुद्ध है।"[2]

(२) इस विशेष एवं असामान्य प्रणाली द्वारा पास किया गया एक्ट भी भारतीय व्यवस्थापिका सभा का एक्ट कहलाता था। वास्तव में यह बात बड़ी विचित्र थी। गवर्नर जनरल के प्रमाणित करने के पश्चात व्यवस्थापिका सभा के वाद विवाद का कोई महत्व नहीं था और न उस पर मत प्रदान किए जा सकते थे। गवर्नर जनरल

---

1 "It is not any measure which affects the interest, it is the measure which the Viceroy can say is essential" —Mr Montague.

2 "Such a large measure of the power of certification, is altogether incopatible even in the present stage of transition with the progress of the legislature towards responsible Government"

—Sir Tej Bahadur Sapru

भी भारतीय व्यवस्थापिका सभा का सदस्य नहीं था। इस प्रकार गवर्नर जनरल द्वारा प्रमाणित किया हुआ कानून किस प्रकार भारतीय व्यवस्थापिका सभा का कानून कहलाया जा सकता था। इसे तो गवर्नर जनरल का कानून कहना ही न्यायसगत था।

"वास्तव में," जैसा कि सर तेज बहादुर सप्रू ने कहा है, "यह मिथ्या गाथा भ्रष्टतम प्रकार की है।"[1]

उपर्युक्त प्रतिबन्धों के विचारपूर्ण अध्ययन के पश्चात् सर तेज बहादुर सप्रू के दृष्टिकोण से सहमत होना पडता है कि, "भारतीय व्यवस्थापिका सभा पर जितने प्रतिबन्ध लगाए गए है, उनके कारण यह निर्णय करना कठिन है कि यह (भारतीय व्यवस्थापिका सभा) उसी अर्थ में सर्वोच्च है जिसमें उपनिवेशों की व्यवस्थापिका सभाएँ हैं।" मूर के 'आस्ट्रेलिया की कॉमन वेल्थ (Commonwealth of Australia) मे वहां की व्यवस्थापिका सभाओं की व्याख्या तथा परिभाषा पढ़ने के पश्चात् एक क्षण में दो सर्वोच्च औपनिवेशिक व्यवस्थापिका सभाओं तथा समिति अधिकार क्षेत्र वाली तथा आधीन भारतीय व्यवस्थापिका सभा का अन्तर पूर्णतः स्पष्ट हो सकता है। वह लिखता है कि, "उपनिवेशों की व्यवस्थापिका सभाओं के अधिकार समग्र एवं परिपूर्ण हैं, अपनी सीमा में प्रत्येक व्यक्ति तथा वस्तुओं पर उनको शासन के सार्वलौकिक तथा स्थायी अधिकार प्राप्त हैं और उनका यह अधिकार यहाँ तक व्याप्त है कि जैसी आवश्यकता उन्हें अनुभव हो, वे उसी के अनुसार कार्यकारिणी और न्याय की प्रणाली तथा गौण व्यवस्थापक केन्द्र स्थापित कर सकती हैं।"

(१) भारतीय व्यवस्थापिका सभा के आर्थिक अधिकार

अब हमें भारतीय व्यवस्थापक क्षेत्र के आर्थिक अधिकारो की ओर भी एक दृष्टि डाल लेनी चाहिए। गवर्नर जनरल और उसकी समिति द्वारा तैयार किया गया वार्षिक आय तथा व्यय का अनुमानित व्योरा भारतीय व्यवस्थापिका सभा के प्रत्येक भवन के सन्मुख एक विवरण के रूप मे उपस्थित किया जाता था। इसी अनुमानित व्योरे को भारतीय बजट के नाम से पुकारा जाता था।

इस व्योरे को उपस्थित करने के दिन अथवा दिनो का निश्चय करना गवर्नर जनरल का काम था। गवर्नर जनरल की पूर्वस्वीकृति बिना कोई सदस्य जनता के आय के व्यय का प्रस्ताव उपस्थित नहीं कर सकता था। यह भी निश्चित था कि यदि किसी विशेष विषय के लिए अनुदान पर वाद-विवाद हो रहा हो तो उस अनुदान की वृद्धि अथवा उसके विषय के परिवर्त्तन के सम्बन्ध मे किसी प्रकार का कोई सशोधन उपस्थित नही किया जा सकता था। अनुदान में कमी करने के लिए प्रस्ताव उपस्थित किए जा सकते थे।

---

[1] In point of fact, this is fiction of the worst possible description.
—Sir Tej Bahadur Sapru.

अल्पमत वाले तथा स्वतन्त्र सदस्यों की स्वार्थी इच्छाओं से राष्ट्रीय सम्पत्ति की सुरक्षित रखने के लिए ही इस धारा का निर्माण किया गया था, जिससे कि वे सदस्य आगामी चुनावों में निर्वाचित होने के लालच से इसका अप-व्यय न कर सके। यह प्रथा इंग्लैंड आदि प्रजान्त्रात्मक देशों मे भी पाई जाती है।

व्यय के सुरक्षित शीर्षक

एक्ट द्वारा यह निश्चित कर दिया गया था कि व्यय के कुछ निश्चित शीर्षकों के सम्बन्ध में जनता के धन के व्यय के लिए गवर्नर जनरल और उसकी समिति द्वारा उपस्थित किए गए प्रस्तावों पर लेजिस्लेटिव एसेम्बली की स्वीकृति की कोई आवश्यकता नहीं होगी, और वार्षिक ब्योरे के वाद विवाद के समय कोई भी भवन इन शीर्षकों पर विचार नहीं कर सकेगा, जब तक कि गवनर जनरल ऐसा करने के लिए आदेश न प्रदान करें।[1] यह विषय अथवा शीर्षक निम्नलिखित थे —

(१) ऋण के सूद और कम होने वाले धन के कर के सम्बन्ध में।

(२) ऐसे किसी व्यय के सम्बन्ध मे जिसके लिए किसी कानून द्वारा अथवा कानून के अन्तर्गत निश्चित धन निर्देश कर दिया गया हो।

(३) निम्नलिखित व्यक्तियों तथा उनके आश्रितों के वेतन तथा सेवावृत्ति के सम्बन्ध में—

(अ) सम्राट (His Majesty) अथवा भारत सचिव और उसकी समिति द्वारा नियुक्त किए गए अथवा उनकी स्वीकृति द्वारा नियुक्त हुए व्यक्ति।

(ब) चीफ कमिश्नर्स और जुडिशियल कमिश्नर्स (Judicial Commissioners),

(स) गवर्नर जनरल और उसकी समिति अथवा स्थानीय सरकारों द्वारा अप्रैल सन् १९१४ के पूर्व उन स्थानों तथा पदों पर नियुक्त किए गए व्यक्तियों के सम्बन्ध में जिन्हें एक्ट के अन्तर्गत दिए हुए नियमों में उच्च पद का नाम दिया गया है।

(४) किसी ऐसे व्यक्ति को दिए जाने वाले धन के सम्बन्ध में जो भारतवर्ष मे सम्राट (Crown) की सिविल सर्विस का कर्मचारी हो अथवा रह चुका हो, यह उसी समय सम्भव था जब एक्ट में दिए हुए नियमों के आधार पर भारत सचिव और उसकी समिति अथवा गवर्नर जनरल और उसकी समिति अथवा गवर्नर उस व्यक्ति की प्रार्थना पर उसे इस धन के दिए जाने का आदेश प्रदान करें।

(५) उन विषयों के सम्बन्ध में जिन्हें गवर्नर जनरल और उसकी समिति द्वारा निम्नलिखित किसी शीर्षक के अन्तर्गत रखा गया हो —

---

[1] एक्ट की धारा ६७ ए (३) के अनुसार।

(अ) धार्मिक,

(ब) राजनैतिक; और

(स) रक्षा।

किसी प्रस्तावित व्यय का सम्बन्ध इन विषयों से था अथवा नहीं, यह निश्चित करना गवर्नर जनरल का ही काम था, और इस सम्बन्ध में उसका निर्णय अन्तिम होता था। पहले तो काउन्सिल ऑफ स्टेट को बजट पर वाद-विवाद करने का अधिकार नहीं था, परन्तु कालान्तर में एक नियम द्वारा काउन्सिल ऑफ स्टेट को भी बजट पर वाद-विवाद करने का अधिकार प्रदान कर दिया गया। सरकार के आय-व्यय सम्बन्धी समस्त प्रस्ताव जब एसेम्बली के सम्मुख उपस्थित कर दिए जाते थे तो एसेम्बली या तो उनपर अपनी स्वीकृति प्रदान कर देती थी, अथवा किसी भी माँग को वह अस्वीकृत कर सकती थी। इसके अतिरिक्त किसी विषय के अनुदान को भी वह पूर्ण रूप से घटा सकती थी।

ज्वाइन्ट सेलेक्ट कमेटी की दलील का सूक्ष्म परीक्षण

व्यय के उन विषयों के पक्ष में जिन पर भारतीय व्यवस्थापिका सभा के किसी भवन को विचार करने का अधिकार नहीं था, ज्वाइन्ट सेलेक्ट कमेटी (Joint Select Committee) ने यह कहा था कि यह भी उन्ही आधारों पर आवश्यक समझा गया था जिन आधारों पर ग्रेट ब्रिटेन की पार्लियामेण्ट के, 'एकीकरण मूलधन' (Consolidated Fund) को न्याय सगत माना जाता है। इंग्लैंड के एकीकरण मूलधन (Consolidated Fund) में कर्मचारियों का वेतन तथा शासन व्यवस्था के लिए अत्यावश्यक धन सम्मिलित था। मत अथवा स्वीकृति के झंझट से यह मुक्त थे। इसी प्रणाली तथा लगभग इसी सिद्धान्त के आधार पर गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया बिल (Government of India Bill) में भी कुछ निश्चित वेतन पृथक रूप से रख दिए गए थे।

वस्तुतः यह एक भ्रमपूर्ण तर्क था। यह समानता अवास्तविक थी। इगलैंड की सरकार को पार्लियामेण्ट के स्थायी एक्ट द्वारा एकीकरण मूलधन (Consolidated Fund) सम्बन्धी धन देने का अधिकार प्राप्त है। 'स्थायी एक्ट' का यह अर्थ नही कि पार्लियामेण्ट इनमे कोई सशोधन अथवा परिवर्तन ही नहीं कर सकती। इसका केवल यही तात्पर्य है कि यह एक्ट प्रत्येक वर्ष नहीं बनाए जाया करेंगे। जनता के धन के वितरण पर पार्लियामेण्ट के अधिकार मे इससे किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचती। इगलैंड मे जनता के धन पर नियन्त्रण रखने का अधिकार—पूर्ण तथा असन्दिग्ध रूप से जनता के प्रतिनिधियो का ही है। "आय का एक पैसा भी," जैसा कि प्रोफेसर डायसी ने कहा है, "वैध रूप से व्यय नही किया जा सकता, जब तक पार्लियामेण्ट किसी एक्ट द्वारा इस प्रकार का अधिकार प्रदान न कर दे।" भारतवर्ष में परिस्थिति कुछ और ही थी। यहाँ के बजट के कुछ विषय ऐसे थे जिन पर

व्यवस्थापिका सभा को वाद-विवाद करने का भी अधिकार नहीं था, और यह निश्चित किया गया था इंगलैंड की पार्लियामेण्ट के एक्ट द्वारा, न कि भारतीय व्यवस्थापिका सभा के किसी एक्ट द्वारा। यह सुरक्षित विषय उस समय तक सुरक्षित ही रहने को थे जब तक कि इसके सम्बन्ध में कुछ सशोधन करने के लिए ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के तलुए न सहलाए जाते। इस प्रकार इंगलैंड का एकीकरण मूलधन (Consolidated Fund) सम्बन्धी धन ब्रिटिश पार्लियामेण्ट की अनन्त शक्ति का साक्षी है, तो भारतवर्ष के सुरक्षित विषय निश्चित तथा स्पष्ट रूप से भारतीय व्यवस्थापिका सभा के कानून बनाने के सत्ता रहित स्वरूप का प्रदर्शन करते हैं।

घटाए हुए अथवा अस्वीकृत अनुदान का पुन स्थापन

व्यवस्थापिका सभा द्वारा विषयों की स्वीकृति अथवा अस्वीकृति के पश्चात् यह समस्त विषय गवर्नर जनरल और उसकी समिति के सन्मुख उपस्थित किए जाते थे।[१] एसेम्बली द्वारा अस्वीकृत अथवा घटाई हुई मॉग के सम्बन्ध में यदि उसे यह विश्वास हो जाए कि उसके कर्त्तव्यो और उत्तरदायित्व को निभाने के लिए वह मॉग अत्यन्त आवश्यक थी, और यदि वह इस प्रकार की घोषणा भी करदे, तो गवर्नर जनरल उस अनुदान के सम्बन्ध में उसी प्रकार कार्य करेगा जैसे कि उस पर स्वीकृति प्रदान की जा चुकी हो, यद्यपि वास्तव मे इस प्रकार की स्वीकृति प्राप्त न हुई थी। असाधारण परिस्थितियों में भारतवर्ष अथवा उसके किसी एक भाग की शान्ति तथा सुरक्षा के हेतु गवर्नर जनरल को कुछ व्यय निश्चित करने का अधिकार था।[२] एक्ट द्वारा प्रदान किए हुए गवर्नर जनरल के पुन स्थापन के इस अधिकार के सम्बन्ध में ज्वाइन्ट सेलेक्ट कमेटी (Joint Select Committee) ने इसका पक्ष लेते हुए कहा था कि केन्द्रीय शासन में किसी प्रकार की उत्तरदायी सरकार की स्थापना गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया बिल (Government of India Bill) का उद्देश्य नहीं था। इसलिए स्वभावत ही एसेम्बली द्वारा किसी अस्वीकृत अनुदान को गवर्नर जनरल और उसकी समिति को स्वीकृत के रूप मे प्रचलित करने का अधिकार प्रदान किया गया—यदि गवर्नर जनरल इस बात का अनुभव करता कि उसके उत्तरदायित्व को पूर्णरूपेण निभाने के लिए वह अस्वीकृत अनुदान अथवा व्यय अत्यन्त आवश्यक था। इस प्रकार साम्राज्यशाही की भक्ति तथा अनुत्तरदायी भाग के स्थायित्व की सुरक्षा के लिए ही इस नियम की व्यवस्था की गई थी। और स्वभावत इस नियम द्वारा लोकप्रिय प्रतिनिधियों की शक्ति और भी सीमित हो गई, और वे गवर्नर जनरल और उसकी समिति के और भी आधीन हो गए।

अन्त में यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि सन् १९१९ के एक्ट के अन्तर्गत भारतीय व्यवस्थापिका सभा को महत्वपूर्ण अधिकार प्राप्त न होकर निरर्थक और

---

[१] एक्ट की धारा ६७ ए की उपधारा ७ के अनुसार

[२] एक्ट की धारा ६७ ए की उपधारा ८ के अनुसार

व्यर्थ के प्रभाव और अधिकार की प्राप्ति हुई जिसका कुछ भी महत्व नहीं था। अब भी भारतीय व्यवस्थापिका सभा केवल सम्मति तथा आलोचना का ही कार्य कर सकती थी। इस सम्बन्ध में जो उन्नति हुई वह केवल शाब्दिक थी, वास्तविक नहीं।

पाँचवाँ अध्याय

केन्द्रीय कार्यकारिणी

"वाइसराय तीन महत्वपूर्ण कार्यों का सम्पादन करता है। वह सम्राट का प्रतिनिधि है, वह गृह सरकार का प्रतिनिधि है, और वह शासनाध्यक्ष है।"[1]

—रैम्जे मैकडोनल्ड

भारत सरकार अथवा केन्द्रीय कार्यकारिणी में गवर्नर जनरल, उसकी कार्यकारिणी समिति (Executive Council) और कुछ सेक्रेटरी होते थे, जिनकी नियुक्ति शासन प्रणाली के नौकरशाही चक्र को पूर्ण स्वरूप प्रदान करने के हेतु होती थी।

१. गवर्नर जनरल

भारत सरकार का अध्यक्ष गवर्नर जनरल था। सन् १८५८ से उसे सम्राट (Crown) के प्रतिनिधि के रूप में 'वाइसराय' की पदवी भी प्राप्त हो गई थी।

स्वाधिकार

गवर्नर जनरल की नियुक्ति राजकीय स्वहस्ताक्षर (Royal Sign Manual) के अन्तर्गत एक अधिकार पत्र द्वारा सम्राट (Crown) करते थे। सामान्य रूप से उसका कार्यकाल पांच वर्ष था। एक्ट द्वारा निश्चित कर दिया गया था कि गवर्नर जनरल को अधिक से अधिक २,५६,००० रुपया वार्षिक वेतन दिया जा सकता था।

शासन सम्बन्धी किए गए किसी कार्य अथवा इसी सम्बन्ध मे दिए गए आदेश अथवा किसी सम्मति के आधार पर गवर्नर जनरल किसी हाई कोर्ट (High Court) के न्यायप्रमुख के पूर्ण क्षेत्र की सीमा से परे था।

राजद्रोह अथवा किसी अन्य भयकर अपराध के अतिरिक्त किसी अन्य अपराध के सम्बन्ध में गवर्नर जनरल किसी भी हाई कोर्ट (High Court) के फौजदारी क्षेत्र की सीमा से परे था।

---

[1] "The Viceroy performs three great functions. He personifies the Crown, he represents the Home Government, he is the head of administration" —Ramsay Macdonald

अपने अधिकार क्षेत्र मे कार्य करने पर भी हाई कोर्ट (High Court) द्वारा किसी मुकदमे के सम्बन्ध में न तो गवर्नर जनरल को बन्दी ही बनाया जा सकता था और न उसे दण्डित ही किया जा सकता था।

गवर्नर जनरल के अधिकार

गवर्नर जनरल के अधिकार तीन प्रकार के थे—शासन सम्बन्धी, आर्थिक तथा व्यवस्थापक।

(अ) शासन सम्बन्धी अधिकार।

गवर्नर जनरल के शासन सम्बन्धी अधिकारो का सम्बन्ध विशेष रूप से निम्नलिखित से था :—

(१) कुछ पदाधिकारियों की नियुक्ति;

(२) देश मे शान्ति और अनुशासन रखना, तथा कुछ अन्य शासन सम्बन्धी कार्य।

गवर्नर जनरल को निम्नलिखित की नियुक्ति करने का अधिकार था :—

(१) अपनी कार्यकारिणी समिति (Executive Council) का उपसभापति;

(२) समिति के विभिन्न सेक्रेटरी।

(३) लेफ्टिनेन्ट गवर्नर।

(४) काउन्सिल ऑफ स्टेट का सभापति, और

(५) लेजिस्लेटिव एसेम्बली का सभापति।

गवर्नर-जनरल के शासन-सम्बन्धी कार्यों का उल्लेख निम्न प्रकार से किया जा सकता है :—

(१) कार्यकारिणी समिति (Executive Council) की बैठक बुलाना और उसके लिए स्थान नियत करना।

(२) यदि बैठक में उपस्थित सदस्यों में मतभेद होता था तो ब्रिटिश भारत के हितार्थ तथा उसकी शान्ति एवं सुरक्षा पर प्रभाव डालने वाले विषयों मे गवर्नर जनरल को कार्य कारिणी समिति (Executive Council) की सम्मति न मानने तथा स्वेच्छा से कार्य करने का अधिकार था। इस प्रकार मतभेद में हस्तक्षेप करके आपसी विभिन्न मतों को समाप्त कराना गवर्नर जनरल का ही कर्तव्य था। उसे इस बात का भी ध्यान रखना पड़ता था कि विभिन्न मतों के कारण साम्राज्यशाही के हित को तो हानि नहीं पहुँच रही।

(३) गवर्नर जनरल को व्यवस्थापिका सभा की बैठक बुलाने, उसकी बैठको को कुछ काल के लिए स्थगित करने तथा व्यवस्थापिका सभा के किसी भवन को

विसर्जित करने और किसी भवन की अवधि में वृद्धि करने का भी अधिकार था। इस प्रकार के विसर्जन के पश्चात फिर दोबारा निर्वाचन होता था।

(४) विदेशी राजनीति, सीमा प्रदेश तथा भारतीय राज्यों (Indian States) से सम्बन्धित विदेश और राजनैतिक विभाग बहुधा गवर्नर जनरल के हाथों में ही रहता था।

(ब) आर्थिक अधिकार

पूर्व अध्याय में व्यवस्थापिका सभा के 'आर्थिक अधिकार' शीर्षक के अन्तर्गत भारतीय आय के क्षेत्र में गवर्नर जनरल के व्यापक नियन्त्रण का अध्ययन हम कर ही चुके हैं। यहां भी उसके आर्थिक अधिकारों[1] पर एक संकेत रूप में दृष्टि डाल लेनी चाहिए। एक्ट द्वारा यह निश्चित कर दिया गया था[2] कि गवर्नर जनरल की पूर्व स्वीकृति बिना किसी भी कार्य के लिए भारतीय आय प्राप्त करने का प्रस्ताव उपस्थित नहीं किया जा सकता था। वह व्यवस्थापिका सभा द्वारा अस्वीकृत और कम की हुई माँगों का पुन स्थापन भी कर सकता था।

(स) व्यवस्थापक अधिकार

गवर्नर जनरल के व्यवस्थापक अधिकारों का वर्णन निम्नलिखित मुख्य शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है —

(१) केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के सम्बन्ध में उसके अधिकार,
(२) उसका स्वेच्छाचारी विशेष कानून निर्माण,
(३) ऑर्डिनेन्स (Ordinance) लागू करने के अधिकार, और
(४) प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं के सम्बन्ध में उसके अधिकार।
(५) उसके विविध अधिकार।

प्रथम दो अधिकारों का वर्णन पहले भी हो चुका है। यहा उस सम्बन्ध में केवल संक्षेप मात्र ही कुछ कहा जायगा —

(१) केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के सम्बन्ध में उसके अधिकार

भारतीय व्यवस्थापिका सभा की किसी बैठक के समय किसी ऐसे प्रस्ताव को उपस्थित करने के लिए, जिसका प्रभाव निम्नलिखित पर पड़ता हो, गवर्नर जनरल की पूर्व स्वीकृति आवश्यक थी —

(अ) भारतवर्ष की आय अथवा जनता के ऋण अथवा भारतीय आय पर कोई कर लगाने के लिए, अथवा

---

[1] एक्ट की धारा ७६ A (२) के अनुसार
[2] एक्ट की धारा ७६ A (२) के अनुसार

(ब) भारतवर्ष मे सम्राट (His Majesty) की प्रजा के किसी वर्ग के धर्म, धार्मिक मत्र तथा आचार विचार और रीति रिवाज आदि पर, अथवा

(स) सम्राट (His Majesty) की सेना अथवा उसके किसी एक भाग के स्थायित्व और अनुशासन पर, अथवा

(द) विदेशी राजाओं तथा राज्यों (Indian States) से भारत सरकार के सम्बन्ध पर।

इसी प्रकार गवर्नर जनरल की पूर्व स्वीकृति बिना कोई ऐसा प्रस्ताव उपस्थित नही किया जासकता था :—

(१) जिसके द्वारा किसी ऐसे प्रान्तीय विषय अथवा प्रांतीय विषय के किसी अंश का संचालन होता हो जो एक्ट के अन्तर्गत नियमो द्वारा भारतीय व्यवस्थापिका सभा के अन्तर्गत न रखा गया हो; अथवा

(२) जिसके द्वारा किसी प्रांतीय व्यवस्थापिका सभा के किसी एक्ट का खण्डन अथवा संशोधन होता हो; अथवा

(३) जिसके द्वारा गवर्नर जनरल द्वारा लागू किए गए किसी ऑर्डिनेन्स का संशोधन अथवा खण्डन होता हो।

भारतीय व्यवस्थापिका सभा द्वारा पास किए प्रस्तावों के सम्बन्ध में भी गवर्नर जनरल को प्रतिनिषेध का अधिकार था।

(२) स्वेच्छाचारी विशेष कानून-निर्माण

भारतीय व्यवस्थापिका सभा के किसी भवन द्वारा अस्वीकृत ऐसे प्रस्ताव को, जिसके स्वरूप का निर्णय स्वय गवर्नर जनरल ने किया हो, गवर्नर जनरल को इस प्रकार प्रमाणित करने का अधिकार था कि ब्रिटिश भारत अथवा उसके किसी भाग की रक्षा, शान्ति तथा हित के लिए वह प्रस्ताव अत्यन्त आवश्यक था। गवर्नर जनरल द्वारा यह प्रमाणित करना ही प्रस्ताव को एक्ट का स्वरूप देने के लिए पर्याप्त था।

(३) ऑर्डिनेन्स लागू करने के अधिकार

ब्रिटिश भारत तथा उसके किसी भाग की शान्ति तथा उत्तम शासन के निमित्त असाधारण परिस्थितियों में गवर्नर जनरल को ऑर्डिनेन्स लागू करने का अधिकार था। इस प्रकार लागू किए गए ऑर्डिनेन्स का प्रभाव कानून के समान होता था, परन्तु इसकी अवधि ६ मास ही थी। कानून बनाने के सम्बन्ध में भारतीय व्यवस्थापिका सभा पर लगाए गए प्रतिबन्धों के समान ही गवर्नर जनरल के ऑर्डिनेन्स लागू करने के अधिकार पर भी सम्राट (Crown) द्वारा पार्लियामेण्ट ने कुछ प्रतिबन्ध लगा दिए थे। इस प्रकार गवर्नर जनरल द्वारा लागू किया हुआ कोई भी ऑर्डिनेन्स

(Ordinance) सम्राट और उनकी समिति (Crown in Council) द्वारा अस्वीकृत किया जा सकता था। भारतीय व्यवस्थापिका सभा के एक एक्ट द्वारा भी इस प्रकार के ऑर्डिनेन्स का उल्लंघन किया जा सकता था। अन्तिम प्रबन्ध वास्तव में एक कल्पना ही था जिसका खंडन एक दूसरे नियम द्वारा हो रहा था, क्योंकि गवर्नर जनरल द्वारा बनाए गए किसी एक्ट अथवा ऑर्डिनेन्स में किसी प्रकार का संशोधन अथवा खण्डन करने के लिए उपस्थित किया हुआ प्रस्ताव उस समय तक वैध नहीं माना जा सकता था जब तक उस पर गवर्नर जनरल की पूर्व स्वीकृति न होती थी। और क्या गवर्नर जनरल अपने ही हाथों से अपनी रचना को नष्ट करना स्वीकार करेगा ? मानव मनोविज्ञान के एक विद्यार्थी को तो इसका उत्तर इसी प्रश्न में प्राप्त हो जाएगा।

(४) प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं के सम्बन्ध में उसके अधिकार

किसी प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा द्वारा निम्नलिखित प्रकार के प्रस्तावों के उपस्थित करने और उन पर विचार करने के लिए गवर्नर जनरल की पूर्व स्वीकृति अनिवार्य मानी गई —

(अ) मुख्य एक्ट के अन्तर्गत नियमों द्वारा यदि कोई कर समाप्त कर दिया गया था तो इस प्रकार के नवीन कर के लगाने अथवा इस नियम का कर लगाने के लिये किसी अन्य अधिकारी को अधिकार प्रदान करने के सम्बन्ध में, अथवा

(ब) जिसका प्रभाव भारतवर्ष की जनता के ऋण, अथवा चुंगी, अथवा कोई अन्य ऐसे कर पर पड़ रहा हो, जिसे कुछ समय के लिए गवर्नर जनरल और उसकी समिति ने भारत सरकार के उद्देश्यों की पूर्ति के निमित्त लागू किया हो पर यह कर ऐसे न हों जिनका प्रभाव उपर्युक्त बातों पड़ रहा हो, अथवा

(स) सम्राट (His Majesty) की नौसेना, हवाई सेना, और सेना अथवा उसके किसी एक अंग के अनुशासन एवं स्थायित्व पर जिसका प्रभाव पड़ रहा हो, अथवा

(द) जिसका प्रभाव सरकार और राजा तथा राज्यों के सम्बन्ध पर पड़ रहा हो, अथवा

(क) जिसके द्वारा किसी केन्द्रीय विषय का संचालन होता हो, अथवा

(ख) जिसके द्वारा किसी ऐसे प्रान्तीय विषय का संचालन होता हो जो, मुख्य एक्ट के अन्तर्गत, पूर्ण अथवा आंशिक रूप से भारतीय व्यवस्थापिका सभा के अन्तर्गत रख दिया गया हो, और किसी ऐसे विषय के सम्बन्ध में जिसके लिए यह घोषणा की जा चुकी हो, अथवा

(ग) किसी सामयिक कानून द्वारा प्रदान की गई गवर्नर जनरल और उसकी समिति के सुरक्षित अधिकार पर जिसका प्रभाव पड़ रहा हो, अथवा

(घ) जिसके द्वारा किसी ऐसे कानून की धाराओं का संशोधन अथवा खण्डन हो रहा हो जिसका निर्माण ब्रिटिश भारत में इस एक्ट के प्रवेश करने से पूर्व स्थानीय व्यवस्थापिका सभाओं से उच्च किसी अधिकृत संस्था द्वारा हुआ हो. तथा जिसके सम्बन्ध में मुख्य एक्ट द्वारा यह घोषणा कर दी गई हो कि इस प्रकार के कानूनों का स्वरूप पूर्व का सा ही रहेगा और कोई भी स्थानीय व्यवस्थापिका सभा पूर्व स्वीकृति बिना न तो इन्हें समाप्त कर सकेगी और न इनमें कुछ परिवर्त्तन ही कर सकेगी; अथवा

(ङ) इस एक्ट के लागू होने के पश्चात् जिसके द्वारा भारतीय व्यवस्थापिका सभा के किसी एक्ट का खण्डन अथवा संशोधन हो रहा हो, जिसके सम्बन्ध में इस एक्ट की धाराओं द्वारा यह निश्चित कर दिया गया था कि स्थानीय व्यवस्थापिका सभा पूर्व स्वीकृति बिना इनमें किसी प्रकार का परिवर्त्तन अथवा इनका खण्डन न कर सकेगी।

स्थानीय व्यवस्थापिका सभा द्वारा पास किए गए प्रस्तावों पर गवर्नर जनरल को अपने प्रतिनिषेध के अधिकार के प्रयोग की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। स्थानीय व्यवस्थापिका सभा द्वारा पास किया हुआ प्रत्येक प्रस्ताव गवर्नर द्वारा गवर्नर जनरल की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रख लिया जाता था । इस प्रकार के प्रस्तावों पर गवर्नर जनरल को अपनी स्वीकृति अथवा अस्वीकृति प्रदान करने का पूर्ण अधिकार था, और इस कार्य के सम्पादन के हेतु ६ मास की अवधि उसे प्रदान की जाती थी। प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा द्वारा पास किए गए किसी भी प्रस्ताव को गवर्नर जनरल सम्राट (His Majesty) की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रख सकता था।

गवर्नर जनरल के विविध अधिकार

औपनिवेशिक गवर्नर (Governors) के समान संशोधित 'राजकीय आज्ञा-पत्र' (Instrument of Royal Instructions) द्वारा गवर्नर जनरल को भी क्षमा प्रदान करने का अधिकार प्रदान किया गया।

यहाँ इस बात का ध्यान रखना उचित होगा कि गवर्नर जनरल को क्षमा प्रदान करने का अधिकार दिया जाने का तात्पर्य न तो यह था ही और न हो ही सकता था कि "इंगलैंड के मन्त्रिमण्डल की सम्मति से प्रत्यक्ष रूप से सम्राट (Crown) को क्षमा प्रदान करने का अधिकार न रहे, क्योंकि अधिकार प्रदान करना एक ऐच्छिक कार्य है और इसके द्वारा सम्राट (Crown) का निजी निर्णय अथवा विवेक न तो सीमित ही हो सकता है और न उसकी कड़ियाँ ही तोड़ी जा सकती है।" यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि भारतवर्ष तथा अन्य उपनिवेशों (Dominions) में क्षमा प्रदान करने के इस अधिकार के प्रयोग में अन्तर था। प्रोफेसर कीथ ने अपनी पुस्तक "उपनिवेशों में उत्तरदायी शासन" (Responsible Government

in the Dominions) में लिखा है कि, "स्वशासित उपनिवेशों में प्राणदण्ड के अतिरिक्त प्रत्येक अवसर पर, जब तक कि साम्राज्य हित का कोई प्रश्न उपस्थित न होता हो अथवा वह दूसरे मन्त्रिमण्डल का निर्माण करने के लिए इच्छुक हो, गवर्नर को अपने मत्रियों से अवश्य सम्मति लेनी चाहिए, परन्तु प्राणदण्ड वाली स्थितिमें उसे अपने निजी निर्णय अथवा विवेक से कार्य करना चाहिए, और केवल अपने मत्रियों की सम्मति पर विश्वास कर उसे स्वयं को अपने उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं कर लेना चाहिए।" सन् १९१९ के गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया एक्ट (Government of India Act of 1919) का उद्देश्य विशेष रूप से केन्द्र में मन्त्रियों की सम्मति को कोई विशेष महत्व प्रदान करना नहीं था। इसलिए मत्रियों की सम्मति से क्षमा प्रदान करने का प्रश्न भारतवर्ष मे उठता ही नहीं। क्षमा के इस राजकीय अधिकार (Royal Prerogative) का उपयोग गवर्नर जनरल अपने व्यक्तिगत निर्णय तथा विवेक द्वारा ही करता था।

यह भी कहा जा सकता है कि एक प्रकार से सम्राट (Crown) द्वारा ही गवर्नर जनरल को 'पदवियों का दाता' (Fountain of Honour) की उपाधि प्राप्त हुई थी। गवर्नर जनरल को कुछ वंशागत तथा व्यक्तिगत दोनों ही प्रकार की पदवियाँ जैसे महाराजा, नवाब, राजा, आदि, प्रदान करने का अधिकार था। इस अधिकार का एक विशेष महत्व था। निरर्थक तथा व्यर्थ के नाम और शान की खोज करने वाले भारतीयों को इस प्रकार सरलता से अपनी ओर फोड़ा जा सकता था, और भारतवर्ष में उन्हें ब्रिटिश साम्राज्यशाही का पक्षपाती तथा समर्थक बनाया जा सकता था।

सम्राट (His Majesty) द्वारा गवर्नर जनरल को यह अधिकार प्राप्त था कि वह, भारत सचिव की सम्मति प्राप्त कर, सम्राट (Crown) द्वारा अथवा उनके निमित्त भारतवर्ष में किसी भी पद पर नियुक्त किए गए, किसी भी व्यक्ति को, जिसके विरुद्ध अभद्रतापूर्ण व्यवहार का आरोप हो, निकाल दे, तथा इस प्रकार के आरोप के निरीक्षण के लिए एक समिति की नियुक्ति करे ताकि उसका पता लगने पर सम्राट (Crown) को सूचित किया जा सके।[1]

उपर्युक्त विवेचन में हमने संक्षेप में गवर्नर जनरल के अधिकारों की व्याख्या की है। गवर्नर जनरल को अनेक अधिकारों से सम्पन्न किया गया था क्योंकि भारतवर्ष में उसे सम्राट (Crown) का प्रथम पदाधिकारी समझा जाता था, और इस कारण भारतवर्ष मे साम्राज्यशाही के हित का उससे अधिक विश्वस्त एवं दक्ष रक्षक कौन सिद्ध हो सकता था। औपनिवेशिक गवर्नर द्वारा भोग किए जाने वाले अधिकारों से

---

[1] भारत सरकार के गृह विभाग सूचना नम्बर एफ—४७६—२६, दिनांक ७ अगस्त १९२६

(Government of India's Home Department Notification No F—476—26, Dated the 7th August 1926)

कई अधिक गुने अधिकार गवर्नर जनरल के थे। उपनिवेशों के गवर्नर मन्त्रियों की सम्मति मानने के लिए बाध्य थे। परन्तु गवर्नर जनरल को कुछ विषयों मे अपनी कार्य-कारिणी समिति (Executive Council) की सम्मति को भी ठुकरा देने का अधिकार था। भारत सरकार की कार्य-कारिणी प्रणाली में गवर्नर जनरल के असाधारण प्रभाव तथा असीम और अनन्त महत्व का विचार कर प्रेसीडेण्ट लॉवेल को यह लिखने के लिए विवश होना पडा कि "रूस के ज़ार और भारतवर्ष के गवर्नर जनरल अथवा वाइसरॉय कभी-कभी वर्त्तमान विश्व के महान तानाशाह कहे गए हैं।"[1] यह सम्भव है कि इस कथन मे कुछ अतिशयोक्ति का प्रदर्शन हो। क्योंकि राजकीय आज्ञापत्र (Royal Instructions) द्वारा गवर्नर जनरल को यह आदेश था कि वह जो कुछ भी कार्य करे, सम्राट (Crown) और पार्लियामेण्ट के प्रति अपने उत्तरदायित्व के निभाने और भारतीय जनता के हित के लिए करे। यह देखना भी उसी का कर्त्तव्य था कि केन्द्रीय शासन का संचालन भारतीय व्यवस्थापिका सभा में निर्देशित जनता की आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए ही हो रहा है, "उसी सीमा तक जब कि उनकी (भारतीयो की) आकाक्षाएँ उसे बुद्धि सगत एव उचित प्रतीत हों।" यह देखना भी गवर्नर जनरल का ही कर्त्तव्य था कि सन् १९१९ के गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया एक्ट (Government of India Act of 1919) की भूमिका (Preamble) मे प्रतिपादित की गई पार्लियामेण्ट की नीति को "भारत सरकार तथा प्रादेशिक एव प्रान्तीय सरकारो द्वारा आगे बढाया जाए।" इस प्रकार यदि हम प्रेसीडेण्ट लॉवेल के इस कथन कि गवर्नर जनरल और उसकी समिति निरंकुश शासक के रूप मे थे के साथ सहमत भी हों, तो भी इतना अवश्य कहना पडेगा कि कम से कम उसे उत्तरदायी निरंकुश शासक के समान कार्य करने के लिए आदेश प्रदान किया गया था। उसे भारतीय जनता की इच्छाओं तथा भावनाओं के प्रति कम से कम उस सीमा तक उत्तरदायी रहना था जहाँ तक साम्राज्यशाही के हित पर किसी प्रकार का सकट उपस्थित न हो। परन्तु इतना अवश्य स्वीकार करना पडता है कि भारतवर्ष में साम्राज्यशाही की महत्वाकांक्षाओं तथा हितो के सन्मुख निरकुशता का यह प्रजातन्त्र रूप न्यूनाकार ही होता था। इस प्रकार कर्ज़न के शब्दों में यह कहा जा सकता है कि, "   वर्त्तमान परिस्थितियो मे वाइसरॉय की स्थिति इतनी सीमित नही हुई थी कि उसके महत्वपूर्ण अधिकारो के प्रयोग पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध उपस्थित कर सके।"

(२) गवर्नर जनरल की कार्यकरिणी समिति

महत्व

गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी समिति (Executive Council) के

---

[1] "The Governor General or Viceroy of India and the Czar of Russia are sometimes said to be the great autocrats of the modern world"
—President Lowell

सम्बन्ध मे कुछ कहे विना भारत सरकार की कार्यकारिणी प्रणाली का वर्णन अपूर्ण ही रह जायगा। क्योंकि इतना अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि भारत सरकार का भार एक व्यक्ति पर नहीं अपितु एक समिति पर था। और "समिति के बहुमत की स्वीकृति विना किसी महत्वपूर्ण एक्ट का प्रतिपादन नहीं हो सकता था।" इसलिए कार्यकारिणी समिति (Executive Council) के स्वरूप की उपेक्षा करना अन्याय होगा। इस सम्बन्ध में लॉर्ड कर्ज़न का कथन उल्लेखनीय है कि, "वाइसराय के सम्बन्ध में प्राय यही कहा जाता है कि जैसे वही अकेला सरकार हो। यह कहना वास्तव में उसके साथियों के प्रति अन्याय करना है, जो उसके समान ही उत्तरदायी थे और प्राय वे ही उस कीर्ति के पात्र हैं जिसे वह (गवर्नर जनरल) अनुचित रूप से ग्रहण कर लेता है। इसके विपरीत कभी कभी उसके (गवर्नर जनरल के) साथ भी अन्याय हो जाता है क्योंकि उसके साथियों द्वारा समान रूप से निर्धारित अथवा कदाचित उन्हीं के द्वारा प्रतिपादित नीति एव शासन सम्बन्धी कार्यों के उत्तरदायित्व का समस्त भार उसे ही सहन करना पड़ता है।"[1]

निर्माण

एक्ट द्वारा केन्द्र में किसी भी प्रकार का उत्तरदायी शासन प्रस्तावित नहीं किया गया था। इसलिए गवर्नर जनरल (Governor General) की कार्यकारिणी समिति (Executive Council) पूर्व प्रणाली के अनुसार भारत सचिव के प्रति ही उत्तरदायी रही।

कार्यकारिणी समिति (Executive Council) के सदस्यों की नियुक्ति भारत सचिव की सम्मति से सम्राट (His Majesty) द्वारा होती थी। एक्ट के अन्तर्गत इन सदस्यों की कोई निश्चित सख्या नहीं दी गई थी। सदस्यो की कोई स्थायी सख्या नियत न करना पूर्व समय से ही निश्चित था। क्योंकि ज्वाइन्ट रिपोर्ट (Joint Report) के लेखकों का मत था कि भारत सरकार के साथ प्रान्तीय सरकारों के सम्बन्ध में परिवर्तन होने के कारण विभिन्न विभागों का कार्यक्षेत्र भी अधिक प्रभावित होगा, और केवल इसी के कारण पुनर्विभाजन भी आवश्यक होगा। इसलिए उनकी सम्मति थी, "गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी समिति (Executive Council) के सदस्यों की नियुक्ति के सम्बन्ध में जो प्रतिबन्ध लगे हुए हैं उन्हें हम समाप्त कर देंगे, जिससे सरकार के आकार और कार्य विभाजन के सम्बन्ध में और भी अधिक

---

[1] "The Viceroy is constantly spoken of as though he and he alone were the Government This is of course unjust to his colleagues, who were equally responsible with himself and very often deserve the credit which he unfairly obtains On the other hand it is sometimes unfair to him, for he may have to bear the entire responsibility for administrative acts or policies which were participated in and perhaps originated by them ." —Lord Curzon

सरलता हो जाए।" इस प्रकार सदस्यों की संख्या नियत करने का अधिकार सम्राट (Crown) को सौंप दिया गया। इन सदस्यों में से कम से कम तीन सदस्य ऐसे होने चाहिए थे जो दस वर्ष तक सम्राट (Crown) की सेवा में रह चुके हों। "यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण धारा है," जैसा कि सर तेजबहादुर सप्रू ने कहा है, "और जब तक पार्लियामेण्ट के किसी एक्ट द्वारा इसमें परिवर्तन अथवा कुछ सशोधन नहीं होता तब तक वर्त्तमान समिति को उत्तरदायी मन्त्रियों की समिति का स्वरूप प्रदान करना असम्भव है। भारतवर्ष में सम्राट के कर्मचारियों को कार्यकारिणी समिति मे महत्वपूर्ण प्रतिनिधित्व प्रदान करके उन्हे केवल सुरक्षा ही प्रदान नही की गई अपितु इसका उद्देश्य भारतवर्ष में कर्मचारियों के हितार्थ भी प्रधान रूप में उन्हें प्रतिनिधित्व प्रदान करना था।" इन तीन सदस्यों के अतिरिक्त, एक सदस्य दस वर्ष के अनुभव का इगलैंड अथवा आयरलैंड का बैरिस्टर, अथवा स्कॉटलैंड की फैकल्टी ऑफ एडवोकेट्स (Faculty of Advocates) अथवा हाईकोर्ट का वकील होता था। कार्य-कारिणी समिति (Executive Council) के सदस्यों की सख्या सात थी, जिसमे प्रधान सेनापति (Commander-in-Chief) भी सम्मिलित था। यहाँ यह बात ध्यान में रखने की है कि प्रधान सेनापति (Commander-in-Chief) को अब अतिरिक्त सदस्य नही समझा जाता था, क्योंकि एक्ट के अन्तर्गत सदस्यों का सामान्य एवं विशेष अथवा अतिरिक्त का भेद समाप्त कर दिया गया था। कार्यकारिणी समिति (Executive Council) मे तीन भारतीय सदस्य होते थे।

कार्यकारिणी समिति (Executive Council) को भारतीय स्वरूप प्रदान करना एक्ट द्वारा सैद्धान्तिक रूप मे सम्भव कर दिया गया था। इस सम्बन्ध मे ज्वाइन्ट सेलेक्ट कमेटी (Joint Select Committee) का मत था कि, "सरकारी कर्मचारियों में से लिए गए कार्यकारिणी समिति (Executive Council) के सदस्य, जैसे जैसे समय व्यतीत होगा, योरुपियन की अपेक्षा अधिकतर भारतीय ही होने लगेगे।"[1] सन १९१९ के एक्ट द्वारा भी यह निश्चित रूप से स्पष्ट कर दिया गया था कि, "ब्रिटिश भारत का कोई निवासी, अथवा सम्राट (His Majesty) की प्रजा का कोई भी व्यक्ति उसके धर्म, जन्मस्थान, वंश, वर्ण, अथवा इनमें से किसी एक के कारण भारतवर्ष में सम्राट (Crown) की नौकरियों के लिए अयोग्य सिद्ध नहीं ठहराया जाएगा।" परन्तु व्यावहारिक रूप मे यह आशा निराशा ही सिद्ध हुई। क्योंकि कार्यकारिणी समिति (Executive Council) मे अधिकांश रूप से भारतीय सिविल सर्विस के सदस्यो की ही नियुक्ति की जाती थी, क्योंकि उनके पास विशेष अनुभव तथा शासन सम्बन्धी ज्ञान का प्रमाण पत्र था। इस प्रकार कार्यकारिणी

---

1 "The members of the Council drawn from the ranks of public servants will, as time goes on, be more and more likely to be of Indian rather than of European extraction" —Joint Select Committee.

समिति (Executive Council) भारत सरकार के लिए नौकरशाही का विशेषण मात्र ही सिद्ध हुई।

वेतन तथा कार्यकाल

कार्यकारिणी समिति (Executive Council) के प्रत्येक सदस्य का कार्यकाल सामान्य रूप से पाच वर्ष था। प्रधान सेनापति (Commander-in-Chief) के अतिरिक्त कार्यकारिणी समिति (Executive Council) के प्रत्येक सदस्य को ८०,००० रुपये वार्षिक वेतन मिलता था। प्रधान सेनापति (Commander-in-Chief) को जो केन्द्रीय कार्यकारिणी समिति (Central Executive Council) का पदाधिकृत सदस्य नहीं था, १०,००० रुपये वार्षिक वेतन मिलता था। इन सदस्यो का यह वेतन भारतवर्ष की आय में से दिया जाता था।

गवर्नर जनरल और कार्यकारिणी समिति

सामान्य रूप से गवर्नर जनरल और कार्यकारिणी समिति (Executive Council) की स्थिति समान थी, परन्तु कुछ विशेष विषयों में कार्यकारिणी समिति (Executive Council) की स्थिति गवर्नर जनरल से निम्न कोटि की थी। समस्त कार्य क्षेत्र पर गवर्नर जनरल का स्वीकृत रूप से अधिकार था। कार्यकारिणी समिति के किसी सदस्य को उपसभापति नियुक्त करने का अधिकार गवर्नर जनरल को ही था। गवर्नर जनरल द्वारा निश्चित किए गए स्थान पर ही कार्यकारिणी समिति (Executive Council) की बैठक होती थी। ब्रिटिश भारत के हित, तथा उसकी शान्ति एव सुरक्षा सम्बन्धी विषयों के अतिरिक्त, जब कि गवर्नर जनरल कार्यकारिणी समिति (Executive Council) की सम्मति को अस्वीकार कर सकता था, सामान्य रूप से बैठक में उपस्थित सदस्यों के बहुमत द्वारा उपस्थित की गई सम्मति तथा निर्णय को स्वीकार करने के लिए वह बाध्य था। किसी विषय के सम्बन्ध में यदि कार्यकारिणी समिति (Executive Council) के सदस्यों की सम्मति का विभाजन बराबर हो जाता था तो गवर्नर जनरल अथवा सभापति के पद पर आसीन व्यक्ति को निजी मत द्वारा उस विषय के निर्णय का अधिकार प्राप्त था। जब कार्यकारिणी समिति (Executive Council) के निर्णय को स्वीकार न कर गवर्नर जनरल अपने उत्तरदायित्व एव अधिकार द्वारा कार्य करता था, तो कार्यकारिणी समिति (Executive Council) के कोई भी दो भिन्न मतावलबी सदस्य यह कह सकते थे कि उस विषय तथा उनके मतभेद के कारण भारत सचिव के पास भेज दिए जाएँ। ऐसी परिस्थिति में उस विषय की सूचना तथा समिति (Council) के सदस्यों द्वारा बैठक का विवरण लिखित रूप में भारत सचिव के पास भेजना पड़ता था। यदि कार्यकारिणी समिति (Executive Council) की किसी बैठक में

गवर्नर जनरल उपस्थित होता और यदि वह हस्ताक्षर करने योग्य होता था, तो उस बैठक मे प्रस्तावित किए गए प्रत्येक नियम अथवा प्रस्ताव पर उसके हस्ताक्षर अनिवार्य थे। यदि वह इस प्रकार के किसी नियम अथवा एक्ट पर अपने हस्ताक्षर नहीं करता था तो वह नियम समस्त राजनैतिक विषयों के सम्बन्ध मे व्यर्थ हो जाता था। गवर्नर जनरल और उसकी समिति के समस्त आदेश गवर्नर जनरल और उसकी समिति के नाम से ही घोषित किए जाते थे। अपनी कार्यकारिणी समिति (Executive Council) के कार्यक्रम को सरलता पूर्वक चलाने के लिए एक्ट द्वारा गवर्नर जनरल को नियम बनाने का भी अधिकार था।

सन् १६१६ के एक्ट द्वारा गवर्नर जनरल के निम्नलिखित कुछ उन अधिकारों को स्पष्ट कर दिया गया था जिनका प्रयोग वह अपनी समिति (Council) के साथ ही करता था :—

(अ) भारत सचिव और उसकी समिति की विशेष स्वीकृति बिना गवर्नर जनरल "भारतवर्ष के किसी देशी राजा अथवा राज्य के विरुद्ध युद्ध घोषणा, अथवा उनसे सन्धि नहीं कर सकता था, और न किसी ऐसे राज्य अथवा राजा को उनके अधिकार को सुरक्षित रखने का आश्वासन ही दे सकता था।[1] यहां यह बात ध्यान में रखने की है कि गवर्नर जनरल पर यह प्रतिबन्ध उस समय नहीं लग सकता था जब "भारत वर्ष में ब्रिटिश सरकार अथवा उसपर अवलम्बित किसी राजा अथवा राज्य अथवा किसी ऐसे राजा जिसके राज्य की सुरक्षा का उत्तरदायित्व किसी सन्धि द्वारा सम्राट (Crown) पर हो, के विरुद्ध युद्ध घोषणा की जा चुकी हो, अथवा उसके लिए प्रबन्ध किए जा चुके हों।" जब गवर्नर जनरल कोई युद्ध घोषणा अथवा सन्धि करता तो उसे कारणों सहित उसकी एक प्रतिलिपि भारत सचिव के पास भेजनी पड़ती थी। इस प्रकार समिति (Council) की स्वीकृति गवर्नर जनरल के युद्ध घोषित करने तथा सन्धि करने के अधिकार पर एक प्रकार का प्रतिबन्ध ही थी।

(ब) "ब्रिटिश भारत के अधिक पिछड़े हुए भागों के लिए एक संक्षिप्त व्यवस्थापक प्रणाली (Summary Legislative Procedure) की व्यवस्था की गई।"[2] ब्रिटिश भारत की कोई प्रान्तीय सरकार गवर्नर जनरल और उसकी समिति के सन्मुख अपने किसी 'भाग' की शान्ति तथा उत्तम शासन के सम्बन्ध मे नियम बनाने के लिए प्रस्ताव उपस्थित कर सकती थी। इस सम्बन्ध मे प्रान्तीय सरकार को इस प्रकार का प्रस्ताव उपस्थित करने के कारण भी गवर्नर जनरल और उसकी समिति

---

[1] गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया एक्ट (Government of India Act) की धारा ४४ के अनुसार

[2] एक्ट की धारा ७१ के अनुसार

के सन्मुख रखने पड़ते थे। जब इस प्रकार के प्रस्ताव को गवर्नर जनरल और उसकी समिति का अनुमोदन तथा गवर्नर जनरल की स्वीकृति प्राप्त हो जाती थी तब वह भारतवर्ष के गज़ट तथा प्रान्तीय गज़ट में--यदि कोई होता था--प्रकाशित किया जाता था। उसके पश्चात् वह प्रस्ताव कानून के समान लागू किया जाता था, तथा उसे भारतीय व्यवस्थापिका सभा के किसी एक्ट के समान अस्वीकृत भी किया जा सकता था। कार्यकारिणी (Executive) द्वारा कानून निर्माण का यह एक और उदाहरण है, जो सन् १९१९ के एक्ट की एक स्पष्ट एवं प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगोचर होने वाली विशेषता है। इस प्रकार के बनाए गए प्रत्येक नियम की, जिस पर गवर्नर जनरल ने अपनी स्वीकृति दी थी, एक प्रामाणिक प्रतिलिपि उसे भारत सचिव और उसकी समिति के पास भेजनी पड़ती थी। भारत सचिव अपनी समिति (Council) की सम्मति से एक प्रस्ताव द्वारा एक्ट की उपर्युक्त धारा[1] को ब्रिटिश भारत के किसी भाग पर लागू कर सकता था। इस धारा के अन्तर्गत ब्रिटिश भारत के किसी भाग के सम्बन्ध में दिए गए गवर्नर जनरल के प्रार्थना पत्र को भारत सचिव अस्वीकृत भी कर सकता था।

इस प्रकार यह धारणा बना लेना कि अधिकार और प्रभाव के क्षेत्र में कार्यकारिणी समिति (Executive Council) का स्थान शून्य के समान था, एक कोरी भ्रान्ति ही है। इसके विपरीत वह शासन का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग था। यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि गवर्नर जनरल की स्थिति कार्यकारिणी समिति (Executive Council) से उच्च थी, और इसकी अनुपस्थिति में भी गवर्नर जनरल का स्थायित्व दृढ था। परन्तु कार्यकारिणी समिति (Executive Council) का जीवन, उसका कोई अर्थ तथा उसकी कार्यक्षमता गवर्नर जनरल के साथ रहने में और उसकी सहायता में ही सम्भव थी। इस प्रकार गवर्नर जनरल पर कार्यकारिणी समिति (Executive Council) का आश्रित होना प्रत्यक्ष रूप से स्पष्ट है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि गवर्नर जनरल की शक्ति ही कार्यकारिणी समिति (Executive Council) की शक्ति थी। स्वभावत ही इसलिए लॉर्ड कर्ज़न ने अपने निम्नलिखित कथन में वाइसरॉय के असामर्थ्य का निदर्शन काल्पनिक अत्युक्ति के रूप में किया था · "समिति के किसी अन्य सदस्य से अधिक वाइसरॉय का महत्त्व नहीं है।"[2]

कार्यकारिणी समिति—स्वरूप

गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी समिति (Executive Council) का

---

[1] एक्ट की धारा ७१

[2] "The Viceroy has no more weight in his Council than any individual member of it" —Lord Curzon

विवरण समाप्त कर देने से पूर्व हम उसके स्वरूप के सम्बन्ध मे दो शब्द और कहना चाहेंगें। गवनर जनरल की कार्यकारिणी समिति (Executive Council) आंशिक रूप से भी सचिवतन्त्र प्रणाली के मन्त्रिमण्डल के समान न थी। इसका स्वरूप न तो ब्रिटिश मंत्रिमण्डल का सा ही था और न कनाडा के मंत्रिमण्डल का सा ही। ब्रिटिश मंत्रिमण्डल और कनाडा का मंत्रिमण्डल यदि व्यवस्थापिका सभा और उसके द्वारा जनमत के प्रति उत्तरदायी थे, तो भारतवर्ष की कार्यकारिणी (Executive) की विभिन्नता यही थी कि उसका स्वरूप अनुत्तरदायी था। वस्तुतः एक्ट द्वारा प्रस्तावित गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी समिति (Executive Council) और इंग्लैंड अथवा कनाडा के मन्त्रिमण्डल की तुलना करना ही उचित मार्ग से भटकना है। दोनों की उद्भावना में अन्तर था, दोनों के मूल स्रोत में अन्तर था, दोनों की मौलिकता में अन्तर था। भारतवर्ष की कार्यकारिणी (Executive) निरंकुश एवं अनुत्तरदायी थी, इंग्लैंड और कनाडा के मंत्रिमण्डल उत्तरदायी थे।

परन्तु फिर भी सूक्ष्म अध्ययन तथा सन् १९१९ के एक्ट द्वारा प्रस्तावित विकास को जानने के लिए गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी समिति (Executive Council) तथा ग्रेट ब्रिटेन के सचिव-तन्त्र प्रणाली के मंत्रिमण्डल की तुलना करना ही उचित होगा। व्यापक रूप से यह दोनो निम्न प्रकार से भिन्न थे :—

मुख्य असमानताएँ

(अ) ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के समान, कार्यकारिणी समिति (Executive Council) का निर्माण न तो व्यवस्थापिका सभा में से हुआ था और न वह इस के प्रति उत्तरदायी ही थी। और इस कारण इसे 'व्यवस्थापिका सभा की प्रथम समिति' का स्थान प्रदान नही किया जा सकता था। इस लिए व्यवस्थापिका सभा के सन्तुष्ट रहने अथवा न रहने पर ही कार्यकारिणी समिति (Executive Council) का जीवन अवलम्बित न था। व्यवस्थापिका सभा द्वारा पास किया गया कोई दोष प्रस्ताव अथवा अविश्वास प्रस्ताव कार्यकारिणी (Executive) को परित्याग के लिए विवश नहीं कर सकता था। यदि इंग्लैंड के मन्त्रिमण्डल को लोकसभा (House of Commons) के विश्वास की चिन्ता रहती है तो भारतीय कार्यकारिणी समिति (Executive Council) गवर्नर जनरल के विश्वास और सम्राट (His Majesty) के भारत सचिव की सन्तुष्टि के लिए चिन्तित रहती थी। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जहाँ तक कार्यकारिणी समिति (Executive Council) और देश की जनता के सम्बन्ध का प्रश्न है वहाँ तक मॉन्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार एक्ट के अन्तर्गत भी उस का स्वरूप उतना ही अनुत्तरदायी था जितना कि पूर्व की मॉर्ले मिन्टो प्रणाली के अन्तर्गत !

(ब) यहाँ यह बात भी ध्यान मे रखने योग्य है कि इंग्लैंड में मन्त्रिमण्डल

सदस्यों की नियुक्ति व्यावहारिक रूप से प्रधान मन्त्री (Prime Minister) ही करता है। परन्तु भारतवर्ष में स्थिति इसके विपरीत थी। लॉर्ड कर्ज़न के शब्दों में यहाँ गवर्नर जनरल "अपने निकटतम साथियों में से एक की भी नियुक्ति नहीं करता है।" यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि केवल एक अवसर पर स्वयं लॉर्ड कर्ज़न ने एक व्यक्ति की नियुक्ति के लिए कहा था, जिस के उत्तर में उन्हें केवल नकार के और कुछ न प्राप्त हुआ। भारत सचिव ने उन्हें यह समाचार भेजा कि समिति (Council) के सदस्यों की नियुक्ति के विषय में सम्राट (Crown) को सम्मति प्रदान करने का कर्त्तव्य केवल भारत सचिव का ही है।

समानता

फिर भी भारतीय कार्यकारिणी समिति (Indian Executive Council) की एक विशेषता ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल से सैद्धान्तिक रूप में अवश्य मेल खाती थी। यह विशेषता थी अखण्ड एवं अविभाजित संयुक्त उत्तरदायित्व के सिद्धान्त की। यह बात स्मरण रखनी चाहिए यदि समिति (Executive Council) और गवर्नर जनरल में कोई मतभेद होता था तो भारत सरकार के सदस्य, एक्ट द्वारा प्रस्तावित प्रणाली के अनुसार, भारत सचिव के सूचनार्थ अपनी सम्मतियों को लिखित रूप प्रदान करने के पश्चात्, इस बात के लिए बाध्य थे कि या तो वे गवर्नर जनरल के कथनानुसार कार्य करते, अथवा उस के हाथों में अपना त्यागपत्र उपस्थित कर देते। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यदि एक विशेष विषय के सम्बन्ध मे भारत सरकार का निर्णय, पूरी समिति (Council) का निर्णय न होकर वस्तुत: एक ही व्यक्ति का निर्णय हो और वह व्यक्ति भले ही गवर्नर जनरल हो, कार्यकारिणी समिति (Executive Council) के समस्त सदस्यों द्वारा स्वीकृत होना चाहिए तथा उस का समर्थन होना चाहिए, अथवा उन सदस्यों को त्यागपत्र दे देना चाहिए। नौकर शाही सरकार के समान न्यूनाधिक रूप में वाइसराय कार्यकारिणी (Executive) के सदस्यों का विधाता ही था। इस "आत्मसमर्पण अथवा त्यागपत्र" वाले सिद्धान्त द्वारा वाइसराय के प्रति कार्यकारिणी समिति (Executive Council) की आधीनता एक और कारण से अधिक वास्तविक रूप मे थी। इग्लैंड में प्रधान मन्त्री (Prime Minister) अपने सहयोगियों का आदर जनता तथा उनके दल में उनकी स्थिति के कारण करता है, यह सम्मान भारतवर्ष में कार्यकारिणी समिति (Executive Council) के सदस्यों को प्राप्त नहीं था। इस प्रकार कार्यकारिणी (Executive) के सदस्य अपने व्यक्तित्व को गौण बनाने के लिए विवश थे। बहुमत के सिद्धान्त और आकांक्षाओं का हनन एक व्यक्ति के लिए कर दिया जाता था। समिति (Council) का कार्यक्रम गुप्त रखा जाता था। इसलिए यह भारत सरकार की पद्धति के अनुरूप नहीं था कि इस प्रकार की कार्य प्रणाली अथवा शासन प्रबन्ध में

भाग लेने वाले सदस्यों के व्यक्तिगत मतों को प्रकाशित किया जाए। इस प्रकार यह सम्भव था कि कोई सदस्य अपना भिन्न मत रखता हो, और उसके इस भिन्न मत के प्रभाव से राजनैतिक वातावरण में तनिक सी भी हलचल उत्पन्न न हो। किसी विषय अथवा विषयों से सम्बन्धित उनके मतभेदों को दफना कर समिति (Council) को एक पूर्ण इकाई के रूप मे कार्य करना पड़ता था।

(३) समिति के सचिव

केन्द्रीय कार्यकारिणी (Central Executive) के इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व कुछ पंक्तियाँ समिति (Council) के सचिव (Secretaries) के सम्बन्ध में लिखनी आवश्यक हैं।

प्रत्येक विभाग मे स्थायी सचिव नियुक्त थे। उनके सम्बन्ध में राजकीय समिति (Royal Commission) का कथन उल्लेखनीय है कि, "प्रत्येक विभाग का उप-पदाधिकारी एक सचिव है, जिसकी स्थिति लगभग वही है जो इंग्लैंड में स्थायी उपसचिव की होती है। परन्तु इनमे अन्तर यह है कि यह सचिव समिति (Council) की बैठक में उपस्थित रहता है; सप्ताह मे प्रायः एक वार वह वाइसरॉय से अवश्य मिलता है और अपने विभाग के समस्त महत्त्वपूर्ण विषयों पर उसके साथ विचार करता है; किसी ऐसे विशेष विषय की ओर गवर्नर जनरल का ध्यान आकर्षित करना उसका अधिकार है, जिस के सम्बन्ध मे वह यह समझता हो कि उस विभाग से सम्बन्धित समिति (Council) के सदस्य द्वारा दिए गए आदेश पर गवर्नर जनरल की स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक है; और उसका कार्यकाल प्रायः तीन वर्ष तक सीमित रहता है।"

इस प्रकार यह वात स्मरण रखने योग्य है कि सचिव की पहुँच गवर्नर जनरल तक प्रत्यक्ष रूप से थी। वह गवर्नर जनरल के पास कोई भी महत्त्वपूर्ण पत्र आदि लेजा सकता था, और उससे सम्बन्धित सदस्य के तनिक से भी हस्तक्षेप बिना और कभी-कभी तो उसे सूचना दिए बिना ही वह उस पर गवर्नर जनरल के आदेश प्राप्त कर सकता था। यदि सदस्य और सचिव मे कोई मतभेद होता था तो सचिव को यह अधिकार था कि वह उस विषय को गवर्नर जनरल के सम्मुख उपस्थित कर दे।

इस लिए सचिव का वैधानिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व था। भारतवर्ष में साम्राज्यशाही की नींव दृढ़ बनाए रखने के लिए उनमें नौकरशाही के स्थायी अधिकार ठूंस ठूंस कर भर दिए गए थे। यह देखना उनका ही कर्त्तव्य था कि शासन मे कही किसी प्रकार की भूल तो नहीं होती। साम्राज्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण विषयों की सूचना उन्हें वाइसरॉय को देनी होती थी। इसलिए एक्ट के अन्तर्गत उन्हें एक विशेष एवं महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया था। इस बात का ध्यान रखना भी उनका कर्त्तव्य था कि कार्य प्रणाली के नियमों का पालन उचित ढंग से होता है

अथवा नहीं। इसी के साथ-साथ सदस्यों से स्वतन्त्र रूप में उन्हें यह अधिकार भी था कि वे अपने विवेक के अनुसार किसी विषय पर किसी भी समय गवर्नर जनरल के आदेश प्राप्त कर सकें। संक्षेप में यह सचिव सदस्यों के लिए नहीं अपितु समस्त भारत सरकार के लिए रखे जाते थे। इस लिए यह उनका कर्त्तव्य था कि शासन के अध्यक्ष गवर्नर जनरल को कार्य की प्रगति तथा विभिन्न विभागों से सम्बन्धित प्रश्नो के स्वरूप की सूचना समय समय पर दिया करें। साराश यह कि विभिन्न विभागों के यह सचिव भारतवर्ष में साम्राज्य शाही के हित की सुरक्षा की चौकसी रखने वाले थे।

छठवाँ अध्याय

प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाएँ

"सचिवतन्त्र प्रणाली की प्रजातन्त्र सरकार मे, जो संघात्मक सरकार से भिन्न होती है, राजनैतिक, कार्यकारिणी तथा व्यवस्थापक सम्बन्धी समस्त कार्यों में शक्ति, तथा अधिकार का केन्द्र-बिन्दु अथवा कार्य करने की सत्ता मन्त्रिमण्डल में निहित होती है। इस प्रकार के विधान में लोक-प्रिय प्रजातन्त्र सरकार में मन्त्रियों की प्रत्यक्ष सत्ता द्वारा कार्य सम्पादन होता है, जो व्यवस्थापिका सभा द्वारा जनता के प्रति उत्तरदायी होते हैं।"[1]

—*श्री बी० के० ठाकुर*

सम्राट (His Majesty) की सरकार द्वारा सन् १९१९ के एक्ट के अन्तर्गत भारतवर्ष के लिए मन्त्रिमण्डल द्वारा शासन का यही स्वरूप घोषित किया गया था। जब इंग्लैंड में ही उत्तरदायी शासन का विकास जनता के अन्तर मे जाग्रत होने वाली भावना शक्ति के फलस्वरूप एक विलम्बित ऐतिहासिक प्रणाली द्वारा हुआ था, तब भारतवर्ष को भी यह आश्वासन दिया गया था कि उसे भी निरंकुश सरकार से शनैः शनैः उत्तरदायी सरकार प्रदान की जाएगी। स्वराज्य की प्रथम सीढी का निदर्शन सन् १९१९ के एक्ट द्वारा हुआ।

जैसाकि अन्यत्र भी संकेत किया जा चुका है उत्तरदायी शासन का यह शुभारम्भ प्रान्तीय क्षेत्र के हस्तान्तिरत विषयों द्वारा किया गया। इस प्रकार इस नवीन वैधानिक व्यवस्था में स्थानीय व्यवस्थापिका सभाएँ ही जिन्हें प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा कहा जाता है, उत्तरदायी शासन का केन्द्र बिन्दु थीं।

शासन प्रबन्ध सुचारु ढग से चलाने के लिए ब्रिटिश भारत को इस एक्ट के

---

[1] "In popular government of the parliamentary, as distinguished from the presidential type, the centre of authority, the pivot of power, or the working sovereign, in all matters political, executive and legislative, is the cabinet or ministry. Popular self government in this type of Constitution works through the defacto sovereignty of ministers responsible to the electors through the legislature."

—Sri B. K. Thakore.

अन्तर्गत नौ मुख्य और आठ गौण प्रान्तों में विभाजित कर दिया गया था। यह नौ मुख्य प्रान्त इस प्रकार थे, मदरास, बम्बई, बगाल, सयुक्त प्रदेश, पंजाव, वर्मा, विहार और उडीसा, आसाम तथा मध्य प्रदेश। पहले तो इस 'सुधार व्यवस्था' (Reform Scheme) में से वर्मा को पृथक् कर दिया गया था। कालान्तर में २ जनवरी सन् १९२३ को इसे भी गवर्नर के प्रान्त का स्थान प्रदान किया गया। आठ गौण प्रान्त इस प्रकार थे . वलूचिस्तान, देहली, अजमेर-मेरवाडा, कुर्ग, मनीपुर का परगना, पन्थ पिप्लोदा, अदन, तथा अडमान और निकोवार द्वीपसमूह।

उपर्युक्त मुख्य प्रान्त गवर्नर के प्रान्त कहलाते थे। इन का शासन सुरक्षित विषयों के सम्बन्ध में गवर्नर और उसकी समिति द्वारा, और हस्तान्तरित विषयों के सम्बन्ध में, कुछ विशेष अवसरों के अतिरिक्त, गवर्नर तथा मन्त्रियों द्वारा होता था। गौण प्रान्त चीफ कमिश्नर के अधिकार में होते थे। इनका शासन प्रवन्ध इन्हीं के हाथों में था। कुर्ग के अतिरिक्त अन्य गौण प्रान्तों में लेजिस्लेटिव काउन्सिल नहीं थी।

गवर्नर की लेजिस्लेटिव काउन्सिल का निर्माण

जैसाकि कहा जा चुका है गवर्नर के नौ प्रान्तों में लेजिस्लेटिव काउन्सिल थीं। काउन्सिल में प्रान्त की कार्यकारिणी समिति (Executive Council) के सदस्य, कुछ नियुक्त किये गये सदस्य तथा कुछ निर्वाचित सदस्य होते थे। लेजिस्लेटिव काउन्सिल की रचना का स्वरूप भी कुछ वेमेल था। इस काउन्सिल के सदस्य विभिन्न मत, विभिन्न सम्मति तथा विभिन्न सिद्धान्तों के समर्थक थे। यह काउन्सिल साम्राज्य-शाही के हित एव अकुररूप राष्ट्रीय आकाक्षाओं की सरक्षक थी। यदि साम्राज्यशाही के हित का प्रतिनिधित्व कार्यकारिणी समिति (Executive Council) के सदस्य तथा नियुक्त किए गए सदस्य करते थे तो राष्ट्रीय आकांक्षाओं का पक्ष निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा लिया जाता था। इस प्रकार एक प्रान्तीय लेजिस्लेटिव काउन्सिल के निर्मित स्वरूपसे ही यह स्पष्ट था कि अपना-अपना प्रभुत्व बढानेके लिए साम्राज्यशाही और राष्ट्रीय दोनों प्रकार की शक्तियों में सघर्ष हो।

एक्ट द्वारा यह भी निश्चित कर दिया गया था कि प्रत्येक लेजिस्लेटिव काउन्सिल मे २० प्रतिशत से अधिक सरकारी सदस्य नहीं हो सकते थे। केवल इतना ही नहीं, प्रत्येक लेजिस्लेटिव काउन्सिल में कम से कम ७० प्रतिशत निर्वाचित सदस्य होने चाहिए थे। परन्तु यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि वर्मा की लेजिस्लेटिव काउन्सिल मे निर्वाचित सदस्यों की सख्या ६० प्रतिशत निश्चित की गई थी। उपर्युक्त अनुपात को ध्यान मे रखते हुए किसी भी लेजिस्लेटिव काउन्सिल के सदस्यों की सख्या में वृद्धि करने के लिए नियम वनाए जा सकते थे।

प्रान्त का गवर्नर प्रान्तीय लेजिस्लेटिव काउन्सिल का सदस्य नहीं हो सकता था। परन्तु उसे लेजिस्लेटिव काउन्सिल की वैठक में आमन्त्रित करने और उसमें भाषण

देने का अधिकार था। कार्यकारिणी समिति (Executive Council) के सदस्य लेजिस्लेटिव काउन्सिल के भी सदस्य होते थे।

यहाँ यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि सरकारी कर्मचारियों को चुनाव लड़ने का अधिकार नहीं था। परन्तु मन्त्रियों पर इसके लिए किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाता था क्योंकि उनकी गणना सरकारी कर्मचारियों में नहीं की जाती थी।

काउन्सिल के निर्माण से सम्बन्धित नियमों द्वारा निम्नलिखित विभिन्न जातियों को जातीय प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया था : सिखों को पजाब में, भारतीय ईसाइयों को मदरास में; एंग्लो-इण्डियन (Anglo Indians) को मदरास, बगाल और बर्मा मे; योरुपीयनों को मद्रास, बम्बई, बगाल, संयुक्त-प्रान्त, बिहार और उड़ीसा तथा बर्मा मे; और मुसलमानों को मद्रास, बम्बई, बगाल, संयुक्त प्रान्त, पंजाब, बिहार और उड़ीसा मध्य प्रदेश और आसाम में। इनके अतिरिक्त एक्ट के अन्तर्गत व्यवसायी, व्यापारी, जमींदार, खनिजपदार्थ तथा विभिन्न प्रकार के व्यवसायों से सम्बन्धित वर्गों को उनके अधिकार सुरक्षित रखने के विचार से विशेष प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया था।

इन विशेष प्रतिनिधित्वों के कारण निर्वाचित प्रतिनिधियों में मतभेद होना स्वाभाविक सा ही था, और वे एक दूसरे का विरोध करने के लिए सदैव तत्पर रहते थे। विशेष हितों को पृथक प्रतिनिधित्व प्रदान करने का लक्ष्य ही था कि इन वर्गों के विशेष प्रतिनिधित्व की नींव पर सरकारी कर्मचारियों के दल के भवन का निर्माण दृढ़ हो जाए, जिससे कि साम्राज्यशाही के हित की सुरक्षा के हित में निर्वाचित पक्ष की शक्ति क्षीण पड़ती जाए। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि एक्ट के अन्तर्गत सरकारी कर्मचारियों की निरंकुशता को कितनी चतुराई के साथ स्थिर किया गया था। इस प्रकार इस एक्ट द्वारा भारतीय जनता को उन्हीं के प्रतिनिधियों की आड में आधीन करने तथा उन पर निर्दयता पूर्वक शासन करने के लिए पहले से भी अधिक सुरक्षित सार्वलौकिक आधार प्रदान किया गया था।

प्रत्येक प्रान्त की लेजिस्लेटिव काउन्सिल के सदस्यों की सख्या में अन्तर था। बगाल में इनकी सख्या १२५; मद्रास तथा संयुक्तप्रान्त में ११८; बम्बई में १११; विहार और उड़ीसा मे ९८; पजाब में ८३; मध्यप्रदेश मे ७० और आसाम में ५३ थी।

कार्यकाल

काउन्सिल की अवधि सामान्य रूप से तीन वर्ष थी, काउन्सिल की अवधि पूरी होने से पूर्व ही उसे विसर्जित करने और दूसरी काउन्सिल को आमन्त्रित करने तथा उसे कुछ काल के लिए स्थगित करने के सम्बन्ध में विभिन्न प्रान्तों के गवर्नरों को लगभग वही अधिकार प्राप्त थे जो भारतीय व्यवस्थापिका सभा के सम्बन्ध में गवर्नर

जनरल को थे। इस प्रकार प्रान्तीय लेजिस्लेटिव काउन्सिल को गवर्नर द्वारा अवधि से पूर्व भी विसर्जित किया जा सकता था। किन्हीं असाधारण परिस्थितियों में गवर्नर अपने प्रान्त की व्यवस्थापिका सभा की अवधि बढा भी सकता था, परन्तु यह वृद्धि एक वर्ष के समय से अधिक नहीं हो सकती थी। एक्ट द्वारा यह निश्चित कर दिया गया था कि लेजिस्लेटिव काउन्सिल के विसर्जन के पश्चात् गवर्नर के लिए यह आवश्यक था कि भारत सचिव की स्वीकृति के साथ ६ अथवा ९ मास के समय के अन्दर ही काउन्सिल की आगामी बैठक का दिनांक निश्चित करे।

काउन्सिल का सभापति

काउन्सिल के प्रथम सभापति (President) की नियुक्ति गवर्नर चार वर्ष के लिए करता था। उसके पश्चात् उस पद के लिए चुनाव होता था। उस समय काउन्सिल के सदस्य अपने में से ही अपने सभापति का निर्वाचन करते थे, यद्यपि इस के लिए भी गवर्नर की स्वीकृति आवश्यक थी। प्रत्येक काउन्सिल में एक उपसभापति भी होता था। उपसभापति की नियुक्ति का कोई प्रश्न नहीं था, प्रारम्भ से ही उसका चुनाव होता था। गवर्नर की लेजिस्लेटिव काउन्सिल के सभापति के कार्य तथा कर्त्तव्य लगभग वही थे जो केन्द्रीय लेजिस्लेटिव एसेम्बली के सभापति के थे।

सदस्यों के अधिकार

एक्ट के अन्तर्गत यह स्पष्ट कर दिया गया था कि भारतीय व्यवस्थापिका सभा तथा प्रान्तीय लेजिस्लेटिव काउन्सिल के सदस्यों को भाषण की स्वतन्त्रता होगी। व्यवस्थापिका सभाओं में दिए गए भाषण तथा मत के आधार पर, अथवा व्यवस्थापक कार्यक्रम की रिपोर्ट में दिए गए किसी लेख के आधार पर किसी सदस्य को किसी न्यायालय में कानून के अन्तर्गत नहीं लाया जा सकता था।[1]

प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं के अधिकार

सन् १९१९ के एक्ट के अन्तर्गत कम से कम सैद्धान्तिक रूप में यह विचार अवश्य प्रतिपादित किया गया था कि नवीन कार्य प्रणाली के अन्तर्गत स्थापित प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाएँ प्रान्त के हस्तान्तरित विषयों के क्षेत्र में सर्वसत्ताधारी होंगी। इस सत्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि मॉर्ले-मिन्टो सुधार एक्ट द्वारा स्थापित व्यवस्थापिका सभाओं के अनुपात में इन व्यवस्थापिका सभाओं के अधिकार प्रत्येक विषय में अधिक थे। जनता द्वारा निर्वाचित कानून निर्माण करने वाली एक प्रतिनिधात्मक एसेम्बली को जिस सीमा तक अधिकार प्राप्त होने चाहिएँ उसके एक विशेष अंश तक इन्हें भी अधिकार प्राप्त थे।

(अ) व्यवस्थापक अधिकार

एक्ट के अन्तर्गत प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं के अधिकार का वर्णन संक्षिप्त

---

[1] एक्ट की धारा ७८ के अनुसार

रूप से किया गया था।[1] प्रान्त के अन्तर्गत क्षेत्रों की शान्ति तथा उत्तम शासन के लिए इसे कानून बनाने का अधिकार था, जो निस्सन्देह—"गवर्नमेण्ट आफ इण्डिया एक्ट (Government of India Act) की धाराओं पर आश्रित होते थे।" प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं के अतिरिक्त, गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया एक्ट (Government of India Act) के प्रकाश में आने से पूर्व अथवा पश्चात् ब्रिटिश भारत में किसी पदाधिकारी तथा संस्था द्वारा बनाए गए किसी भी कानून को खण्डित एवं परिवर्तित करने का अधिकार भी इस व्यवस्थापिका सभा को था; परन्तु यह अधिकार कुछ निश्चित शर्तों पर आश्रित था।

(ब) आर्थिक अधिकार

अब हमें प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं के आर्थिक अधिकारों पर भी एक दृष्टि डाल लेनी चाहिए।

आरम्भ में ही संक्षेप में यह जान लेना उचित होगा कि काउन्सिल के सन्मुख प्रान्त के आय-व्यय का लेखा उपस्थित करने की प्रणाली वही थी जो केन्द्र में लेजिस्लेटिव एसेम्बली में प्रचलित थी। प्रान्तीय लेजिस्लेटिव काउन्सिल को किसी माँग को स्वीकृत तथा अस्वीकृत करने और उसमें किसी प्रकार की कमी करने के वही अधिकार प्राप्त थे जो केन्द्र में भारतीय एसेम्बली को प्राप्त थे। किसी सुरक्षित विषय से सम्बन्धित माँग के सम्बन्ध में यदि गवर्नर यह प्रमाणित करता कि उस विशेष सुरक्षित विषय के सम्बन्ध में अपने उत्तरदायित्व की पूर्ति के लिए व्यय के लेखे में जो माँग उपस्थित की गई है वह अनिवार्य है, तो गवर्नर को काउन्सिल के निर्णय को अस्वीकृत करने का अधिकार था। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रमाणित करने का यह अधिकार गवर्नर को केवल सुरक्षित विषयों के सम्बन्ध में ही प्राप्त था।

व्यापक रूप से इन विशेषताओं का परिचय प्राप्त कर लेने के पश्चात् अब हमें कुछ अन्य मुख्य बातों की ओर भी ध्यान देना चाहिए।

गवर्नर के किसी प्रान्त की आय-व्यय का अनुमानित लेखा प्रान्तीय लेजिस्लेटिव काउन्सिल के सन्मुख प्रतिवर्ष उपस्थित किया जाता था। उपस्थित करने का दिनांक निश्चित करना गवर्नर का कर्त्तव्य था। यही लेखा प्रान्तीय बजट कहलाता था। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रान्तीय आय में से कुछ धन प्राप्त करने का प्रस्ताव लेजिस्लेटिव काउन्सिल के पास भेजी गई गवर्नर की सम्मति बिना उपस्थित नहीं किया जा सकता था। इसी निरूपित तथ्य के आधार पर प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं को प्रान्त के कार्यों की पूर्ति के लिए निम्नलिखित पर कोई भी कर लागू करने के लिए कानून बनाने का अधिकार था :—

(अ) उन मैदानों पर जिनमें कृषि न होती हो;

---

[1] एक्ट की धारा ८० (ए) के अन्तर्गत।

(ब) सयुक्त कुटुम्ब में उत्तरजीवी के पद के नाते उत्तराधिकार अथव प्राप्ति पर

(स) कानून द्वारा अनुमोदित किसी प्रकार के जुए पर,

(द) विज्ञापनों पर,

(क) मनोरंजन पर,

(ख) विलास की सामग्री पर,

तथा प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं को कानून द्वारा निम्नलिखित कर लागू करने का अधिकार था :—

(अ) रजिस्ट्रेशन शुल्क, अथवा

(ब) भारत सरकार द्वारा निश्चित स्टाम्प कर (Stamp-duty) के अतिरिक्त कोई अन्य कर।

इसके अतिरिक्त प्रान्तीय पदाधिकारियों की सुगमता के लिए प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं को किसी प्रकार का महसूल, कर अथवा शुल्क जैसे कि मार्ग का कर, नगर प्रवेश का कर लगाने तथा कार्य करने के शुल्क को नियत करने के सम्बन्ध मे कानून बनाने अथवा अपने पदाधिकारियों को कानून बनाने का अधिकार सौंपने का पूर्ण अधिकार था। इसी प्रकार निम्नलिखित पर भी कर लगाने का इन्हे पूर्ण अधिकार प्राप्त था :—

(अ) पृथ्वी, और उस पर हुई पैदावार पर,

(ब) मकानों पर,

(स) नाव तथा अन्य यातायात के साधनों पर,

(द) पशुओं पर,

(क) घर के नौकरों तथा अन्य नीच कार्य करने वाले व्यक्तियों पर,

(ख) व्यापार, जीवन, वृत्ति तथा अन्य धन्धों पर,

(ग) निजी बाज़ारों, आदि पर।

कुछ निश्चित सुरक्षित विषयों के अतिरिक्त अन्य विषयों के लिए प्रान्तीय आय प्राप्त करने के लिए प्रान्तीय सरकार के प्रस्ताव मॉग के रूप में काउन्सिल का बहुमत प्राप्त करने के लिए उसके सन्मुख उपस्थित किए जाते थे। यह हम अन्यत्र भी लिख चुके हैं कि ऐसी परिस्थिति में काउन्सिल अपनी इच्छानुसार इस प्रकार की माँग पर अपनी स्वीकृति अथवा अस्वीकृति प्रदान कर सकती थी, तथा इन माँगों में कमी भी कर सकती थी। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि उपस्थित माँग को बढ़ाने अथवा उसका विषय परिवर्तन करने के सम्बन्ध में काउन्सिल किसी प्रकार का कदम नहीं उठा सकती थी।

सुरक्षित विषय

निम्नलिखित विषयों पर काउन्सिल के बहुमत की स्वीकृति का प्रश्न ही नहीं

उठ सकता था, यह विषय उसके अधिकार से सुरक्षित रखे गए थे तथा इन पर काउन्सिल को वाद-विवाद करने का भी अधिकार नहीं था :—

(अ) केन्द्रीय सरकार को दिए जाने वाले प्रान्तीय दान तथा गवर्नर जनरल और उसकी समिति को प्रान्तीय सरकार द्वारा दिए जाने वाले दान के सम्बन्ध में;

(ब) सूद और नष्ट होने वाले धन के कर के सम्बन्ध मे;

(स) उस व्यय के सम्बन्ध में जिसकी व्यवस्था किसी कानून द्वारा अथवा उसके अन्तर्गत की गई हो,

(द) निम्नलिखित के वेतन तथा उनके आश्रितों को दी जाने वाली सेवा वृत्ति के सम्बन्ध में :—

(१) सम्राट (His Majesty) अथवा भारत सचिव और उसकी समिति द्वारा अथवा उनकी स्वीकृति द्वारा नियुक्त किए गए व्यक्तियों के सम्बन्ध में;

(२) प्रान्त की हाई कोर्ट के न्यायाधीशों के सम्बन्ध मे,

(३) एडवोकेट जनरल (Advocate General) के सम्बन्ध मे; और

(४) उन व्यक्तियों के सम्बन्ध मे जिनकी नियुक्ति १ अप्रैल, सन् १९२४ के पूर्व गवर्नर जनरल और उसकी समिति अथवा किसी प्रान्तीय सरकार द्वारा उन स्थानों तथा पदों पर की गई थीं जिन्हे एक्ट के अन्तर्गत नियमों में उच्च पदों का स्थान प्रदान किया गया है,

(क) उन व्यक्तियों को दिए जाने वाले धन के सम्बन्ध में जो भारतवर्ष में सम्राट (Crown) की सिविल सर्विस के कर्मचारी थे अथवा रह चुके थे। भारत सचिव और उसकी समिति अथवा गवर्नर जनरल और उसकी समिति अथवा गवर्नर से एक्ट के अन्तर्गत निर्माणों के अनुरूप प्रार्थना करने पर उन्हीं के आदेश द्वारा यह सम्भव था।

प्रतिबन्ध

इसका यह अर्थ नहीं कि प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं के अधिकारों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं थे। इन मुख्य प्रतिबन्धों का जो अभी तक प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं को जकड़े हुए थे, वर्णन निम्न प्रकार से किया जा सकता था :—

(अ) वैधानिक प्रतिबन्ध

प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं को कोई ऐसा कानून बनाने का अधिकार नहीं था जिसका प्रभाव पार्लियामेण्ट के किसी एक्ट पर पड़ता हो। गवर्नर जनरल की पूर्व स्वीकृति बिना प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाएं न तो कोई ऐसा कानून बना ही सकती थीं और न उस पर विचार ही कर सकती थीं :—

(अ) जिसके द्वारा किसी प्रकार का नया कर लागू होता हो, जब तक कि वह कर इस प्रकार का न हो जिसे एक्ट के अन्तर्गत नियमों द्वारा मुक्त कर दिया गया हो, अथवा

(ब) जिसका प्रभाव भारतवर्ष की जनता के ऋण अथवा किसी ऐसे कर अथवा महसूल पर पड़ता हो जिसे गवर्नर जनरल और उसकी समिति ने भारत सरकार के समान उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रथम वार लागू किया हो, यदि इस प्रकार के कर को लागू करने से उपर्युक्त किसी कर आदि पर प्रभाव पड़ता हो, अथवा

(स) सम्राट (His Majesty) की जल सेना, थल सेना और वायुसेना के अथवा उसके किसी अंग के स्थायित्व और अनुशासन पर जिसका प्रभाव पड़ता हो; अथवा

(द) देशी राजाओं तथा राज्यों से सरकार के सम्बन्ध पर जिसका प्रभाव पड़ता हो, अथवा

(क) जिसके द्वारा किसी केन्द्रीय विषय का संचालन होता हो, अथवा

(ख) जिसके द्वारा किसी ऐसे प्रान्तीय विषय का संचालन होता हो जो एक्ट के अन्तर्गत नियमों द्वारा आंशिक अथवा पूर्ण रूप से भारतीय व्यवस्थापिका सभा को सौंप दिया गया हो, और इस घोषणा के अन्तर्गत प्रत्येक विषय के सम्बन्ध में जिसके लिए भारतीय व्यवस्थापिका सभा को कानून बनाने का अधिकार प्रदान किया गया हो, अथवा

(ग) जिसका प्रभाव किसी ऐसे अधिकार पर पड़ता हो जिसे कुछ समय के लिए लागू किसी कानून द्वारा गवर्नर जनरल और उसकी समिति के लिए पूर्ण रूप से सुरक्षित रखा गया हो, अथवा

(घ) जिसके द्वारा किसी ऐसे कानून की धाराओं का खण्डन अथवा परिवर्त्तन होता हो, जिसके सम्बन्ध में एक्ट के अन्तर्गत नियमों द्वारा यह घोषित कर दिया गया हो कि पूर्व स्वीकृति बिना इसके परिवर्त्तन अथवा खण्डन का अधिकार प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं को न होगा, अथवा

(ङ) जिसके द्वारा भारतीय व्यवस्थापिका सभा के एक्ट की उस धारा का परिवर्त्तन अथवा खण्डन होता हो, जिसे स्वयं प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा भी पूर्व स्वीकृति बिना अपने ही नियमों द्वारा खण्डित अथवा परिवर्तित नहीं कर सकती थी।

(ब) गवर्नर की सर्वोच्च सत्ता का प्रतिबन्ध

अन्त में गवर्नर के एक्ट द्वारा प्रदान किए हुए विशेष व्यवस्थापक अधिकारों पर भी एक दृष्टि डाल लेना अनुचित न होगा, जिनके कारण काउन्सिल की व्यवस्थापक क्षेत्र सम्बन्धी स्वतन्त्रता पर आघात पहुँचा था।

(१) असाधारण परिस्थितियों में गवर्नर के अधिकार

असाधारण परिस्थितियों मे यदि गवर्नर प्रान्त की शान्ति तथा सुरक्षा के लिए उचित समझता तो उसे कुछ भी व्यय करने तथा 'किसी भी' विभाग को अपने नियन्त्रण मे करने का अधिकार था। इस स्थान पर 'किसी भी' शब्द अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इससे तात्पर्य समस्त विभागो से है चाहे वे सुरक्षित हों अथवा हस्तान्तरित। इस व्यवस्था का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक तथा इसका अर्थ बडा ही सन्दिग्ध था। "एक हस्तान्तरित विषय के सम्बन्ध मे," जैसा कि सर तेज बहादुर सप्रू ने कहा है, "क्या एक गवर्नर उस व्यय को स्वीकृत कर सकता था जिसे काउन्सिल ने अस्वीकृत कर दिया हो, परन्तु उस विभाग के कार्य के सम्पादन के लिए वह उसे आवश्यक समझता हो?" व्यावहारिक रूप मे "असाधारण परिस्थितियों मे," "प्रान्त की शान्ति और सुरक्षा के हेतु," अथवा "किसी विभाग के कार्य के सम्पादन के लिए," आदि सन्दिग्ध वक्तव्यों द्वारा कम से कम कानूनी ढग से तो लेजिस्लेटिव काउन्सिल के हाथ पैर कट ही गए थे। इनसे गवर्नर के अधिकारों तथा विवेक में अत्यन्त वृद्धि हुई।

गवर्नर का नियम प्रमाणित करने का अधिकार

व्यवस्थापक कार्यों के सम्बन्ध मे एक्ट द्वारा गवर्नर को नियम प्रमाणित करने का अधिकार सौंपा गया था। गवर्नर इस अधिकार का प्रयोग प्रतिबन्ध के रूप में अथवा केवल स्वीकृति के रूप में कर सकता था।

अपने प्रान्त की शान्ति तथा सुरक्षा पर प्रभाव डालने वाले प्रस्तावों पर प्रतिबन्ध लगा कर गवर्नर अपने प्रमाणित करने के अधिकार का भोग उसी रूप में करता था जिस रूप में गवर्नर जनरल प्रान्तीय लेजिस्लेटिव काउन्सिल में उपस्थित किए गए अथवा उपस्थित होने वाले किसी प्रस्ताव, अथवा संशोधन के सम्बन्ध मे गवर्नर को यह प्रमाणित करने का अधिकार था कि इससे उसके प्रान्त अथवा प्रान्त के किसी एक भाग की शान्ति तथा सुरक्षा नष्ट होने का भय है, और इस सम्बन्ध में उसे यह आदेश देने का भी अधिकार था कि "इस प्रकार के प्रस्ताव, धारा अथवा संशोधन के सम्बन्ध में काउन्सिल द्वारा किसी प्रकार का कार्य आगे न किया जाय।" उसी समय से उसके आदेशों का पालन आरम्भ हो जाता था।

इन प्रतिबन्धों के अतिरिक्त अपने प्रमाणित करने के अधिकार का प्रयोग गवर्नर स्वीकृति के रूप में भी कर सकता था। प्रस्तावों को स्वीकृति के रूप में प्रमाणित करने का गवर्नर को अधिकार था।[1] इस अधिकार का प्रयोग उसी समय किया जा सकता था जब किसी सुरक्षित विषय से सम्बन्धित किसी प्रस्ताव को लेजिस्लेटिव काउन्सिल गवर्नर द्वारा निर्देशित स्वरूप में पास न कर सकी हो अथवा काउन्सिल ने उस पर अपनी अस्वीकृति प्रदान कर दी हो। ऐसी परि-

---

[1] एक्ट की धारा ७२ (ई) के अनुसार

स्थिति में गवर्नर को यह प्रमाणित करने का अधिकार था कि उस विशेष विषय के सम्बन्ध में अपने उत्तरदायित्व को निभाने के लिए उस प्रस्ताव का पास होना अत्यन्त आवश्यक था। इस प्रकार प्रमाणित किए जाने पर तथा उस पर गवर्नर के हस्ताक्षर हो जाने पर वह प्रस्ताव अपने प्राथमिक रूप में ही प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा का एक्ट बन जाता था।

इस प्रकार पास किया हुआ एक्ट गवर्नर जनरल के पास भेजा जाता था, और वह उसे सम्राट (His Majesty) की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रख सकता था। सम्राट और उनकी समिति (His Majesty in Council) द्वारा स्वीकृति प्राप्त हो जाने तथा इस स्वीकृति की सूचना गवर्नर जनरल के पास आ जाने पर इस एक्ट का वही स्वरूप हो जाता था जो प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा द्वारा विधिवत पास किए गए किसी एक्ट का। असाधारण परिस्थितियों में गवर्नर जनरल को यह अधिकार था कि वह स्वय इस प्रकार के एक्ट पर अपनी स्वीकृति प्रदान कर दे। इस प्रकार की परिस्थिति में भी सम्राट (Crown) को इस प्रकार के एक्ट को अस्वीकृत करने का अधिकार था। इस प्रकार प्रमाणित किया हुआ एक्ट सम्राट (His Majesty) की स्वीकृति प्राप्त करने के पूर्व पार्लियामेण्ट के प्रत्येक भवन के सन्मुख कम से कम आठ दिन तक उपस्थित किया जाता था।

धन सम्बन्धी प्रस्तावों को भी गवर्नर को स्वीकृति रूप में प्रमाणित करने का अधिकार प्राप्त था। सुरक्षित विषय के सम्बन्ध में यदि किसी माँग को काउन्सिल आंशिक अथवा पूर्ण रूप से अस्वीकृत कर देती थी तो गवर्नर को यह प्रमाणित करने का अधिकार था कि उस विषय के प्रति अपने उत्तरदायित्व के निभाने के लिए यह माँग अनिवार्य थी। इस प्रकार प्रमाणित किए जाने के पश्चात प्रान्तीय सरकार उस माँग को स्वीकृति रूप मे ग्रहण करती थी। पुन स्थापन के अधिकार के इस व्यापक क्षेत्र का ज्ञान बगाल के गवर्नर लॉर्ड लिटन (१९२२-१९२७) के कथन से भली भाँति हो सकता है जो उन्होंने १८ मार्च, सन् १९२४ को बगाल की लेजिस्लेटिव काउन्सिल में दिए गए भाषण में कहा था। उन्होंने कहा कि, "एक्ट की इस धारा के अन्तर्गत गवर्नर को बजट की उस प्रत्येक माँग के पुन स्थापन का अधिकार था जिसे अस्वीकृत कर दिया गया हो।"[1] उन्होंने यह भी कहा कि हस्तान्तरित विषयों के सम्बन्ध में, चाहे उनकी आकाक्षाएँ कुछ भी रही हों, एक की माँग के पुन स्थापन का अधिकार उन्हें नहीं था।

गवर्नर के विशेषाधिकार का समर्थन

गवर्नर के प्रमाणित करने के इस विशेषाधिकार का समर्थन ज्वाइन्ट सेलेक्ट

---

1 "Under this provision of the Act, the Governor has the power to restore every single grant in the Budget which has been rejected "
—Lord Lytton

कमेटी (Joint Select Committee) ने 'अधिकार के साथ उत्तरदायित्व' के तर्क के आधार पर किया था। कमेटी का कथन था कि सुरक्षित विषयों के सम्बन्ध में कानून बनाने का उत्तरदायित्व गवर्नर और उसकी समिति पर था। इसलिए सुरक्षित विषयों से सम्बन्ध रखने वाले किसी एक्ट को पास करने का अधिकार गवर्नर के लिए उस समय अत्यन्त आवश्यक था जब उसके उत्तरदायित्व के भली भाँति पूर्ण होने के लिए उस एक्ट का पास होना अत्यावश्यक हो। इसके साथ ही कमेटी का यह भी मत था कि गवर्नर को सदैव ही इस अधिकार का आश्रय नही खोजना चाहिए।

इसी प्रकार प्रमाण पत्र द्वारा गवर्नर के पुनः स्थापन के अधिकार का समर्थन भी ज्वाइन्ट सेलेक्ट कमेटी (Joint Select Committee) ने ऐसे ही तर्कों से किया था। कमेटी का मत था कि सुरक्षित विषय के सम्बन्ध में जहाँ काउन्सिल ने माँग में कुछ कमी कर दी हो, और यदि गवर्नर उस विषय के संचालन के लिए उसे अनिवार्य समझता हो, तो उसे उस माँग के पुन: स्थापन का अधिकार होना चाहिए। क्योंकि, जैसा कि कमेटी का कथन था कि जिन विषयों के सम्बन्ध में वह पार्लियामेण्ट के प्रति उत्तरदायी रहेगा, यदि उनके लिए उसे धन प्राप्त नही होगा तो उनके उत्तर-दायित्व का भार गवर्नर पर किस प्रकार लादा जा सकता है।

जैसा कि पहले भी लिखा जा चुका है, प्रमाणित करने के इस अधिकार का प्रयोग हस्तान्तरित विषयों के सम्बन्ध में नहीं किया जाने को था। अतएव यह कहा जा सकता है कि इस सीमा तक प्रान्तीय लेजिस्लेटिव काउन्सिल को विचारने, कार्य करने तथा व्यवस्थापन की कुछ स्वतन्त्रता प्राप्त थी, यद्यपि इस पर भी अन्तिम निर्णय एव प्रतिनिषेध का अधिकार गवर्नर को ही प्राप्त था।

(स) अन्तिम स्वीकृति का प्रतिबन्ध

अन्त मे प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं को उन प्रस्तावों की अन्तिम स्वीकृति की समस्या को हल करना पड़ता था जिन्हें वे पास कर चुकी होती थीं। प्रत्येक प्रस्ताव गवर्नर की स्वीकृति के लिए उसके सन्मुख उपस्थित किया जाता था। गवर्नर को किसी प्रस्ताव के प्रति प्रतिनिषेध के अधिकार का प्रयोग करने की स्वतन्त्रता थी। इस कार्य को वह प्रान्त में सम्राट (Crown) के प्रतिनिधि के रूप में करता था, न कि प्रान्त के प्रधान (Chief Executive) के रूप में। जब गवर्नर अपनी स्वीकृति प्रदान कर देता था तो उस पर गवर्नर जनरल की स्वीकृति प्राप्त करना भी आवश्यक था। जब तक किसी प्रस्ताव पर गवर्नर जनरल की स्वीकृति प्राप्त नहीं हो जाती थी तब तक वह एक्ट का स्वरूप ग्रहण नहीं कर सकता था। गवर्नर जनरल इस प्रकार के प्रस्तावों को अस्वीकृत भी कर सकता था। परन्तु उसे इस प्रकार की अस्वीकृति के कारणों का निर्देश करना पड़ता था। गवर्नर को यह अधिकार भी था कि किसी प्रस्ताव पर आंशिक अथवा पूर्ण रूप से विचार करने के लिए वह उसे काउन्सिल के पास भेज दे,

हस्तान्तरित भाग। सुरक्षित विषयों का प्रबन्ध गवर्नर और उसकी समिति के हाथों में था। हस्तान्तरित विषयों का प्रबन्ध गवर्नर और उसके मन्त्रियों के हाथ में था। एक्ट के अन्तर्गत सरकार के दोनों भागों का निर्माण, उनके कार्य तथा गवर्नर से उन के वैधानिक सम्बन्धों को विभिन्न रूप से स्पष्ट कर दिया गया था। इस प्रकार प्रान्तीय कार्यकारिणी का अध्ययन निम्नलिखित दो शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है —

१ कार्यकारिणी समिति (Executive Council), और

२. मन्त्रिमण्डल।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि गवर्नर की स्थिति दोनों भागों में सुरक्षित थी, वही इन दोनों भागों को जोडने वाली स्वर्ण कड़ी के समान था।

(१) कार्यकारिणी समिति

निर्माण —

एक्ट द्वारा यह निश्चित कर दिया था कि कार्यकारिणी समिति (Executive Council) के सदस्यों की सख्या चार से अधिक नहीं हो सकती थी। बम्बई, बगाल और मदरास के प्रदेशों में यह प्रतिबन्ध स्थायी रखा गया था। परन्तु अन्य ६ प्रान्तों में इनकी सख्या केवल दो ही थी। कार्यकारिणी समिति (Executive Council) के सदस्यों की नियुक्ति सम्राट (Crown) द्वारा होती थी। एक्ट द्वारा यह निश्चित कर दिया था कि नियुक्ति के समय कार्यकारिणी समिति (Executive Council) के सदस्यों में से कम से कम एक ऐसा सदस्य होना चाहिए जो भारतवर्ष में सम्राट (Crown) की सेवा में १२ वर्ष तक रह चुका हो। ज्वाइन्ट सेलेक्ट कमेटी (Joint Select Committee) का मत था कि प्रत्येक दशा में समिति में दो सदस्य ऐसे होने चाहिएँ जो सिविल सर्विस की योग्यता प्राप्त किए हों, जिनमें से कोई भी व्यक्ति भारतीय नहीं था। इस समिति में दो गैर सरकारी भारतीय सदस्य भी होने चाहिएँ। इस प्रकार प्रत्येक समिति में सदस्यों की आधी सख्या भारतीय ही होती थी।

अवधि .—

कार्यकारिणी समिति (Executive Council) के सदस्यों की नियुक्ति सम्राट (Crown) प्राय पाँच वर्ष के लिए करते थे। सम्राट (Crown) का विश्वास प्राप्त करने के समय तक ही वह अपने पद पर आसीन रह सकते थे। यदि भारत सचिव इस बात को उचित समझता तो वह एक अथवा समस्त प्रान्तों की समिति की नियुक्तियों को कितने भी समय तक के लिए रोक सकता था। इस समय मे उस प्रान्त का गवर्नर ही समिति के समस्त अधिकारों का अधिकारी रहता था।

वेतन :—

कार्यकारिणी समिति (Executive Council) के सदस्यों का वेतन एक्ट द्वारा निश्चित कर दिया गया था। प्रान्तों की आय से ही उनका वेतन दिया जाता था। समस्त प्रान्तों के सदस्यों के वेतन में अन्तर था। बंगाल, बम्बई, मदरास और संयुक्त प्रदेश की कार्यकारिणी समिति (Executive Council) के एक सदस्य को ६४,००० रुपये वार्षिक मिलते थे। पंजाब, बर्मा तथा बिहार और उड़ीसा में उनका वार्षिक वेतन ६०,००० रुपये था। आसाम और उत्तर पश्चिमी सीमा प्रदेश में उनका वार्षिक वेतन ४२,००० रुपए था।

गवर्नर और कार्यकारिणी

सुरक्षित विषयों के शासन प्रबन्ध के सम्बन्ध में गवर्नर और उसकी समिति भारत सरकार और भारत सचिव के प्रति संयुक्त रूप से उत्तरदायी थे, और इसके द्वारा अन्त में वे ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के प्रति उत्तरदायी थे। समिति की बैठकों में सभापति का आसन प्रायः गवर्नर ही ग्रहण करता था। किसी विषय के सम्बन्ध में बराबर मत होने पर सभापति को एक निजी मत अथवा निर्णयात्मक मत का अधिकार था। इसके साथ-साथ गवर्नर को प्रतिनिषेध का अधिकार भी प्राप्त था। समिति के सन्मुख उपस्थित किए गये किसी प्रस्ताव के सम्बन्ध में यदि गवर्नर यह अनुभव करता कि उससे प्रान्त अथवा प्रान्त के किसी भाग की शान्ति, सुरक्षा अथवा हित पर प्रभाव पड़ेगा तो गवर्नर को समिति के बहुमत के निर्णय को भी अस्वीकार कर देने का अधिकार था। ऐसी परिस्थितियों में वह अपने उत्तरदायित्व पर इस प्रकार के प्रस्ताव को आंशिक अथवा पूर्ण रूप से कुछ काल के लिए स्थगित अथवा अस्वीकृत कर सकता था।

कार्यकारिणी समिति का स्वरूप

यह स्पष्ट ही है कि गवर्नर की कार्यकारिणी समिति (Executive Council) और ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल में कोई समानता नहीं थी। सुरक्षित विषयों के शासन के सम्बन्ध में इसके सदस्य न तो लेजिस्लेटिव काउन्सिल से ही लिए जाते थे और न उसके प्रति उत्तरदायी ही थे। वे काउन्सिल के पदाधिकृत सदस्य थे। व्यवस्थापिका सभा के किसी विरोधी प्रस्ताव का उनकी अवधि, अथवा उनके वेतन और वृत्ति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता था।

संयुक्त एवं अविभाजित उत्तरदायित्व का सिद्धान्त कार्यकारिणी समिति (Executive Council) की एक विशेषता थी। कार्यकारिणी समिति (Executive Council) के प्रत्येक सदस्य को अपने पद, सहयोग तथा समिति के कार्यक्रम को गुप्त रखने की शपथ ग्रहण करनी पड़ती थी। इन दो विषयों में कार्यकारिणी समिति (Executive Council) ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल की समानता में रखी जा सकती थी।

(२) मन्त्रिमण्डल

एक्ट के अन्तर्गत यह निश्चित कर दिया गया था कि हस्तान्तरित विषयों का प्रवन्ध मन्त्रियों के हाथों में रहेगा। मन्त्रियों की सख्या पर एक्ट द्वारा किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया था। व्यावहारिक रूप में तीनों प्रदेशों मे, सयुक्त प्रदेश और पजाब में तीन मन्त्री थे। अन्य प्रांतों में इनकी सख्या चार थी।

मन्त्रियों को सरकारी कर्मचारी का पद प्रदान नहीं किया जाता था। यदि ६ मास के समय में वे लेजिस्लेटिव काउन्सिल के सदस्य नहीं बन जाते थे तो ६ मास से अधिक वे अपने पद पर भी नहीं रह सकते थे।

मन्त्रियों की नियुक्ति गवर्नर करता था। सैद्धान्तिक रूप से, उसी के विश्वस्त होने तक ही वे अपने पद पर आसीन रह सकते थे। ज्वाइन्ट-रिपोर्ट (Joint Report) के लेखकों का यह मत था कि प्राथमिक समय में मन्त्रियों की अवधि सुरक्षित कर देनी चाहिए। उनका मत यह था कि व्यवस्थापिका सभा के कार्यकाल के बराबर ही इन की नियुक्ति होनी चाहिए। उनका यह कथन भी था कि उनके वेतन का निश्चय प्रतिनिधात्मक भवन के मत द्वारा नहीं होना चाहिए। यह समस्त व्यवस्था उसी समय तक के लिए थी जबतक कि प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाए उत्तर-दायी सरकार का अनुभव प्राप्त न करले। भारत सरकार ने इन प्रस्तावों को अव्यावहारिक बतला कर इनकी कड़ी आलोचना की। उन्होंने यह भी तर्क उपस्थित किया कि इन प्रस्तावों से तो उत्तरदायी सरकार के मूल तत्त्वों को क्षति पहुँचेगी। उत्तरदायी सरकार का तात्पर्य ही यह है कि प्रजा के प्रतिनिधि मन्त्रियों द्वारा जनता के हित की रक्षा कर सकें, और यह तभी सम्भव है कि जब मन्त्री व्यवस्थापिका सभा में से ही चुने जाए और वे उसी के प्रति उत्तरदायी हों, और व्यवस्थापिका सभा को आलोचना और अविश्वास के प्रस्तावों द्वारा उन्हें पदस्थ करने और उनके वेतन को कम करने का अधिकार हो।

कमेटी का मत था कि हस्तान्तरित विषयों के सम्बन्ध में गवर्नर को सम्मति प्रदान करने के लिए जिन मन्त्रियों को रखा जाए, वे लेजिस्लेटिव काउन्सिल के निर्वाचित सदस्य होने चाहिएँ, जिनपर काउन्सिल का विश्वास हो तथा जो उसके द्वारा हटाये भी जा सकें।

इस प्रकार प्रान्तीय मन्त्री व्यवस्थापिका सभा में से चुने हुए व्यक्ति होते थे जो उसके प्रति उत्तरदायी होते थे। व्यवस्थापिका सभा उनकी आलोचना कर सकती थी और अविश्वास प्रस्ताव द्वारा उन्हें पदस्थ भी कर सकती थी। मन्त्रियों के वेतन को भी उस सूची में स्थान दिया गया था जिस पर प्रत्येक वर्ष लेजिस्लेटिव काउन्सिल अपना मत प्रकट करती थी।

गवर्नर और मन्त्रियों की समानान्तर स्थिति

ज्वाइन्ट रिपोर्ट के लेखकों का यह विचार कदापि नहीं था कि प्रारम्भ से ही गवर्नर का स्थान केवल एक वैधानिक अध्यक्ष के समान हो और जो मन्त्रियों के निर्णय को स्वीकार करने के लिए बाध्य हो। इस के विपरीत उनका यह विचार था कि शासन सम्बन्धी विषयों पर मन्त्री स्वयं गवर्नर की अनुभवी एव उचित सम्मति को सहर्ष स्वीकार करें। उनकी यह धारणा भी थी कि उन विषयों मे जहां मन्त्रियों को जनमत प्राप्त हो रहा हो गवर्नर को जहां तक सम्भव हो सके वहां तक मन्त्रियों की सम्मति को स्वीकार करने की चेष्टा करनी चाहिए। उन्होंने अपना दृष्टिकोण निम्न प्रकार से व्यक्त किया —

"हम उसे (गवर्नर) नियन्त्रण का अधिकार देते है क्योंकि हम यही समझते है कि अपने शासन के लिए प्राय. वही उत्तरदायी हैं। परन्तु हमारा विचार यही है कि वह अपने मन्त्रियों से उसी समय सहमत न हो जब वह यह समझे कि उसकी स्वीकृति का परिणाम घातक होगा। साथ ही साथ हमारा यह विचार भी नहीं है कि अनुभवहीन प्रस्तावों को वह बिना किसी वाद-विवाद अथवा सकोच के स्वीकार कर ले।"

जब उपर्युक्त विचारो को एक्ट के अन्तर्गत स्थान दिया गया तब इनका निम्नलिखित स्वरूप होगया, "हस्तान्तरित विषयों के सम्बन्ध में, शासन का कार्य गवर्नर मन्त्रियों की सम्मति से उस समय तक करेगा जब तक उनकी सम्मति से विमुख होने का कोई यथेष्ट कारण न हो, और उस परिस्थिति मे वह उस सम्मति के विरुद्ध भी कार्य कर सकता है।" इस धारा की शब्दावली अत्यन्त सन्दिग्ध थी। इससे गवर्नर के विवेक द्वारा कार्य करने के क्षेत्र मे और भी वृद्धि हुई।

यदि कभी गवर्नर मन्त्रियों की सम्मति के विरुद्ध कार्य करने के लिए विवश होता तो वे परिस्थितियां लगभग उन्हीं परिस्थितियों के समान थी जिनमें वह अपनी कार्यकारिणी समिति (Executive Council) के निर्णय को अस्वीकृत कर सकता था।

इन परिस्थितियों का निर्देश गवर्नर को उसकी नियुक्ति के अवसर पर सम्राट (His Majesty) की गृह सरकार द्वारा दिए जाने वाले 'आदेश पत्र' (Instrument of Instructions) में कर दिया गया था। इस 'आदेश पत्र' (Instrument of Instructions) में गवर्नर के कुछ मुख्य कर्त्तव्य में निर्देशित कर दिए गए थे। इन्हीं कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में वह अपने मन्त्रियों और कार्यकारिणी समिति के सदस्यों की इच्छा के विरुद्ध कार्य कर सकता था। यह कर्त्तव्य निम्नलिखित थे :—

(अ) प्रान्त की शान्ति तथा सुरक्षा को स्थायी बनाने के हेतु आवश्यक

प्रबन्ध करना, तथा धार्मिक और जातीय मत-भेद उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों को नष्ट करना गवर्नर का ही कार्य था,

(ब) इस बात का ध्यान रखना उसी का कर्त्तव्य था कि भारत सचिव तथा गवर्नर जनरल और उसकी समिति द्वारा भेजे गए आदेशों का पालन उचित ढग से होता है अथवा नहीं;

(स) यह देखना उस का कर्त्तव्य था कि जनता के उन वर्गों की उन्नति के लिए व्यवस्था की जाए, जो अपनी अल्पसख्या अथवा अशिक्षित अथवा निर्धनता अथवा किसी अन्य प्रकार की कमी के कारण अपने हितार्थ इस सयुक्त राजनैतिक कार्यप्रणाली पर विश्वास न कर सकते हों,

(द) इस बात का ध्यान रखना भी उसी का कर्त्तव्य था कि उसकी सरकार अथवा उसकी लेजिस्लेटिव काउन्सिल द्वारा कोई ऐसा एक्ट पास न होना चाहिए जिससे कि जाति-धर्म शिक्षा और सामाजिक स्थिति, धन अथवा किसी अन्य बात के कारण किसी को अनुचित लाभ होजाए, अथवा किसी को उसके उस अधिकार और लाभ से अनुचित रूप से वचित कर दिया जाए जिसका उसने अब तक उपभोग किया हो, अथवा उन सुविधाओं तथा लाभों से वचित कर दिया जाए जो अधिक से अधिक जनता को प्रदान किए जाने वाले थे,

(क) प्रान्त में नियुक्त किए गए सिविल सर्विस के सदस्यों के कार्यों के सम्पादन एवं उनके स्वीकृत अधिकारों के उपयोग का उत्तरदायित्व गवर्नर पर ही था;

(ख) इस बात का ध्यान रखना उसी का कर्त्तव्य था कि जनहित सम्बन्धी विषयों पर किसी का एकाधिकार स्थापित न किया जाए, और व्यापार एव व्यवसाय सम्बन्धी-विषयों में अनुचित भेद-भाव उपस्थित न किया जाऐ।

उपर्युक्त कार्यों के सन्बन्ध में गवर्नर को अपने मन्त्रियों की सम्मति स्वीकृत करने का अधिकार था। इन्हीं कार्यों का नामकरण सन् १६३५ के एक्ट के अन्तर्गत उसके विशेष उत्तरदायित्व (Special Responsibilities) किया गया।

ज्वाइन्ट सेलेक्ट कमेटी (Joint Select Committee) ने गवर्नर के न्यून हस्तक्षेप के सिद्धान्त का समर्थन किया था। उनका मत था कि, "अपनी सरकार के लोकप्रिय पक्ष की, उनके नवीन उत्तरदायित्व की पूर्ति के लिए, सहानुभूति तथा उत्साह के साथ सहायता करना उसका कर्त्तव्य होना चाहिए। उसे मन्त्रियों को यह निर्देश करने में कि उसकी समझ में उचित मार्ग कौनसा है, तथा उन्हे यह सूचित करने में कि वे गलत मार्ग पर अग्रसर हो रहे हैं, उसे कभी सकोच नहीं होना चाहिए। परन्तु यदि सम्पूर्ण तर्क वितर्क के पश्चात् भी मन्त्री उसकी सम्मति स्वीकार न करने का निर्णय करलें, तो कमेटी की सम्मति मे, गवर्नर को मन्त्रियों को उनका अपना मार्ग

ग्रहण करने की आज्ञा प्रदान कर देनी चाहिए। इसका उत्तरदायित्व भी उसे इन्हीं पर डाल देना चाहिए, इससे चाहे किसी विशेष कानून को उसे रद्द करने की आवश्यकता आ पड़े। अन्य देशों के समान यह भारतवर्ष में भी सम्भव है कि त्रुटि अथवा दोष रह जाएं। लेजिस्लेटिव काउन्सिल के बहुमत की स्वीकृति के साथ ही मन्त्री दोष के भागी होंगे, परन्तु अनुभव द्वारा ही ज्ञान की प्राप्ति की जा सकती है।" यह उचित एवं युक्ति सगत सम्मति केवल एक तृषित आकांक्षा के रूप में ही रह गई, जिसके लिए गवर्नरों के हृदय में तनिक भी आदर न हुआ।

सयुक्त उत्तरदायित्व का प्रश्न

ज्वाइन्ट सेलेक्ट कमेटी (Joint Select Committee) का मत था कि मन्त्रियों को संयुक्त उत्तरदायित्व के सिद्धान्त द्वारा कार्य करना चाहिए। इसलिए एक्ट के अन्तर्गत एक धारा की शब्दावली इस प्रकार रखी गई :—

"हस्तान्तरित विषयों के सम्बन्ध में गवर्नर अपने मन्त्रियों की सम्मति से कार्य करेगा।"

परन्तु इस के साथ-साथ भारत सचिव तथा भारत सरकार के 'आदेश पत्र' (Instrument of Instructions) तथा 'निक्षेपण नियमों' (Devolution Rules) की शब्दावली में किसी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं किया गया और वह पूर्व के समान ही एक वचन के अधिक पक्ष में था। इस प्रकार उन्होंने एक मन्त्री के वैयक्तिक एवं व्यक्तिगत उत्तरदायित्व पर ही अधिक बल दिया। सारांश यही है कि यद्यपि विधान के निर्माताओं की इच्छा यही थी कि मन्त्रियों का उत्तरदायित्व संयुक्त होना चाहिए, परन्तु इस प्रकार के नियम द्वारा वे किसी को इस बात के लिए बाध्य नहीं करना चाहते थे। उन्होंने इसे एक अभ्यास अथवा रीति के रूप में विकसित होने के लिए छोड़ दिया। गवर्नरों ने इस वैधानिक असन्दिग्धता का पूरा-पूरा लाभ उठाया। मन्त्रियों के स्वतन्त्र निर्णय को अपनी इच्छा एवं विवेक के सन्मुख झुकाने के लिए उन्होंने एक एक मन्त्री से पृथक रूप में सम्मति लेना प्रारम्भ कर दिया।

संयुक्त विवेचन और संयुक्त निर्णय

दोनों भागों में एक कड़ी मिलाने के लिये एक्ट द्वारा यह व्यवस्था कर दी गई थी कि दोनों भाग किसी विषय पर संयुक्त विचार वितर्क एव विवेचन तो कर सकेंगे परन्तु उस के सम्बन्ध मे सयुक्त निर्णय प्रदान नहीं कर सकगे। ज्वाएन्ट सेलेक्ट कमेटी (Joint Select Committee) का मत था कि अपनी कार्यकारिणी समिति (Executive Council) के सदस्य, मन्त्रीगण एवं स्वय के मध्य गवर्नर को संयुक्त विचार विमर्ष की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देना चाहिए जिससे कि उसकी कार्यकारिणी समिति (Executive Council) के सदस्य सम्मति प्रदान-कर्ताओं के अनुभव से लाभ उठा सकें। निक्षेपण नियमों (Devolution Rules) द्वारा यह निश्चित

किया गया था कि निम्नलिखित कार्यों के सम्बन्ध में गवर्नर को अपनी कार्यकारिणी समिति (Executive Council) के सदस्यों और मन्त्रियों की सम्मति द्वारा कार्य करना चाहिये।

(अ) सुरक्षित तथा हस्तान्तरित क्षेत्र के शासन के महत्वपूर्ण विषयों से सम्बन्धित उन निर्णयों के सम्बन्ध मे जिनपर कार्यकारिणी समिति (Executive Council) के सदस्यों और मन्त्रियों में मतभेद हो, और

(व) कर लागू करने तथा ऋण लेने के समस्त प्रस्तावों के सम्बन्ध में और कार्यकारिणी के दोनो भागों के लिए व्यय निश्चित करने के सम्बन्ध में।

परन्तु यह व्यवस्था भी व्यावहारिक रूप में कभी परिणत नहीं हुई।

असाधारण परिस्थितियों की व्यवस्था

एक्ट के अन्तर्गत नियमों द्वारा यह निश्चित कर दिया गया था कि असाधारण परिस्थितियों में हस्तान्तरित क्षेत्र का शासन प्रबन्ध अस्थायी रूप से गवर्नर अपने हाथ में ले सकता है। इस प्रकार परिस्थिति मे यदि किसी हस्तान्तरित विषय का प्रबन्ध करने के लिए कोई मन्त्री न हो तो गवर्नर किसी अन्य मन्त्री को अस्थाई रूप से उसका अध्यक्ष बना सकता था, यदि कोई मन्त्री नही मिलता हो तो गवर्नर स्वय उस विभाग का कार्य अस्थायी रूप से उस समय तक के लिए अपने हाथों में ले सकता था जब तक कि किसी मन्त्री की नियुक्ति न हो जाए। इस दशा में उस विषय के प्रति गवर्नर उन्हीं अधिकारों का प्रयोग कर सकता था जो एक मन्त्री को प्राप्त होते है। इस प्रकार के पद पर रह कर वह प्रमाणित एव पुन. स्थापन के अधिकारों का प्रयोग नहीं कर सकता था। इस प्रकार का यह अस्थायी शासन उस समय तक रहता था जब तक कि यह आशा रहती थी कि उक्त हस्तान्तरित विषय का भार सम्भालने के लिए कोई मन्त्री मिल सकेगा। यदि वह स्पष्ट हो जाता कि शासन का भार सम्भालने के लिए कोई मन्त्री नहीं है तो एक और निश्चित उपाय काम में लाया जा सकता था। भारत सचिव और उसकी समिति की स्वीकृति के साथ गवर्नर जनरल और उसकी समिति उस समय तक के लिए प्रान्त के किसी एक अथवा समस्त विषयों का बँटवारा, जैसा भी वह उचित समझने, रोक सकते थे और उसी समय से वे विषय भी सुरक्षित क्षेत्र के अन्तर्गत हो जाते थे। और तब उनका शासन प्रबन्ध गवर्नर और उसकी समिति के हाथों में आ जाता था। बगाल और मध्य प्रदेश के सम्बन्ध में इस व्यवस्था का प्रयोग प्रत्यक्ष रूप से किया गया था। इस प्रकार हस्तान्तरित विषयों का अस्तित्व किसी भी समय सुरक्षित क्षेत्र में निहित किया जा सकता था। इसके विपरीत की व्यवस्था भारतवर्ष के राष्ट्रवादियों की वह हार्दिक कामना थी, जो उनकी महान् चेष्टाओं के पश्चात् भी साकार स्वरूप ग्रहण न कर सकी।

आठवाँ अध्याय

सिविल सर्विस

"'क़ानून द्वारा स्थापित की गई सरकार मानव प्रतिनिधियों द्वारा शासन कार्य का संचालन करती है, और निश्चित रूप से शान्ति के समय में देश का शासन सम्भालने के लिए सिविल सर्विस उसकी मुख्य प्रतिनिधि है।''[1]

—जस्टिस बेचलर

ब्रिटिश शासन का स्वरूप भारतवर्ष में सिविल सर्विस (Civil Service) ही सदैव से रहा है। भारतवर्ष में उसकी स्थिति बड़ी विचित्र थी। शान्ति और युद्ध, दोनों कालों में भारतवर्ष में साम्राज्यशाही के हित की संरक्षक वही थी। वस्तुतः यह स्वयं भारत सरकार के समान ही कार्य करती थी। अपने कार्यों के लिए यह राष्ट्र के प्रति पूर्ण रूप से अनुत्तरदायी थी। इसके कार्यों का स्वरूप ही राष्ट्र-हित-घातक होता था। वास्तव में भारतवर्ष में ब्रिटिश निरंकुश शासन की यह दायाँ हाथ थी।

इस प्रकार स्वभावतः ही भारतीयों को उत्तरदायी सरकार प्रदान करने का सम्राट (His Majesty) का आश्वासन सिविल सर्विस के सदस्यों के लिए अत्यन्त निराशा जनक समाचार था। जिन भारतीयों पर वे स्वामी और राजा के समान शासन कर चुके थे, उन्हीं के प्रति उत्तरदायी रहने के विचार ने एक पल के लिए तो उनके हृदय में हलचल उत्पन्न कर दी। इस कथन की पुष्टि ली कमीशन की रिपोर्ट (Lee Commission's Report) के अनुच्छेद ३ से हो सकती है, जिसमें सिविल सर्विस के सदस्यों ने "भविष्य में अपनी सेवावृत्ति की सुरक्षा" और "भविष्य में होने वाले वैधानिक सुधारों के साथ अपने स्पष्ट एवं आवश्यक सम्बन्ध" के बारे में कुछ जानने की लालसा प्रकट की थी।

सिविल सर्विस के सदस्यों के अविश्वास एवं सन्देह पर भारतीय राष्ट्रवादियों के कथन के समान ध्यान कैसे न दिया जाता। ज्वाइन्ट रिपोर्ट (Joint Report) के लेखकों ने उनका पक्ष ग्रहण किया। उन्होंने यह प्रस्ताव रखा कि सिविल सर्विस

---

1 "The government established by law acts through human agency, and admittedly the Civil Service is its principal agency for the administration of the country in times of peace"

—Justice Batchelor.

का प्रत्येक सदस्य, चाहे वह किसी सरकार की आधीनता में हो, जब वह अपने शासन सम्बन्धी कार्यों के सम्पादन में सलग्न हो, तब सरकार द्वारा सुरक्षा का अधिकारी है। उसकी नियुक्ति के समय जो अधिकार उसे प्रदान किए गए थे, वे भी उसके लिए सुरक्षित रहने चाहिएँ। इन प्रस्तावों के अनुसरण रूप भारत सरकार ने यह मत प्रतिपादित किया कि भारतवर्ष की सिविल सर्विस के सदस्यों के मुख्य अधिकार और कर्त्तव्यों को एक नियम के रूप में रख देना चाहिए क्योंकि उस समय तक किसी कानून अथवा नियम द्वारा इनकी व्यवस्था नहीं की गई थी।

एक्ट द्वारा प्रदान की गई सुरक्षा

इन समस्त मतों के दृष्टिकोण से परिचित होकर सन् १९१९ के एक्ट और उसके अन्तर्गत बनाए गए नियमों द्वारा सिविल सर्विस की सुरक्षा के लिए निम्नलिखित धाराएँ प्रतिपादित की गई :—

(१) एक्ट द्वारा भारत सचिव और उसकी समिति को अपनी समिति (Council) की बैठक में बहुमत प्राप्त करके निम्नलिखित के सम्बन्ध में नियम बनाने का अधिकार प्रदान किया गया "भारतवर्ष में सिविल सर्विस के वर्गीकरण के सचालन, उनकी भरती, उनकी नौकरी, उनके वेतन, सेवावृत्ति, आचरण और अनुशासन के सम्बन्ध में।" एक्ट द्वारा यह भी निश्चित कर दिया गया था कि भारत सचिव किसी नियम द्वारा भारत सरकार अथवा प्रान्तीय सरकार, भारतीय व्यवस्थापिका सभा अथवा प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं के आधीन पदाधिकारियों को सिविल सर्विस के सम्बन्ध में नियम बनाने का अधिकार प्रदान कर सकता था। परन्तु यदि किसी व्यक्ति की नियुक्ति सन् १९१९ के एक्ट के पूर्व ही वह कर चुका था, तो उसके पूर्व के स्थित अधिकारों को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता था। यह व्यवस्था इसीलिए की गई थी कि सुधार एक्ट के पूर्व सिविल सर्विस का सचालन "अधिकाश सीमा तक अलिखित था, और उसमें लिखित भाग केवल कार्यकारिणी के आदेशों का ही था।" आधीन कर्मचारियों द्वारा आज्ञा पालन तथा उच्च पदाधिकारियों द्वारा सुरक्षा का कर्त्तव्य एक अलिखित कानून ही था।

(२) इसके अतिरिक्त, एक्ट द्वारा यह भी स्पष्ट कर दिया गया था कि भारतवर्ष मे सम्राट (Crown) की सिविल सर्विस में भारत सचिव और उसकी समिति द्वारा नियुक्त किए गए व्यक्तियों की सेवावृत्ति, उनके वेतन आदि का सचालन सन् १९१९ के एक्ट के पास होने से पूर्व के नियमों द्वारा होगा, परन्तु भारत सचिव और उसकी समिति को उनमें सशोधन करने का अधिकार होगा।

(३) एक्ट द्वारा यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि सिविल सर्विस के किसी सदस्य को वह पदाधिकारी पदस्थ नहीं कर सकेगा, जो उसे नियुक्त करने वाले पदाधिकारी से निम्न स्तर का होगा। केवल इतना ही सब कुछ नहीं था। नियमों की

सीमा से परे रहकर, इस प्रकार पदस्थ किए गए व्यक्ति को भारत सचिव और उसकी समिति फिरसे उसके पद पर नियुक्त कर सकते थे।

(४) सिविल सर्विस की सुरक्षा के हेतु इस स्थान पर तो एक्ट अपनी सीमा को पार कर जाता है। एक्ट द्वारा यह निश्चित कर दिया गया था कि "गवर्नर के प्रान्त मे भारत सचिव और उसकी समिति द्वारा नियुक्त किया गया कोई व्यक्ति यदि यह समझता है कि उसके उच्च पदाधिकारी ने किसी प्रकार का कोई आदेश भेज कर उसके साथ अन्याय अथवा अनुचित व्यवहार किया है, और उस पदाधिकारी के पास प्रार्थना पत्र भेजे जाने पर भी उसके साथ न्याय नही होता—जिसका वह अपने को अधिकारी समझता है—तो किसी अन्य प्रकार की प्रतिक्रिया के विरुद्ध, न्याय-प्राप्ति के लिए वह उस प्रान्त के गवर्नर से इस सम्बन्ध मे शिकायत कर सकता है।" एक्ट द्वारा गवर्नर को भी यह आदेश दिया गया था कि वे "इस प्रकार की शिकायतों का निरीक्षण करें और यदि न्याययुक्त समझते हों तो इस सम्बन्ध में कुछ कार्यवाही करें।" जैसा कि अन्यत्र भी लिखा जा चुका है, गवर्नर को दिए जाने वाले 'राजकीय आदेश' (Royal Instructions) मे भी यह लिखा हुआ था कि वह सिविल सर्विस के समस्त सदस्यो के हितो की सुरक्षा का ध्यान रखे।

एक्ट के अन्तर्गत सिविल सर्विस को प्रदान किए गए अपील के अधिकार से सरकार के उत्तरदायी भाग की शक्ति और भी क्षीण हो गई। सिविल सर्विस को न्यूनाधिक रूप में एक विशेष स्थान प्रदान किया गया था। लोकप्रिय मन्त्रियों को केवल गवर्नर और उसकी कार्यकारिणी समिति (Executive Council) के सदस्यो की ही जी-हजूरी नहीं करनी पडती थी, अपितु सिविल सर्विस के सदस्यों के भी तलुए उन्हें सहलाने पडते थे, क्योंकि मन्त्रियो की आज्ञा का पालन करना इन सदस्यो की रुचि से बाहर की बात थी। एक्ट द्वारा प्रदान की गई सुरक्षाओ में ही सम्राट (Crown) के प्रति सिविल सर्विस की राजभक्ति झलकती थी। इंग्लैंड मे स्थित पदाधिकारियों द्वारा इनको इस बात के लिए और प्रोत्साहित किया गया कि साम्राज्य-शाही के हित की रक्षा और राष्ट्रीय हित का सर्वनाश करो। अपनी सुरक्षा के प्रति दृढ़ रूप से आश्वस्त होकर, वे मन्त्रियों के विरुद्ध जाने में तथा कभी कभी तो उनकी स्थिति निम्नतर बनाने में भी सकोच नहीं करते थे। इस प्रकार इस एक्ट द्वारा सिविल सर्विस के सदस्यों की उत्पत्ति के रूप में लोकप्रिय मन्त्रियों के लिए निरंकुश स्वामी नहीं तो कम से कम एक दृढ विरोधी का तो जन्म हो ही गया था।

इस सम्बन्ध मे सर तेज बहादुर सप्रू का कथन उल्लेखनीय है कि, "गवर्नर को दिए जाने वाले 'आदेश पत्र' (Instrument of Instructions) द्वारा उसे यह आज्ञा प्रदान की गई थी कि सिविल सर्विस के स्वीकृत कार्यों के प्रयोग तथा उनके स्वीकृत अधिकारो के उपभोग में वह उनके अधिकारों की सुरक्षा का ध्यान रखे। इस

प्रकार की व्यवस्था में किसी मंत्री के लिए यह कठिन हो जायगा कि वह अखिल भारतीय सर्विस के एक गलती करने वाले सदस्य के साथ प्रभावात्मक ढंग से कार्य कर सके, और ऐसी व्यवस्था इस समय भले ही स्थापित कर दी जाए, यह स्पष्ट है कि वास्तविक और पूर्ण उत्तरदायी सरकार की योजना मे इसे कोई स्थान प्रदान नहीं किया जा सकता।"

पब्लिक सर्विस कमीशन

एक्ट द्वारा भारतवर्ष में पब्लिक सर्विस कमीशन (Public Service Commission) की व्यवस्था भी की गई। इसकी नियुक्ति भारत सचिव और उसकी समिति करते थे। इसके सदस्यों की सख्या पाँच से अधिक नहीं हो सकती थी, इन्हीं में से एक सदस्य इसका सभापति (Chairman) होता था। इसके सदस्यों का कार्यकाल पाँच वर्ष निश्चित किया गया था। भारत सचिव और उसकी समिति के आदेश विना किसी भी सदस्य को पदस्थ नहीं किया जा सकता था। भारतवर्ष में सिविल सर्विस की भरती और उसके निमन्त्रण के सम्बन्ध में इस कमीशन के वही कार्य होते थे जो इसे भारत सचिव और उसकी समिति द्वारा सौंपे जाते थे।

हस्तान्तरित क्षेत्र में सिविल सर्विस

एक्ट के अन्तर्गत प्रस्तावित नियमों द्वारा एक प्रान्तीय सरकार "गवर्नर जनरल और उसकी समिति और भारत सचिव और उसकी समिति की स्वीकृति के साथ कार्यकारिणी और न्यायालय सम्बन्धी पदों के सम्बन्ध में, जो साधारणत भारतीय सिविल सर्विस के सदस्यों के लिए सुरक्षित थे, यह घोषित कर सकती थी कि इन पदों पर सर्विस के सदस्यों के स्थान पर अन्य व्यक्ति नियुक्त किए जायेंगे।"[१] इन्हीं नियमों द्वारा यह भी निश्चित कर दिया गया था कि प्रान्तीय सरकार के निम्न-लिखित नियुक्तियाँ करने का अधिकार था —

(१) कार्यकारिणी से सम्बन्धित किसी उच्च पद पर प्रान्तीय सिविल सर्विस के किसी सदस्य की नियुक्ति, जो प्रान्तीय सरकार के आधीन होगा, और

(२) न्यायालय से सम्बन्धित किसी उच्च पद पर प्रान्तीय सिविल सर्विस के किसी सदस्य की नियुक्ति, जो प्रान्तीय सरकार के आधीन होगा, अथवा किसी ऐसे व्यक्ति की नियुक्ति जो नियुक्ति के अवसर पर—

(अ) इग्लैंड अथवा आयरलैंड का बैरिस्टर अथवा स्कॉटलैंड की फैकल्टी ऑफ एडवोकेटस (Faculty of Advocates) का सदस्य हो, अथवा

---

[१] गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया नोटीफिकेशन न० एफ० ४३८, दिनाक ३० मार्च सन् १९२२

(Government of India Notification No. F 438, dated March 30, 1922)

(ब) भारतवर्ष की किसी हाई कोर्ट का वकील, एडवोकेट (Advocate) प्लीडर (Pleader) अथवा एटोर्नी (Attorney) हो; अथवा

(स) किसी चीफ कोर्ट (Chief Court) का प्लीडर (Pleader) अथवा एडवोकेट (Advocate) हो; अथवा

(स) 'जिला न्यायालय' (District Court) का प्लीडर (Pleader) हो।

सन् १९२४ में ली कमीशन (Lee Commission) की सम्मति पर सम्राट (His Majesty) की सरकार ने निम्नलिखित नियुक्तियों को हस्तान्तरित करने का निर्णय किया :—

(अ) केन्द्रीय सर्विस मे भारत सरकार को कुछ नियुक्तियाँ करने का अधिकार प्रदान किया गया, और

(ब) "हस्तान्तरित विषयो से सम्बन्धित" सर्विस मे कुछ नियुक्तियाँ करने का अधिकार प्रान्तीय सरकारों को प्रदान किया गया।

सर्विस का भारतीकरण

अब हमें सिविल सर्विस के भारतीकरण पर भी एक दृष्टि डाल लेनी चाहिए। इसका विकास भी शनैः शनैः तथा क्रमिक रूप से होना था। सन् १९२१ मे भारतीय सिविल सर्विस में भारतीयों की सख्या केवल १३% थी। ली कमीशन (Lee Commission) की रिपोर्ट के अनुच्छेद ३५ द्वारा "सन् १९२० मे सर्विस मे भारतीयों की संख्या ३३% निश्चित कर दी गई थी, जिसका प्रारम्भ १९२० से होकर तथा ११% से बढ़कर सन् १९३० में ४८% के अनुपात की प्राप्ति करना था, जिसमें तालिका में दिए हुए पद भी सम्मिलित थे।" केवल इतना ही नहीं सर्विस में भारतीयों के अनुपात की वृद्धि के लिए सन् १९२४ में ली कमीशन (Lee Commission) ने अपना यह मत प्रकट किया कि, "अगस्त सन् १९१७ की राजकीय घोषणा (Royal Proclamation) को ही कार्य रूप मे परिणत करने के लिए नहीं अपितु सर्विस के ब्रिटिश और भारतीय सदस्यों में मित्रता की भावना तथा सयुक्त उत्तरदायित्व की भावना की वृद्धि करने के हेतु यही उचित है कि अविलम्ब ही भारतीय सिविल सर्विस की सख्या में उनका अनुपात ५०% कर दिया जाए और भारतीयो की भर्ती में इसी उद्देश्य के साथ वृद्धि की जाए।"

सम्राट (His Majesty) की सरकार द्वारा ली कमीशन (Lee Commission) का मत स्वीकार कर लिया गया। सर्विस के भारतीकरण मे पूर्व से अधिक शीघ्रता प्राप्त करने के लिए यह एक और साधन था। यह निर्विवाद था कि जितनी शीघ्रता से भारतीकरण का पूर्ण विकास हो जाता, उतनी शीघ्र ही भारत वर्ष के लिए उत्तरदायी सरकार की प्राप्ति सुगम हो जाती।

नवाँ अध्याय

द्वैत शासन आलोचनात्मक अध्ययन

"द्वैत शासन स्पष्ट रूप से एक दुर्बोध, असाध्य एव जटिल प्रणाली है जिसका कोई तार्किक आधार नहीं है, जिसका उद्गम अनुरूपता एव समझौता ही है और जो परिवर्तन अथवा अवस्थान के एक उपकरण मात्र ही रक्षणीय हैं।"[1]

—हिज एक्सेलेंसी विलियम मैरिस

सन् १६१६ के एक्ट द्वारा प्रस्तावित द्वैत शासन प्रणाली सैद्धान्तिक, निर्मित एव व्यावहारिक रूप में अत्यन्त दोषपूर्ण तथा प्रतिबन्धों से आच्छादित थी। इस प्रणाली की निन्दा सभी ने एक स्वर से की थी। अर्ल ऑफ बर्किनहेड ने लॉर्ड सभा (House of Lords) में द्वैत शासन के सम्बन्ध में कहा था :—

"द्वैत शासन के सिद्धांत के प्रति मैं स्वय सदैव ही बड़ा शकित था। मुझे तो यह एक प्रकार का पाण्डित्य का मिथ्या-प्रदर्शन करने वाला एव गतिरोधक विधान का आस्वाद सा प्रतीत होता है।"[2]

लॉर्ड बर्किनहेड का समर्थन लॉर्ड कर्ज़न ने इन शब्दों में किया था, "मुझे द्वैत शासन से घृणा है।"[3]

द्वैत शासन के आलोचनात्मक अध्ययन के पूर्व इसकी उत्पत्ति के कारण, इसके निर्माण के आधार तथा इसका अर्थ समझ लेना उपयुक्त होगा।

द्वैतशासन की उत्पत्ति के कारण

२० अगस्त सन् १६१७ को सम्राट (His Majesty) की राजकीय

[1] "Dyarchy is obviously a cumbrous, complex, confused system having no logical basis, rooted in compromise and defensible only as transitional expedient" —His Excellency William Marris

[2] "I myself was always very distrustful of the dyarchical principle It seems to me to savour of a kind of pedantic hide-bound constitution" —Earl of Birkenhead.

[3] "I abominate Dyarchy" —Lord Curzon.

घोषणा (Royal Proclamation) का लक्ष्य था भारतवर्ष को शनैः शनैः उत्तरदायी सरकार प्रदान करना, और जैसा कि ज्वाइन्ट रिपोर्ट (Joint Report) में कहा गया था, इस दिशा में अग्रसर होने के लिए सबसे अधिक उपयुक्त क्षेत्र प्रान्त ही थे। परन्तु प्रान्तों मे भी उत्तरदायी सरकार आंशिक रूप में प्रदान की गई थी। इस सम्बन्ध में ज्वाइन्ट रिपोर्ट (Joint Report) के लेखकों का निम्नलिखित मत था :—

"दो सिद्धान्तों के साथ हम अग्रसर होते हैं कि सरकार को तुरन्त ही पूर्ण उत्तरदायित्व प्रदान नहीं किया जा सकता, और ऐसा करना विपत्ति को आमन्त्रित करना है, और यदि हमारी योजना को महत्वपूर्ण बनाना है तो तुरन्त ही कुछ उत्तरदायित्व सौंपना भी आवश्यक है। हमें यह विश्वास है कि शासन की इन समस्याओं का इसके अतिरिक्त अन्य कोई हल नहीं कि प्रान्तीय सरकार के कार्यों का विभाजन दो भागों मे कर दिया जाए, एक तो लोकमत के नियंत्रण में रहे और दूसरा अभी सरकार के नियन्त्रण में रहना चाहिए।"

इस प्रकार भारतवर्ष में द्वैत शासन आंशिक दानप्रणाली का परिणाम था—अर्थात् शनैः शनैः उत्तरदायी सरकार प्रदान करने की प्रणाली ही, जिसका आधार २० अगस्त सन् १६१७ की सम्राट (His Majesty) की घोषणा थी, इसका उद्‌गम थी।

द्वैत शासन का उद्देश्य

इस प्रकार कुछ मुख्य विषयों के सम्बन्ध में उत्तरदायित्व प्रदान करना, तथा हस्तान्तरित क्षेत्र के शासन के सचालन और नियन्त्रण का अधिकार व्यवस्थापिका सभा को देना ही द्वैत शासन का उद्देश्य था। इस सुधार के पूर्व समस्त शासन के लिए गवर्नर और उसकी समिति गवर्नर जनरल और उसकी समिति के प्रति प्रत्यक्ष रूप से, और उसके द्वारा ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के प्रति उत्तरदायी थे। "यदि प्रान्तों का ऊपर के नियन्त्रण से निस्तार करना था," जैसा कि किरल पुत्र ने कहा है, "तो यह तभी सम्भव था जब ऊपर नीचे से नियन्त्रण रखा जाए। कार्यकारिणी द्वारा नियंत्रण का विकल्प अथवा पत्तांतर जनमत द्वारा नियन्त्रण ही है।" इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए हस्तान्तरित क्षेत्र का नियन्त्रण व्यवस्थापिका सभा को सौंप दिया गया, और हस्तान्तरित विषयों का शासन निर्वाचित सदस्यों अथवा मन्त्रियों को सौंप दिया गया।

द्वैत शासन का निर्माण

प्रान्तीय विषयों का विभाजन सुरक्षित विभागों और हस्तान्तरित विभागों के रूप में कर दिया गया था। सुरक्षित विभागों के शासन का संचालन गवर्नर अपनी कार्यकारिणी समिति (Executive Council) की सहायता से करता था, और

इसका निरीक्षण और नियन्त्रण गवर्नर जनरल और भारत सचिव करते थे। हस्तान्तरित विषयों का शासन प्रबन्ध गवर्नर अपने मन्त्रियों की सहायता से करता था, और इसके लिए वे प्रान्त की निर्वाचित व्यवस्थापिका सभा के प्रति उत्तरदायी थे। गवर्नर और उसकी कार्यकारिणी समिति (Executive Council) के लिए जो विषय सुरक्षित रखे गए थे उनमें मुख्य थे—आय (Revenue), कानून (Law and Order) और अर्थ विभाग (Finance)। हस्तान्तरित विषय निम्नलिखित थे –

(अ) स्थानीय स्वराज्य (Local Self-Government)

(ब) चिकित्सा सम्बन्धी शासन, जन स्वास्थ्य और सफाई, और अति आवश्यक सब प्रकार की अवस्थाओं की क्रमबद्ध गणना,

(स) शिक्षा—योरुपियन और ऐंग्लो इण्डियन, तथा बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, अलीगढ मुस्लिम विश्वविद्यालय और कलकत्ता विश्वविद्यालय के अतिरिक्त (कलकत्ता विश्वविद्यालय केवल पाँच वर्षों के लिए पृथक किया गया था),

(द) आसाम के अतिरिक्त अन्य प्रान्तों में जन कार्य

(क) सिंचाई के अतिरिक्त कृषि,

(ख) सहकारी संस्थाएँ,

(ग) ऐक्साइज़ (Excise),

(घ) धर्म एवं धार्मिक दान, और

(ङ) व्यावसायिक उन्नति, इत्यादि, इत्यादि।

द्वैत शासन के निर्माण की उपर्युक्त विधि से यह स्पष्ट है कि विषयों को हस्तान्तरित करते समय जिस सिद्धान्त को दृष्टिगत रखा गया था वह यही था कि साम्राज्यशाही के हित की नींव पर आघात किए बिना ही लोकप्रिय मन्त्रियों को ऐसे विषय सौंप देने चाहिए जिनका राष्ट्रीय महत्त्व हो।

द्वैत शासन की परिभाषा

दो ऐसे पदाधिकारियों द्वारा, जिनके स्वरूप और उत्तरदायित्व में ही विभिन्नता हो, द्विविध शासन की इस नवीन प्रणाली का नाम ही द्वैत शासन है। श्री वी० के० ठाकुर ने द्वैत शासन की व्याख्या निम्नलिखित रूप से की है —

[1]"शासन की यह नवीन प्रणाली द्वैत शासन की प्रणाली है जिसका अर्थ है दो शासक अथवा दो सत्ताधारियों के अन्तर्गत शासन का संचालन। इस स्थान पर ये सत्ताधारी हैं ब्रिटिश जनता और प्रान्तीय जन। और इस उक्ति का यही मूल अर्थ भी है, परन्तु, क्योंकि शासक का अर्थ उस व्यक्ति अथवा समिति से भी हो सकता है जो उच्चतम शासनाधिकारी के निमित्त वास्तविक रूप से कार्यकारिणी के अधिकार का प्रयोग कर रही हो, इसलिए द्वैत शासन इस प्रणाली की ओर भी संकेत करता है जिसमें—

क्षेत्र को निम्न श्रेणी की तुच्छ दशा तक पहुँचा दिया गया था। यह कथन निम्नलिखित से स्पष्ट हो जाएगा :—

(१) गवर्नर और कार्यकारिणी समिति के समान मन्त्रीगण सम्राट (Crown) के कर्मचारी नहीं समझे जाते थे, जो अपने उदार एवं अद्वितीय कार्यकुशलता के लिए प्रसिद्ध हैं। इन मन्त्रियों की नियुक्ति गवर्नर करता था, जिसे ज्वाइन्ट सेलेक्ट कमेटी (Joint Select Committee) ने भी समस्त और नवजनित लोकप्रिय सरकार की योजना में अध्यक्ष पद पर रहने का आदेश दिया था। इस प्रकार वे एक ऐसे व्यक्ति के आधीन थे जो स्वयं किसी अन्य शक्ति के आधीन था।

(२) कार्यकारिणी समिति में अपने सहयोगियों की तुलना में मन्त्रीगण अन्य विषयों में भी हीन समझे जाते थे। समिति के सदस्यों को मन्त्रियों की अपेक्षा सदैव ही प्रथमता प्राप्त होती थी। "इस प्रकार कार्यकारिणी का नवीनतम सदस्य," जैसा कि श्री सचिन्द्र सिनहा ने कहा है, "अनुभवी मन्त्री से अधिक योग्य समझा जाता था।"[1]

(३) उपसभापति का पद कार्यकारिणी समिति के सदस्यों के लिए कानून द्वारा सुरक्षित कर दिया गया था। कानून द्वारा यह निश्चित कर दिया गया था कि उपसभापति के पद पर गवर्नर मन्त्रियों को नियुक्त नहीं कर सकता था। इस प्रकार गवर्नर का पद रिक्त होने पर वे अस्थायी गवर्नर के पद पर आसीन नहीं हो सकते थे।

(४) इसी प्रकार मन्त्रीगण में से कोई भी अर्थ विभाग का अध्यक्ष नहीं हो सकता था। "इन बाधाओं तथा प्रतिबन्धों ने मन्त्रिमण्डल को भारतवर्ष की आम जनता की सम्मति में प्रान्तीय सरकार के निम्न भाग के रूप में रखा। इस प्रकार भारतवर्ष में द्वैत शासन राष्ट्रीय भावनाओं की तुच्छ पूर्ति न होकर भारतीय राष्ट्रीयता की स्थिरता के लिए एक चुनौती के समान था।"

(स) सुरक्षित क्षेत्र का विलक्षण स्वरूप

एक्ट द्वारा यह निश्चित कर दिया गया था कि गवर्नर और उसकी कार्यकारिणी समिति का कार्य था अपने अधिकार के विभागों का शासन प्रबन्ध करना, कानून बनाना और लेजिस्लेटिव काउन्सिल में बजट उपस्थित करना। इस प्रकार के कार्य करते समय उन्हें बहुमत पर आश्रित न रह कर सदैव ही निर्वाचित सदस्यों के सद्व्यवहार पर आश्रित रहना पड़ता था, जो वास्तविक कार्य व्यवहार में विरोधी दल का स्वरूप धारण कर लेते थे। जहाँ तक हस्तान्तरित क्षेत्र से सम्बन्धित शासन प्रबन्ध

---

1 "The newest Executive Councillor is thus senior to the oldest Minister."
—Sri Sachindra Sinha.

(२) निर्माण की विधि के दृष्टिकोण से

सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से दोषपूर्ण होने के साथ-साथ, द्वैत शासन का निर्माण भी दुष्टबुद्धि और अपकार की दृष्टि से किया गया था। इस के निर्जीव निर्माण के कुछ दोष नीचे स्पष्ट किए जाते हैं :—

(अ) हस्तान्तरित विषयों का दोषपूर्ण वर्गीकरण

सुरक्षित और हस्तान्तरित विषयों का विभाजन शासन की व्यावहारिक दृष्टि से निरकुश, राजनीतिज्ञता के असदृश था। द्वैत शासन का निर्माण इस रूप में हुआ था कि मन्त्रीगण, जिनके हाथों में हस्तान्तरित विषयों का शासन प्रबन्ध था, कभी भी एक विभाग के पूर्ण अध्यक्ष न हो सके। हस्तान्तरित विभागों को उन के स्वय के क्षेत्रों में भी स्वराज्य नहीं था। मद्रास के एक मन्त्री सर के० वी० रेड्डी ने इस रम्य वैधानिक अव्यवस्था का वर्णन एक रेखा-चित्र के रूप में निम्न प्रकार से किया है :—

"मैं वन-रहित उन्नति एवं प्रगति का मन्त्री हूँ, और आप यह जानते ही हैं कि प्रगति एव उन्नति अधिकाँश रूप से वनों पर ही आधारित है। मैं व्यवसाय और व्यापार का मन्त्री हूँ परन्तु फैक्टरी पर मेरा कोई नियन्त्रण नहीं क्योंकि वह एक सुरक्षित विषय है, और बिना फैक्टरी के व्यवसाय और व्यापार की कल्पना ही व्यर्थ है। मैं कृषि मन्त्री हू परन्तु सिंचाई पर मेरा नियन्त्रण नहीं। आप समझ सकते हैं कि इसका तात्पर्य क्या है——मैं व्यवसाय और व्यापार का मन्त्री हूँ, परन्तु विद्युत शक्ति पर भी मेरा अधिकार नहीं।"[1]

सक्षेप में सन् १९१९ के एक्ट द्वारा प्रस्तावित द्वैत शासन के अन्तर्गत भी एक अन्य द्वैत शासनों की व्यवस्था की गई थी, और परिणामस्वरूप शासन रूपी देह के अस्थि पिंजरों में इस अस्वाभाविक एव अवास्तविक विभाजन के कारण इतना सघर्ष हुआ कि इस देह पर आघात कर उन्होंने शासन के समस्त स्वरूप को ही नष्ट कर दिया।

(ब) हस्तान्तरित क्षेत्र का हीन एवं अनुत्तम स्वरूप

इससे भी अधिक दुर्भाग्य की बात यह थी कि द्वैतशासन के अन्तर्गत

---

no country or province can be successfully governed by two independent cabinets" —Sir Reginald Croddock.

[1] "I am a Minister of Development minus forests and you all know that the development depends a good deal on forests I am Minister of Industries without factories which are a reserved subject, and industries without factories are unimaginable I am Minister of Agriculture minus irrigation You can understand what that means I am also Minister of Industries without electricity"

—Sir K B Reddi.

क्षेत्र को निम्न श्रेणी की तुच्छ दशा तक पहुँचा दिया गया था। यह कथन निम्नलिखित से स्पष्ट हो जाएगा :—

(१) गवर्नर और कार्यकारिणी समिति के समान मन्त्रीगण सम्राट (Crown) के कर्मचारी नहीं समझे जाते थे, जो अपने उदार एवं अद्वितीय कार्यहीनता के लिए प्रसिद्ध हैं। इन मन्त्रियों की नियुक्ति गवर्नर करता था, जिसे ज्वाइन्ट सेलेक्ट कमेटी (Joint Select Committee) ने भी अलग और नवजन्मित लोकप्रिय सरकार की योजना में अध्यक्ष पद पर रखने का आदेश दिया था। इस प्रकार वे एक ऐसे व्यक्ति के आधीन थे जो स्वयं किसी अन्य शक्ति के आधीन था।

(२) कार्यकारिणी समिति में अपने सहयोगियों की तुलना में मन्त्रीगण अन्य विषयों में भी हीन समझे जाते थे। समिति के सदस्यों को मन्त्रियों की अपेक्षा सदैव ही प्रथमता प्राप्त होती थी। "इस प्रकार कार्यकारिणी का नवीनतम सदस्य," जैसा कि श्री सचिन्द्र सिनहा ने कहा है, "अनुभवी मन्त्री से अधिक योग्य समझा जाता था।"[1]

(३) उपसभापति का पद कार्यकारिणी समिति के सदस्यों के लिए कानून द्वारा सुरक्षित कर दिया गया था। कानून द्वारा यह निश्चित कर दिया गया था कि उपसभापति के पद पर गवर्नर मन्त्रियों को नियुक्त नहीं कर सकता था। इस प्रकार गवर्नर का पद रिक्त होने पर वे अस्थायी गवर्नर के पद पर आसीन नहीं हो सकते थे।

(४) इसी प्रकार मन्त्रीगण में से कोई भी अर्थ विभाग का अध्यक्ष नहीं हो सकता था। "इन बाधाओं तथा प्रतिबन्धों ने मन्त्रिमण्डल को भारतवर्ष की आम जनता की सम्मति में प्रान्तीय सरकार के निम्न भाग के रूप में रक्खा इस प्रकार भारतवर्ष में द्वैत शासन राष्ट्रीय भावनाओं की तुच्छ पूर्ति न होकर भारतीय राष्ट्रीयता की स्थिरता के लिए एक चुनौती के समान था।"

(स) सुरक्षित क्षेत्र का विलक्षण स्वरूप

एक्ट द्वारा यह निश्चित कर दिया गया था कि गवर्नर और उसकी कार्यकारिणी समिति का कार्य था अपने अधिकार के विभागों का शासन प्रबन्ध करना, कानून बनाना और लेजिस्लेटिव काउन्सिल में बजट उपस्थित करना। इस प्रकार के कार्य करते समय उन्हें बहुमत पर आश्रित न रह कर सदैव ही निर्वाचित सदस्यों के सद्व्यवहार पर आश्रित रहना पड़ता था, जो वास्तविक कार्य व्यवहार में विरोधी दल का स्वरूप धारण कर लेते थे। जहाँ तक हस्तान्तरित क्षेत्र से सम्बन्धित शासन प्रबन्ध

---

1 "The newest Executive Councillor is thus senior to the oldest Minister."
—Sri Sachindra Sinha.

और कानून निर्माण का प्रश्न था, यह सिद्धान्त स्पष्ट रूप से ही दृढ़ था। मन्त्रिमण्डल व्यवस्थापिका सभा में से ही निर्मित किया जाता था, इस लिए भवन में उन्हें अपने दल से यथेष्ट सहायता प्राप्त हो सकती थी। परन्तु गवर्नर और उसकी समिति व्यवस्थापिका सभा के न तो सदस्य ही थे, और न वे उसके प्रति उत्तरदायी ही थे। इसलिए वे गवर्नर द्वारा नियुक्त किए गए सदस्यों के अतिरिक्त अन्य किसी दल पर अवलम्बित नहीं रह सकते थे। इसलिए गवर्नर और 'उसकी समिति के कार्य और नीति का समर्थन करने के लिए जब तक गैर सरकारी सदस्यों की अधिकांश संख्या का बहुमत प्राप्त हो, किसी कार्य का होना असम्भव सा ही था। इसलिए, जैसा कि श्री सिनहा का कथन है, "विधान में इस प्रकार के भयंकर दोष होने के कारण, गवर्नर और उसकी समिति को स्वभावतः ही ऐसे उपायों का आश्रय लेना पड़ता था जिनसे वह गैर सरकारी सदस्यों के मत प्राप्त कर सकें, जो आलोचना के योग्य होते थे और जिनका दूषित प्रभाव सुरक्षित क्षेत्र में सरकार तथा उनकी सहायता करने के अभ्यासी गैर सरकारी सदस्यों—दोनों पर ही पड़ता है।"

इन परिस्थितियों में किसीको यह देखकर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि सरकार के पक्ष में मत प्राप्त करने के लिये गैर सरकारी सदस्यों को किस चतुराई से अपने पक्ष में किया जाता था तथा ऐसा करने के लिए किस प्रकार के षड्यन्त्र रचे जाते और उनकी नैतिकता पर प्रलोभन द्वारा विजय पाई जाती थी। संक्षेप में द्वैत शासन का निर्माण ही इस प्रकार किया गया था कि भविष्य में वह पतन के गर्त्त की ओर आमुख होता चला जाए।

(द) द्वैत शासन प्रणाली में गवर्नर का स्थान

केवल इतना ही नहीं, द्वैत शासन के निर्माण में गवर्नर को एक अति उच्च स्थान प्रदान किया गया, जिसका स्वरुप बड़ा ही विचित्र था। उसका स्वरूप केवल एक वैधानिक अध्यक्ष का स्वरूप नहीं था। उसे अनेक निरंकुश अधिकार प्राप्त थे जिन का प्रयोग भी वह करता था। वस्तुतः प्रान्तीय शासन का केन्द्र बिन्दु वही था। लेजिस्लेटिव काउन्सिल के बाहर गवर्नमेण्ट हाउस (Government House) ही उसका निवास स्थान था। वहीं से वह शासन की समस्त गतिविधि का संचालन किया करता था। इस प्रकार की प्रभुत्वपूर्ण स्थिति के होते हुए भी प्रत्येक प्रकार से अत्यन्त अधिक रूप में उसकी रक्षा का प्रबन्ध किया गया था। एक्ट द्वारा यह निश्चित कर दिया था कि व्यवस्थापिका सभा में कोई भी सदस्य उसकी आलोचना नहीं कर सकता था। सरकारी रूप से भवन में उसके नाम की ओर भी संकेत नहीं किया जा सकता था। यह सब अत्यन्त ही सुन्दर और उचित होता यदि वह केवल वैधानिक अध्यक्ष ही होता और केवल अपने मन्त्रियों की इच्छानुसार ही कार्य करता। परन्तु भारतवर्ष में इस विचार धारा को कोई स्थान प्रदान नहीं किया गया था, यहाँ तो गवर्नर को उत्तरदायी मन्त्रियों के अध्यक्ष रूप निरंकुश कार्य करने का अधिकार था। साराश यह कि

भारतवर्ष में उत्तरदायी सरकार की द्वैत शासन प्रणाली में गवर्नर अनुत्तरदायित्व का अवतार ही था।

(३) व्यावहारिक दृष्टिकोण से

द्वैतशासन की व्यवस्था केवल सिद्धान्त और निर्माण के कारण ही असफल नहीं हुई, वरन् उसका व्यावहारिक रूप भी दोषपूर्ण था। यह कथन निम्नलिखित तथ्यों से भली प्रकार स्पष्ट हो जाएगा :—

१. संयुक्त उत्तरदायित्व की अनुपस्थिति

संयुक्त उत्तरदायित्व प्रत्येक उत्तरदायी सरकार का स्वीकृत एवं महत्वपूर्ण तत्व है। परन्तु सन् १९१९ के एक्ट के अन्तर्गत गवर्नरों ने इस सिद्धान्त का प्रयोग नहीं किया। किसी भी प्रान्त में इस सिद्धान्त को ग्रहण नहीं किया गया। यह सत्य है कि एक्ट में संयुक्त उत्तरदायित्व के सिद्धान्त का निम्न प्रकार से प्रतिपादन किया गया था : "हस्तान्तरित विषयों के सम्बन्ध में गवर्नर अपने मन्त्रियों की सम्मति से कार्य करेगा" जब तक कि उनसे मतभेद होने के यथेष्ट कारण न हों।[1] 'मन्त्रियों' शब्द का स्पष्ट संकेत संयुक्त उत्तरदायित्व की ही ओर है। परन्तु एक्ट की एक अन्य धारा को व्यावहारिक रूप प्रदान कर इस महत्वपूर्ण धारा को एक प्रकार से समाप्त ही सा कर दिया गया था। कार्यकारिणी समिति और अपने मन्त्रिमण्डल की कार्य प्रणाली के सुगम संचालन हेतु नियम बनाने तथा आदेश देने का अधिकार केवल गवर्नर को ही था।[2] इस प्रकार बनाए गए नियमों के अन्तर्गत संयुक्त उत्तरदायित्व को मूल रूप से नष्ट कर दिया गया। नियम इस प्रकार के बनाए गए कि गवर्नर के लिए यह सम्भव हो सके कि वह प्रत्येक मन्त्री से पृथक् रूप में मिल सके और अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से उसे झुका सके। संयुक्त उत्तरदायित्व रहित मन्त्रिमण्डल को मन्त्रिमण्डल कहना ही इस शब्द को निरर्थक बनाना है, इसी तत्त्व को दृष्टिगत रखते हुए सर अली इमाम ने उचित ही कहा था कि द्वैत शासन की व्यवस्था के अन्तर्गत प्रजातन्त्र का प्रत्येक भाव एवं सदभावना होते हुए भी वह आत्मा रहित शरीर के समान ही था।

२. गवर्नर की अधिकार अपहरण की नीति

व्यावहारिक रूप में गवर्नर को इतने अधिकार प्राप्त होगए, जितने इस सुधार के पूर्व कदाचित कभी नहीं थे। किसल पुत्र के निम्न विश्लेषण से यह भली प्रकार स्पष्ट हो जाएगा :—

(अ) कार्य सम्पादन की सुगमता के लिए गवर्नर को नियम बनाने तथा आदेश देने का अधिकार था। गवर्नर इन नियमों का निर्माण इस प्रकार से

---

[1] एक्ट की धारा ५२ उपधारा ३ के अनुसार

[2] एक्ट की धारा ४९ उपधारा २ के अनुसार

करते थे कि अधिक से अधिक अधिकार एव शासन की सत्ता उनके हाथों में केन्द्रित हो जाए।[1]

(ब) इसके अतिरिक्त गवर्नर मन्त्रियों से व्यक्तिगत रूप से सम्मति लिया करते थे। इस प्रकार सम्मति में मतभेद होने के आधार पर मन्त्रियों की सम्मति को अस्वीकृत करना सम्भव हो गया, यद्यपि एक्ट में यह स्पष्ट कर दिया गया था[2] कि मूल एव मौलिक मतभेद के अतिरिक्त गवर्नर अपने मन्त्रियों की सम्मति से ही कार्य करेगा। सयुक्त प्रदेश के प्रथम शिक्षा मन्त्री श्री चिन्तामणि ने मुडीमैन कमेटी (Muddiman Committee) को अपने एक पत्र में लिखा था कि एक पुस्तकालय समिति की नियुक्ति में भी गवर्नर ने उनकी सम्मति को अस्वीकृत कर दिया था।

(स) इसके अतिरिक्त प्रान्तों में गवर्नरों ने यह अनधिकृत सिद्धान्त प्रचलित किया कि मन्त्रियों का कर्त्तव्य केवल उसे समिति प्रदान करना था। एक्ट के अन्तर्गत भारतीय सरकार द्वारा बनाए गए नियमों द्वारा यह विचारधारा प्रचलित की गई कि नई समिति आदि की उपस्थिति का उद्देश्य गवर्नर की सम्मति के क्षेत्र में वृद्धि करना ही था। इसका तात्पर्य यह हुआ कि मन्त्रियों की सम्मति को स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने की पूर्ण स्वतन्त्रता गवर्नर को मिलगई, वस्तुत. मदरास सरकार के कानून सम्बन्धी सरकारी पदाधिकारी तो इस सीमा तक पहुँच गए कि लेजिस्लेटिव काउन्सिल द्वारा हस्तान्तरित क्षेत्र में कुछ नियुक्ति किए जाने पर उन्होंने इसका विरोध इस आधार पर किया कि नियुक्ति करने का उत्तरदायित्व केवल गवर्नर का ही था।

(द) इसके अतिक्ति गवर्नर को प्रदान किए गए 'आदेश पत्र" (Instrument of Instructions) में यह प्रतिपादित किया गया था कि "सर्विस के समस्त सदस्यों की उनके स्वीकृत कार्यों और स्वीकृत अधिकारों के उपयोग मे सुरक्षा का" उत्तरदायित्व गवर्नर का ही था। यह आदेश इसलिए प्रदान किया गया था कि सकट के समय सर्विस के सदस्यों के हित की सुरक्षा की जा सके। परन्तु इस की अशुद्ध व्याख्या इस प्रकार की गई कि मन्त्रियों के विभागों से सम्बन्धित सर्विस के सदस्यों की नियुक्ति, उनका पद इत्यादि सब कुछ पूर्णरूप से गवर्नर के नियन्त्रण में छोड़ दिया जाए। इससे गवर्नर के कार्यक्षेत्र का और भी अधिक विस्तार हुआ।

(क) नियमों के अनुसार यह निश्चित कर दिया गया था कि सुरक्षित और हस्तान्तरित क्षेत्रों के पारस्परिक वैमनस्य और झगडों के निर्णय के सम्बन्ध में अन्तिम अधिकार गवर्नर का था। यह नियम गवर्नर को और भी अधिक अधिकार प्रदान करने

---

[1] एक्ट की धारा २६ (२) के अनुसार

[2] एक्ट की धारा ५२ उपधारा ३ के अनुसार

वाला सिद्ध हुआ। इस सुधार के पूर्व विभागों में किसी प्रकार का झगड़ा होने पर उसका निर्णय उस काउन्सिल के बहुमत द्वारा किया जाता था, जिससे इस प्रकार के निर्णय के लिए प्रार्थना की जाती थी। परन्तु अब यह अधिकार गवर्नर को प्राप्त हो गया। इससे गवर्नर की कार्यकारिणी समिति और उसके मन्त्रिमण्डल के अधिकार कम हुए और गवर्नर का अधिकार-क्षेत्र और भी व्यापक होगया।

सन् १९१९ के एक्ट द्वारा यह निश्चित कर दिया गया था कि हस्तान्तरित क्षेत्र से सम्बन्धित विषयों के सम्बन्ध में गवर्नर गवर्नर-जनरल के प्रति और उसके द्वारा भारत सचिव के प्रति उत्तरदायी नहीं रहेगा और वह अपने उस उत्तरदायित्व का भार लोकप्रिय मन्त्रियों को सौंप देगा, जो निर्वाचित व्यवस्थापिका सभा के प्रति उत्तरदायी होंगे। परन्तु गवर्नरों ने ऐसा नहीं किया और किसी के प्रति उत्तरदायी न रह कर स्वयं उस अधिकार का भोग किया। इस व्यवस्था का यही परिणाम हुआ कि सरकार के हस्तान्तरित पक्ष की शक्ति और भी क्षीण होती गई। सारांश रूप किरल पुत्र का कथन उल्लेखनीय है कि, "इस प्रकार प्रान्तीय-स्वराज्य का अर्थ गवर्नर के अधिकारों में वृद्धि और समानान्तर रूप से व्यवस्थापिका सभा के प्रति उसके उत्तर-दायित्व में कोई वृद्धि न होना ही था।" गवर्नर ने निरंकुश शासन के कारण सन् १९१९ के एक्ट द्वारा प्रदान किए गए आंशिक उत्तरदायित्व की पूर्णता भी एक स्वप्न के समान ही रही।

मन्त्रीगण—व्यावहारिक रूप में कार्यकारिणी समिति के परिशिष्ट मात्र

ज्वाइन्ट सेलेक्ट कमेटी (Joint Select Committee) का यह कथन सर्वथा उचित ही था कि सुरक्षित और हस्तान्तरित क्षेत्र में किसी विषय पर भी संयुक्त रूप से विचार विमर्ष होना युक्ति संगत था। 'राजकीय आदेश पत्र' (Royal Instructions) में भी गवर्नर को इस प्रकार के आदेश प्रदान किए गए थे। लोक सभा (House of Commons) में स्वयं मिस्टर मॉन्टेग्यू ने कहा था :

"यह अत्यन्त आवश्यक है कि अवस्थान अथवा परिवर्त्तन के इस काल में इस प्रकार के अवसर अवश्य होने चाहिए जब दोनों पक्ष परस्पर विचार कर सकें तथा एक दूसरे को प्रभावित कर सकें।"

पारस्परिक विचार विमर्ष की यह प्रणाली अधिकांश प्रान्तों में प्रचलित नहीं की गई। यदि कभी विचारों के पारस्परिक आदान प्रदान के अवसर आए भी तो वे केवल नाममात्र के लिए ही थे। उदाहरण-स्वरूप बम्बई में पारस्परिक विचार के अवसर पर सुरक्षित क्षेत्र सम्बन्धी पत्र आदि उनके सन्मुख उपस्थित नहीं किए जाते थे। हस्तान्तरित क्षेत्र को उसके कार्य में सहायता प्रदान करने के लिए सुरक्षित क्षेत्र की इस अरुचि एवं अनिच्छा ने हस्तान्तरित पक्ष की स्थिति सन्दिग्ध एवं अस्पष्ट सी कर दी थी। मन्त्रियों के साथ चाहे विचारों का आदान-प्रदान हो अथवा न हो, व्यवस्थापिका

सभा में सदैव यही समझा जाता था कि हस्तान्तरित पक्ष सुरक्षित पक्ष की नीति का समर्थक है, भले ही उसने इस का विरोध किया हो। सुरक्षित पक्ष के इस प्रकार के निरकुश कार्य व्यवस्थापिका सभा में बड़े अप्रिय थे, मन्त्री भी यदि सुरक्षित क्षेत्र का समर्थन करते तो इस के साथ साथ कभी कभी उन्हें भी निन्दा का भागी होना पड़ता था। मन्त्रिमण्डल का समर्थन करने वाला दल भी सुरक्षित क्षेत्र के कार्यों का बहुधा विरोध करता था। मन्त्री भी प्रायः अपने दल के दृष्टिकोण का ही समर्थन करते थे। ऐसी परिस्थितियों में मन्त्रियों की दशा बड़ी दयनीय थी। गवर्नर और उसकी कार्यकारिणी समिति को अप्रसन्न किए विना वे अपने दल का पक्ष ग्रहण नहीं कर सकते थे। इसी प्रकार अपने दल के प्रति अपना विश्वास खोए बिना वे प्रत्यक्ष रूप से कार्य कारिणी समिति के सदस्यों का समर्थन नहीं कर सकते थे। केवल इतना ही यथेष्ट नहीं था। कार्यकारिणी समिति के सदस्य व्यवस्थापिका सभा में लोकप्रिय मन्त्रियों के प्रभाव की छांह में ही अपनी नाव खेना चाहते थे। वे इस के लिए तत्पर नहीं थे कि मन्त्रियों पर विश्वास करें अथवा किसी महत्त्वपूर्ण विषय पर उनसे परामर्श करें। एक बार मदरास के मन्त्रिमण्डल ने, जिसे व्यवस्थापिका सभा में स्थायी एव दृढ बहुमत प्राप्त था, एक महत्त्वपूर्ण व्यवस्थापक प्रस्ताव को खण्डित करना चाहा परन्तु उससे सम्बन्धित जो कार्यकारिणी समिति का सदस्य था, उसने तुरन्त ही त्यागपत्र दे दिया।

इस प्रकार निष्कर्ष यही निकलता है कि मन्त्रियों के सन्मुख दो मार्ग थे—या तो वे कार्यकारिणी समिति के सदस्यों के सन्मुख आत्मसमर्पण कर देते अथवा उनका विरोध करते। परन्तु दुर्भाग्य से इन दोनों बातें से उनका स्वय का ही अहित और अपयश था। प्रथम बात से तो लोकप्रिय भवन के और द्वितीय बात से गवर्नर के सन्मुख उनका यश कम होता था। व्यावहारिक रूप में व्यवस्थापिका सभा के नेता के पद पर गवर्नर वास्तव मे बहुमत प्राप्त करने वाले मन्त्री के स्थान पर अपनी कार्यकारिणी समिति के किसी अनुभवी सदस्य को नियुक्त करता था। इसके कारण तथा उस सहयोग के कारण जो मन्त्रियों को विवश रूप से कार्यकारिणी समिति को प्रदान करना पड़ता था, हस्तान्तरित पक्ष कार्यकारिणी समिति का परिशिष्ट मात्र रह गया था। इससे जनता की दृष्टि में भी हस्तान्तरित पक्ष का महत्त्व कम हो गया।

(४) मन्त्रि मण्डल के उत्तरदायित्व की न्यून उपस्थिति

द्वैत शासन की स्थापना का मूल उद्देश्य यही था कि हस्तान्तरित विषयों के शासन के सम्बन्ध में मन्त्रियों को लोकप्रिय व्यवस्थापिका सभा के प्रति उत्तरदायी बनाया जाए। यहाँ हमें यही देखना है कि व्यावहारिक रूप में इस लक्ष्य की पूर्ति कहाँ तक हो सकी क्योंकि इसी प्रश्न के उत्तर पर द्वैत शासन की सफलता-असफलता निर्भर है।

इस सम्बन्ध में सबसे प्रथम हमें सचिवतन्त्र उत्तरदायित्व के मुख्य तत्त्वों का निर्देश करना है जो निम्न प्रकार हैं :—

(अ) व्यवस्थापिका सभा में उपस्थित जनता के उन प्रतिनिधियों के मत द्वारा मन्त्रिमण्डल को हटाया जा सकता हो, जिनका विश्वास प्राप्त करना इनके लिए अत्यावश्यक है;

(ब) मन्त्रियों को अपने विभागों पर पूर्ण अधिकार होना चाहिए, जिससे उन विभागों के सम्बन्ध में निर्धारित की गई नीति से यदि किसी प्रकार की परिस्थिति का जन्म हो तो वे सफलता के साथ उसका पक्ष ग्रहण कर सकें,

(स) मन्त्रियों के प्रत्येक कार्य की आलोचना करने तथा उसे स्वीकृत एवं अस्वीकृत करने के अवसर व्यवस्थापिका सभा को प्राप्त होने चाहिएं।

उपर्युक्त तत्त्वों की कसौटी पर अब हमें द्वैतशासन की परीक्षा करनी चाहिए :

(१) प्रथम तत्त्व के आधार पर परीक्षा

भवन का निर्माण ही ऐसा किया गया था कि व्यवस्थापिका सभा के प्रति मन्त्रिमण्डल का उत्तरदायित्व एक पाखण्ड के रूप में रह गया। सरकारी और नियुक्त किए गए सदस्यों की उपस्थिति सदा ही एक दीवाल के समान थी जिससे मन्त्रिमण्डल की स्थिति नाम मात्र के लिए भी महत्वपूर्ण नहीं रहती थी, यद्यपि निर्वाचित सदस्यों के कुछ मत उन्हें प्राप्त हो जाते थे। इसके अतिरिक्त ७० प्रतिशत निर्वाचित सदस्यों में से अधिकांश सदस्य विशेष हितों के प्रतिनिधि होते थे जैसे योरुपियन, चेम्बर ऑफ कामर्स (Chamber of Commerce), जमींदार आदि। इन हितों के प्रतिनिधियों के मत चाहे वह किसी नियम पर लिए जाएं, सदैव ही सरकार के पक्ष में रहते थे, जो उनके लिए जीवनदाता के समान थी।

यह परिस्थिति मदरास के उदाहरण से स्पष्ट हो जायगी। वहाँ के निर्वाचित सदस्यों की संख्या ८६ थी जिनमें हिन्दू, मुसलमान और ईसाई सभी के प्रतिनिधि सम्मिलित थे। इसके विपरीत सरकार का बहुमत स्पष्ट रूप से ४१ था। इस प्रकार यदि कोई सदस्य निर्वाचित सदस्यों के २२ मत प्राप्त कर सकता तो वह मन्त्री का पद प्राप्त कर सकता था, जो सैद्धान्तिक रूप से लेजिस्लेटिव काउन्सिल के प्रति उत्तरदायी होता था। वास्तव में वह जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायी न था, अपितु वह विभिन्न हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले और सरकारी तथा नियुक्त किए गए गैर सरकारी सदस्यों के प्रति उत्तरदायी था। इस कथन की पुष्टि सर चार्ल्स टॉडहन्टर (Sir Charles Todhunter) की स्वीकृति से हो जाती है कि सरकारी और गैर सरकारी सदस्यों को यह आदेश प्रदान किया गया था कि वे सरकार की सहायता करें।

'उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल' के अदृष्ट का अनुत्तरदायी पक्ष से समीकरण अथवा एकरूपता किसी अन्य प्रकार की अपेक्षा इस बात को अधिक स्पष्ट कर देती है कि, जैसा कि किरल पुत्र ने कहा है, "एक्ट का उद्देश्य कुछ भी रहा हो, मन्त्रि-मण्डल व्यवस्थापिका सभा के प्रति उत्तरदायी नहीं है, और वह जन सम्मति से स्वतन्त्र रूप में ही अपना कार्य करता है।"[1]

(२) द्वितीय तत्व के आधार पर परीक्षा

इसके अतिरिक्त मन्त्री को अपने उस विभाग पर तनिक-सा भी नियन्त्रण प्राप्त नहीं था, जिसका उसे शासन प्रबन्ध करना था। प्रत्येक प्रकार के निर्णय का अधिकार गवर्नर को था। प्रत्येक विभाग पर उसी का नियन्त्रण था। मन्त्रियों को केवल सम्मति देने का अधिकार था, जिसे कभी तो नम्रता के साथ अस्वीकार किया जा सकता था, और कभी उसके बिना भी। मन्त्री की तुच्छ स्थिति का निर्देशन करते हुए नवाब अली चौधरी ने कहा था .

"इसका यह परिणाम हुआ: यद्यपि अपने शासन प्रबन्ध के सम्बन्ध में मन्त्री लेजिस्लेटिव काउन्सिल के प्रति उत्तरदायी था, परन्तु लगभग समस्त विषयों के सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय गवर्नर का ही होता था, यद्यपि काउन्सिल से उसका अत्यन्त कम सम्पर्क था।" अन्तत इसके दो भयकर परिणाम थे :—

(अ) जब एक विभाग पर एक मन्त्री का अधिकार न होकर एक गवर्नर का पूर्ण प्रभुत्व था, उस समय स्वय सचिवतन्त्र उत्तरदायित्व का स्वरूप ही पाखण्डपूर्ण होगा। इसके अतिरिक्त नियमों द्वारा यह निश्चित कर दिया गया था कि गवर्नर के कार्य और उसके निर्णयों पर लेजिस्लेटिव काउन्सिल किसी प्रकार की कोई टिप्पणी नहीं कर सकती थी।

(ब) निकट समय में ही यह भ्रमपूर्ण वैधानिक सिद्धान्त प्रचलित हो गया कि मन्त्रीगण काउन्सिल के प्रति उत्तरदायी न रह कर गवर्नर के प्रति उत्तरदायी थे। बगाल के राजा ने, जो मदरास के प्रधान मन्त्री थे, यह घोषित किया कि क्योंकि उनकी नियुक्ति गवर्नर द्वारा हुई थी, इसलिए वह केवल उसी के प्रति उत्तरदायी थे।

इस प्रकार एक्ट के निर्धारित उद्देश्य को पूर्ण रूप से विकृत कर दिया गया था। मन्त्री की स्थिति भवन के एक नेता से गिर कर एक निम्न पदाधिकारी के समान हो गई थी। द्वैत शासन प्रणाली में मन्त्री पद स्वीकार करने का अर्थ वास्तव में

---

1 "This identification of fortunes of 'responsible Ministry' with that of irresponsible half shows more clearly than anything else that whatever the intention of the Act, the Ministry is not responsible to the Legislature, and works independently of popular opinion"

—Keral Putra.

जनता के निर्वाचित प्रतिनिधि हो कर उनकी सेवा न कर के सरकार के हाथों की कठ-पुतली मात्र बन जाना था।

(३) तृतीय तत्त्व के आधार पर परीक्षा

किसी प्रान्त की व्यवस्थापक प्रणाली के अन्तर्गत ऐसी व्यवस्था कहीं नहीं थी कि व्यवस्थापिका सभाओं को मन्त्रियों के कार्य को अस्वीकृत करने की सुविधा प्रदान की गई हो। आलोचना का गला घोंट दिया गया था। विरोध को मूल रूप से नष्ट कर दिया गया था। अधिकांशतः अविश्वास प्रस्तावों को अवैध घोषित कर दिया जाता था, जैसा एक बार बंगाल लेजिस्लेटिव एसेम्बली के सभापति ने किया था।

इस प्रकार पारिक रूप में भी उत्तरदायी सरकार, जो इस सुधार एक्ट का मुख्य लक्ष्य था, प्रान्त में किसी भी दृष्टि से प्राप्त न की जा सकी।

द्वैत प्रणाली के अन्तर्गत आर्थिक समस्या

द्वैत शासन की व्यवस्था के अन्तर्गत आर्थिक कठिनाइयों ने उत्तरदायी शासन का स्वप्न और भी भंग कर दिया। सन् १९१९ के एक्ट से सम्बन्धित जो बात भारतीयों ने सब से अधिक पसन्द की वह थी कि शिक्षा, स्वास्थ्य एवं सफाई आदि जैसे विभाग, जिनसे राष्ट्र-निर्माण सम्भव होता है, लोकप्रिय मन्त्रियों के हाथों में सौंप दिए गए थे। इसलिए अब इस बात की आशा करना स्वाभाविक ही था कि राष्ट्रीय उन्नति की जिन योजनाओं के लिए पिछली काउन्सिल व्यर्थ ही चिल्लाती रही थी, अब प्रयोग में लाई जाएंगी। परन्तु शीघ्र ही यह प्रकट हो गया कि इन आशाओं को जन्म इसीलिए दिया गया था कि कालान्तर में इनका गला घोंट दिया जाए। सुधार करने के लिए इन विभागों को धन नहीं दिया जाता था। केन्द्रीय, अर्थ विभाग को दी जाने वाली प्रान्तीय भेंट का धन लॉर्ड मेस्टन ने पहले ही निश्चित कर दिया था।

मदरास—३४८ लाख; बम्बई—४६ लाख; बंगाल—६३ लाख; संयुक्त प्रदेश—२४० लाख; पंजाब—१७५ लाख; मध्य प्रदेश—२२ लाख और आसाम—१५ लाख।

इस प्रकार यह स्पष्ट ही है कि भारतीय प्रान्तों पर यथेष्ट मात्रा में भार डाल दिया गया था। मेस्टन निर्णय ने, जैसा कि किरल पुत्र ने कहा है, "(उत्तरदायी सरकार के) शिशु को उसके जन्म लेने से पूर्व ही समाप्त कर दिया था।"[1]

प्रान्तों के आर्थिक प्रबन्ध के कारण स्थिति और भी बिगड़ गई। ज्वाइन्ट सेलेक्ट कमेटी (Joint Select Committee) ने विभाजित धन के प्रस्ताव को

---

[1] Meston Award "had killed the child (of responsible Government) even before it was born"
—Keral Putra.

स्वीकार नहीं किया। आय का विषय विशेष रूप से एकीभूत क्षेत्र (Concurrent Jurisdiction) के विषय के रूप में छोड़ दिया गया। कालान्तर में आय का विषय सुरक्षित क्षेत्र के अन्तर्गत रख दिया।[1] इस विषय को कार्यकारिणी समिति के एक सदस्य के संरक्षण में रख दिया गया। अर्थ विभाग का स्वरूप ही ऐसा होता है कि विश्व के समस्त देशों में यह विभाग अन्य विभागों से अधिक महत्वपूर्ण होता है। भारतवर्ष में अर्थ विभाग की स्थिति को विशेष रूप से दृढ बनाया गया था। अन्य विभागों के समस्त प्रस्तावों और योजनाओं पर इस विभाग को प्रतिनिषेध का अधिकार प्रयोग करने की स्वतन्त्रता थी।[2] नवीन व्यय सम्बन्धी समस्त विषयों का निरीक्षण करने और उन पर अपनी सम्मति प्रदान करने का अधिकार भी अर्थ विभाग को था। इस प्रकार निरीक्षित योजनाओं पर धन प्रदान करने और उन योजनाओं पर धन प्रदान करने का जिनका निरीक्षण न किया गया हो—अधिकार भी अर्थ विभाग को था। स्वास्थ्य, शिक्षा तथा व्यवसाय सम्बन्धी विभागों में ही नवीन प्रकार की योजनाएँ विशेष रूप से तैयार की जा सकती थीं। इस प्रकार इन विषयों से सम्बन्धित हस्तान्तरित विभाग प्रत्यक्ष रूप से कार्यकारिणी समिति के एक सदस्य के नियन्त्रण मे रख दिए गए, और यह स्पष्ट ही था कि यह सदस्य लोकप्रिय मन्त्रियों की भावनाओं से सहानुभूति प्रदर्शित करने में असमर्थ सिद्ध होगा। वास्तव में आर्थिक प्रबन्ध के कारण मन्त्रियों की दशा बडी दयनीय हो गई थी। इस सम्बन्ध मे सर मोहम्मद फ़ख़रुद्दीन का कथन उल्लेखनीय है, "बिना धन के मुझे योजना तैयार करने वाले एक साधारण कर्मचारी के समान ही समझिए, और जब वह (योजना) तैयार हो जाती है तो अर्थ विभाग को यह अधिकार होता था कि धन के आधार पर वह उसे समाप्त कर दे।"[3]

इसके अतिरिक्त सर के० वी० रेड्डी (Sir K. V Reddy) का कथन भी उल्लेखनीय है, "सुरक्षित क्षेत्र में अर्थ विभाग की सुदृढ स्थिति ने मन्त्रियों की स्थिति में और इसके द्वारा एक अन्य प्रकार से व्यवस्थापिका सभाओं के कार्यक्रम में भी एक विशेष प्रकार की बाधा अथवा असुविधा उत्पन्न कर दी थी। कार्यकारिणी समिति हस्तान्तरित विभागों की प्रत्येक योजना से परिचित रहती थी, जबकि सुरक्षित क्षेत्र का कार्यक्रम गुप्त रहता था। इसलिए धन के सम्बन्ध में पूर्णत परिचित होने के कारण और धन प्राप्त करने के लिए उन्हें प्रत्येक प्रकार की स्थिति का ज्ञान होने के कारण कार्यकारिणी समिति के सदस्य कुछ समय पूर्व ही धन की प्राप्ति के लिए

---

[1] 'निक्षेपण नियम' (Devolution Rules) के नियम २४ के अनुसार

[2] एक्ट की धारा २६ के अनुसार

[3] "Without a purse consider me as I am simply a clerk to prepare a certain scheme and, after it is ready, the Finance Department is entitled to knock it down on the ground of funds"

—Sir Mohd Fakhruddin

प्रार्थना पत्र दे देते हैं। इस प्रकार कार्यकारिणी समिति के सदस्यों को फिर से यथेष्ट धन मिल जाता है और इससे वे अपनी योजनाओं को पूरा करने में सफल होते हैं।"

इस प्रकार व्यावहारिक दृष्टि से द्वैत शासन को नष्ट करने में आर्थिक प्रबन्ध का भी यथेष्ट हाथ था।

उपसंहार

इस प्रकार जिस द्वैत शासन प्रणाली द्वारा उत्तरदायी सरकार प्रदान की जाने वाली थी, व्यावहारिक रूप से वही अत्यन्त अनुत्तरदायी सिद्ध हुई। प्रारम्भ से ही मन्त्रिमण्डल के उत्तरदायित्व का निषेध किया गया। प्रभावपूर्ण व्यवस्थापक नियन्त्रण की आशाओं को कर्त्ता रूप से ही नष्ट कर दिया गया। अर्थ विभाग की विचित्र एवं महत्वपूर्ण स्थिति और सिविल सर्विस के अनन्त एवं व्यापक प्रभुत्व के कारण लेजिस्लेटिव काउन्सिल वास्तव में मॉर्ले-मिन्टो सुधार एक्ट के अन्तर्गत स्थापित की हुई व्यवस्थापिका सभाओं का ही दूसरा स्वरूप थी। सारांश रूप हम केरल पुत्र के कथन का उल्लेख कर सकते हैं:—

"द्वैत शासन रूपी पशु में, जो मिन्टो-मॉर्ले ढंग की अनुत्तरदायी सलाहकार समिति और उत्तरदायी सचिवतन्त्र सरकार का सम्मिश्रण था, प्रथम की विशेषता आयु के साथ साथ अधिक स्पष्ट होती जाती है, यद्यपि वर्ण और स्वरूप द्वितीय का ही रहता है।"[1]

---

[1] In the Dyarchical animal, which was a cross between the irresponsible Advisory Councils of the Minto-Morley type and responsible Parliamentary Government, the characteristic of the first become more clear with age, though the colour and shape remain that of the second"

—Keral Putra.

तृतीय खण्ड

सन् १९३५ का एक्ट

पहला अध्याय

साइमन कमीशन से गोल मेज़ सभा तक

"सन् १९०९ की राजनीति और वर्तमान राजनीति में आकाश पाताल का अन्तर है। सन् १९०९ के प्राचीन विचार प्राचीन इतिहास की वस्तु हो चुके हैं। हमारी राजनीति दस वर्ष पूर्व से भी कहीं अधिक निश्चित एवं वास्तविक है। इस देश के भाग्य के प्रति दृढ़ विश्वास के साथ, अपनी आकांक्षाओं को साकार रूप प्रदान कर पौरुष पूर्ण राजनीतिज्ञों ने इस क्षेत्र में पदार्पण कर इस क्षेत्र पर अपना अधिकार कर लिया है।"[1] —सर तेजबहादुर सप्रू के संस्मरण से[2]

मान्टेग्यू चेम्सफोर्ड सुधार एक्ट के प्रवेश करने के पश्चात्, विशेष रूप से हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास के जालियाँवाला बाग के युग के पश्चात् वास्तव में भारतवर्ष के राजनैतिक दृष्टिकोण में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो चुके थे। निस्सन्देह सन् १९०६ ई० में ही दादाभाई नौरोजी ने सभापति पद से दिए गए अपने भाषण में भारतवर्ष का लक्ष्य स्वराज्य निर्धारित किया था। परन्तु उस समय भारतीयों की प्रवृत्ति में गम्भीरता का पुट नहीं था। सन् १९१६ की कांग्रेस लीग योजना का लक्ष्य भी भारतवर्ष के लिए औपनिवेशिक स्वराज्य की प्राप्ति करना था। सन् १९१७ की सम्राट की घोषणा (Royal Proclamation) द्वारा यह आश्वासन प्रदान किया गया था कि भारतवर्ष को पूर्ण उत्तरदायी सरकार प्रदान की जाएगी,—परन्तु शनैः शनैः क्रमिक विकास के रूप में और ब्रिटिश साम्राज्य के महत्त्वपूर्ण अंग अर्थात् औपनिवेशिक स्वराज्य के आदर्श के रूप में ही। इनसे उस समय भारतवर्ष और वहां के नेता भी कुछ सन्तुष्ट से हो गए। परन्तु तब से अब तक के समय में यथेष्ट परिवर्तन हो चुका था। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन जनता तक पहुँच चुका था, अब उसे मातृभूमि और

---

[1] "There is a world of difference between politics as they are now and the politics of 1909. The old ideas of 1909 are now matters of ancient history. Our politics are far more definite and far more concrete than they were even ten years ago. A manlier race of politicians with a more masculine faith in the destinies of this country, with more concrete ambitions, has sprung up and occupied the field."
—From Sir Tej's Reminiscences.

[2]. लीडर, इलाहाबाद में प्रकाशित २२ अक्टूबर, सन् १९२८

हल जोतने वाले कृषक-भक्तों से अकथ शक्ति प्राप्त हो चुकी थी। अब समस्त भारतवर्ष पूर्ण स्वतन्त्रता के लिए कमर कस कर निकल पड़ा था।

दिसम्बर सन् १९२७ में मदरास काँग्रेस द्वारा स्वतन्त्रता का प्रसिद्ध प्रस्ताव स्वीकृत हो चुका था। इस प्रकार साइमन कमीशन (Simon Commission), नेहरू कमेटी (Nehru Committee) और गोल मेज़ सभाओं (Round Table Conferences) द्वारा नवीन भारत की आकांक्षाओं तथा बापू के नेतृत्व में स्वतन्त्रता के स्वप्निल वैभव को साकार रूप प्रदान करने की चेष्टा की गई थी। और सन् १९३५ का एक्ट इन्हीं विभिन्न पोषक माता पिताओं, विशेष रूप से साइमन कमीशन रिपोर्ट की वर्णसंकर सन्तति थी। इसलिए सन् १९३५ के एक्ट के पूर्ण और आलोचनात्मक अध्ययन के लिए इन रिपोर्ट और विचारों का संक्षिप्त विवेचन अत्यन्त आवश्यक है। इन सब का वर्णन निम्न पृष्ठों में किया गया है।

१—साइमन कमीशन रिपोर्ट

वाइसरॉय के ५ नवम्बर सन् १९२७ के निमन्त्रण पर महात्मा गाँधी मँगलौर से देहली आए। परन्तु इस एक सहस्त्र मील की लम्बी यात्रा के पश्चात उन्हें क्या मिला ? साइमन कमीशन की नियुक्ति का घोषणा पत्र ! तत्कालीन वाइसरॉय लॉर्ड इरविन (Lord Irwin) द्वारा ईस कमीशन की इस नाटकीय ढंग की नियुक्ति से यह पूर्णत. स्पष्ट हो गया कि सम्राट (His Majesty) की सरकार ने भारतवर्ष के राष्ट्रीय आन्दोलन को शान्त करने के लिए वैधानिक विकास का आभास देने वाले इस कमीशन को इस दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्त्व प्रदान किया था।

इस कमीशन के जीवन तत्व सन् १९१९ के एक्ट में ही दर्शित होते थे। इस एक्ट द्वारा यह निश्चित कर दिया गया था[१] कि दस वर्ष के पश्चात एक कमीशन की नियुक्ति की जाएगी जो मान्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार एक्ट के अन्तर्गत स्थापित व्यवस्था का निरीक्षण करेगा और इस बात का पता लगाएगा कि उत्तरदायी सरकार की प्राप्ति के लक्ष्य के लिए भारतवर्ष में किस सीमा तक और सुधार किया जाए, क्योंकि सन् १९१७ की राजकीय घोषणा में भी यही आश्वासन दिया गया था। निश्चित प्रणाली द्वारा तो इस कमीशन की नियुक्ति सन् १९३१ में होनी चाहिए थी, क्योंकि सन् १९१९ के सुधार एक्ट का प्रवेश सन् १९२१ में हुआ था। तब फिर इस कमीशन की नियुक्ति चार वर्ष पूर्व ही कैसे की गई, यह एक विचारपूर्ण तथा आकर्षित करने वाला प्रश्न है।

कुछ लेखकों का विचार यह है कि उस समय इग्लैंड में पार्लियामेण्ट के चुनाव होने वाले थे जिनमें मजदूर दल (Labour Party) की विजय लगभग निश्चित ही थी। टोरी दल (Tory Party) की इच्छा थी कि इस कमीशन की

---

[१]. एक्ट की धारा ८४ (ए) के अनुसार

नियुक्ति का कार्य मजदूर दल (Labour Party) के लिए न छोड़ा जाए, क्योंकि यह सम्भव था कि मजदूर दल भारतवर्ष की स्वराज्य की मांग को कहीं पूर्ण रूप से स्वीकार न करले। परन्तु यह कथन केवल आंशिक रूप में ही प्रतीति पूर्ण एवं निर्णयात्मक प्रतीत होता है। यद्यपि इस उदारता का स्वरूप भी अधम और निम्न ही था, परन्तु वास्तव में इस कमीशन की नियुक्ति सम्राट (His Majesty) की सरकार ने विवशता से ही की थी, और इसका श्रेय हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन को ही था। वास्तव में इस कमीशन की नियुक्ति सम्राट (His Majesty) की "वैधानिक प्रगति के साथ गमन" की नीति के आधार पर ही हुई थी। जिस प्रकार मॉर्ले-मिन्टो सुधार एवं बंगाल-विभाजन के घाव को पूरने के लिए प्रदान किया गया था, उसी प्रकार इस कमीशन की नियुक्ति का लक्ष्य था। जालियांवाला बाग के कारण नष्ट हुई भारतीयों की सद्भावना और सहानुभूति प्राप्त करना, और एक अप्रतीतिपूर्ण वैधानिक विकास द्वारा भारतवर्ष के राष्ट्रीय आन्दोलन की धधकती ज्वाला को शान्त करना। इतने शीघ्र इस कमीशन की नियुक्ति और सन् १६३५ के एक्ट द्वारा वैधानिक विकास के प्रवेश के लिए जो परिस्थितियां उत्तरदायी थीं, उनका विवेचन निम्न प्रकार से किया जा सकता है।

(१) राष्ट्रीय आन्दोलन और अमानुषिक शासन

मॉन्टेग्यू चेम्सफोर्ड सुधार एक्ट से भारतवर्ष को अनेक आशाएँ थीं और वह बड़ी उत्कंठा से राजनैतिक स्वतन्त्रता के नवीन युग के पदार्पण की बाट जोह रहा था, परन्तु उसमें भी भारतवर्ष को अनादर और दुःखों के अतिरिक्त और कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ। व्यवस्थापिका सभा में गैर सरकारी सदस्यों की ओर से तीव्र एवं उग्र विरोध और भारतीयों द्वारा की गई आलोचना के होते हुए भी फरवरी सन् १६१६ में रॉलट बिल (Rowlatt Bills) को कानून का स्वरूप प्रदान किया गया। परिणाम स्वरूप महात्मा गाँधी अपनी मातृभूमि को स्वतन्त्र करने के लिए कमर कस कर निकल पड़े। १ मार्च सन् १६१६ को उन्होंने प्रथम देश व्यापी हड़ताल की आज्ञा दी, और इसी प्रकार ६ अप्रैल को द्वितीय देश व्यापी हड़ताल की। इसी समय में ६ अप्रैल को महात्मा गांधी ने पंजाब में भी प्रवेश करने की चेष्टा की। परन्तु उन्हें वहाँ से निकाल दिया गया और उन्हें बम्बई जाने का आदेश दिया गया। उनके इस अनादर के कारण समस्त भारतवर्ष भड़क उठा। समस्त देश में, विशेष रूप से पंजाब में हिंसा की एक लहर दौड़ गई। स्थान-स्थान पर भयंकर दंगे होने लगे। इस अशान्ति और अव्यवस्था को समाप्त करने के लिए सेना का आश्रय लिया गया और पंजाब में मॉर्शल कानून (Martial Law) लागू कर दिया गया। १३ अप्रैल को अमृतसर में जालियांवाला बाग की दुर्दान्त घटना घटित हुई। बिना किसी चेतावनी के जनरल डायर (General Dyer) ने लोगों की एक शान्त सभा पर गोलियों की बौछार आरम्भ कर दी, उन्हें भेड़ बकरी के समान मशीनगनों से भून डाला गया, और यह

बौछार उस समय तक होती रही जब तक कि स्वयं डायर के पास गोलियां समाप्त न हो गई। १६५० गोलियाँ बरसाई गई। लगभग ४०० व्यक्ति मारे गए और १२०० घायल हुए। केवल इतना ही यथेष्ट नहीं था। मार्शल कानून के अन्तर्गत अनेक व्यक्तियों को अनाहत किया गया। पराकाष्ठा को पार करने वाले एक कानून के अन्तर्गत व्यक्तियों को एक सँकरी गली में घुटनों के बल पशु के समान चलना पड़ता था क्योंकि उस गली में एक अँग्रेज महिला की हत्या कर दी गई थी। इसके अतिरिक्त पंजाब मे सैनिक शाही के इस क्रूर अत्याचार को सरकार द्वारा क्षमा कर दिया गया था। भारतीयों की आत्मा अभी मर नहीं गई थी। उनके हृदय से इस अत्याचार और अँगरेजी राज्य के प्रति तीव्र घृणा का भाव जाग्रत हो गया। और इसके फल-स्वरूप भव्य असहयोग आन्दोलन का आरम्भ हुआ। जब वातावरण में तनिक शान्ति हुई, तब अँगरेजों ने जो भारतीय जनमत के विरुद्ध हो जाने से वैसे ही व्याकुल हो गए थे, कमीशन की जाँच के पश्चात् भारतीयों को वैधानिक विकास का आश्वासन देकर उनके हृदय को फिर से जीतने की चेष्टा की। इस प्रकार भारतीय राष्ट्रीयता पर लगे हुए जालियाँवाला बाग की घटना के घाव को पूरने की औषधि स्वरूप ही साइमन कमीशन की नियुक्ति की गई थी।

(२) स्वराज दल का दृष्टिकोण

स्वराज दल के, जिसने सरकार की नीति का विरोध करने के लिए ही व्यवस्थापिका सभा में पदार्पण किया था, दृष्टिकोण ने सरकार के सन्मुख यह स्पष्ट कर दिया कि इस लोलुप मान्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार एक्ट से भारतवर्ष बिलकुल सन्तुष्ट नहीं था। ८ फरवरी सन् १९१४ को पण्डित मोतीलाल नेहरू ने एसेम्बली में एक महत्वपूर्ण प्रस्ताव उपस्थित किया। सरकार के विरुद्ध स्वराज्यवादी और स्वतन्त्र सदस्यों के संयुक्त बहुमत द्वारा यह प्रस्ताव पास कर दिया गया। प्रस्ताव निम्न प्रकार से था :—

> "यह एसेम्बली गवर्नर जनरल और उसकी समिति से इस बात की सिफारिश करती है कि गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया एक्ट (Government of India Act) का भारतवर्ष में पूर्ण उत्तरदायी सरकार की स्थापना के दृष्टिकोण से पुन: संशोधन किया जाए और इस कथित उद्देश्य के हेतु (अ) शीघ्र ही प्रतिनिधियों को एक गोल मेज़ सभा के लिए आमन्त्रित किया जाए, जिसमें वे, महत्वपूर्ण अल्पदलों के हितों और अधिकारों की रक्षा का ध्यान रखते हुए, भारतवर्ष के लिए एक विधान निश्चित करें, और (ब) इस केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा को विसर्जित करके एक निर्वाचित नवीन भारतीय व्यवस्थापिका सभा के सन्मुख कथित योजना को रखा जाए, और उसी को ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के सन्मुख उपस्थित किया जाए जिससे वह कानून का स्वरूप ग्रहण कर सके।"

भारत सरकार की ओर से इस प्रस्ताव का उत्तर देते हुए सर मैलकम हैली (Sir Malcom Hailey) ने यह आश्वासन दिया कि द्वैत शासन की व्यवस्था में निहित तथा उससे जनित बाधाओं एवं कठिनताओं का पता लगाया जाएगा और सन् १९१७ की सम्राट की घोषणा (His Majesty's Proclamation of 1917) के अनुरूप उन बाधाओं के निवारण के हेतु उपाय तथा साधन प्रस्तावित किए जाएंगे। यह उत्तर निराशाजनक था और इसके विरोध स्वरूप एसेम्बली ने अनुदान की मांगों को ठुकरा दिया, यहां तक कि आय प्रस्ताव (Finance Bill) के उपस्थित करने पर भी रोक लगा दी। इस प्रकार अँगरेजों को इस बात की गन्ध मिल चुकी थी कि भविष्य के लिए वैधानिक विकास के प्रति राष्ट्रवादी भारत कितना उत्कण्ठित एवं दृढ़ था। इसका अनन्तरित परिणाम हुआ मुडीमैन कमेटी (Muddiman Committee) और फिर साइमन कमीशन का प्रयोग। संक्षेप में साइमन कमीशन स्वराज दल के विरोध के उत्तर में मैलकम हैली द्वारा दिए गये आश्वासन का साकार रूप ही था।

(3) क्रान्तिकारी विचारों का विकास

गिद्ध दृष्टि वाले अँगरेजों को भारतवर्ष में क्रान्तिकारी विचारों का विकास भी साइमन कमीशन की नियुक्ति के लिए एक महत्वपूर्ण राजनैतिक आधार प्रतीत हुआ होगा। इस समय में देश के नवयुवकों के मस्तिष्क में समाजवादी और साम्यवादी विचार घर करने लगे थे। ए. आर. देसाई ने अपनी पुस्तक "भारतीय राष्ट्रीयता की सामाजिक पृष्ठ भूमि" (Social Background of Indian Nationalism) में इस स्थिति का दिग्दर्शन निम्नलिखित शब्दों में बड़ी योग्यता से किया है :—

"रूस में समाजवादी क्रान्ति की विजय तथा समाजवादी सरकार की स्थापना ने भारतवर्ष के उग्र राष्ट्रवादियों को समाजवादी सिद्धान्तों की ओर आकर्षित किया। इसके परिणामस्वरूप मजदूरों और कृषकों की संस्थाएं अवतरित होने लगीं। बम्बई के गिरनी कामगार संघ (Girni Kamgar Union) में सन् १९२८ तक ही ६५००० सदस्य थे। विभिन्न व्यापारियों एवं व्यवसायों में व्यापार वर्ग और संघ की चेतना जाग्रत होने लगी। इनके प्रकाश में आने से बड़े विस्तृत रूप में अनेक हड़तालें हुईं। कांग्रेस में भी क्रान्तिकारी दल की शक्ति बढ़ने लगी, और श्री जवाहरलाल नेहरू इस दल के अग्रदूत और पथ प्रदर्शक थे।

इन सब परिस्थितियों के कारणवश साइमन कमीशन की नियुक्ति की गई। इस कमीशन की रिपोर्ट मई सन् १९३० में प्रकाशित हुई थी।

साइमन रिपोर्ट

कमीशन को " शासन प्रणाली की व्यवस्था, शिक्षा के विकास और ब्रिटिश भारत में प्रतिनिधात्मक संस्थाओं की प्रगति का निरीक्षण करने का— और यह बत-

लाने का किस सीमा तक उत्तरदायी सरकार के सिद्धात की स्थापना करना उचित होगा अथवा किस सीमा तक वर्तमान उत्तरदायी सरकार को व्यापक रूप प्रदान करना उसमें सशोधन करना अथवा उस पर प्रतिबन्ध लगाना उचित होगा" कर्तव्य सौंपा गया था।

साइमन कमीशन की मुख्य सम्मतियों का वर्णन सक्षेप। में निम्न प्रकार से किया जा सकता है :—

(अ) भारतवर्ष मे सरकार के निश्चित स्वरूप के सम्बन्ध में

रिपोर्ट के लेखकों के मतानुसार भारतवर्ष के लिए निश्चित रूप से जो वैधानिक स्वरूप उपस्थित किया जा सकता था वह केवल सघात्मक आधार पर ही हो सकता था। सरकार के केवल इसी स्वरूप के अन्तर्गत देशी राज्यों से यह आशा की जा सकती थी कि वे ब्रिटिश भारत में सम्मिलित हो जाएँ।

(ब) प्रान्तीय सरकारो के सम्बन्ध में

इस रिपोर्ट में दृढ एव निश्चित रूप। से यह घोषणा की गई कि "जहाँ तक सम्भव हो सके वहाँ तक प्रत्येक प्रान्त अपने स्वय के क्षेत्र में स्वतन्त्र होना चाहिये।"[1] रिपोर्ट मे यह सम्मति प्रकट की गई थी कि द्वैत शासन की व्यवस्था को समाप्त कर दिया जाए, और प्रान्तीय शासन का सम्पूर्ण क्षेत्र मन्त्रियों को सौंप दिया जाए जो लोकप्रिय व्यवस्थापिका सभा में से लिए गए हों और जो उसी के प्रति उत्तरदायी रहें, क्योंकि सुरक्षित क्षेत्र को स्थायी रखने का तात्पर्य होगा प्रान्तीय क्षेत्र के सुरक्षित भाग पर केन्द्रीय सरकार और भारत सचिव के नियन्त्रण को स्थायी रखना, और यह नियन्त्रण रिपोर्ट में प्रस्तावित प्रान्तीय स्वराज्य के सिद्धान्त के ही विरुद्ध था। प्रान्तीय स्वराज्य के पक्ष में कमीशन ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि राजनैतिक स्थिति इस प्रकार की हो गई थी कि व्यवस्थापिका सभा अथवा जनता के लिए, यह अधिक समय तक सम्भव नहीं होगा कि प्रान्तीय शासन के सचालन के उत्तरदायित्व और उसके प्रति विश्वास को मन्त्रियों के अतिरिक्त वे किसी और को सौंप सकें, जो अब एक सयुक्त मन्त्रिमण्डल का निर्माण करेंगे। इसलिए साइमन रिपोर्ट में यह सम्मति प्रकट की गई कि कुछ विशेष निर्धारित परिस्थितियों जैसे प्रान्त की सुरक्षा अथवा अल्प दल की रक्षा, आदि के अतिरिक्त मन्त्री गवर्नर अथवा केन्द्रीय सरकार के हस्तक्षेप से स्वतन्त्र होंगे। कमीशन की रिपोर्ट में यह और भी स्पष्ट किया गया कि प्रान्तीय स्वराज्य के जीव तत्व के नाते कर लगाने के नवीन साधनों तथा ऋण लेने के व्यापक अधिकारों द्वारा आय सम्बन्धी स्वतन्त्रता को भी व्यापक बनाया जाय। प्रान्तीय क्षेत्र मे अधिक उत्तरदायित्व प्रदान करने के लिए एक व्यापक जनमत के आधार की भी आवश्यकता

---

1 "Each province should as far as possible be mistress in her own house"
—Simon Commission Report.

थी। और इसलिए इस कमीशन ने अपनी यह सम्मति प्रकट की कि व्यवस्थापिका सभाओं के आधार में वृद्धि की जाय और अधिकार को अधिक व्यापक बनाया जाए, परन्तु यह कमीशन व्यस्क मताधिकार के सिद्धान्त को उस समय ग्रहण करने के पक्ष में नहीं था।

रिपोर्ट में इस बात की आवश्यकता पर अधिक बल दिया गया कि कुछ विशेष महत्वपूर्ण कार्यों के सम्बन्ध में मन्त्रियों की सम्मति और निर्णय को अस्वीकार करने के लिए गवर्नरों को कुछ विशेषाधिकार प्राप्त होने चाहिए।

(स) केन्द्रीय सरकार के सम्बन्ध में

केन्द्र के विषय में भी कमीशन ने इसी बात की अनिवार्यता पर बल दिया कि संघ शासन की स्थापना की जानी चाहिए। उनका मत था कि अब केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा का निर्माण संघात्मक शासन के सिद्धान्तानुसार करना चाहिए। प्रथम भवन, जिसे सघीय परिषद (Federal Assembly) कहा जाता था, के सदस्यों का निर्वाचन प्रान्तीय काउन्सिलों के सदस्य अप्रत्यक्ष रूप से करेंगे। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि यह सिद्धान्त विश्व की सघीय व्यवस्था के ही विरुद्ध था। राज्य परिषद (Council of State) का चुनाव और उसमें की जाने वाली नियुक्तियाँ भी प्रान्तीय आधार पर ही होनी चाहिए। सीटों के वितरण के सम्बन्ध में कमीशन का मत था कि जहाँ तक सघीय परिषद का प्रश्न है, यह विभाजन अनुमानित रूप से प्रान्तीय जन संख्या के अनुपात में होना चाहिए, और राज्य परिषद में प्रत्येक प्रान्त को तीन सदस्य भेजने का अधिकार होना चाहिए।

"केन्द्रीय कार्यकारिणी के सम्बन्ध में," जैसा कि कूपलैण्ड ने कहा है, "रिपोर्ट में विकास की व्याख्या अत्यधिक कर्णगोचर प्रतीत हुई।"[1] रिपोर्ट में इस सम्बन्ध में किसी प्रकार का कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन प्रस्तावित नहीं किया गया था। केन्द्रीय सरकार का स्वरूप उसी प्रकार सरकारी रहना था जैसा इसके पूर्व समय में था। किसी भी रूप में इसे लोकप्रिय व्यवस्थापिका सभा के प्रति उत्तरदायी नहीं होना था। वह केवल भारत सचिव के प्रति और उसके द्वारा ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के प्रति उत्तरदायी थी। रिपोर्ट में दी गई इस सम्मति का पथप्रदर्शक गोरे लोगों का यह विश्वास ही था कि भारतीय अपने कार्यों का सम्पादन करने के योग्य नहीं है। इसलिए कमीशन का मत था :

"इसके पूर्व ही कि उत्तरदायी शासन के यथार्थ प्रयोग के अनुरूप परिस्थितियों का जन्म हो, यदि केन्द्र में उत्तरदायी सरकार स्थापित करने की असामयिक चेष्टा की जाए, तो इसका परिणाम विकास की अपेक्षा पतन ही होगा।"

---

[1] "It was with regard to the central executive that the note of gradualness became most audible in the Report." —Coupland.

लाने का किस सीमा तक उत्तरदायी सरकार के सिद्धांत की स्थापना करना उचित होगा अथवा किस सीमा तक वर्तमान उत्तरदायी सरकार को व्यापक रूप प्रदान करना उसमें संशोधन करना अथवा उस पर प्रतिबन्ध लगाना उचित होगा" कर्तव्य सौंपा गया था।

साइमन कमीशन की मुख्य सम्मतियों का वर्णन संक्षेप में निम्न प्रकार से किया जा सकता है :—

(अ) भारतवर्ष में सरकार के निश्चित स्वरूप के सम्बन्ध में

रिपोर्ट के लेखकों के मतानुसार भारतवर्ष के लिए निश्चित रूप से जो वैधानिक स्वरूप उपस्थित किया जा सकता था वह केवल संघात्मक आधार पर ही हो सकता था। सरकार के केवल इसी स्वरूप के अन्तर्गत देशी राज्यों से यह आशा की जा सकती थी कि वे ब्रिटिश भारत में सम्मिलित हो जाएँ।

(ब) प्रान्तीय सरकारों के सम्बन्ध में

इस रिपोर्ट में दृढ़ एवं निश्चित रूप से यह घोषणा की गई कि "जहाँ तक सम्भव हो सके वहाँ तक प्रत्येक प्रान्त अपने स्वयं के क्षेत्र में स्वतन्त्र होना चाहिये।"[1] रिपोर्ट में यह सम्मति प्रकट की गई थी कि द्वैत शासन की व्यवस्था को समाप्त कर दिया जाए, और प्रान्तीय शासन का सम्पूर्ण क्षेत्र मन्त्रियों को सौंप दिया जाए जो लोकप्रिय व्यवस्थापिका सभा में से लिए गए हों और जो उसी के प्रति उत्तरदायी रहें, क्योंकि सुरक्षित क्षेत्र को स्थायी रखने का तात्पर्य होगा प्रान्तीय क्षेत्र के सुरक्षित भाग पर केन्द्रीय सरकार और भारत सचिव के नियन्त्रण को स्थायी रखना, और यह नियन्त्रण रिपोर्ट में प्रस्तावित प्रान्तीय स्वराज्य के सिद्धान्त के ही विरुद्ध था। प्रान्तीय स्वराज्य के पक्ष में कमीशन ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि राजनैतिक स्थिति इस प्रकार की हो गई थी कि व्यवस्थापिका सभा अथवा जनता के लिए, यह अधिक समय तक सम्भव नहीं होगा कि प्रान्तीय शासन के संचालन के उत्तरदायित्व और उसके प्रति विश्वास को मन्त्रियों के अतिरिक्त वे किसी और को सौंप सकें, जो अब एक संयुक्त मन्त्रिमण्डल का निर्माण करेंगे। इसलिए साइमन रिपोर्ट में यह सम्मति प्रकट की गई कि कुछ विशेष निर्धारित परिस्थितियों जैसे प्रान्त की सुरक्षा अथवा अल्प दल की रक्षा, आदि के अतिरिक्त मन्त्री गवर्नर अथवा केन्द्रीय सरकार के हस्तक्षेप से स्वतन्त्र होंगे। कमीशन की रिपोर्ट में यह और भी स्पष्ट किया गया कि प्रान्तीय स्वराज्य के जीव तत्त्व के नाते कर लगाने के नवीन साधनों तथा ऋण लेने के व्यापक अधिकारों द्वारा आय सम्बन्धी स्वतन्त्रता को भी व्यापक बनाया जाय। प्रान्तीय क्षेत्र में अधिक उत्तरदायित्व प्रदान करने के लिए एक व्यापक जनमत के आधार की भी आवश्यकता

---

[1] "Each province should as far as possible be mistress in her own house"
—Simon Commission Report.

जितना यह सिद्धान्त कि भारतीयों के रहने के मकानों का नक्शा भी देवस्वरूप अँगरेज ही बनाएँ। और वास्तव में उपर्युक्त नीति द्वारा भारतीयों को वैधानिक विकास में मौलिक रूप से भाग लेने की अनुमति प्रदान की गई थी। स्वभावतः ही इससे सन् १९१७ की सम्राट (His Majesty) की घोषणा की यह विचारधारा भी खण्डित होती थी कि "प्रत्येक विकास का समय और परिमाण केवल पार्लियामेण्ट द्वारा ही निश्चित किया जा सकता है।"

जहाँ तक साम्प्रदायिक समस्या का प्रश्न था, कमीशन ने साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व को अनिष्टकर एवं दूषित बतलाया, परन्तु तत्कालीन परिस्थितियों में उसे अत्याज्य और आवश्यक बतलाया।

प्रतिक्रिया

साइमन कमीशन और साइमन रिपोर्ट दोनों ही भारतीयों के लिए अशुभ, दुःखद और अनिष्टकर थीं।

३ फरवरी सन् १९२८ को साइमन कमीशन के बम्बई आगमन पर इनका स्वागत देशव्यापी हड़ताल द्वारा हुआ। जहाँ कहीं इस कमीशन का आगमन हुआ वहीं पर काले झण्डे लिए हुए और 'साइमन वापस जाओ' के नारे लगाते हुए विरोधी जुलूसों द्वारा इनका स्वागत किया गया। साइमन कमीशन की यह दुर्गति इसीलिए हुई कि इसमें सब गोरे व्यक्ति थे। इस कमीशन के सातों सदस्य अँगरेज जाति के थे। भारतवर्ष के क्रोध के इस कारण का दिग्दर्शन सर तेज बहादुर सप्रू ने निम्नलिखित शब्दों में बड़ी योग्यता से किया है :—

भारतीयों का बहिष्कार "निश्चित रूप से भारतवर्ष के लोगों का अपमान एवं तिरस्कार है, क्योंकि यह बात केवल उन्हें निम्न स्तर पर ही नहीं रख देती, बल्कि इससे भी अधिक दूषित बात यह है कि इसके द्वारा स्वयं अपने देश के विधान के निश्चित करने में उन्हें भाग लेने का अधिकार प्राप्त नहीं होता।"[1]

साइमन रिपोर्ट के महत्त्व के सम्बन्ध में कूपलैण्ड ने प्रभावशाली शब्दों में लिखा था

"मई सन् १९३० में प्रकाशित साइमन रिपोर्ट द्वारा ब्रिटिश राजनीति शास्त्र के पुस्तकालय के एक और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की वृद्धि हुई।"[2]

---

[1] Exclusion of Indians "is a deliberate insult to the people of India, as not only does it definitely assign to them a position of inferiority, but what is worse, it denies to them the right to participate in the determination of the constitution of their own country."
—Sir Tej Bahadur Sapru.

[2] "The publication of the Simon Report in May 1930 added another work of first rate value to the library of British Political Science."
—Coupland.

भारतीयों की अयोग्यता के प्रति अविश्वास के तर्क उपस्थित करते हुए कमीशन ने स्पष्ट, परन्तु विनम्र भाषा में यह सम्मति प्रकट की थी :

"इस बात का एक कारण यह भी था कि जब तक कि प्रान्तीय काउन्सिल अनुभव द्वारा इस नवीन और महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व के सम्पूर्ण भार को सहने की शिक्षा ग्रहण कर रही थी, उस समय तक केन्द्र को दृढ एवं समर्थ रखने की आवश्यकता थी।"

केन्द्र में द्वैत शासन प्रणाली की स्थापना के विचार को कमीशन ने अस्वीकृत कर दिया। इस अस्वीकृति का आधार द्वैत शासन व्यवस्था के स्वभावगत दोष न होकर कमीशन का यह सन्देह था कि भारतवर्ष में इंगलैंड की सचिवतन्त्र संस्थाओं जैसी महत्त्वपूर्ण संस्थाओं का विकास होगा, क्योंकि यह असम्भव है कि सचिवतन्त्र पुष्प प्रत्येक देश रूपी क्यारी मे खिल जाए। न इस प्रकार इस स्थान पर साइमन कमीशन मान्टेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट और सन् १९१७ की सम्राट (His Majesty) की घोषणा के मूल को ही खण्डित करता था। इस महत्त्वपूर्ण अतिक्रमण के सम्बन्ध में कमीशन ने अपनी सम्मति निम्नलिखित शब्दों में प्रकट की थी :

"सचिवतन्त्र संस्थाओं की प्राप्ति के हेतु अग्रसर होने के लिए प्रान्तों में द्वैत शासन प्रणाली की स्थापना की गई थी, परन्तु हमारा यह विचार है कि यह आवश्यक नहीं कि केन्द्र में भी इसी आधार पर वैधानिक विकास हो।"

'विशाल भारत'[1] के लिए एक काउन्सिल के सम्बन्ध में

अखिल भारतीय संघ की स्थापना के सम्बन्ध में कमीशन ने यह सम्मति भी प्रकट की थी कि 'विशाल भारत' की एक काउन्सिल का निर्माण किया जाए। इस काउन्सिल में ब्रिटिश भारत और देशी राज्य दोनों के प्रतिनिधि होने चाहिएँ। इस काउन्सिल का कार्य था समानहित के विषयों पर विचार विमर्ष करना। इन विषयों की एक सूची पृथक रूप से तैयार की जाने को थी।

(क) साम्प्रदायिक समस्या और भविष्य में होने वाले भारतवर्ष मे वैधानिक विकास के सम्बन्ध में

कमीशन का अब भी यह मत था कि भारतवर्ष में वैधानिक विकास क्रमिक रूप से होना चाहिए। परन्तु रिपोर्ट में यह मत प्रकट किया गया था कि सामयिक परीक्षण की इस योजना को अब समाप्त कर देना चाहिए और नवीन विधान का निर्माण ही इतना लचीला होना चाहिए कि वह स्वयं ही विकसित हो सके। कमीशन की यह सम्मति वास्तव में भारतवर्ष की राष्ट्रीय राजनैतिक मत के अनुरूप थी। क्योंकि भारतीयों को इससे अधिक घृणित और दुःखदायी कोई बात प्रतीत नहीं होती थी

---

1 "Greater India"

जितना यह सिद्धान्त कि भारतीयों के रहने के मकानों का नक्शा भी देवस्वरूप अँगरेज ही बनाएं। और वास्तव में उपर्युक्त सम्मति द्वारा भारतीयों को वैधानिक विकास में मौलिक रूप से भाग लेने की अनुमति प्रदान की गई थी। स्वभावतः ही इससे सन् १९१७ की सम्राट (His Majesty) की घोषणा की यह विचारधारा भी खण्डित होती थी कि "प्रत्येक विकास का समय और परिमाण केवल पार्लियामेण्ट द्वारा ही निश्चित किया जा सकता है।'

जहाँ तक साम्प्रदायिक समस्या का प्रश्न था, कमीशन ने साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व को अनिष्टकर एवं दूषित बतलाया, परन्तु तत्कालीन परिस्थितियों में उसे अत्याज्य और आवश्यक ठहराया।

प्रतिक्रिया

साइमन कमीशन और साइमन रिपोर्ट दोनों ही भारतीयों के लिए अशुभ, कुरूप और अनिष्टकर थीं।

३ फरवरी सन् १९२८ को साइमन कमीशन के बम्बई आगमन पर इनका स्वागत देशव्यापी हड़ताल द्वारा हुआ। जहाँ कहीं इस कमीशन का आगमन हुआ वहीं पर काले झण्डे लिए हुए और 'साइमन वापस जाओ' के नारे लगाते हुए विरोधी जुलूसों द्वारा इनका स्वागत किया गया। साइमन कमीशन की यह दुर्गति इसीलिए हुई कि इसमें सब गोरे व्यक्ति थे। इस कमीशन के सातों सदस्य अँगरेज जाति के थे। भारतवर्ष के क्रोध के इस कारण का दिग्दर्शन सर तेज बहादुर सप्रू ने निम्नलिखित शब्दों में बड़ी रोचकता से किया है —

भारतीयों का बहिष्कार "निश्चित रूप से भारतवर्ष के लोगों का अपमान एवं तिरस्कार है, क्योंकि यह बात केवल उन्हें निम्न स्तर पर ही नहीं रख देती, बल्कि इससे भी अधिक दूषित बात यह है कि इसके द्वारा स्वयं अपने देश के विधान को निश्चित करने में उन्हें भाग लेने का अधिकार प्राप्त नहीं होता।"[1]

साइमन रिपोर्ट के महत्त्व के सम्बन्ध में कूपलैण्ड ने प्रभावशाली शब्दों में लिखा था :

"मई सन् १९३० में प्रकाशित साइमन रिपोर्ट द्वारा ब्रिटिश राजनीति शास्त्र के पुस्तकालय के एक और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की वृद्धि हुई।"[2]

---

[1] Exclusion of Indians "is a deliberate insult to the people of India, as not only does it definitely assign to them a position of inferiority, but what is worse, it denies to them the right to participate in the determination of the constitution of their own country."

—Sir Tej Bahadur Sapru.

[2] "The publication of the Simon Report in May 1930 added another work of first rate value to the library of British Political Science."

—Coupland.

राजनीति शास्त्र के आदर्श एव सिद्धान्तों पर एक ग्रन्थ के रूप में साइमन रिपोर्ट का महत्त्व कुछ भी हो, परन्तु एक १६३० के भारतवर्ष के सन्बन्ध में उसकी समस्याओं के हल स्वरूप उसका महत्व कुछ भी नहीं था। दार्शनिकता की तरग में लिखी हुई यह रिपोर्ट केवल दार्शनिकों के लिए ही थी, जो उस परिस्थिति के मूल तत्वों से अनभिज्ञ उन सिद्धान्तों पर अधिक बल दे रही थी जो उस समय को देखते हुए अनेक शताब्दियों के पूर्व के प्रतीत होते थे। साइमन रिपोर्ट की अपूर्णता यही थी कि उपेक्षित सीमा के अतिरिक्त उसमें भारतवर्ष के राष्ट्रीय मत के उत्थान तथा राष्ट्रीय दृष्टिकोण से देश की अनन्तरित समस्याओं को नहीं समझा गया था। क्योंकि उस समय उपस्थिति की गई माँगों के महत्व को समझने में वह असफल रही, इसलिए उनकी रिपोर्ट में प्रस्तावित व्यवस्था भी असन्तोषजनक रही। साइमन रिपोर्ट का महत्व केवल उसके पुरातन एव असामयिक होने तथा भारतवर्ष की राष्ट्रीय मत रूपी वीणा के मधुर सुरों में सुर न मिला सकने में ही था। इस प्रकार की असामयिक रिपोर्ट को सन् १६३५ के एक्ट का मुख्य आधार बना लेना ही इस सत्य को भी स्पष्ट कर देता है कि भारतीयों को सन्तुष्ट करने में स्वय सन् १६३५ का एक्ट क्यों असफल सिद्ध हुआ।

राष्ट्रवादी भारतवर्ष ने साइमन कमीशन को घूरे के ढेर में डाल दिए जाने योग्य बतला कर जिन आधारों पर उसका बहिष्कार किया, वे निम्नलिखित थे —

(१) उस समय भारतवासी प्रधान रूप से स्वराज चाहते थे। स्वराज प्राप्ति के पश्चात उनकी सरकार का क्या स्वरूप होगा, इसका महत्व उनकी दृष्टि में गौण था। इसलिए स्वभावत ही साइमन कमीशन द्वारा एक दूरस्थ सघ के गुणों का बखान तथा शनैं शनैं उसकी ओर अग्रसर होने का तात्पर्य भारतीयों के लिए यही था कि मुख्य विषय को टाला जा रहा है। साइमन रिपोर्ट में उस बात पर तो अत्यन्त प्रभाव पूर्ण शब्दों में बल दिया गया था जो भारतीयों के लिए एक गौण एव अप्रधान वस्तु थी, और उनकी स्वराज की माँग को उपेक्षापूर्वक अस्वीकार कर दिया गया। इस सत्य ने इस रिपोर्ट को भारतीयों की दृष्टि में तिरस्कृत एव घृणित बना दिया।

(२) इसके अतिरिक्त केन्द्र में किसी उत्तरदायित्व प्रदान किए बिना केवल प्रान्तों में पूर्ण उत्तरदायी सरकार की स्थापना से यही धारणा स्थिर हो गई कि राष्ट्रवादी भारतवर्ष के अधिकारों को अपूर्ण रूप से स्वीकार करना ही रिपोर्ट का लक्ष्य था। यह एक प्रकार का अपमान अथवा तिरस्कार समझा गया। इससे भारतीयों के लिए इस रिपोर्ट का महत्व और भी न्यून होगया।

(३) इस रिपोर्ट द्वारा प्रत्यक्ष तथा निश्चित रूप से एक और भूल हुई थी। सन् १६२८ में नेहरू समिति (Nehru Committee) ने भारतवर्ष के लिए औपनिवेशिक स्वराज्य की माँग प्रस्तुत की थी। १६२६ में वाइसराय ने ब्रिटिश

सरकार के आदेश से, यह घोषित किया था कि सन् १९१७ की सम्राट (His-Majesty) की घोषणा में जो नीति प्रचारित की गई थी उसका स्वाभाविक फल औपनिवेशिक स्वराज्य ही था। परन्तु फिर भी साइमन रिपोर्ट में औपनिवेशिक स्वराज्य के लक्ष्य की ओर बिलकुल संकेत नहीं किया गया था। स्पष्ट रूप से यह उनका अभिप्राय ही था और इसलिए इसके द्वारा साइमन रिपोर्ट के प्रति अविश्वास होना अवश्यम्भावी था।

इस प्रकार मिस्टर साइमन ने अपनी रिपोर्ट में भारतीय राष्ट्रवादियों की भावनाओं तथा आकांक्षाओं को आंशिक रूप में भी पूरा करने की चेष्टा नहीं की और इसीलिए भारतीय कमीशन से असन्तुष्ट रहे।

२—नेहरू रिपोर्ट

नेहरू रिपोर्ट की लेखिका नेहरू समिति (Nehru Committee) वास्तव में श्वेतवर्ण साइमन कमीशन का, जिसका अन्त बड़ा दुःखद हुआ था, बड़ा सुखद परिणाम था। कमीशन में भारतीयों के बहिष्कार का समर्थन करते हुए तत्कालीन वाइसराय लॉर्ड बर्किनहेड ने भारतीयों को चुनौती दी थी कि वे एकमत से स्वीकृत एक विधान प्रस्तुत कर पार्लियामेण्ट के सन्मुख उसे विचारार्थ उपस्थित करें। उन्होंने यह चुनौती इसी दृढ़ विश्वास के साथ दी थी कि भारतीय अपने जातीय वैमनस्य के कारण कभी एकमत नहीं हो पाएंगे। भारतीयों ने यह चुनौती स्वीकार करली और उन्होंने समस्त दलों के एक सम्मेलन का आयोजन किया। इस सम्मेलन ने एक समिति की नियुक्ति की जिसके सभापति श्री मोतीलाल नेहरू और मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू नियुक्त किए गए। इस समिति को ही एक विधान के निर्माण का कार्य सौंपा गया। समिति ने एक चिरस्मरणीय रिपोर्ट प्रस्तुत की जिसे भारतीय बुद्धिमत्ता का प्रथम वैधानिक पुष्प कहा जा सकता है, और जो इतिहास में नेहरू रिपोर्ट के नाम से प्रसिद्ध है।

इस समिति को "भारतवर्ष के लिए विधान के सिद्धान्त निश्चित करने तथा उन पर विचार करने" का कार्य सौंपा गया था। इसकी मुख्य सम्मतियों का विवेचन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है:—

(अ) भारतवर्ष की राजनैतिक स्थिति के सम्बन्ध में

समिति ने बहुमत से यह निश्चित किया कि भारतवर्ष राजनैतिक स्थिति के अन्तरित स्वरूप के लिए "स्वशासित उपनिवेशों के विधान के आदर्श पर आधारित पूर्ण उत्तरदायी सरकार" ही उपयुक्त होगी। भारतवर्ष के सम्बन्ध में उत्तरदायी सरकार के क्रमिक विकास के सिद्धान्त से समिति की रिपोर्ट सहमत नहीं थी। रिपोर्ट में भारतवर्ष के राजनैतिक विकास के लिए औपनिवेशिक स्वराज्य को

(द) देशी राज्यों के सम्बन्ध में

नेहरू रिपोर्ट मे देशी राज्यों की स्थिति पर भी विचार किया गया था। देशी राज्यों के शासकों के अधिकार और उनकी स्वतन्त्रता की सुरक्षा के सम्बन्ध में नेहरू रिपोर्ट भी सहमत थी। परन्तु रिपोर्ट में इस बात की चेतावनी दे दी गई थी कि देशी राज्यों को भारतीय राष्टीयता को छिन्न-भिन्न अथवा नष्ट करने की स्वतन्त्रता प्रदान नहीं की जाएगी। यह निश्चित कर दिया गया कि यदि एक सघीय विधान की स्थापना की जाती है तो देशी राज्यों को उसमें सम्मिलित होने का अधिकार तभी प्राप्त होगा जब उनके राज्य में स्थापित निरकुश शासन नष्ट कर दिया जाएगा। इस प्रकार स्थापित नवीन केन्द्रीय सरकार ब्रिटिश सरकार से देशी राज्यों के प्रति उन समस्त अधिकार और कर्त्तव्यों को ले लेगी, जो 'सार्वभौम सत्ता' (Paramountcy) में निहित थे।

रिपोर्ट का महत्त्व

यदि साइमन रिपोर्ट का महत्त्व केवल उसके पुरातन एव असामयिक होने तथा भारतीयों की राष्ट्रीय भावनाओं के अनुकूल न होने में ही था तो नेहरू रिपोर्ट का महत्व उसके तत्कालीन परिस्थितियों के अनुकूल होने तथा भारतवर्ष के जनमत के समस्वर होने में ही था। यदि हम साइमन कमीशन रिपोर्ट का महत्त्व इसी में निर्धारित करते हैं कि वह ब्रिटिश राजनीति के आदर्श एव अव्यावहारिक सिद्धान्तों पर लिखा गया एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ था, तो हम नेहरू रिपोर्ट को विधान निर्माण करने के व्यावहारिक राजनैतिक क्षेत्र मे किए गए एक चिरस्मरणीय प्रयत्न का स्थान प्रदान कर सकते हैं। भारतीय समस्या के प्रति उसका हल पूर्ण रूप से बुद्धि-सगत तथा व्यावहारिक था। यदि रिपोर्ट में कोई कल्पना की उडान थी तो वह केवल जातीयता की सास्कृतिक व्याख्या ही थी। परन्तु यह स्वीकार करना पडता है कि साम्प्रदायिक मतभेद के निवारण के लिए जो हल रिपोर्ट में प्रतिपादित किया गया था, वही उस समस्या का उचित एव सम्भावित हल हो सकता था। मिस्टर जिन्ना ने इस रिपोर्ट को महत्त्वपूर्ण नहीं माना, क्योंकि उन्होंने एक विवेक रहित साम्प्रदायी की पक्षपातपूर्ण दृष्टि से इसका अवलोकन किया था। इस रिपोर्ट का कोई उपयोग नहीं किया गया, परन्तु फिर भी यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता जैसा कि कूपलैंड ने लिखा है —

"और यद्यपि जैसा कि देखा जाएगा उनके इस कार्य को व्यावहारिक फल किंचित मात्र ही हुआ, फिर भी इस रिपोट को, जिसमें उन्होंने नवीन विधान की व्याख्या प्रस्तुत की है और जो 'नेहरू रिपोर्ट' के नाम से प्रसिद्ध है, राजनीति के अँगरेज़ विद्यार्थियों द्वारा जितना सत्कार प्राप्त हुआ है, यह उससे अधिक के योग्य है। क्योंकि यह केवल इस चुनौती का ही उत्तर नहीं था कि भारतीय राष्ट्रीयता रचनात्मक कार्यों के लिए अयोग्य थी, वल्कि साम्प्रदायिक विष को निष्पक्ष रूप से नष्ट करने के लिए भारतीयों द्वारा जो प्रयत्न किए गए थे, यह उनमें सब से अधिक निष्कपट एव स्पष्ट था।"[1]

---

1 "And, though their work, as will be seen, had little practical

नेहरू रिपोर्ट की द्वितीय मुख्य विशेषता यह थी कि इसका अनन्तरित उद्देश्य औपनिवेशिक स्वराज्य था। इसके अतिरिक्त देशी राज्यों को इसकी दी गई चुनौती और सम्मति भविष्य के लिए युग प्रवर्तक के समान महत्त्वपूर्ण थी। और इन सब मे अधिक महत्त्वपूर्ण था अल्पमत वाले दलों को उनके हितों की रक्षा के हेतु मौलिक अधिकारों के आज्ञा पत्र द्वारा प्रदान किया गया निश्चित आश्वासन। अल्प दलों की समस्या का यह एक ऐसा चिरस्थायी हल था, जो विश्व के किसी भी देश मे सफलता के साथ लागू किया जा सकता था, जहाँ कि अल्पदल कुछ युक्तिसंगत माँग उपस्थित करते हों। तब इसमें कुछ अधिक आश्चर्य की बात नहीं कि भारतीय गणतन्त्र के विधान मे मौलिक अधिकारों को भी स्थान प्रदान किया गया।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारतीयों का राष्ट्रीय एकता की नींव पर अपने देश के लिए विधान निर्माण करने का यह प्रथम प्रयास स्वतं भारतीय राष्ट्रीयता के लिए हाँ एक स्थायी उपहार था। इस सम्बन्ध मे कूपलैंड का कथन उल्लेखनीय है :—

" वह एक उत्साह पूर्ण प्रयास था, और उससे जिस नवनिर्माण का आगमन हुआ, कदाचित् उसका प्रयोग भविष्य मे होने वाले सुधारों के ग्रहण करने और उन्हें व्यापक बनाने के आधार रूप किया जा सकता था।"

सारांश रूप नेहरू रिपोर्ट के महत्त्व को जकारियास के शब्दों मे निम्नलिखित किया जा सकता है—

"नेहरू रिपोर्ट उसके तत्त्व रूप में पढने और अध्ययन करने योग्य है, क्योंकि हस्तगत किए गए प्रत्येक विषय का यह पूर्ण विवेचन करती है और उस व्यावहारिक ज्ञान का प्रदर्शन करती है, जो न तो स्वयं को काल्पनिक सिद्धान्तों की भूल भुलैयाँ में ही खोता है और जो समान रूप से ही अनर्थक वार्त्ता के विज्ञापन की आड़ में आश्रय लेने से घृणा करता है।"[1]

---

result, the report in which they set forth and explained the new constitution, commonly called the 'Nehru Report' deserved more attention from British students of politics, than it received For it was not only an answar to the challenge that Indian Nationalism was unconstructive, it embodied the frankest attempt yet made by Indians to face squarely the difficulties of communalism."

— Coupland.

[1] "The Nehru Report deserves to be read and studied in all its details, as it sheds light on every subject it touches, and displays a practical commonsense which never loses itself in doctrinaire utopias, but which equally spurns to shelter itself behind the enunciation of mere platitudes."

—Zacharias.

३—गोल मेज़ सभाएँ

सन् १६३५ के एक्ट के जन्म से पूर्व वैधानिक विकास के लिए भारतवर्ष के आन्दोलन की गाथा को पूरा करने के लिए अब हमें शीघ्र पग बढ़ाने चाहिएँ।

भारतवर्ष की औपनिवेशिक स्वराज्य की माँग के प्रति अँगरेजों की रुखाई और उदासीनता से भारतवर्ष का राष्ट्रीय आन्दोलन और भी प्रज्वलित होने लगा था। मई सन् १६२६ में इँगलैंड में मजदूर दल ने मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया। गृह सरकार के साथ यथेष्ट वाद विवाद के पश्चात लॉर्ड इरविन (Lord Irwin) ३१ अक्तूबर सन् १६२६ को भारतवर्ष वापस आए और उन्होंने बड़ी अनिश्चित एव आत्मसमर्पण न करने वाली परन्तु मीठी भाषा में यह घोषित किया —

"सम्राट (His Majesty) की सरकार द्वारा प्रदान किए गए अधिकार से मैं यह स्पष्ट करना चाहता हूँ कि उनकी सम्मति में सन् १६१७ की घोषणा से यही उपलक्षित होता है कि भारतवर्ष में वैधानिक विकास के लिए, जैसा कि वहाँ निश्चित किया गया है, औपनिवेशिक स्वराज्य प्रदान किया जाए।"

उन्होंने इस बात की ओर भी संकेत किया कि शीघ्र ही एक गोल मेज सभा का आयोजन होगा जिसमें नवीन विधान के सिद्धान्तों पर ब्रिटिश सरकार के साथ विचार करने के लिए ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों के प्रतिनिधियों को आमन्त्रित किया जाएगा। परन्तु २३ दिसम्बर सन् १६२६ के गाँधीजी और वाइसरॉय के वार्तालाप में वाइसरॉय गाँधीजी को इस प्रकार का आश्वासन न दे सके कि गोल मेज़ सभा के वाद विवाद का आधार पूर्ण उत्तरदायी सरकार ही होगा। और इसलिए कॉंग्रेस ने यह निर्णय कर लिया कि वह गोल मेज़ सभा में भाग नहीं लेगी, और इस प्रकार राष्ट्रीय आन्दोलन का लक्ष्य अब पूर्ण स्वराज्य हो गया। १२ मार्च सन् १६३० को महात्मा गाँधी और उनके ७६ अनुयायियों द्वारा इतिहास प्रसिद्ध डंडी कूच हुआ। इस प्रकार सन् १६३०-३१ के असहयोग आन्दोलन का शुभ उद्‌घाटन हुआ जो तुरन्त ही अत्यन्त व्यापक हो गया। बालकों, स्त्रियों, पुरुषों, सभी के प्रति घृणित, निन्द्य तथा अमानुषिक शमन की नीति से काम लिया गया और इसके साथ ही मृत्यु का ताडव नृत्य भी आरम्भ हुआ। परन्तु राष्ट्रीय आन्दोलन की दिव्य ज्योति जो एक बार जल चुकी तो उसको बुझाना तो दूर उसके प्रकाश को मन्द करना भी असम्भव था। उसमें पावन और पवित्र अग्नि शिखा की आभा थी, इसलिए उसका प्रकाश अनन्त और अमर था।

प्रथम गोल मेज सभा

भारतवर्ष में जबकि असहयोग आन्दोलन अपने उच्चतम शिखर पर था, ब्रिटिश सरकार ने गोल मेज़ सभा का आयोजन किया, जिसकी बैठक सेन्ट जेम्स भवन लन्दन मे १२ नवम्बर सन् १६३० को हुई। इस सभा का उद्‌घाटन सम्राट (King

Emperor) ने किया था और कांग्रेस के प्रतिनिधियों को छोड़कर ८६ प्रतिनिधियों ने इसमें भाग लिया।

प्रधान मन्त्री मिस्टर मैकडोनल्ड ने कहा कि इस नवीन विधान का स्वरूप संघात्मक होगा, और ब्रिटिश सरकार प्रान्तों में उत्तरदायी सरकार की स्थापना के लिए तैयार है। केन्द्र में उत्तरदायी सरकार की स्थापना कुछ ऐसे कानूनों तथा नियमों के साथ की जा सकती है जो इस परिवर्तित युग के लिए अनिवार्य हों। परन्तु इस परिवर्तित युग की अवधि के सम्बन्ध में वे मौन ही रहे। उन्होंने भारतवर्ष की औपनिवेशिक स्वराज्य की माँग को भी स्वीकार नहीं किया, यद्यपि सर तेज बहादुर सप्रू और श्री जयकर ने अपनी समस्त शक्ति के साथ इसके पक्ष में तर्क वितर्क उपस्थित किए। भारतीय संघ की इस विचारधारा का देशी राज्यों के प्रतिनिधियों ने भी हार्दिक स्वागत किया। साम्प्रदायिकता की गुत्थी उलझी ही रही। इस विषय में डाक्टर अम्बेडकर की इस माँग ने कि दलित वर्ग के लिए पृथक निर्वाचन प्रदान किया जाए, गुत्थी को और भी उलझा दिया।

सभा के अन्त में प्रधान मन्त्री ने अपने भाषण में ब्रिटिश सरकार की ओर से इस बात का आश्वासन दिया कि वह संघीय योजना, प्रान्तों में पूर्ण उत्तरदायी सरकार और केन्द्र में आंशिक उत्तरदायी सरकार की जिसमें कुछ कानून तथा नियम भी हों स्थापना को स्वीकार करते हैं। प्रथम गोल मेज़ सभा में जो कुछ निश्चित हुआ, उसका सार यही था!

गाँधी-इरविन समझौता और गोल मेज सभा का द्वितीय अधिवेशन

कांग्रेस के प्रतिनिधियों से रहित, गोल मेज़ सभा रामायण के उसी नाटक के समान थी जिसमें अयोध्या कुमार न हों। इसलिए स्वभावतः ही ब्रिटिश सरकार कांग्रेस से समझौता करने के लिए अत्यन्त उत्सुक थी। और इसलिए ५ मार्च सन् १९३१ को गाँधी-इरविन समझौता (Gandhi-Irwin Pact) निश्चित हुआ।

समझौते की शर्तों के अनुसार वाइसरॉय इसके लिए सहमत हो गए कि :—

(अ) हिंसात्मक अपराधियों के अतिरिक्त समस्त राजनैतिक बन्दियों की मुक्ति कर दी जाएगी;

(ब) अपहरण की हुई सम्पत्ति का पुनः स्थापन किया जायगा;

(स) उन व्यक्तियों को, जो समुद्र के तट पर एक नियमित सीमा में रह रहे हों, बिना किसी कर के नमक बनाने अथवा एकत्रित करने की अनुमति प्रदान की जाएगी;

१२

(द) मदिरा, अफ़ीम और विदेशी वस्त्रों की दुकानों के सन्मुख शान्तिपूर्ण विरोध प्रदर्शन की अनुमति प्रदान की जाएगी।

इसके विपरीत दूसरी ओर कॉंग्रेस ने यह आश्वासन दिया कि .

(अ) असहयोग आन्दोलन को स्थगित कर दिया जायगा,

(व) पुलिस के अत्याचारों की जाँच की निष्पक्ष माँग को त्याग दिया जाएगा;

(स) गोल मेज़ सभा के द्वितीय अधिवेशन में इस आधार पर भाग लिया जायगा कि अखिल भारतीय सघ की स्थापना होगी और सुरक्षित अधिकारों के साथ जो उत्तरदायित्व प्रदान किया जाएगा वह भारत के हित में होगा।

रूढिवादी और उदार दल के सयुक्त मन्त्रिमण्डल के, जिसके प्रधान अव भी रैमज़े मैकडोनल्ड ही थे, सरक्षण में गोलमेज़ सभा का द्वितीय अधिवेशन हुआ। कॉंग्रेस के पूर्ण रूप से सरकारी प्रतिनिधि के रूप में गॉंधीजी ने इस सभा में भाग लिया। इस सभा में संघीय न्यायालय के निर्माण, सघीय व्यवस्थापिका सभा के निर्माण और देशी राज्यों के प्रवेश की प्रणाली निश्चित किए गए। महात्मा गाँधी औपनिवेशिक स्वराज्य और सेना और विदेशी नीति पर पूर्ण रूप से भारतीय नियन्त्रण की माँग को स्वीकृत कराने में असफल रहे। साम्प्रदायिकता की समस्या फिर भी हल न हो पाई, और महात्मा गॉंधी गोल मेज़ सभा से एक प्रकार से खाली हाथ ही भारत लौटे।

मैकडोनल्ड का निर्णय और पूना का समझौता

यहाँ हमें एक दृष्टि मैकडोनल्ड के निर्णय (Macdonald Award) और पूना के समझौते (Poona Pact) पर भी डाल लेनी चाहिए, जो सन् १९३५ के एक्ट के पूर्व के वैधानिक विकास के नाटक में उपस्थित द्वितीय और तृतीय गोल मेज़ सभाओं के माध्यम् स्वरूप थे।

भारतवर्ष में महात्मा गाँधी के उपस्थित न होने के कारण गाँधी-इरविन समझौते की समस्त शर्तें समाप्त होगई। लॉर्ड इरविन के पश्चात् लॉर्ड वेलिंग्टन (Lord Wellington) के समय में नौकरशाही शासन का पुनर्जन्म हुआ। लॉर्ड वेलिंग्टन ने कॉंग्रेस को रूढ़िवादियों के झक्कीपन के अनुसार अपने शब्दों में "पत्तांतर सरकार" कहा था। उन्होंने भारतवर्ष के राष्ट्रवादियों को वन्दीगृह में डाल दिया और "विना किसी शर्त के मित्र" कह कर महात्मा गाँधी से मिलने से भी मना कर दिया। परिणामस्वरूप ३ जनवरी सन् १९३२ को फिर से असहयोग आन्दोलन आरम्भ हुआ—परन्तु इसका शमन और भी अमानुषिकता से किया गया। यह आन्दोलन १४ जुलाई सन् १९३३ को समाप्त हुआ। इस आन्दोलन ने यह सिद्ध कर दिया कि भारतवासी लहू और आँसू वहा कर भी जीवित रहना जानते हैं।

जब भारतवर्ष अपने राष्ट्रीय स्थायित्व के लिए खून और आँसू बहा कर लड़ रहा था, भारत की राष्ट्रीयता पर एक और घाव मैकडोनल्ड के साम्प्रदायिक निर्णय ने किया। द्वितीय सभा की समाप्ति के अवसर पर रैमज़े मैकडोनल्ड ने प्रतिनिधियों से कहा था कि साम्प्रदायिक समस्या को हल करने का मुख्य उत्तरदायित्व उस समस्या से सम्बन्धित स्वयं भारतीय जातियों पर ही है, परन्तु यदि इस सम्बन्ध में सर्वसम्मति से कोई हल प्रतिपादित नहीं किया गया तो विवश होकर ब्रिटिश सरकार को स्वयं अपनी कोई अस्थायी योजना प्रचलित करनी पड़ेगी। इस घोषणा का फल ही सन् १९३२ का मैकडोनल्ड निर्णय अथवा साम्प्रदायिक निर्णय था।

इस निर्णय द्वारा विशेष हितों तथा अल्पदलों को पृथक निर्वाचन प्रदान किया गया। इसी के द्वारा बंगाल और पंजाब में मुसलमानों को भी पृथक निर्वाचन प्रदान किया गया, यद्यपि इन दोनों प्रान्तों में मुसलमानों की संख्या अधिक थी। इसके अतिरिक्त, उत्तर पश्चिमी सीमा प्रदेश को छोड़ कर, प्रत्येक प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा में लगभग ३ प्रतिशत सीटें स्त्रियों के लिए सुरक्षित कर दी गईं, और इन्हें भी विभिन्न सम्प्रदायों में विभाजित कर दिया गया। कुछ पक्षपात तथा विशेष सुविधाएँ भी प्रदान की गई थीं, परन्तु उनका विभाजन भी सिद्धान्त रहित था। इस निर्णय द्वारा दलित वर्ग को एक पृथक अल्पदल स्वीकार किया गया और उसे भी पृथक निर्वाचन द्वारा अपने प्रतिनिधि चुनने का अधिकार प्रदान किया गया। इसके साथ-साथ अन्य निर्वाचन क्षेत्रों में भी उन्हें एक और मत देने का अधिकार दिया गया।

दलित वर्ग से सम्बन्धित धारा को लेकर महात्मा गाँधी ने बड़ा विवाद उठाया। उनका यह दृष्टिकोण उचित ही था कि हिन्दू जाति के व्यवच्छेद द्वारा ब्रिटिश सरकार भारतवर्ष की राष्ट्रीयता का और अधिक खण्डन करना चाहती है। उन्होंने इस दोष के सुधार के लिए २० सितम्बर सन् १९३२ को आमरण अनशन प्रारम्भ कर दिया, इसी के फलस्वरूप पूना का समझौता हुआ।

इस समझौते के अनुसार हरिजनों को मैकडोनल्ड के निर्णय द्वारा प्रदान किए गए स्थानों से भी अधिक स्थान प्रदान किए गए। इन स्थानों अथवा सीटों के लिए होने वाले चुनावों की दो स्थितियाँ थीं, (अ) प्राथमिक, और (ब) अन्तिम। प्राथमिक चुनावों में हरिजनों को प्रदान की गई सीटों के लिए उन्हें प्रत्येक सीट के लिए चार उम्मेदवार पृथक निर्वाचन के आधार पर चुनने थे। परन्तु अन्तिम अवस्था में प्राथमिक निर्वाचन में घोषित सफल उम्मीदवारों के लिए सवर्ण हिन्दू और हरिजन दोनों अपना मत संयुक्त रूप से प्रदान करते थे। इसके अतिरिक्त, दलित वर्ग को चुनावों में उनके लिए सुरक्षित न रखी गईं सामान्य सीटों के सम्बन्ध में भी एक मतदान करने का अधिकार प्रदान किया गया। उपर्युक्त से यह स्पष्ट होगा कि पूना के समझौते द्वारा

साम्प्रदायिक निर्णय की विभाजन की नीति को एक नवीन रूप प्रदान किया गया, जो केवल शाब्दिक अर्थ के दृष्टिकोण से कम घृणित था। पीड़ा तो कम हो गई परन्तु घाव की गहराई वैसी ही रही।

तृतीय गोल मेज़ सभा

गोल मेज़ सभा का अन्तिम अधिवेशन नवम्बर सन् १९३२ में प्रतिक्रिया-वादी रूढ़िवादियों के प्रभुत्व में हुआ था, क्योंकि मज़दूर दल ने सहयोग देने से मना कर दिया था। इस सभा द्वारा पूर्व के निर्णय ही फिर से निश्चित किए गए और अपूर्ण विवरण को पूर्ण किया गया।

उपसंहार

इन समस्त गोल मेज सभाओं का फल मार्च सन् १९३३ का 'राजकीय पत्र' (White Paper) था। सभाओं द्वारा प्रदान किए गए निर्णयों और रूढ़िवादियों की आलोचना के कारण किए गए महत्वपूर्ण परिवर्तनों का इसमें उल्लेख था। पार्लियामेण्ट के दोनों भवनों की एक संयुक्त समिति द्वारा इसका परीक्षण किया गया, जिसने इसमें कुछ संशोधन किए, और संघीय परिषद् के लिए अप्रत्यक्ष निर्वाचन की सम्मति प्रकट कर इस समिति ने इस पत्र को साइमन कमीशन रिपोर्ट के समानान्तर बिठा दिया। इसी योजना ने सन् १९३५ के गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया एक्ट (Government of India Act of 1935) का स्वरूप ग्रहण किया, जो साइमन कमीशन रिपोर्ट के समान तथा नेहरू समिति की रिपोर्ट से अत्यन्त दूर अथवा असमान था।

दूसरा अध्याय

मुख्य विशेषताओं का अध्ययन

"प्रान्तीय स्वराज्य की स्थापना की जाने वाली थी. परन्तु हमें अनुशासन में रखने के लिए वहां सर्वशक्तिमान और उदार तानाशाह गवर्नर होगा। और सबसे उच्च पद पर सर्वोच्च, प्रधान तानाशाह, वाइसराय पधारेंगे, जिनके हाथों में इस बात के पूर्ण अधिकार होंगे कि इच्छानुसार कार्य करें और जब चाहें तब प्रतिबन्ध उपस्थित करें। औपनिवेशिक सरकार के सम्बन्ध में अंगरेजों के शासक वर्ग की बुद्धिमत्ता वास्तव में कभी इतनी स्पष्ट नहीं हुई होगी. और यह सम्भव है कि हिटलर और मुसोलिनी जैसे व्यक्ति भी उनकी प्रशंसा करें और भारतवर्ष के वाइसराय को ईर्षा की दृष्टि से देखें।"[1]

—जवाहरलाल नेहरू

पन्द्रह वर्ष के दृढ़ आन्दोलन के पश्चात भारतीय राष्ट्रीयता को एक और विजय प्राप्त हुई। इस विजय ने सन् १९३५ के एक्ट के रूप में पदार्पण किया। परन्तु क्या वह नवीन वैधानिक विकास दिए गए मूल्य के बराबर ही था? ब्रिटिश कूटनीति का यह नवजात शिशु क्या भारत माता की व्यथा, उसकी वेदना और उसके सहस्त्रों आँसुओं और पीड़ाओं का मूल्य चुका सकता था जो उसने अपने प्रसव काल में सहन किए थे। इसका उत्तर केवल ना में दिया जा सकता है। इस प्रकार जो कुछ भारतवर्ष ने प्राप्त किया—वह जैसा कि पंडित नेहरू ने उचित ही कहा था, "दासता के एक नवीन आज्ञापत्र" से कुछ अधिक नहीं था। सन् १९३५ का एक्ट वास्तव में भारतवर्ष के राजनैतिक सरोवर में अंगरेजों की कूटनीति द्वारा फेंका हुआ एक अत्यन्त क्षुद्र

---

[1] "There was going to be Provincial Autonomy, but the Governor would be a benevolent and all-powerful dictator keeping us in order. And high above all would sit the All-Highest, the supreme Dictator, the Viceroy, with complete powers to do what he will and check when he desires. Truly the genius of the British ruling class for Colonial Government was never more in evidence, and well may the Hitlers and Mussolinis admire them and look with envy on the Viceroy of India" —Jawahar Lal Nehru.

कंकड मात्र ही था, जिससे उसका वैधानिक सतह पर एक कोमल सी भँवर ही उत्पन्न हो सके, और उसका प्रभाव अत्यन्त गहराई तक न हो।

द्वितीय उपहार

सन् १९३५ का एक्ट भूमिका (Preamble) रहित था। इससे यह स्पष्ट है कि इसमें किसी नवीन सिद्धान्त का अनुसरण नहीं किया गया था। भारतवर्ष में ब्रिटिश नीति सम्बन्धी सन् १९१७ की सम्राट (His Majesty) की घोषणा द्वारा, जिसका लक्ष्य उत्तरदायी सरकार की प्राप्ति कराना था, आरम्भ किए गए वैधानिक नाटक का यह आगामी दृश्य मात्र था। वास्तव में सन् १९३५ का एक्ट भारतवर्ष को प्रदान की जाने वाली उत्तरदायी सरकार का द्वितीय अंश था। यह वक्तव्य लोक सभा में सर सैमुअल होर (Sir Samuel Hoare) के निम्नलिखित कथन से भली प्रकार स्पष्ट हो जाएगा :

"इस विषय में किसी भूमिका की आवश्यकता नहीं है क्योंकि किसी नवीन प्रकार की नीति अथवा अभिप्राय की घोषणा नहीं की जा रही। सन् १९१९ के एक्ट की भूमिका के सम्बन्ध में ज्वाइन्ट कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में लिखा था कि उसमें "भारतवर्ष में अँगरेजी शासन के अन्तिम उद्देश्यों को निश्चित तथा निर्णयात्मक रूप से रख दिया गया है।"

सन् १९३५ का एक्ट स्वय किसी प्रकार की क्रान्ति लेकर नहीं आया था, उसका पदार्पण तो सन् १९१९ के एक्ट द्वारा निर्धारित भारतवर्ष के शासन सम्बन्धी आधारभूत सिद्धान्तों से जन्मित क्रान्ति को अग्रसर करने के हेतु ही हुआ था।

सन् १९३५ के एक्ट का मूलाधार

सन् १९३५ का एक्ट लिखित रूप में तो भारतवर्ष में एकात्मक शासन के स्थान पर सघात्मक शासन की स्थापना करने के लिए प्रस्तावित किया गया था, परन्तु उसके मूल आधार सन् १९१९ के एक्ट के समान ही थे। निस्सन्देह इस एक्ट द्वारा एक प्रणाली अथवा व्यवस्था की समाप्ति और एक अन्य प्रणाली का आरम्भ हुआ। इसके द्वारा प्रान्तीय स्वराज्य प्रदान किया गया। इस प्रकार सन् १९१९ के एक्ट के अन्तर्गत द्वैत शासन प्रणाली द्वारा प्रान्तीय क्षेत्र में जो अधिकार प्रदान करने का क्रम आरम्भ हुआ था, इस एक्ट द्वारा उस क्रम को पूर्ण किया गया। इस एक्ट द्वारा केन्द्र के एक भाग को भी लोकप्रिय व्यवस्थापिका सभा के प्रति उत्तरदायी बनाया गया। इस स्थान पर इस एक्ट द्वारा एक नवीन अध्याय का आरम्भ हुआ जो भविष्य में पूरा होने को था। परन्तु सन् १९१९ के एक्ट के समान इस एक्ट का मूल सिद्धान्त भी यही

था अर्थात् अपने देश का शासन भार संभालने के लिए भारतीयों की योग्यता में सन्देह, और इनको पूर्ण उत्तरदायित्व प्रदान करने का अर्थ होगा साम्राज्यशाही, अल्पदल आदि के हित को इनके द्वारा हानि की सम्भावना। और इसीलिए विशेष अधिकार तथा विशेष उत्तरदायित्व के रूप में गवर्नर और गवर्नर जनरल के हाथों में शक्ति केन्द्रित कर दी गई। इसी के कारण केन्द्र में द्वैत शासन प्रणाली की व्यवस्था की गई। लोक सभा में मिस्टर एटली का कथन उचित ही था :

"इस प्रस्ताव का प्रधान तत्व है अविश्वास। इसमें विश्वास का नाम तक नहीं। भारतवर्ष को अपनी विदेशी नीति तथा आय पर कोई नियन्त्रण प्रदान नहीं किया गया है। प्रान्तों के भारतीय निवासी भयत्रस्त राज्य की व्यवस्था करने योग्य नहीं हैं। प्रस्ताव में प्रत्येक स्थान पर जो बात प्रस्तावित की गई है वह यह नहीं है कि हम एक ऐसा विधान प्रस्तुत कर रहे हैं, जिसका शासन भारतीय करेंगे, बल्कि एक ऐसा विधान प्रस्तुत कर रहे हैं जिसमें प्रत्येक स्थान पर सब प्रकार के प्रतिबन्ध उपस्थित हैं। वास्तव में, इस प्रस्ताव द्वारा जो एक बात छोड़ी गई प्रतीत होती है, वह है भारतीय जन।"[1]

सन् १९३५ के एक्ट की मुख्य विशेषताएँ

अब निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत सन् १९३५ के एक्ट की मुख्य विशेषताओं का अध्ययन किया जाएगा :

(१) संघात्मक स्वरूप

इस एक्ट की प्रधान विशेषता यही थी कि इस के द्वारा भारतवर्ष में संघात्मक सरकार की स्थापना की जाने वाली थी। अब तक जिस एकात्मक सरकार के आधार पर अंगरेजों ने भारतवर्ष पर शासन किया था, उस आधार को इस एक्ट द्वारा समाप्त कर दिया गया। और इसीलिए प्रान्तों को एक पृथक वैधानिक व्यक्तित्व प्रदान किया गया, जो कम से कम सैद्धान्तिक रूप में तो स्वतन्त्र हो ही गए। सन् १९१९ के एक्ट की विवेचना में यह लिखा जा चुका है कि उस एक्ट (सन् १९१९ के एक्ट) का

[1] "The keynote of the Bill is mistrust. There is no trust at all. India is not to have control of her foreign affairs and of her finances. Indians in the provinces are not fit to deal with terrorism. The whole note struck by the Bill throughout is not that here we start a constitution which is going to be worked by Indians, but some kind of a constitution with restrictions of every kind all the time. In fact, the one thing which seems to be left out of the Bill is the Indian people."

—Mr. Attlee.

आधारभूत सिद्धान्त यही था कि भारतीयों के हाथों में शक्ति को सौंपा जाए। यह इस दृष्टिकोण से कि उन्हें पूर्ण उत्तरदायी सरकार शनैः शनैः प्रदान करना ही उस एक्ट का लक्ष्य था। संघ की ओर सन् १९१९ के एक्ट का बिलकुल संकेत नहीं था। इस विषय में सन् १९३५ का एक्ट सन् १९१९ के एक्ट से बिलकुल भिन्न है।

यहाँ यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि इस नवीन संघात्मक निर्माण में भी एकात्मक शासन की प्रतिच्छाया उपस्थित थी। इस एक्ट के अन्तर्गत भी प्रान्त अपने क्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्र नहीं थे। युद्ध अथवा किसी ऐसी ही असाधारण परिस्थिति में संघीय व्यवस्थापिका सभा प्रान्तीय क्षेत्र में अपने आदेश लागू कर सकती थी। गवर्नर द्वारा सुरक्षित रखे गए प्रान्तीय प्रस्तावों पर गवर्नर जनरल को अस्वीकृति प्रदान करने का अधिकार था। जिन विषयों के सम्बन्ध में प्रान्तों के गवर्नर अपने विवेक द्वारा अथवा व्यक्तिगत निर्णय द्वारा कार्य करते थे, उन विषयों के सम्बन्ध में वे गवर्नर जनरल के नियन्त्रण में थे। शेष अधिकार अथवा कार्य गवर्नर जनरल के अधिकार में थे, और यह उसकी इच्छा पर निर्भर था कि वह उन कार्यों को चाहे तो केन्द्र को अथवा प्रान्तों को सौंप दे। सांराश रूप से हम कूपलैन्ड के कथन को उद्धृत कर सकते हैं :

"यह संघात्मक राज्य एकात्मक शासन का भार लिए हुए अथवा उसका पक्षपाती है, संयुक्त राज्य अथवा आस्ट्रेलिया के संघों से यह कनाडा के संघ के कहीं अधिक समीप है।"[1]

(२) सचिवतन्त्रात्मक आधार

सन् १९३५ के एक्ट द्वारा केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों का नियन्त्रण सचिवतन्त्रात्मक आधार पर किया गया। केन्द्र में आंशिक तथा प्रान्तों में पूर्ण रूप से मन्त्रि-मण्डल का निर्माण व्यवस्थापिका सभा में से ही होना था, और यह निश्चित कर दिया गया था कि ये मन्त्रि मण्डल व्यवस्थापिका सभा के प्रति ही उत्तरदायी होंगे। इस स्थान पर एक्ट ने सन् १९१७ की सम्राट (His Majesty) की घोषणा के अनुकूल ही कार्य किया और साइमन कमीशन रिपोर्ट की इस आशंका को कि भारतवर्ष में सचिवतन्त्रात्मक प्रणाली का विकास सम्भव नहीं, उठा कर ताक में रख दिया।

(३) केन्द्र में द्वैत शासन

सन् १९३५ के एक्ट की एक अन्य मुख्य विशेषता यह थी कि सन् १९१९ के

---

[1] "It is a federation with, so to speak, a Unitary bias, it is more akin to the Canadian federation than to that of Australia or the United States"
—Coupland.

एक्ट के प्रतिकूल, इसके द्वारा केन्द्र में भी आंशिक उत्तरदायी शासन स्थापित किया गया। केन्द्रीय कार्यकारिणी को लोकप्रिय व्यवस्थापिका सभा के प्रति पाक्षिक रूप से ही उत्तरदायी रखा गया, और इस प्रकार द्वैत शासन प्रणाली के इस घृणित तत्व को केन्द्रीय सरकार के निर्माण में स्थान मिला। रक्षा, धर्म, असभ्य प्रदेश तथा विदेशी नीति सम्बन्धी कार्यों को सुरक्षित विभाग का जामा पहना दिया गया। इन विभागों का शासन-प्रबन्ध गवर्नर जनरल को सौंपा गया। इन विभागों के शासन के लिए वह पूर्व व्यवस्था के समान भारत सचिव के प्रति और उसके द्वारा ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के प्रति उत्तरदायी था। हस्तान्तरित विषयों के अतिरिक्त मन्त्रियों का सुरक्षित क्षेत्र से कोई सम्पर्क नहीं था। और इसलिए सुरक्षित क्षेत्र लोकप्रिय व्यवस्थापिका सभा के नियन्त्रण की अधिकार-सीमा से बाहर था।

केन्द्र में द्वैत शासन प्रणाली की स्थापना के पक्ष में यह तर्क उपस्थित किया गया था कि साम्राज्य की दृष्टि से सुरक्षित विषयों का अत्यन्त महत्त्व है, और भारतीयों को इन विभागों के शासन का तनिक सा भी अनुभव नहीं है। परन्तु बिना एक अवसर प्राप्त किए, क्या भारतीय इस विषय के विशेषज्ञ बन सकते थे. यह किस प्रकार सम्भव था जबकि उन्हें इन विषयों की ओर दृष्टिपात करने का अधिकार भी नहीं था, क्योंकि उनके स्पर्श से ही कदाचित इन विषयों के कोमल शरीर को आघात पहुंचता ?

(४) प्रान्तीय स्वराज्य

सन् १९३५ की अग्रिम विशेषता थी प्रान्तों में द्वैत शासन की व्यवस्था की समाप्ति और उसके स्थान पर प्रान्तीय स्वराज्य की स्थापना। इस एक्ट द्वारा प्रान्तों में सुरक्षित और हस्तान्तरित विषयों का अन्तर समाप्त कर दिया गया। प्रान्तीय शासन का सम्पूर्ण क्षेत्र न्यूनाधिक रूप में उत्तरदायी मन्त्रियों के हाथों में सौंप दिया गया। यहाँ इस बात का ध्यान रखना उचित होगा कि यह प्रान्तीय स्वराज्य वास्तविक न होकर भ्रमपूर्ण ही था, और इसके अतिरिक्त न तो वह पूर्ण ही था और न अकृत्रिम अथवा यथार्थ ही था। केन्द्रीय सरकार को अब भी प्रान्तीय क्षेत्र पर शासन करने का अधिकार था। एक्ट द्वारा गवर्नरों को विवेक और व्यक्तिगत निर्णय आदि के रूप में अनेक विशेष अधिकार प्रदान किए गए, जिससे वे अपने लोकप्रिय मन्त्रियों की सम्मति को रुखाई के साथ ठुकरा सकते थे। इन विशेषाधिकारों के प्रयोग करते समय गवर्नर, गवर्नर जनरल और भारत सचिव के प्रति लगभग उसी रूप में उत्तरदायी थे जिस रूप में वे द्वैत शासन प्रणाली के अन्तर्गत सुरक्षित विषयों के शासन प्रबन्ध के सम्बन्ध में थे। इस सम्बन्ध में कूपलैण्ड को भी यह स्वीकार करना पड़ा :

"गवर्नरों पर उनके विशेषाधिकारों के प्रयोग के सम्बन्ध में गवर्नर जनरल के

नियन्त्रण द्वारा प्रान्तीय स्वराज्य को यथेष्ट आघात पहुँचा है।"[1]

तब क्या हम भूलाभाई देसाई के जो एसेम्बली में कॉंग्रेस दल के नेता थे, शब्दों में यह नहीं कह सकते

"प्रान्तीय स्वराज्य के नाम के इस स्वॉग को प्रदान करने की आवश्यकता ही क्या थी ?"[2]

(५) सुरक्षा और आश्वासन सम्बन्धी प्रतिबन्ध

सुरक्षा और आश्वासन सम्बन्धी प्रतिबन्ध इस एक्ट की एक विलक्षण तथा अद्भुत विशेषता थी। औपनिवेशिक विधानों में कोई भी ऐसी बात नहीं पाई जाती जिसकी तुलना इनसे की जा सके।

यहाँ संक्षेप में इनका वर्णन किया जाएगा। केन्द्र मे इनका स्वरूप रक्षा, धर्म, असभ्य प्रदेश और विदेशी नीति सम्बन्धी विभागों का था। इसका सबसे अधिक स्पष्ट रूप था विशेष उत्तरदायित्व। इन विशेष उत्तरदायित्वों का सम्बन्ध अनेक विषयों से था जैसे भारतवर्ष की सुरक्षा और शान्ति के विरुद्ध उपस्थित संकट को दूर करना (गवर्नर के सम्बन्ध में यही बात एक प्रान्त के लिये लागू थी), अल्पदलों के उचित अधिकार और हितों की रक्षा करना, सिविल सर्विस, देशी राज्यों के अधिकार और उनके शासकों के पद की रक्षा करना, अँगरेज़ों के व्यावसायिक हितों के विरुद्ध फैले हुए व्यावसायिक भिन्नत्व को नष्ट करना, इत्यादि।

सुरक्षा और आश्वासन सम्बन्धी यह अधिकार अपनी मधुर परन्तु सन्दिग्ध एवं अनिश्चित शब्दावली के कारण अपने पंखों को बड़े व्यापक क्षेत्र में फैला सकते थे। इन अधिकारों के मनोमोहक आवरण में ही गवर्नर-जनरल और गवर्नरों की निरकुशता को आश्रय प्रदान किया गया था, और इसकी रक्षा के हेतु साम्राज्यशाही का कवच उपस्थित कर दिया गया था। इन अधिकारों का उद्देश्य था राष्ट्रीय हित का विनाश करके भी भारतवर्ष में अँगरेजी राज्य की स्थापना और साम्राज्यशाही के हित की सुरक्षा करना। इस प्रकार के अधिकार प्रजातन्त्र और उत्तरदायी शासन की भावना और उनके सिद्धान्तों के लिए घातक थे। कूपलैन्ड को भी यह स्वीकार करना पड़ा :

"निश्चित रूप से यह सुरक्षा सम्बन्धी अधिकार इस बात का फिर से स्मरण

---

[1] "Provincial Autonomy is more seriously infringed by the control exercised by the Governor General over the Governors' use of their special powers" —Coupland

[2] "Why offer this mockery of what is called Provincial Autonomy ?" —Bhulabhai Desai

कराने वाले तत्व थे कि सन् १९३५ के एक्ट द्वारा भारतवर्ष को औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त नहीं होगा।"[1]

(६) भारतीय व्यवस्थापिका सभा का सत्ता-रहित स्वरूप

सन् १९३५ के एक्ट की एक और मुख्य विशेषता यह थी कि इसके द्वारा भी भारतीय व्यवस्थापिका सभा का स्वरूप पूर्व व्यवस्था के समान सत्तारहित ही रहा। इसके द्वारा बनाए गए कानूनों का अस्तित्व ब्रिटिश पार्लियामेण्ट की इच्छा-अनिच्छा पर निर्भर था। गवर्नर जनरल, जो भारत सचिव के नियन्त्रण में था, संघीय व्यवस्थापिका सभा के किसी प्रस्ताव को अस्वीकृत कर सकता था, अथवा वह उसे सम्राट (His Majesty) की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रख सकता था। भारत सचिव की सम्मति से सम्राट (His Majesty) इस प्रकार के प्रस्तावों को अस्वीकृत कर सकते थे क्योंकि भारत सचिव केवल ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के प्रति ही उत्तरदायी था, इसलिये भारतीय व्यवस्थापिका सभा के प्रति भारत सचिव की सर्वोच्च सत्ता का यही अर्थ था जो ब्रिटिश पार्लियामेण्ट की सर्वोच्च सत्ता का।

(७) विदेशी सत्ता द्वारा प्रस्तावित विधान

सन् १९३५ के एक्ट द्वारा प्रस्तावित विधान का निर्माण पार्लियामेण्ट द्वारा हुआ था। यह पार्लियामेण्ट की इच्छा पर ही निर्भर था कि वह उसे खण्डित करे अथवा उसमें कुछ परिवर्तन करे। भारतीय व्यवस्थापिका सभा को किसी प्रकार के वैधानिक अधिकार प्राप्त नहीं थे। इसके अतिरिक्त इस प्रस्ताव का निर्माण ऐसा नहीं था कि इसके द्वारा प्रस्तावित विधान भविष्य में स्वयं विकसित होता चला जाए। सन् १९३४ के कांग्रेस के बम्बई अधिवेशन में सभापति पद से बोलते हुए डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद ने एक्ट की इस रूखी विशेषता के सम्बन्ध में कहा था :

"इस विधान में स्वविकास अथवा उन्नति की कोई धारा नहीं है। प्रत्येक विषय ब्रिटिश पार्लियामेण्ट की इच्छा और अभिलाषा पर आधारित है, और भविष्य में भी रहेगा। और इसमें स्वय अपने विधान को निश्चित करने के अधिकार को बहाने के रूप में प्रदान नहीं किया गया है, क्योंकि संघात्मक शासन का, जिसकी स्थापना पूर्व समय की अनेक शर्तों को पूरा करने के पश्चात् की जाने वाली है, पदार्पण पार्लियामेण्ट के भवनों की स्वीकृति के पश्चात् ही हो सकता है।"

---

1. "Unquestionably the 'safeguards' were the most obvious reminder that India would not attain Dominion Status by the Act of 1935."
—Coupland.

(८) विधान का अयथार्थ स्वरूप

वास्तव में सन् १९३५ के एक्ट की सबसे अधिक मुख्य विशेषता थी उसका कृत्रिम और अयथार्थ स्वरूप। जो उसका लिखित रूप था वह उसका वास्तविक रूप नहीं था। सैद्धान्तिक रूप में तो वह उत्तरदायी सरकार का आज्ञा पत्र था, परन्तु व्यावहारिक रूप में वह निरकुशता का कवच मात्र था। देखने में तो इसमें प्रान्तीय मन्त्रियों को यथेष्ट स्वतन्त्रता प्रदान की गई थी, परन्तु वास्तव में मन्त्रियों की स्वतन्त्रता का भोग गवर्नर को करना था। इसी प्रकार सैद्धान्तिक रूप में तो केन्द्रीय सरकार के मन्त्री लोकप्रिय व्यवस्थापिका सभा के प्रति उत्तरदायी थे, परन्तु वास्तव में वे सर्वशक्तिवान गवर्नर जनरल के आधीन थे। प्रत्यक्ष रूप से तो भारत सचिव के नियन्त्रण और प्रभुत्व को नष्ट कर दिया गया था, परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से गवर्नर-जनरल और गवर्नर के विशेषाधिकारों और विशेष उत्तरदायित्वों के आधार पर भारत सचिव के नियन्त्रण में और भी वृद्धि हो गई थी। इसी प्रकार प्रत्यक्ष रूप से तो इस एक्ट द्वारा राष्ट्रीय माँग पूरी की गई थीं, परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से यह एक्ट साम्राज्यशाही के हितों का रक्षक ही था। इस से यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यह एक्ट वैधानिक समक्षेत्र पर उपस्थित किए गए कलंकित छल-कपट और विश्वासघात के अतिरिक्त और कुछ नहीं था।

तीसरा अध्याय

सन् १९३५ की संघीय व्यवस्था

"यह सत्य है कि संघ संयुक्त करने वाली शृंखला है, परन्तु जिन कड़ियों द्वारा उसे संयुक्त रखा गया है वे मकड़े के महीन जाले के समान हलकी हैं। अधीन विचारधाराओं के झुरमुट में केन्द्रीय धारणा खोयी जाती है, यहां तक कि क्रमशः विकसित होकर वह प्राचीन प्रकार के केन्द्रीकरण और संयुक्तता में परिवर्तित हो जाती है।"[1] —*सर शफात अहमद खाँ*

जैसा कि हम लिख चुके हैं सन् १९३५ के एक्ट की प्रधान विशेषता थी इसके द्वारा संघ-शासन की स्थापना। सन् १९३५ के एक्ट द्वारा प्रस्तावित भारतीय संघ की योजना अत्यन्त ही कौतुकमय थी, क्योंकि इसमें कुछ इस प्रकार की विशेषता निहित थी जो विश्व के किसी भी संघ राज्य में सैद्धान्तिक अथवा व्यावहारिक रूप से प्रचलित नहीं थी। सन् १९३५ के एक्ट की साधारण तथा असाधारण विशेषताओं का आलोचनात्मक विश्लेषण करने से पूर्व 'संघ' शब्द का अर्थ और सार समझ लेना युक्तिसंगत होगा।

'संघ' का अर्थ

संघ (Federation) शब्द लैटिन के 'फियोडस' (Foedus) शब्द से लिया गया है, जिसका अर्थ होता है सन्धि अथवा समझौता। इस प्रकार संघ समझौते द्वारा निर्मित की हुई सरकार होती है। कानूनी ढंग से एक समझौता करने के लिए दो स्वतन्त्र एवं समान स्तर वाले दलों की आवश्यकता होती है। यही बात एक संघ के लिए भी लागू है। एक संघ की स्थापना भी दो अथवा दो से अधिक स्वतन्त्र राज्य स्वेच्छा से एक समझौते द्वारा करते हैं। इस प्रकार वे एक समान केन्द्रीय शक्ति की स्थापना करते हैं जिसके द्वारा उनके कुछ समान उद्देश्यों की पूर्ति हो सके,

---

[1] "Federation forms, it is true, the connecting link, but the threads, by which it is held together, are light as gossamer. The central conception is confused with a multitude of subordinate authorities, until it is gradually transformed into unitarism, and centralism of the old type." —Sir Shafat Ahmad Khan.

और जो सबके समान लाभ के लिए कुछ निश्चित समान कार्यों का सम्पादन कर सके। इस प्रकार एक सघ अनेक राज्यों का सगठन मात्र है, जिसमें, डाइसी (Dicey) के शब्दों मे "राज्य की शक्ति अनेक समान राज्यों में विभाजित रहती है", और जो एक सत्ता के आधीन होते हैं।

संघ की स्थापना के साधन

एक सघ की स्थापना सयुक्त करने अथवा पृथक्करण की प्रणाली द्वारा हो सकती है। प्रथम प्रणाली के अनुसार कुछ राज्य स्वेच्छा से एक समान सत्ता के आधीन सगठित होते हैं और सार्वजनिक कार्यों का शासन प्रबन्ध करने के लिए एक समान केन्द्रीय सरकार की स्थापना करते है। द्वितीय प्रणाली के अनुसार एक एकात्मक सरकार को अनेक स्वतन्त्र राज्यों में विभाजित कर दिया जाता है, और तब उन्हें स्वतन्त्र स्वशासित राज्या के समान् एक सार्वलौकिक केन्द्रीय सत्ता की आधीनता में सगठित कर दिया जाता है। दोनों प्रकार की प्रणालियों में यह राज्य सघ के रूप में सगठित होने से पूर्व स्वतन्त्र और स्वशासित होने चाहिएँ, क्योंकि सघ की विचारधारा का आधार यही विचार है कि सगठन स्वेच्छा से हो।

संघ के आवश्यक तत्त्व

(अ) विधान की प्रधानता (Supremacy of the Constitution)

एक सघ, जैसा कि लिखा जा चुका है, अनेक राज्यों का स्वेच्छा से किया हुआ सगठन है। यह समझौता ही इस सगठन का प्राण होता है। इसी समझौते द्वारा सघ की उत्पत्ति होती है और इसी के द्वारा वह जीवित रहता है। जब तक कि इस समझौते की प्रधानता रहती है, तब तक इस सगठन का कुछ भी नहीं बिगड़ता। राज्य शास्त्र की भाषा में इसी समझौते को 'सघीय विधान' के नाम से पुकारा जाता है। इसलिए एक सघ का प्रथम महत्वपूर्ण तत्त्व है विधान की प्रधानता। यह विधान लिखित और अचल दोनों ही प्रकार का होना चाहिए। कुछ राज्यों के पारस्परिक समझौते पर ही एक सघ की स्थापना होती है, इसलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि समझौते की शर्तें लिखित होनी चाहिएँ। केवल इतना ही यथेष्ट नहीं है। समझौते की इन शर्तों में यदि कोई परिवर्तन किया जाए तो उसके लिए एक विशेष प्रकार की प्रणाली स्थापित की जानी चाहिए, जिसमें प्रत्येक इकाई को महत्त्वपूर्ण तथा समान स्थान प्रदान किया जा सके, अन्यथा राज्यों के पारस्परिक वैमनस्य के कारण सघ की उन्नति के मार्ग में पग-पग पर बाधाएँ उपस्थित होने लगेंगी। परिणाम यही होगा कि सघ अपने कार्य का सम्पादन सरलता एव कुशलता से नहीं कर पाएगा।

(घ) शक्ति वितरण (Distribution of Powers) :

संघ शासन की द्वितीय विशेषता है कि विधान में, जो सघ का सर्वोच्च कानून होता है, केन्द्र और अन्य राज्यों के अधिकारों का स्पष्ट वितरण होना चाहिए। एक सघ के राज्य अपनी-अपनी सत्ता का त्याग एक सीमित क्षेत्र और निश्चित विषयों के सम्बन्ध में ही करते हैं। इसलिए संघीय, केन्द्रीय तथा अन्य राज्यों की सरकारों में उनके अधिकार क्षेत्र के सम्बन्ध में कुछ झगड़ा होना असम्भव बात नहीं। यदि इन झगड़ों की सम्भावना को भी समाप्त करना है तो सघीय सरकार और उसके राज्यों की सरकारों के समानान्तर प्रयोग किए जाने वाले अधिकारों के स्पष्ट वितरण का उल्लेख विधान में पहले ही हो जाना चाहिए। इसलिए एक संघ की द्वितीय मुख्य विशेषता होती है शक्ति वितरण।

(स) न्यायालय की प्रधानता (The Supremacy of Judiciary) :

उपर्युक्त दो विशेषताओं के अतिरिक्त तीसरी मुख्य बात है निम्नलिखित तीन उद्देश्यों के हितार्थ एक सर्वोच्च और स्वतन्त्र न्यायालय की उपस्थिति :—

(१) संघीय विधान की व्याख्या करने के लिए;

(२) केन्द्रीय और स्थानीय सरकारों के क्षेत्रों की सीमाओं का निरीक्षण करने के लिए; और

(३) इस प्रकार का प्रतिबन्ध लगाए रखने के लिए कि एक शक्ति किसी अन्य शक्ति के अधिकारों को हस्तगत न करले।

इस सघीय न्यायालय (Supreme Court) को निर्णय का अन्तिम अधिकार प्राप्त होना चाहिए। इस निर्णायक की अनुपस्थिति में संघ का यह खेल शान्ति के साथ नहीं खेला जा सकता।

संघ के पूर्व की आवश्यकताएँ

डाइसी (Dicey) के मतानुसार संघ की स्थापना के लिए दो बातों का होना आवश्यक है। यह बातें निम्नलिखित हैं :

(१) संघ में सम्मिलित होने वाले राज्य, निवास स्थान, इतिहास, जाति अथवा इसी प्रकार के किसी अन्य पारस्परिक बन्धन से बँधे होने चाहिएं। इस प्रकार उनमें अपने निवासियों की दृष्टि में समान राष्ट्रीयता का भाव जाग्रत करने की योग्यता होनी चाहिए।

(२) इन राज्यों में संगठित होने की इच्छा तो हो, परन्तु मिलकर एकरूप हो जाने की इच्छा न हो। उनमें अपने स्वयं के व्यक्तित्व की भावना रहना आवश्यक है, इसलिए उसे इन्हें स्थायी रखना चाहिए। परन्तु इसके साथ ही साथ रक्षा और

कुछ समान कार्यों की पूर्ति के लिए उनमें राष्ट्रीय सगठन के महत्व को निर्धारित करने की चेतना भी होनी चाहिए । अपने राज्य के प्रति प्रेम होने के कारण वे एकात्मक राज्य के समान एकरूप होना पसन्द नहीं करते । परन्तु राष्ट्रीय हित के लिए वे अवश्य ही एक होना चाहते हैं इसी प्रकार की प्रवृत्ति वाले राज्य सव स्थापित करने के लिए उत्साहित हो सकते हैं जो डाइसी के शब्दों में "एक ऐसी राजनैतिक योजना है जिसका उद्देश्य स्वतन्त्र राज्यों के अधिकारों की रक्षा के साथ-साथ राष्ट्रीय एकता और शक्ति प्राप्त करना है ।"[1]

सन् १९३५ के एक्ट के अन्तर्गत अखिल भारतीय संघ

सन् १९३५ के एक्ट द्वारा संघीय योजना प्रतिपादित की गई । यह योजना समस्त भारतवर्ष को सघ का रूप प्रदान करने के लिए थी । इसमे ११ गवर्नर के प्रान्त थे, ६ चीफ कमिश्नर (Chief Commissioners) के प्रान्त थे, और वह राज्य थे जो स्वेच्छा से इसमे सम्मिलित होना चाहे । इस एक्ट द्वारा संघ की उद्भावना भारतवर्ष में नहीं हुई थी । भारतवर्ष को संघ प्रदान किया गया था । इस संघ का उद्घाटन सम्राट (His Majesty) की एक घोषणा द्वारा होना था । यह घोषणा उस समय सम्भव थी :

(अ) जव समस्त देशी राज्यों की जनसंख्या के अर्द्ध भाग का प्रतिनिधित्व करने वाले वे देशी राज्य जिन्हें संघीय व्यवस्थापिका सभा (Federal Legislature) के द्वितीय भवन राज्य परिषद के लिए कम से कम ५२ प्रतिनिधि निर्वाचित करने का अधिकार प्राप्त हो, इस में सम्मिलित हों, और

(व) जव पार्लियामेण्ट के दोनों भवनों द्वारा सम्राट (His Majesty) से इस सम्बन्ध मे प्रार्थना की जाए ।

संघीय योजना की विशेषताएँ

भारतीय संघीय योजना की विशेषताओं का अध्ययन निम्नलिखित दो शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है:

(१) सामान्य विशेषताएँ, और
(२) असामान्य विशेषताएँ ।

(१) सामान्य विशेषताएँ

संघीय प्रणाली की तीनों विशेषताएँ इस योजना मे उपस्थित थीं । निम्नलिखित विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाएगा :—

---

[1] A federal state "is a political contrivance intended to reconcile national unity and power with the maintenance of state rights"

—Dicey

(अ) विधान की प्रधानता

इस योजना में भी विधान की प्रधानता के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया। अखिल भारतीय संघ की स्थापना सन् १९३५ के एक्ट की धाराओं के आधार पर ही की जाने वाली थी। सन् १९३५ का एक्ट लिखित और अचल था। इसका जन्म ब्रिटिश पार्लियामेण्ट से हुआ था और भारतवर्ष के कंधों पर इसे लाद दिया गया था। इस प्रकार वैधानिक रूप से भी संशोधन का अधिकार पूर्णरूप से ब्रिटिश पार्लियामेण्ट को ही प्राप्त था। भारतीय व्यवस्थापिका सभा को एक्ट की धाराओं में किसी प्रकार का संशोधन अथवा परिवर्तन करने का अधिकार नहीं था; साधारण परिवर्तनों के लिए भी ब्रिटिश पार्लियामेण्ट से वह केवल प्रार्थना ही कर सकती थी। संघ में सम्मिलित होने वाले प्रान्तों के दृष्टिकोण से विधान पूर्ण रूप से अचल और प्रधान था। किसी प्रकार का संशोधन भी एक जटिल एवं दुरूह तथा विशेष प्रणाली द्वारा ही सम्भव हो सकता था। संशोधन की प्रणाली में ही भारतीय संघ पर पार्लियामेण्ट की सत्ता अन्तर्हित थी।

(ब) शक्ति वितरण

सन् १९३५ के एक्ट द्वारा शक्ति वितरण के सिद्धान्त को भी स्वीकार किया गया, जो संघीय प्रणाली के लिए आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है।

विश्व की संघीय प्रणालियों में शक्ति वितरण का जो सिद्धान्त स्वीकृत किया गया है वह है 'निर्देशन और अवशेष'[1] का। व्यावहारिक रूप में इस सिद्धान्त के दो स्वरूप प्रचलित हैं:

(१) प्रथम स्वरूप है कि अधिकारों की एक सूची तैयार कर केन्द्रीय अथवा संघीय सरकार को सौंप दी जाती है, और वे अधिकार जो उस सूची में नहीं होते हैं, अर्थात अवशेष अधिकारों के संरक्षक संघ में सम्मिलित होने वाले प्रान्त अथवा राज्य हुआ करते हैं, और

(२) इसके विपरीत द्वितीय स्वरूप है कि अधिकारों की एक सूची संघ में सम्मिलित होने वाले प्रान्तों को सौंप दी जाती है, और अवशेष अधिकार केन्द्रीय सरकार के हाथ में रहते हैं।

सन् १९३५ के एक्ट के अन्तर्गत भारतवर्ष के लिए प्रस्तावित संघीय योजना में इन सिद्धान्तों से भिन्न एक नवीन सिद्धान्त को स्वीकार किया गया[2] था। केन्द्रीय सरकार और प्रान्तीय सरकारों को उनके अधिकारों की पृथक सूचियाँ तैयार कर सौंप

---

1 The principle of Enumeration and Residium.'

2 The principle of the Statutory allocation of powers both to the Centre and the federal units.

१३

दी गई, और अवशेष अधिकार गवर्नर जनरल (Governor General) के संरक्षण मे रखे गए। यह गवर्नर जनरल (Governor General) के निर्णय पर था कि अवशेष अधिकारों में से किसी अधिकार को वह केन्द्रीय सरकार को दे अथवा प्रान्तीय सरकारों को दे। इस प्रकार शक्ति वितरण की योजना में गवर्नर जनरल (Governor General) को अन्तिम निर्णय का अधिकार प्रदान किया गया जो सघ में एक पृथक अथवा तृतीय दल का प्रतिनिधि था।

सन् १९३५ के एक्ट द्वारा भारतीय सघ में सम्मिलित होने वाले प्रान्तों और देशी राज्यों के लिए जो नियम बनाए गए, वे भिन्न थे। प्रान्त सघ मे सम्मिलित होने के लिए बाध्य थे। देशी राज्य सघ में सम्मिलित होने के लिए बाध्य नहीं थे, यह उनकी इच्छा पर निर्भर था। इसलिए संघीय सरकार और प्रान्तीय सरकारों तथा सघीय सरकार और देशी राज्यों की सरकारों मे अधिकारों का वितरण भिन्न था। इसलिए इन दोनो का अध्ययन पृथक रूप से करना ही उचित होगा।

(अ) संघीय सरकार और प्रान्तीय सरकारों में शक्ति वितरण

(क) व्यवस्थापक अधिकार

सघ और प्रान्तों में व्यवस्थापक अधिकारों का वितरण तालिकाओं द्वारा किया गया था। इस एक्ट द्वारा इस प्रकार की तीन तालिकाएँ निश्चित की गई। संघीय व्यवस्थापक तालिका, प्रान्तीय व्यवस्थापक तालिका और एकीभूत व्यवस्थापक तलिका।

(१) संघीय तालिका

देश-व्यापी महत्त्व के विषय जैसे रक्षा, विदेशी नीति, सिक्का, बैंक, विदेशों से व्यापार, रेल, डाक और तार आदि विषयों को सघीय तालिका में स्थान दिया गया। इन विषयों के सम्बन्ध में सघीय सरकार को कानून बनाने और नियन्त्रण के एकाधिकार सौंप दिए गए।

(२) प्रान्तीय तालिका

प्रान्तीय महत्त्व के विषय जैसे कानून और अनुशासन, न्यायालय, जेल और पुलिस, जनस्वास्थ्य, कृषि, मालगुजारी, व्यापार और व्यवसाय, शिक्षा, स्थानीय स्वराज्य, आदि विषय प्रान्तीय तालिका में रखे गए। इन विषयों के शासन प्रबन्ध के संबध में प्रान्तीय सरकारों को कानून बनाने और नियन्त्रण रखने का अधिकार प्रदान किया गया। प्रान्तीय क्षेत्र के कार्यों में भी सघीय सरकार उस समय हस्तक्षेप कर सकती थी जब

(अ) दो अथवा दो से अधिक प्रान्तों की व्यवस्थापिका सभाओं को प्रान्तीय व्यवस्थापक तालिका में दिए गए किसी विषय के संबंध में यह प्रतीत हो कि उस विषय का संचालन संघीय व्यवस्थापिका सभा द्वारा हो, और इस संबंध में यदि वे प्रस्ताव पास कर दें।

(ब) गवर्नर जनरल अपने निर्णय से इस प्रकार की कोई घोषणा कर दे कि युद्ध अथवा किसी अन्तर्देशीय अशान्ति के कारण भारतवर्ष अथवा उसके किसी भाग की सुरक्षा और शान्ति संकट में है। इस प्रकार की असाधारण परिस्थितियों में वह संघीय व्यवस्थापिका सभा को यह अधिकार प्रदान कर सकता था कि वह प्रान्तीय विषयों के संबंध में भी कानून आदि बनाए। सन् १९३९ के एक संशोधन द्वारा यह निश्चित कर दिया गया कि युद्ध काल में संघीय सरकार प्रान्तीय विषयों के शासन पर नियन्त्रण रखा करेगी।

(३) एकीभूत तालिका[1]

इन दो तालिकाओं के अतिरिक्त एक तीसरी तालिका एकीभूत तालिका और थी—जिसमें ऐसे विषय सम्मिलित थे जो देशव्यापी महत्त्व के तो थे परन्तु प्रान्तों की विभिन्न परिस्थितियों और प्रथाओं के कारण इनमें व्यवहारिक रूप में कुछ परिवर्तन होना सम्भव था। यह विषय अपराध सम्बन्धी कानून, विवाह और तलाक, उत्तराधिकार, श्रमहित, फैक्टरी, आदि थे। इस तालिका में दिए गए विषयों के सम्बन्ध में केन्द्रीय और प्रान्तीय दोनों सरकारों को कानून बनाने का अधिकार था। कानून निर्माण में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित न हो, इसलिए यह निश्चित कर दिया गया था कि जब प्रान्तीय और संघीय कानून में विरोध होगा तो संघीय कानून ही स्वीकृत माना जाएगा।

इस प्रकार संघ और प्रान्तों में व्यवस्थापक अधिकारों का वितरण अचल एवं निश्चित रूप से किया गया था।

(ख) शासन सम्बन्धी-अधिकार

शासन सम्बन्धी अधिकारों के वितरण में वितरण के अचल एव निश्चित रूप पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया था। जिन विषयों के सम्बन्ध में संघीय व्यवस्थापिका सभा को कानून बनाने का अधिकार था, सामान्य रूप से उन समस्त विषयों के सम्बन्ध में संघीय सरकार को शासन के अधिकार प्राप्त थे। इसी प्रकार जिन विषयों के सम्बन्ध में प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाएं कानून बनाने के लिए अधिकृत थीं, उन समस्त विषयों के शासन प्रबन्ध का भार प्रान्तीय सरकारों पर था। परन्तु निम्नलिखित

---

1 Concurrent List.

धाराओं द्वारा शासन सम्बन्धी क्षेत्र में प्रान्तीय सरकारों पर सघीय सरकार की प्रधानता स्थापित कर दी गई थी

(१) जिन विषयों के सम्बन्ध में प्रान्तों के गवर्नरों को अपने विवेक अथवा व्यक्तिगत निर्णय के प्रयोग का अधिकार था, उन विषयों के सम्बन्ध में प्रान्तों के गवर्नरों पर गवर्नर जनरल का नियन्त्रण रहता था।

(२) रक्षा, विदेशी नीति, धार्मिक कार्यों और असभ्य क्षेत्रों से सम्बन्धित किसी कार्य के सम्पादन के लिए गवर्नर जनरल किसी प्रान्त के गवर्नर को अपने प्रतिनिधि स्वरूप आदेश प्रदान कर सकता था।

(३) भारतवर्ष अथवा उसके किसी भाग की शान्ति और सुरक्षा के हेतु गवर्नर जनरल किसी भी प्रान्त के गवर्नर को कार्यकारिणी के अधिकारों के प्रयोग के सम्बन्ध में आदेश प्रदान कर सकता था।

(४) इस के अतिरिक्त प्रत्येक प्रान्त के शासन का सचालन इस प्रकार किया जाता था कि भारतीय व्यवस्थापिका सभा के किसी कानून का खण्डन अथवा विरोध न होकर उसकी स्वीकृति प्रकट होती हो। इस सम्बन्ध में सघीय सरकार को प्रान्तीय सरकारों को निम्नलिखित के सम्बन्ध में आदेश प्रदान करने का अधिकार प्राप्त था .

(आ) सघीय विषयों के प्रति अधिकार और कर्त्तव्य के सम्बन्ध में,

(वा) एकीभूत तालिका में दिए गए विषयों के सम्बन्ध में निर्मित किए गए सघीय कानूनों को लागू करने के सम्बन्ध में, और

(सा) सेना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण यातायात के साधनों के निर्माण और स्थायित्त्व के सम्बन्ध में।

(ब) संघ और संघ में सम्मिलित होने वाले देशी राज्यों मे शक्ति विरतण

(१) व्यवस्थापक अधिकार

एक्ट के अन्तर्गत राज्यों से सम्बन्धित कोई तालिका प्रस्तुत नहीं की गई थी। इस-सम्बन्ध में व्यवस्थापक अधिकारों का वितरण 'प्रवेश पत्र' (Instrument of Accession) पर निर्भर करता था, जिसमें सघ में सम्मिलित होने वाला राज्य स्वेच्छा से उन विषयों का उल्लेख कर देता था जिन्हें वह सघ के नियन्त्रण में सौंपना चाहता था। इस प्रकार शक्ति वितरण के सम्बन्ध में भारतीय सघ में समानता का अभाव तीन प्रकार से था। प्रथम, प्रान्तों और देशी राज्यों के वे क्षेत्र जिनमें सघ को हस्तक्षेप करने का अधिकार प्राप्त था, समान नहीं थे। द्वितीय, विभिन्न देशी राज्यों के उन क्षेत्रों का, जिनमें सघ को हस्तक्षेप का अधिकार प्राप्त था, समान न होना भी

सम्भव सा ही था, क्योंकि एक्ट द्वारा यह निश्चित कर दिया गया था कि यह स्वयं देशी राज्य पर ही निर्भर है कि वह अपने कौन-कौन से अधिकार संघ को प्रदान करे। तृतीय, यहाँ यह भी स्पष्ट है कि अवशेष अधिकारों के संरक्षक स्वयं देशी राज्य ही थे, क्योंकि उन्हें अपने 'प्रवेश पत्र' (Instrument of Accession) में भिन्न रूप से संघ द्वारा किए जाने वाले हस्तक्षेप के क्षेत्र को निर्धारित करने का अधिकार था।

(२) शासन सम्बन्धी अधिकार

एक्ट द्वारा यह निश्चित कर दिया गया था कि किसी देशी राज्य के शासन प्रबन्ध में संघीय सरकार को हस्तक्षेप करने का अधिकार उसी सीमा तक होगा जिस सीमा का निर्देश उस देशी राज्य की सरकार ने अपने 'प्रवेश पत्र' (Instrument of Accession) में किया हो। एक्ट द्वारा यह भी निश्चित कर दिया गया था कि किसी देशी राज्य का शासन प्रबंध ऐसा न हो जिससे संघीय सरकार के शासन प्रबन्ध का विरोध अथवा खण्डन होता हो।

(स) संघीय न्यायालय

एक्ट द्वारा एक संघीय न्यायालय की भी स्थापना की गई। इस न्यायालय की स्थिति राजनीति से परे एक निष्पक्ष निर्णायक की स्थिति के समान थी। एक्ट के अन्तर्गत इस न्यायालय को निम्नलिखित अधिकार प्राप्त थे :—

(अ) विधान की व्याख्या करने के सम्बन्ध में, और

(बा) निम्नलिखित दो अथवा दो से अधिक दलों में किसी कानूनी अथवा वैधानिक प्रश्न पर हुए झगड़े के निर्णय के संबंध में; संघ, प्रान्त और संघ में सम्मिलित हुए देशी राज्य।

(२) असामान्य विशेषताएँ

संघ की इन सामान्य विशेषताओं के अतिरिक्त सन् १९३५ के एक्ट द्वारा प्रस्तावित संघीय योजना में कुछ ऐसी असामान्य विशेषताएं भी थीं जो विश्व के संघ राज्यों में कहीं नहीं पाई जातीं। यह विशेषताएं संक्षेप में निम्न प्रकार से हैं :—

(अ) स्वसंकल्प रहित संघ

संघ शब्द की परिभाषा ही यह है कि कुछ स्वतन्त्र स्वशासित राज्यों द्वारा ही जो अपने कुछ समान उद्देश्यों की पूर्ति के लिए स्वेच्छा से संगठित होना चाहते हों, एक संघ का निर्माण हो सकता है। परन्तु सन् १९३५ के एक्ट द्वारा प्रस्तावित संघीय योजना में :

(१) इस प्रकार के स्वतंत्र राज्य नहीं थे। ब्रिटिश भारतवर्ष के प्रान्त भारत-

सरकार के आधीन और उसके द्वारा भारत सचिव और ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के आधीन थे। देशी राज्य भी सम्राट (Crown) की सार्वभौम सत्ता (Paramountcy) के अधिकारों के आधीन थे जिनका उपभोग वाइसरॉय (Viceroy) सम्राट के प्रतिनिधि के नाते करता था। वास्तव में ब्रिटिश भारतवर्ष के समस्त प्रान्त और देशी राज्य, दोनों ही एक समान राजनैतिक सत्ता के आधीन थे जो रक्षा, विदेशी नीति, आदि समान महत्त्व के कार्यों का संचालन करती थी। इस प्रकार भारतवर्ष के लिए सघ से कोई विशेष लाभ नहीं था क्योंकि भारतीय सघ की इकाइयाँ तो पूर्व से ही सगठित थीं। वास्तव में सन् १९३५ के एक्ट के अन्तर्गत यह नवीन स्वरूप केवल इसीलिए प्रदान किया गया था कि इस आडम्बर में फँस कर राष्ट्रीयता की ओर अग्रसर होने वाला भारतवर्ष इसे परखने के लिए कुछ काल तक ठहर जाए।

(२) भारतीय सघ का सगठन इस के विभिन्न राज्यों और प्रान्तों का ऐच्छिक कार्य नहीं था। भारतीय सघीय योजना की स्थापना सम्राट (Crown) द्वारा हुई। सन् १९१९ के एक्ट की भूमिका (Preamble) में यह पूर्णतः स्पष्ट कर दिया गया था कि भविष्य में भारतवर्ष में होने वाले वैधानिक विकास के काल और परिमाण का निर्णय करने का अधिकार केवल ब्रिटिश पार्लियामेण्ट को ही प्राप्त था। उसी के अनुसार, पार्लियामेण्ट ने भारतवर्ष पर सघीय योजना का भार डालने का निर्णय किया। ब्रिटिश भारतवर्ष के प्रान्त संघ में सम्मिलित होने के लिए बाध्य थे। देशी राज्यों की इच्छा पर यह बात छोड़ दी गई कि वे सघ में सम्मिलित होना चाहते हैं अथवा नहीं। सम्मिलित होने पर उन्हें पृथक रूप से 'प्रवेश पत्र' (Instrument of Accession) पर हस्ताक्षर करने पड़ते थे, जिन्हें सम्राट (Crown) भी पृथक रूप से ही स्वीकार करता था। इससे यह भी स्पष्ट होजाता है कि देशी राज्यों से समझौता करने वाले भारतीय प्रान्त न थे, अपितु—स्वयं सम्राट (Crown) ही था। जब कि विश्व के समस्त सघों का जन्म एक पारस्परिक समझौते द्वारा होता है, तब भारतीय सघ का जन्म देशी राज्यों और सम्राट (Crown) के समझौते से होने वाला था। जनता की सर्वोच्च सत्ता का, जो विश्व के संघीय विधानों का मुख्य आधार है, स्थान भारतवर्ष में ब्रिटिश पार्लियामेण्ट की सत्ता ने ग्रहण कर लिया था।

(ब) पृथक्करण की प्रणाली

विश्व भर में सघ की स्थापना की प्रणाली सगठन का साधन है। परन्तु आलोचकों का यह कहना है कि भारतवर्ष में यह प्रणाली विभाजन की प्रणाली सिद्ध हुई है। अंग्रेजों के आधीन भारतवर्ष में देशी राज्य और प्रान्त विदेशी कार्यों और देशव्यापी महत्वपूर्ण कार्यों की दृष्टि से एक ही राज्य के अंग मात्र थे। सन् १९३५ के

एक्ट द्वारा ब्रिटिश भारत को ११ प्रान्तों में विभाजित कर दिया गया। देशी राज्यों के लिए संघ में सम्मिलित होना उनकी इच्छा पर छोड़ दिया गया। इससे विभाजन अथवा पृथक्करण की प्रवृत्ति का और भी विकास सम्भव था। परन्तु यहाँ इतना अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि जब एक एकात्मक राज्य को संघात्मक राज्य का स्वरूप प्रदान करना होता है तो उसका विभाजन अनिवार्य ही है। इसलिए इसके पूर्व कि भारतवर्ष में संघ की स्थापना की जाती, यहाँ संघ की द्वितीय अर्थात् पृथक्करण की प्रणाली के प्रयोग के अतिरिक्त कोई अन्य चारा ही न था।

इसके अतिरिक्त देशी राज्यों को प्रान्तों से भिन्न और उच्च प्रतीत होने वाली स्थिति प्रदान करना ही संकटमय था। इससे भारतवर्ष में पृथक्करण की प्रवृत्ति के विकास का भय था।

(स) केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति

सन् १९३५ के एक्ट द्वारा प्रस्तावित संघीय योजना की एक अद्भुत विशेषता थी भारतीय संघ के शासन के अध्यक्ष गवर्नर जनरल के हाथों में अधिकारों का केन्द्रीकरण। अमरीका में संघीय शासनाध्यक्ष का निर्वाचन होता है। कनाडा और आस्ट्रेलिया में उपनिवेशों के लोकप्रिय मन्त्रियों की सम्मति से इसकी नियुक्ति होती है परन्तु राज्य का यह नाममात्र का ही अध्यक्ष होता है। परन्तु भारतीय संघ के अध्यक्ष की नियुक्ति का अधिकार सम्राट (His Majesty) को प्राप्त था, और यह नियुक्ति ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल की सम्मति द्वारा की जाती थी। भारतीय संघ के इस अध्यक्ष को शासन सम्बन्धी समस्त अधिकार प्राप्त थे, परन्तु कर्तव्य की ओर कदाचित बिलकुल ध्यान नहीं दिया गया था। वह भारतवर्ष में अँगरेजों का प्रतिनिधि था और इस कारण उनके हितों की रक्षा उसका परम कर्तव्य था, यद्यपि अँगरेजों का इस संघ से कोई सम्बन्ध नहीं था। वह नाममात्र का ही अध्यक्ष नहीं था। उसे अनेक अधिकार प्रदान किए गए थे। व्यक्तिगत निर्णय के अधिकार, विवेक द्वारा कार्य करने के अधिकार, आदि ऐसे अनेक अधिकार थे जो विश्व के समस्त संघों के अध्यक्षों को अपरिचित प्रतीत होंगे। वास्तव में गवर्नर जनरल के हाथों में इतनी शक्ति केन्द्रित कर दी गई थी कि सन् १९३५ के एक्ट के अन्तर्गत हमें वेष परिवर्तित किए हुए एकात्मक सरकार की ही प्राप्ति हुई।

(द) अद्भुत शक्ति वितरण

विश्व के लगभग सभी संघों में या तो कुछ अधिकार संघ को प्रदान कर दिए जाते हैं अथवा संघ में सम्मिलित होने वाले प्रान्तों अथवा राज्यों को। अवशेष अधिकारों की संरक्षक वही सरकार रहती है जिसे कुछ निश्चित अधिकार प्रदान नहीं

किए जाते हैं। परन्तु भारतीय सघ की योजना में अवशेष अधिकारों का सरचाक गवर्नर जनरल नियुक्त किया गया था, और यह उसके विवेक पर निर्भर था कि वह इस प्रकार के अधिकारों को सघ सरकार को सौंप दे अथवा प्रान्तीय सरकारों को। भारतीय सघ का यह सिद्धान्त भी बड़ा अद्भुत था।

(ध) असंघीय प्रतिनिधित्व

ससार के सभी सघात्मक राज्यो में प्रान्तीय स्वतन्त्रता और राष्ट्रीय एकता का सम्मिलन ही सघ की स्थापना का उद्देश्य रहा है। इसलिए विश्व के समस्त सघ राज्यों में समान स्थिति प्रदान करने के नाते सघ की समस्त इकाइयों को द्वितीय भवन में समान प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाता है। इसके विपरीत राष्ट्रीय एकता की प्राप्ति के लिए प्रथम भवन के सदस्यों का चुनाव प्रत्यक्ष रूप से सघ की समस्त इकाइयों के नागरिक मिलकर करते हैं।

परन्तु भारतवर्ष की सघीय योजना में द्वितीय भवन में और तो और देशी राज्यों को भी समान प्रतिनिधित्व प्रदान नहीं किया गया था। विश्व के अन्य सघ राज्यों के विपरीत इसका चुनाव प्रत्यक्ष होता था। प्रथम भवन के लिए निर्वाचन का अप्रत्यक्ष सिद्धान्त स्वीकार किया गया था जो कि सघ के सिद्धान्तों के प्रतिकूल है। इसके अतिरिक्त साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व भी प्रदान किया गया था। द्वितीय भवन में मतदाताओं और चुनाव में खड़े होने वाले उम्मेदवारों की योग्यताएँ इतनी उच्च नियत की गई थीं कि एक हाथ से प्रजातन्त्र प्रदान करके दूसरे हाथ से छीन लिया गया था। इसके अतिरिक्त प्रथम भवन द्वारा भी नागरिकों और सघ में किसी प्रकार का घनिष्ट सम्बन्ध एव सम्पर्क स्थापित नहीं हो सकता था, क्योंकि उसमें निर्वाचन की पद्धति अप्रत्यक्ष थी।

इस प्रतिनिधित्व की प्रणाली द्वारा भारतवर्ष में सघ का उद्देश्य ही खण्डित और अशुद्ध प्रमाणित कर दिया गया था। राष्ट्रीयता के सन् १९३५ के एक्ट द्वारा वास्तव में पाँवों में भारतीय सघ की बेड़ी डाल दी गई थी, जिससे उसका प्रदर्शन भी असम्भव होजाए। इस योजना के अन्तर्गत भारतवर्ष को एकता को दृढ एव सुसगठित बनाने का विचार ही नष्ट होगया। इस प्रकार सन् १९३५ के एक्ट के अन्तर्गत सघीय एकता के बधनों का उद्देश्य वास्तव में भारतीय राष्ट्रीयता को छिन्न भिन्न करना ही था।

(ख) असमानता का सूचक

इसके अतिरिक्त सन् १९३५ के एक्ट द्वारा प्रस्तावित सघीय योजना में चारों ओर असमानता का एक विशाल ताना बाना सा था। भारतीय सघ की यह अद्भुत विचित्रता अर्थात् असमानता निम्नलिखित विश्लेषण से स्पष्ट हो सकती है —

(१) संघ की इकाइयों के आकार और जनसंख्या में अत्यन्त अन्तर था क्योंकि इनका निर्माण सेना और शासन सम्बन्धी सुविधा के लिए ही किया गया था।

(२) एक्ट द्वारा प्रान्तों और देशी राज्यों के निवासियों को समान नागरिकता प्रदान नहीं की गई थी। प्रान्तों के निवासी अब भी सम्राट (His Majesty) की प्रजा ही थे, जबकि देशी राज्यों के निवासी अपने-अपने राज्यों के शासक की प्रजा समझे जाते थे। एक्ट की इस धारा से अपने शासकों के प्रति देशी राज्यों के निवासियों की दासता स्थिर हो रही। इस एक्ट द्वारा देशी राज्यों के निवासियों के जिन्हें कुछ देशी राज्यों में तो साधारण सामाजिक अधिकार भी प्राप्त नहीं थे, जीवन की यह दयनीय अवस्था एक प्रकार से निश्चित सी होगई थी।

(३) इसके अतिरिक्त संघ के हस्तक्षेप के क्षेत्र में भी समानता नहीं थी। प्रान्तों के सम्बन्ध में संघीय सरकार के अधिकार समान ही थे। परन्तु संघ में सम्मिलित होने वाले देशी राज्यों के सम्बन्ध में संघ सरकार उतने ही व्यवस्थापक और शासन सम्बन्धी अधिकार हस्तगत कर सकती थी जितने प्रत्येक देशी राज्य अपने 'प्रवेश पत्र' (Instrument of Accession) में निर्धारित करे।

(४) अखिल भारतीय संघ का निर्माण ऐसा किया गया था कि वह एक जीवित वैधानिक दुरभिसन्धि के रूप में रहे। इसके द्वारा विभिन्न राजनैतिक स्तर और स्वरूप की इकाइयों को संगठित करने की चेष्टा की गई थी। प्रान्तों के निवासियों ने कुछ संस्थाएं ऐसी स्थापित करली थीं जो कम से कम आंशिक रूप से प्रजातन्त्रात्मक अवश्य थीं। इसके विपरीत देशी राज्यों के निवासी प्रायः निरंकुश शासन में ही अपना जीवन बिता रहे थे। सन् १९३५ के एक्ट के अन्तर्गत प्रान्तों के उन निवासियों को, जो स्वराज्य की प्राप्ति के लिए लड़ रहे थे, देशी राज्यों के उन निवासियों के साथ मिलाया गया था, जिनमें यदि कुछ भी राजनैतिक चेतना थी तो वह यही कि निरुत्तर रह कर अपने शासक के प्रति श्रद्धा और भक्ति का भाव प्रदर्शित किया जाए जो उनके लिए पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि था। प्रान्तों के निवासियों की वैधानिक प्रगति के लिए यह सन्धि बड़ी घातक थी। यह भय इसलिए और भी अधिक था कि देशी राज्यों के प्रतिनिधि, प्रान्तों के प्रतिनिधियों के समान जनता द्वारा निर्वाचित नहीं होने को थे। उनकी नियुक्ति देशी राजाओं द्वारा होती थी। इस प्रकार देशी राज्यों के प्रतिनिधि अपने शासकों के प्रति अकथ भक्ति का भाव रखते थे। उनका अपने शासकों के सर्वोच्चस्वामी अर्थात इंग्लैंड के सम्राट (His Majesty) के हित की रक्षा के लिये अत्यन्त उत्साही रहना स्वाभाविक ही था, क्योंकि ब्रिटिशसत्ता के अन्तर्गत ही उनके स्वामियों का राज्य भी सुरक्षित था। इस प्रकार प्रजातन्त्र और भारतीय राष्ट्रीयता के विरोधी होने के अतिरिक्त उनके लिए और कोई चारा ही न था।

इस प्रकार " सघीय योजना के सम्बन्ध में जैसा कि श्री के० टी० शाह ने उचित ही कहा है, "किसी प्रकार की सन्तुष्टि अनुभव करना कठिन है।"[1] भारतीय सघ जनता और राजाओं का अप्राकृतिक और अस्वाभाविक संगठन था। यह योजना निरंकुशता और प्रजातन्त्र की, साम्राज्यशाही और राष्ट्रीयता की, रूढवादिता और प्रगति की सन्धि थी। इस प्रकार सन् १६३५ के एक्ट द्वारा प्रतिपादित भारतीय सघ प्रतिकूल सिद्धान्तों का सामजस्य मात्र ही था।

---

1 "For the Federal scheme it is difficult to feel any satisfaction"
—Sri K T Shah.

चौथा अध्याय

भारत सचिव

"भारतीय विधान में भारत सचिव अब भी निस्सन्देह रूप से सर्वोच्च सत्ता के रूप में लक्षित होता है। गवर्नर जनरल और गवर्नरों के अधिकारों के समान उसके अधिकार प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगोचर नहीं होते। परन्तु ये सब अधिकारी उसी के आधीन हैं, जो व्हाइट हॉल के इस देवराज की प्रत्येक आज्ञा का पालन करते हैं, और जो चार्ल्स स्ट्रीट के मायावी के प्रत्येक संकेत के वश में है।"[1]

—श्री के. टी. शाह

भारत की दासता के युग के प्रत्येक पल में ब्रिटिश पार्लियामेंट ने यही दिखाना चाहा कि "वह भारतीय जनता की संरक्षक है, और भारतवर्ष के हित और उत्तम शासन का उत्तरदायित्व उसी पर है।" सन् १९३५ के एक्ट के अन्तर्गत इस धारणा को नवीन स्पष्टता के साथ स्थायी रखा गया था। स्वयं अपने संरक्षण में ली गई इस धरोहर की नौका को खेने का प्रधान साधन अब भी भारत सचिव ही था।

कुछ साधारण परिवर्त्तन

इस एक्ट का अभिप्राय था ब्रिटिश भारतीय प्रान्तों में पूर्ण उत्तरदायी सरकार और केन्द्र में आँशिक उत्तरदायी सरकार की स्थापना। भारत सचिव के अधिकार और नियन्त्रण उत्तरदायी सरकार के सिद्धान्त के प्रतिकूल जीते जागते विरोध थे। इसलिए भारत सचिव के उन अधिकारों में कमी करना आवश्यक था जिनके द्वारा वह प्रत्यक्ष रूप से भारत सरकार पर नियन्त्रण रखता था। परन्तु इस प्रकार इन अधिकारों को नष्ट कर गवर्नर जनरल और गवर्नरों के हाथों में अनेक महत्त्वपूर्ण अधिकार सौंप दिए गए;

---

1 "......The Secretary of State still stands out unmistakably as the most dominant authority in the Indian Constitution. His powers may not be so imposing in appearance as those of the Governor General or the Provincial Governors But these are merely his creatures, obedient to every nod from the jupiter of White Hall, amendable to every hint from this juggler of Charles Street." —K. T. Shah.

और इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से भारत सचिव फिर से उतना ही शक्तिशाली हो गया, क्योंकि ये अधिकारी उसके प्रतिनिधि मात्र थे।

इण्डिया काउन्सिल को "जिसका स्पष्ट सत्ताधारी स्वरूप भारत सचिव और उसकी समिति था", नष्ट कर दिया गया था। उसके स्थान पर अब भारत सचिव की सहायता के लिए कुछ सम्मति प्रदान करने वाले नियत कर दिए गए।

भारत सचिव के अधिकार और कार्य

भारत सचिव के अधिकार और कार्यों का वर्णन निम्न प्रकार से किया जा सकता है —

(अ) निरीक्षण, आदेश और नियन्त्रण के अधिकार

भारत सचिव को गवर्नर जनरल पर और उसके प्रति प्रान्तीय गवर्नरों पर उन विषयों के सम्बन्ध में निरीक्षण, आदेश और नियन्त्रण के अधिकार प्रदान किए गए, जिन विषयों में यह अधिकारी अपने विवेक अथवा व्यक्तिगत निर्णय द्वारा कार्य करते थे। रक्षा, विदेशी नीति, धार्मिक कार्य और असभ्य प्रदेश के विभागों का शासन पूर्ण रूप से गवर्नर जनरल के लिए सुरक्षित रखा गया। इन विभागों का शासन उसे अपने विवेक के आधार पर करना था। इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि सघीय सरकार के सुरक्षित विषय तथा उनसे सम्बन्धित आय और व्यय भारत सचिव के प्रत्यक्ष नियन्त्रण में होते। इसी प्रकार जब प्रान्तीय गवर्नर किसी विषय के सम्बन्ध में अपने विवेक अथवा व्यक्तिगत निर्णय द्वारा कार्य करते थे, तो वे भारत सचिव के आधीन थे। सघीय मन्त्रिमण्डल को आमन्त्रित तथा विसर्जित करने का कार्य गवर्नर जनरल अपने विवेक के अन्तर्गत करता था, इसलिए इस सम्बन्ध में वह भारत सचिव के नियन्त्रण में था। केवल इतना ही सब कुछ नहीं था। गवर्नर जनरल और प्रान्तों के गवर्नर, अपने विवेक के अधिकार के अन्तर्गत, क्रमश: देश तथा प्रान्तों के सम्पूर्ण विधान को स्थगित कर सकते थे। परन्तु ऐसा वह केवल भारत सचिव की स्वीकृति के साथ ही कर सकते थे। उन्हें इस प्रकार की घोषणा की सूचना तुरन्त ही भारत सचिव के पास भेजनी पड़ती थी, जिसे उन्हे पार्लियामेण्ट के दोनो भवनों के सन्मुख उपस्थित करना पड़ता था। स्थगित किए गए विधान पर पार्लियामेण्ट अथवा भारत सचिव का निरीक्षण रहता था, और यदि ये चाहते तो इस प्रकार की अवधि को और भी बढा सकते थे। इस प्रकार वास्तविक रूप में गवर्नर जनरल और गवर्नरों के विधान को स्थगित करने के अधिकार द्वारा सघीय विधान और प्रान्तीय विधानों को भारत सचिव की कृपा पर ही छोड़ दिया गया था। इसी प्रकार गवर्नर जनरल के एक्ट और ऑर्डिनेन्स और गवर्नरों के एक्ट और ऑर्डिनेन्स का अस्तित्व

भारत सचिव की इच्छा पर ही निर्भर था। बहिष्कृत अथवा आंशिक रूप से बहिष्कृत किए गए क्षेत्रों के शासन प्रबन्ध के भार को सँभालने के सम्बन्ध में भी भारत सचिव आदेश प्रदान कर सकता था (उन बहिष्कृत क्षेत्रों के सम्बन्ध में जिन्हें समय से पीछे होने के कारण उत्तरदायी सरकार प्रदान न की गई हो)। इसी प्रकार भारत सचिव गवर्नर जनरल और गवर्नरों के लिए उस समय प्रकाश स्तम्भ का कार्य कर सकता था, जब वे अपने विशेष उत्तरदायित्वों का प्रयोग कर रहे हों।

(ब) सर्विस पर उसका नियन्त्रण :

जैसा कि अन्यत्र भी लिखा जा चुका है, भारत सचिव को इण्डियन सिविल सर्विस, इण्डियन मेडिकल सर्विस, इण्डियन पुलिस सर्विस, आदि के सम्बन्ध में नियुक्तियाँ करने का महत्त्वपूर्ण अधिकार था। सिविल सर्विस के सदस्यों की सुरक्षा का भार, विशेष रूप से उन सदस्यों की सुरक्षा का जिन्हें भारत सचिव ने ही नियुक्त किया हो, भारत सचिव पर ही था। सिविल सर्विस के सदस्यों की सेवा के सम्बन्ध में नियम बनाने का अधिकार भी भारत सचिव को ही था। केवल इतना ही यथेष्ट नहीं था। सेना के कर्मचारियों के वेतन, भत्ता, सेवावृत्ति तथा अन्य बातों के सम्बन्ध में भारत सचिव को असीमित अधिकार प्राप्त थे, क्योंकि सेना का विभाग (रक्षा) पूर्ण रूप से गवर्नर जनरल के नियन्त्रण में था।

(स) 'सम्राट के सलाहकार' के रूप में भारत सचिव का प्रभाव :

एक्ट द्वारा यह निश्चित कर दिया गया था कि संघीय और प्रान्तीय प्रस्तावों पर सम्राट (Crown) को अपनी स्वीकृति अथवा अस्वीकृति प्रदान करने का अधिकार होगा। परन्तु इंग्लैंड में सम्राट (King) केवल अपने मन्त्रियों की सम्मति से ही कार्य कर सकता है। इस प्रकार इस स्थान पर भी भारत सचिव की सम्मति ही निर्णयात्मक होती थी, क्योंकि भारतीय कार्यों के सम्बन्ध में सम्राट (His Majesty) का मन्त्री यही होता था। इसी प्रकार देशी राज्यों के उन विषयों के सम्बन्ध में, जिन्हें राज्यों ने संघीय सरकार को नहीं सौंपा था, भारत सचिव को 'सर्वोच्च सत्ता' के अधिकारों का प्रयोग करने का अधिकार प्राप्त था। सम्राट (Crown) के सलाहकार के रूप में, निम्नलिखित के सम्बन्ध में भारत सचिव का कथन लगभग निर्णयात्मक ही माना जाता था :

(१) गवर्नर जनरल, गवर्नरों, हाईकोर्ट के न्यायाधीशों और ऑडीटर जनरल (Auditor General) की नियुक्ति के सम्बन्ध में;
(२) गवर्नर जनरल और गवर्नरों को प्रदान किए जाने वाले आदेश-पत्रों (Instrument of Instructions) के सम्बन्ध में;
(३) समिति की सम्मति से आदेश प्रदान करने के सम्बन्ध में।

(द) विविध अधिकार

इनके अतिरिक्त निम्नलिखित के सबन्ध में भी भारत सचिव कुछ अधिकारों का प्रयोग करता था

(१) संघ अथवा प्रान्तीय सरकारों के निमित्त ब्रिटेन से ऋण लेने के सम्बन्ध में,

(२) भारत सरकार के निमित्त ब्रिटेन में कुछ सेना नृति तथा हित प्रदान करने के सम्बन्ध में,

(३) समझौते तथा अन्य उत्तर-दायित्वों के सम्बन्ध मे,

(४) आय-व्यय की जाँच के सम्बन्ध में,

(५) गवर्नर जनरल और गवर्नरों को प्रदान की जाने वाली छुट्टियों के सम्बन्ध में।

जल विभाग, व्यापार और व्यवसाय सम्बन्धी विभिन्न प्रान्तों में होने वाले झगड़ों का निवटारा करने में भी भारत सचिव का हाथ रहता था।

भारत सचिव के सलाहकार

इस एक्ट द्वारा इण्डिया काउन्सिल के अस्तित्व को मिटा दिया गया था, और यह निश्चित कर दिया गया था कि भारत सचिव को उसके कार्यों में सहायता प्रदान करने के लिए कुछ सलाहकारों की नियुक्ति की जानी चाहिए। इन सलाहकारों की सख्या तीन से कम और ६ से अधिक नहीं हो सकती थी, इसके निर्णय का अधिकार भारत सचिव को ही था कि वह समय-समय पर इनकी संख्या निश्चित कर दिया करे। इनमे से आधे सलाहकारों के लिए यह आवश्यक था कि वे भारतवर्ष में १० वर्ष तक सम्राट (Crown) के कर्मचारी रह चुके हों, और अपनी नियुक्ति के समय उन्हें भारतवर्ष छोड़े दो वर्ष से अधिक समय व्यतीत न हुआ हो। इस प्रकार इन सलाहकारों में सर्विस के कर्मचारियों को प्रवेश करने का अधिकार था, जैसा कि इण्डिया क्राउन्सिल में भी था। इन सलाहकारों का कार्यकाल घटाकर पाँच वर्ष कर दिया गया। यह सलाहकार अपने पद से त्यागपत्र भी दे सकते थे। यदि इनमें से कोई सलाहकार शारीरिक अथवा मानसिक दृष्टि से अयोग्य सिद्ध हो जाता था, तो उसे अपना पद त्यागना पड़ता था। इन सलाहकारों के कार्य के सम्बन्ध में एक्ट में यह प्रतिपादित किया गया था

"इस एक्ट द्वारा प्रस्तावित कुछ निश्चित बातों के अतिरिक्त, यह भारत सचिव की इच्छा पर निर्भर है कि वह किसी विषय के सम्बन्ध में उनसे परामर्श करे अथवा न करे, और यदि वह ऐसा करे तो वह उनसे सामूहिक रूप से परामर्श करे अथवा व्यक्तिगत रूप से, तथा एक ही सलाहकार से सम्मति माँगे अथवा एक से अधिक

ने; और इस प्रकार दी गई सम्मति के अनुसार वह कार्य करे अथवा न करे।"[1]

सर्विस से सम्बन्धित तथा कुछ अन्य कार्यों के सम्बन्ध में यह निश्चित कर दिया गया था कि भारत सचिव अपने अधिकारों का प्रयोग करने के पूर्व कम से कम अपने आधे सलाहकारों से अवश्य सन्मति ले लें। इस प्रकार यह सलाहकार पूर्व समय की इण्डिया काउन्सिल के सदस्यों से कहीं अधिक व्यर्थ और दुर्बल थे।

उपसंहार

एक स्मृतिज्ञ के अतिरिक्त, सन् १९१९ के एक्ट और सन् १९३५ के एक्ट के भारत सचिव सभी को एक दूसरे की प्रामाणिक प्रतिलिपि प्रतीत होते हैं। भारतीय शासन के सम्पूर्ण क्षेत्र पर उसका व्यापक प्रभाव था और वह भी अगोचर एवं अलक्ष्य रूप से। सन् १९१९ के एक्ट के समान सन् १९३५ के एक्ट के अन्तर्गत भी भारत सचिव "उत्तरदायित्व रहित समस्त अधिकारों" का संरक्षक था। इण्डिया काउन्सिल की समाप्ति भी कोई महत्वपूर्ण कदम नहीं था, क्योंकि सलाहकारों के रूप में सर्विस के सदस्य वहाँ अब भी उपस्थित थे।

---

1. एक्ट की धारा २७८ (६)

पाँचवाँ अध्याय

संघीय व्यवस्थापिका सभा

"सघीय सरकार में भी उत्तरदायी सरकार का सादृश्य उपस्थित है। परन्तु उसमें यथार्थता की कमी है।" [1]

—ए० बी० कीथ

सन् १९३५ के एक्ट द्वारा प्रस्तावित सघीय व्यवस्थापिका सभा प्राचीन शासन के क्रम की प्रतिरूप थी। यह कोई नवीन प्रवर्तन अथवा नवीन पद्धति नहीं थी। पूर्व व्यवस्था के समान इसमें अब भी दो भवन ही थे। सन् १९१९ के एक्ट के समान यह अब भी उसी प्रकार सीमित और प्रतिबन्धित थी, तथा इसका स्वरूप भी सत्तारहित ही था।

सघीय व्यवस्थापिका सभा में सम्राट (His Majesty) का प्रतिनिधि गवर्नर जनरल और दो भवन सम्मिलित थे। इन भवनों के नाम राज्य परिषद (Council of State) और सघीय परिषद् (Federal Assembly) थे। दोनों भवनों को समान स्थिति प्रदान की गई थी। परन्तु अर्थ-सम्बन्धी प्रस्ताव पहले पहल प्रथम भवन में ही उपस्थित किए जाते थे।

निर्माण

(१) सघीय परिषद्

सघीय परिषद् में, जो सघीय व्यवस्थापिका सभा का प्रथम भवन था, सदस्यों की सख्या अधिक से अधिक ३७५ हो सकती थी। इनमें से २५० सदस्य ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधि होते थे, और सघ में सम्मिलित होने वाले देशी राज्यों के प्रतिनिधियों की सख्या १२५ से अधिक नहीं हो सकती थी। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि एक्ट के अन्तर्गत देशी राज्यों को समस्त सीटों की $\frac{1}{3}$ संख्या प्रदान की गई थी, जबकि उनकी जनसख्या भारतवर्ष की जनसंख्या का $\frac{1}{4}$ भाग थी। ब्रिटिश भारत को प्रदान की गई सीटों में से चार सीटें किसी विशेष प्रान्त को प्रदान नहीं की गई थीं। इन चार में से तीन सीटें व्यापार और व्यवसाय के प्रतिनिधियों के लिए सुरक्षित रखदी गई थीं। शेष

---

1 "In the Federal Government also the semblance of responsible Government is presented But the reality is lacking ... "

—A. B Keith.

एक सीट मजदूर प्रतिनिधि के लिए सुरक्षित थी। इस प्रकार चार सीटों के अतिरिक्त २४६ सीटें विभिन्न प्रान्तों को प्रदान करदी गई थीं।

एक्ट के अन्तर्गत यह निश्चित कर दिया गया था कि देशी राज्यों का संघ में सम्मिलित होना अथवा न होना उनकी स्वयं की इच्छा पर निर्भर था परन्तु फिर भी एक्ट द्वारा सीटों के सामान्य वितरण की तालिका उपस्थित कर दी गई थी। देशी राज्यों को प्रदान की गई १२५ सीटों का वितरण देशी राज्यों के महत्त्व और उनकी जनसंख्या पर आधारित था। वे देशी राज्य, जो अपने संकुचित आकार के कारण एक प्रतिनिधि भेजने योग्य भी नहीं थे, उन सबका एक समूह बना दिया जाना निश्चित किया गया, और यह निश्चित किया गया कि वे एक के पश्चात दूसरा इसी क्रम से अपने प्रतिनिधि भेज सकेंगे।

(२) राज्य परिषद्

राज्य परिषद् के सदस्यों की संख्या अधिक से अधिक २६० निश्चित की गई थी। इनमें से १५६ सदस्य ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधि थे। १५६ सदस्यों में से १५० सदस्यों का निर्वाचन होता था और ६ सदस्य गवर्नर जनरल अपने विवेक द्वारा नियुक्त करता था। यह व्यवस्था "चुनाव द्वारा फलित प्रतिनिधित्व की असमानता के निवारण के हेतु" की गई थी। दलित वर्ग और स्त्रियों के प्रतिनिधित्व की प्राप्ति के लिए यह व्यवस्था आवश्यक समझी गई थी। देशी राज्यों के प्रतिनिधियों की संख्या १०४ से अधिक नहीं हो सकती थी। देशी राज्यों के प्रतिनिधियों की संख्या, संघीय परिषद् और राज्य परिषद् दोनों ही में, संघ में सम्मिलित होने वाले देशी राज्यों की संख्या पर आधारित होनी थी। फिर भी देशी राज्यों को एक्ट द्वारा समस्त सीटों का ४० प्रतिशत भाग प्रदान किया गया था।

राज्य परिषद् में ब्रिटिश भारत को प्रदान की गई १५६ सीटों का वितरण संघीय परिषद् के समान न कर दो आधारों पर किया जाने वाला था—(अ) प्रान्तीय और (ब) प्रान्तों के अतिरिक्त। इस द्वितीय आधार पर दस सीटों का वितरण निम्न प्रकार से किया गया था :—

योरुपियन	... .	७
ऐंग्लो-इण्डियन	.. . .	१
भारतीय ईसाई	.. ...	२

शेष १४० सीटों का वितरण प्रान्तीय आधार पर किया जाने वाला था।

समस्त प्रान्तों की व्यवस्थापिका सभा के दोनों भवनों में विभिन्न सम्प्रदायों तथा हितों के लिए कुछ सीट सुरक्षित कर दी गई थीं।

१४

प्रतिनिधित्व की विधि

प्रतिनिधित्व की विधि अथवा रीति समान नहीं थी। प्रतिनिधि आमन्त्रित करने के साधन निम्न प्रकार से भिन्न थे :—

(अ) देशी राज्यों के प्रतिनिधियों की नियुक्ति

देशी राज्यों के प्रतिनिधियों को उन राज्यों के शासकों द्वारा नियुक्त किया जाता था। उनकी नियुक्ति अथवा सकलन में उस राज्य की जनता का कोई अधिकार नहीं था। शासकों को उनकी इच्छानुसार निरकुश होने का अधिकार भी प्राप्त था। क्योंकि एक्ट द्वारा यह प्रस्तावित नहीं किया गया था कि शासक उन्हीं प्रतिनिधियों को नियुक्त करेंगे जिन पर जनता का विश्वास हो, अथवा इन प्रतिनिधियों की नियुक्ति के अवसर पर वे जनता से भी परामर्श करेंगे।

(ब) ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियो का निर्वाचन

ब्रिटिश भारत से आमन्त्रित किए गए सदस्य निर्वाचित होते थे। इस विषय में भी, जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है, राज्यपरिषद् में गवर्नर जनरल को ६ सीटों पर नियुक्ति करने का अधिकार प्राप्त था। राज्य परिषद् के लिए प्रत्यक्ष चुनाव की विधि रखी गई थी, अर्थात् विभिन्न निर्वाचन क्षेत्र के मतदाता प्रत्यक्ष रूप से सदस्यों का निर्वाचन करेंगे। सघीय परिषद् के लिए अप्रत्यक्ष विधि प्रस्तावित की गई थी। "अप्रत्यक्ष निर्वाचन का अर्थ केवल" जैसा कि पारदसानी ने कहा है, "निर्वाचितों द्वारा निर्वाचन ही है।"[1] सघीय परिषद् प्रतिनिधियों का चुनाव प्रान्तीय परिषदों के सदस्यों द्वारा होता था, जो स्वय अपने प्रान्त की जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित हुए थे।

(स) साम्प्रदायिक निर्वाचन क्षेत्र

जैसा कि लिखा जा चुका है, एक्ट द्वारा कुछ सीटें साम्प्रदायिक आधारों पर सुरक्षित कर दी गई थीं। केवल इतना ही सब कुछ नहीं था। एक्ट द्वारा साम्प्रदायिक निर्वाचन क्षेत्र भी प्रस्तावित किए गए। इन साम्प्रदायिक क्षेत्रों द्वारा उन सीटों के लिए प्रतिनिधि निर्वाचित किए जाने वाले थे जो विभिन्न सम्प्रदायों के लिए सुरक्षित कर दी गई थीं। इस प्रकार सघीय व्यवस्थापिका सभा के किसी भवन में किसी प्रान्त को प्रदान की गई मुस्लिम सीटों के सम्बन्ध में होने वाले निर्वाचन में उस प्रान्त के मुसलमानों को ही मतदान का अधिकार था। यही व्यवस्था सिख प्रतिनिधियों के सम्बन्ध में थी।

---

1 "Indirect election simply means elections by the elected"

—Pardasani

(द) दलित वर्ग का प्रतिनिधित्व

दलित वर्ग के प्रतिनिधित्व के हेतु निर्वाचन की एक विलक्षण विधि प्रस्तुत की गई थी। एक्ट द्वारा द्विविध निर्वाचन की व्यवस्था की गई—प्राथमिक और गौण। प्राथमिक निर्वाचन में दलित वर्ग के वही सदस्य मतदान के लिए अधिकृत थे, जो उस प्रान्त की लेजिस्लेटिव एसेम्बली के प्राथमिक निर्वाचन में सफल उम्मेदवार सिद्ध हुए थे। ये प्रतिनिधि अथवा सदस्य एक सीट के लिए चार सदस्यों का निर्वाचन करते थे। गौण अथवा अन्तिम निर्वाचन के अवसर पर केवल ये ही चार सदस्य उम्मेदवार हो सकते थे। परन्तु मतदान का अधिकार लेजिस्लेटिव एसेम्बली के समस्त सदस्यों को था। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि दलित वर्ग के लिए भी साम्प्रदायिक निर्वाचन क्षेत्र प्रदान किया गया था, यद्यपि उसका वेष परिवर्तित था।

(क) छोटे संघों के लिए निर्वाचन संस्थाएं

स्त्रियों, ऐंग्लो इण्डियनों, योरुपियनों तथा भारतीय ईसाईयों को अल्प संख्या में सीट प्रदान की गई थीं। इनकी संख्या की न्यूनता को दृष्टिगत रखते हुए, यही उचित समझा गया कि संघीय परिषद् में इन वर्गों के प्रतिनिधियों का निर्वाचन प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा के उस वर्ग से सम्बन्धित सदस्यों द्वारा न होकर समस्त प्रान्तों की लेजिस्लेटिव एसेम्बली के उस वर्ग से सम्बन्धित सदस्यों द्वारा निर्मित निर्वाचन संस्थाओं द्वारा हो।

कार्य काल

संघीय परिषद् की अवधि पाँच वर्ष नियत की गई थी। इस अवधि के पश्चात उसे स्वयं ही विसर्जित हो जाना था। परन्तु गवर्नर जनरल को उसे अवधि से पूर्व ही विसर्जित करने का अधिकार। था वह परिषद् की किसी बैठक को समय से पूर्व भी स्थगित कर सकता था। परन्तु उसे संघीय परिषद् की अवधि में वृद्धि करने का अधिकार नहीं था। विश्व के अन्य संघ राज्यों के द्वितीय भवन के समान भारतवर्ष की राज्य परिषद् भी स्थायी रखी गई थी। यह निश्चित किया गया था कि इस परिषद् के एक तिहाई सदस्य प्रति तीसरे वर्ष अवकाश ग्रहण करते जाएंगे। इस प्रकार राज्य परिषद् के समस्त सदस्य नौ वर्ष में परिवर्तित हो जाया करेंगे।

भवनों की बैठक

संघीय व्यवस्थापिका को आमन्त्रित करने का कार्य गवर्नर जनरल का था, स्थान तथा समय का निश्चित करना भी उसी का कार्य था। इस विषय में उसे अपने विवेक से कार्य करना था। एक्ट द्वारा यह निश्चित कर दिया गया था कि गवर्नर जनरल को संघीय व्यवस्थापिका सभा को एक वर्ष में कम से कम एक बार आमन्त्रित अवश्य करना चाहिये, जिससे "एक अधिवेशन की अन्तिम बैठक और आगामी

अधिवेशन की प्रथम बैठक के मध्य में बारह मास से अधिक का समय न हो जाए।" गवर्नर जनरल अपनी इच्छानुसार किसी भवन को कुछ काल के लिए स्थगित कर सकता था। वह केवल सघीय परिषद् को विसर्जित कर सकता था। राज्य परिषद्, जैसा कि लिखा जा चुका है, एक स्थायी सस्था थी। इसलिए उसके विसर्जित करने का प्रश्न ही नहीं उठता।

गवर्नर जनरल को अपने विवेक द्वारा भवनों की सयुक्त बैठक आमन्त्रित करने का अधिकार था, यदि—

(१) किसी एक भवन द्वारा कोई प्रस्ताव रद्द कर दिया गया हो, अथवा

(२) किसी प्रस्ताव में होने वाले सशोधनों पर दोनों भवन सहमत न हों, अथवा

(३) किसी भवन में प्रस्ताव की प्राप्ति के पश्चात् ६ मास व्यतीत हो चुके हों, और वह प्रस्ताव गवर्नर जनरल की स्वीकृति के लिए उसके पास न भेजा गया हो।

उपर्युक्त परिस्थितियों के अतिरिक्त भी गवर्नर जनरल दोनों भवनों की सयुक्त बैठक आमन्त्रित कर सकता था यदि उसे यह प्रतीत हो कि किसी प्रस्ताव का सम्बन्ध अर्थ अथवा धन से अथवा उन विषयों से है जिनमें उसे अपने विवेक अथवा व्यक्तिगत निर्णय द्वारा कार्य करना था, और इस प्रकार के प्रस्ताव को उसकी स्वीकृति के लिए तुरन्त ही उसके पास न भेजने का कोई कारण न हो।

भवनों के पदाधिकारी

एक्ट के अन्तर्गत यह निश्चित कर दिया गया था कि सघीय परिषद् में एक स्पीकर (Speaker) होगा, और उसकी अनुपस्थिति में बैठकों में सभापतित्व करने के लिए एक उप-स्पीकर होगा। इसी प्रकार राज्य परिषद् में भी एक सभापति (President) और एक उपसभापति होगा।

यह निश्चित कर दिया गया था कि इन पदाधिकारियों का निर्वाचन उनसे सम्बन्धित भवनों के सदस्यों द्वारा अपने में से ही किया जाएगा। इस दिशा में सन् १९३५ के एक्ट ने सन् १९१९ के एक्ट से एक पग और बढाया। इन पदाधिकारियों को उनके भवनों के एक प्रस्ताव द्वारा पदस्थ किया जा सकता था, यदि वह प्रस्ताव उस समय उपस्थित सदस्यो द्वारा बहुमत से पास कर दिया जाए। परन्तु इस प्रकार के "प्रस्ताव उपस्थित करने की सूचना १४ दिन पूर्व ही दी जानी चाहिए थी।"

किसी विषय के सम्बन्ध में प्रथम मतदान होने पर इन पदाधिकारियों को मतदान का अधिकार नहीं था। परन्तु मतों की सख्या दोनों ओर समान होने पर इन्हें निर्णयात्मक मतदान का अधिकार था। यह पदाधिकारी अथवा इनके पद पर

कार्य कर रहे सदस्य "अनुशासन रखने अथवा किसी कार्य प्रणाली को अग्रसर करने के लिए प्रयोग किए अधिकारों के सम्बन्ध में" किसी भी न्यायालय के अधिकार क्षेत्र की सीमा से परे थे।

सदस्यों को प्रदान की गई सुविधाएँ और उनकी अयोग्यताएँ

कोई ऐसा व्यक्ति संघीय व्यवस्थापिका सभा के किसी भवन का सदस्य निर्वाचित नहीं हो सकता था :—

(अ) जो भारतवर्ष में "उन पदों के अतिरिक्त जिनके सम्बन्ध में संघीय व्यवस्थापिका सभा के किसी एक्ट द्वारा यह घोषित कर दिया गया हो कि उनके कारण वह अयोग्य सिद्ध नहीं होगा" किसी ऐसे पद पर हो जिससे उसे धन की प्राप्ति होती हो; अथवा

(ब) यदि वह पागल हो और इस सम्बन्ध में किसी अधिकृत न्यायालय द्वारा इस बात की घोषणा कर दी गई हो; अथवा

(स) जो दिवालिया हो; अथवा

(द) यदि उस पर कोई अन्य अपराध लगाया गया हो, अथवा निर्वाचन में ग़ैर कानूनी कार्य करने के कारण उसे अपराधी घोषित कर दिया गया हो; अथवा

(क) जिसे किसी अन्य अपराध के कारण आजन्म कारावास अथवा दो वर्ष से कम का दण्ड न मिला हो। ऐसा व्यक्ति उस समय तक सदस्य बनने का अधिकारी नहीं था, जबतक कि उसके मुक्त होने के दिनांक से पाँच वर्ष व्यतीत न हो गए हों,

किसी विशेष विषय में इस सम्बन्ध में गवर्नर जनरल भी अपने विवेक द्वारा यह अवधि निश्चित कर सकता था, अथवा

(ख) जो किसी भी व्यवस्थापिका सभा के लिए एक सीट के उम्मेदवार अथवा उम्मेदवार के प्रतिनिधि के रूप में निश्चित समय में निर्वाचन के व्यय को भरने में असफल हुआ हो; पाँच वर्ष व्यतीत हो जाने पर वह फिर सदस्य हो सकता था। गवर्नर जनरल को अपने विवेक द्वारा इन अयोग्यताओं को समाप्त करने का भी अधिकार था, अथवा

(ग) जो किसी फौजदारी के अभियोग के अन्तर्गत आजन्म कारावास अथवा कारावास का दण्ड भोग रहा हो।

यहाँ यह बात स्मरण रखने योग्य है कि निर्वाचित होने के पश्चात् भी कोई व्यक्ति उपर्युक्त अयोग्यता का भागी हो जाता था, तो उसकी सदस्यता छिन जाती थी। कोई व्यक्ति व्यवस्थापिका सभा के दोनों भवनों का सदस्य नहीं हो सकता था। संघीय

व्यवस्थापिका सभा के किसी भवन का कोई सदस्य यदि अपने भवन की आज्ञा बिना ६० दिन तक उस भवन की बैठकों में अनुपस्थित रहे तो उसकी सीट रिक्त घोषित कर दी जाती थी। संघीय व्यवस्थापिका सभा में गैर कानूनी सदस्यता का भोग करने का जुर्माना एक्ट द्वारा ५००) रुपए प्रतिदिन निश्चित कर दिया गया था।

व्यवस्थापिका सभा के सदस्यों को कुछ सुविधाएँ भी प्रदान की गई थीं, जो सन् १९१९ के एक्ट के अन्तर्गत केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के सदस्यों को प्रदान की गई सुविधाओं के समान ही थीं। सन् १९३५ के एक्ट के अन्तर्गत यह पूर्णतः स्पष्ट कर दिया गया था कि संघीय न्यायालय (Federal Court) के किसी न्यायाधीश, अथवा किसी प्रान्त अथवा संघ में सम्मिलित देशी राज्य की हाई कोर्ट के किसी न्यायाधीश के—उसके कर्त्तव्यों के पालन के सम्बन्ध में—आचरण के सम्बन्ध में संघीय व्यवस्थापिका सभा मे किसी प्रकार का वाद-विवाद नहीं किया जा सकेगा।

सदस्यों का वेतन तथा भत्ता

दोनों भवनों के सदस्यों के वेतन और भत्ते का निश्चय समय-समय पर संघीय व्यवस्थापिका सभा करती थी।

संघीय व्यवस्थापिका सभा के अधिकार

सन् १९१९ के एक्ट द्वारा प्रस्तावित केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के समान ही संघीय व्यवस्थापिका सभा स्वरूप भी सत्ता रहित था। इसके अधिकार सन् १९३५ के एक्ट द्वारा प्रामाणित किए गए थे, जो इस देश का सर्वोच्च कानून था। यदि संघीय व्यवस्थापिका सभा एक्ट द्वारा निश्चित्त की गई अधिकार सीमा का उल्लंघन करती थी, तो उसके एक्ट संघीय न्यायालय द्वारा कानून विरुद्ध घोषित किए जा सकते थे। संघीय व्यवस्थापिका सभा को किसी प्रकार के विधान निर्माण सम्बन्धी अधिकार प्राप्त नहीं थे।

व्यवस्थापिका सभा के अधिकारों का विवेचन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है :—

(१) व्यवस्थापक अधिकार,
(२) आर्थिक अधिकार, और
(३) कार्यकारिणी पर नियन्त्रण-सम्बन्धी अधिकार

(१) व्यवस्थापक अधिकार

शक्ति वितरण की योजना के अनुसार, जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है, संघीय व्यवस्थापिका सभा को उन समस्त विषयों के सम्बन्ध में कानून बनाने का अधिकार था जो संघीय व्यवस्थापक तालिका में दिए गए थे; देशी राज्यों के सम्बन्ध में यह सभा

उन विषयों के सम्बन्ध में कानून बना सकती थी जिनका उल्लेख विभिन्न राज्यों के शासकों द्वारा प्रस्तुत किए गए 'प्रवेश पत्र' (Instrument of Accession) में था। यह सम्भव था कि शासकों द्वारा प्रस्तुत किए गए 'प्रवेश पत्रों' में अन्तर थे। इसलिए इस विषय में समानता नहीं हो सकती थी। संघीय व्यवस्थापिका सभा को प्रान्तीय व्यवस्थापक तालिका में उद्धृत किए गए चीफ़ कमिश्नरों के प्रान्तों से सम्बन्धित विषयों पर भी कानून बनाने का अधिकार था।

संघीय और प्रान्तीय कानून

एकीभूत व्यवस्थापक तालिका में उद्धृत किए गए विषयों के सम्बन्ध में प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं को भी कानून बनाने का अधिकार था। एक्ट द्वारा यह निश्चित कर दिया गया था कि एकीभूत व्यवस्थापक तालिका में दिए गए विषयों के सम्बन्ध में संघीय व्यवस्थापिका सभा और प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं द्वारा निर्मित कानूनों में यदि विरोध हो तो संघीय व्यवस्थापिका सभा का कानून वैध घोषित किया जाएगा, और प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं का कानून संघीय व्यवस्थापिका सभा के कानून के विरोध की सीमा तक अवैध होगा। परन्तु संघीय व्यवस्थापिका सभा के कानून के विरोधी किसी प्रान्तीय कानून को जब गवर्नर जनरल अथवा सम्राट (His Majesty) की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रख लिया जाए, और यदि उसे यह स्वीकृति प्राप्त हो जाए, तो उसी प्रान्त में वह कानून संघीय कानून के विरोध में वैध घोषित किया जाएगा।

संघीय व्यवस्थापिका सभा को गवर्नरों के प्रान्तों की प्रान्तीय व्यवस्थापक तालिका में दिए गए विषयों के सम्बन्ध में भी कानून बनाने का अधिकार था :—

(अ) यदि दो अथवा दो से अधिक प्रान्तों के भवनों द्वारा पास किए प्रस्तावों द्वारा उससे इस प्रकार के कानून निर्माण की प्रार्थना की जाए; अथवा

(ब) यदि किसी असाधारण परिस्थिति में गवर्नर जनरल इस सम्बन्ध में घोषणा करे।

प्रतिबन्ध

इस क्षेत्र में निम्नलिखित प्रतिबन्ध भी थे :—

(अ) 'बाह्य क्षेत्र विषय' सम्बन्धी प्रतिबन्ध

सन् १९१९ के एक्ट के अन्तर्गत केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के समान संघीय व्यवस्थापिका सभा को भी कोई ऐसा कानून बनाने का अधिकार नहीं था जिसका प्रभाव निम्नलिखित पर पड़ता हो :—

(१) ब्रिटिश भारत के तथा उसके किसी भाग के सम्बन्ध में ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के कानून बनाने के अधिकार पर;

(२) राज कुटुम्ब अथवा सम्राट (Crown) के उत्तराधिकार, अथवा भारतवर्ष के किसी भाग से सम्बन्धित सम्राट (Crown) की सत्ता, अधिकार अथवा प्रभुत्व पर,

(३) ब्रिटिश जातीयता, सेना एक्ट, हवाई सेना एक्ट अथवा नौ सेना अनुशासन एक्ट पर।

संघीय व्यवस्थापिका सभा को सन् १९३५ के गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया एक्ट (Government of India Act of 1935) अथवा उसके अन्तर्गत निर्मित कानून को विना अनुमति के सशोधित करने का अधिकार नहीं था।

(घ) 'व्यावसायिक सुरक्षा का' प्रतिवन्ध

भारतवर्ष में अँगरेज़ी व्यवसाय और व्यापार के हित की सुरक्षा के हेतु एक्ट के अन्तर्गत अनेक व्यावसायिक सुरक्षाएँ प्रदान की गई थीं। इनके अनुसार सघीय व्यवस्थापिका सभा कोई ऐसा कानून निर्मित नहीं कर सकती थी :—

(१) जिसके द्वारा सयुक्त राज्य के अँगरेज निवासियों के भारतवर्ष में प्रवेश करने के अधिकार पर प्रतिबन्ध लगता हो,

(२) जिसके द्वारा संयुक्त राज्य के अँगरेज़ निवासियों के ब्रिटिश भारत में यात्रा करने, निवास करने, किसी सम्पत्ति का क्रय-विक्रय करने, पदों के ग्रहण करने, किसी व्यवसाय अथवा वृत्ति भोगने के लिए अधिकार पर प्रतिवन्ध लगता हो,

(३) जिसके द्वारा संयुक्त राज्य में रजिस्टर्ड किसी वायुयान अथवा जहाज़ के विरुद्ध कोई प्रतिवन्ध लगता हो, और जो ब्रिटिश भारत में रजिस्टर्ड जहाज़ अथवा वायुयान के पक्ष में हो, और

(४) जिसके द्वारा ब्रिटिश भारत के नियमों के अन्तर्गत स्थापित कम्पनियों के समान सयुक्त राज्य के नियमों के अन्तर्गत स्थापित कम्पनियों को प्राप्त होने वाली आर्थिक सहायता व अनुदान पर प्रतिवन्ध लगता हो।

इसके अतिरिक्त एक्ट द्वारा यह भी प्रस्तावित किया गया था .

(१) सयुक्त राज्य और वर्मा में रहने वाली ब्रिटिश प्रजा अथवा सयुक्त राज्य और वर्मा के नियमों के अन्तर्गत स्थापित कम्पनियों पर उससे अधिक मात्रा में कर नहीं लगाया जाएगा, जितना उस दशा में होता जब वे ब्रिटिश भारत में निवास कर रहे होते, अथवा ब्रिटिश भारत के नियमों के अन्तर्गत स्थापित होतीं, और

(२) सघीय व्यवस्थापिका सभा के सम्बन्ध में गवर्नर जनरल और प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा के सम्बन्ध में गवर्नर की पूर्व अनुमति विना किसी व्यवसाय के अथवा किसी व्यापार के, अथवा किसी पद के ग्रहण करने के सम्बन्ध में किसी व्यव-

स्थापिका सभा द्वारा ऐसी व्यावसायिक और पारिभाषिक योग्यताएँ निश्चित नहीं की जाएँगी जिनमें उन व्यक्तियों का बहिष्कार होता हो जो संयुक्त राज्य द्वारा प्रमाण-पत्र प्राप्त किए हुए हों।

(स) 'पूर्व स्वीकृति' का प्रतिबन्ध

गवर्नर जनरल की पूर्व स्वीकृति, जिसके सम्बन्ध में वह अपने विवेक द्वारा कार्य करता था, बिना संघीय व्यवस्थापिका सभा में कोई प्रस्ताव अथवा संशोधन उपस्थित नहीं किया जा सकता था जिसका प्रभाव निम्नलिखित पर पड़ता हो :—

"(१) ब्रिटिश भारत से सम्बन्धित पार्लियामेण्ट का कोई एक्ट; अथवा

(२) गवर्नर जनरल अथवा गवर्नरों के उनके विवेक द्वारा निर्मित एक्ट और ऑर्डिनेन्स; अथवा

(३) कोई ऐसा विषय जिसके सम्बन्ध में गवर्नर जनरल को अपने विवेक द्वारा कार्य करने का अधिकार था; अथवा

(४) पुलिस से सम्बन्धित कोई एक्ट; अथवा

(५) यूरोपियन और ब्रिटिश प्रजा से सम्बन्धित किसी फौजदारी के विषय की प्रणाली; अथवा

(६) संयुक्त राज्य द्वारा कर लगाई गई अथवा कर लगाई जा सकने वाली आय से सम्बन्धित किसी संघीय आय अथवा कर से मुक्ति प्रदान करने पर; अथवा जिसके द्वारा

(७) ब्रिटिश भारत में रहने वाले व्यक्तियों और ब्रिटिश भारत में नियन्त्रित तथा व्यवस्थित कम्पनियों से अधिक कर उन निवासियों और कम्पनियों पर लगता हो जो ब्रिटिश भारत में निवास न करते हों अथवा जो पूर्ण रूप से ब्रिटिश भारत में कार्य नहीं कर रही हों।"

इस एक्ट के अन्तर्गत यह एक और प्रतिबन्ध था जो संघीय व्यवस्थापिका सभा पर लागू किया गया था।

(द) कार्यगति अवरोधक 'धारा' का प्रतिबन्ध

एक्ट द्वारा गवर्नर जनरल को किसी प्रस्ताव, धारा अथवा संशोधन से सम्बन्धित कार्यप्रणाली को समाप्त करने का अधिकार था, यदि वह यह प्रमाणित करता कि इनमें से किसी के वाद-विवाद का प्रभाव उसके विशेष उत्तरदायित्वों के निभाने पर पड़ेगा, जिनके द्वारा वह भारतवर्ष अथवा उसके किसी भाग की शान्ति और सुरक्षा की रक्षा करता है। यह भी एक जटिल एवं दुरूह प्रतिबन्ध था।

(क) 'अन्तिम स्वीकृति' का प्रतिबन्ध

एक्ट के अन्तर्गत गवर्नर जनरल को अनिच्छित कानूनों के सम्बन्ध में अपने प्रतिबन्ध के अधिकार के प्रयोग की स्वतन्त्रता थी। प्रत्येक प्रस्ताव को दोनों भवनों द्वारा पास हो जाने के पश्चात् गवर्नर जनरल के सम्मुख उपस्थित किया जाता था, जो अपने विवेक द्वारा

(१) सम्राट (His Majesty) के निमित्त उस पर अपनी स्वीकृति प्रदान कर सकता था,[१] अथवा

(२) वह अपनी स्वीकृति नहीं भी प्रदान कर सकता था,[२] अथवा

(३) वह उस प्रस्ताव को दोनों भवनों के पास इस प्रार्थना के साथ वापिस भेज सकता था कि उस पर अथवा उसकी किसी धारा पर पुनर्विचार किया जाय, और स्वय द्वारा प्रस्तुत किसी सशोधन के सम्बन्ध में वह विशेष संकेत कर सकता था कि उसकी इच्छा है कि वह सशोधन भी कर दिया जाए,[3] अथवा

(४) वह उसे सम्राट (His Majesty) की स्वीकृति के लिए भी सुरक्षित रख सकता था।[४]

इन उपर्युक्त बातों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन धाराओं के सम्बन्ध में सन् १९३५ का एक्ट सन् १९१९ के एक्ट की पुनरुक्ति ही थी।

(ख) 'उत्तरकालीन निषेध' का अधिकार

एक्ट द्वारा यह भी निश्चित कर दिया गया था कि गवर्नर जनरल द्वारा स्वीकृत एक्ट को उसकी स्वीकृति के दिनांक से बारह मास के समय में सम्राट (His Majesty) द्वारा अस्वीकृत किया जा सकता था।

---

[१] इस अवस्था में प्रस्ताव एक्ट का स्वरूप ग्रहण कर लेता था।

[२] इस अवस्था में प्रस्ताव का कोई अस्तित्व नहीं रहता था, और वह समाप्त हो जाता था।

[3] इस अवस्था में दोनों भवन फिर से उस प्रस्ताव पर विचार करते थे, और उसके पश्चात् फिर वह प्रस्ताव गवर्नर जनरल के सम्मुख उसकी स्वीकृति के हेतु उपस्थित किया जा सकता था।

[४] इस अवस्था में यदि इस एक्ट को सुरक्षित रखने के दिनाँक से गवर्नर जनरल बारह मास के समय में यह घोषणा कर देता था कि सम्राट (His Majesty) ने उस प्रस्ताव के सम्बन्ध में अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी है, तो वह प्रस्ताव एक्ट का स्वरूप ग्रहण कर लेता था।

(२) आर्थिक अधिकारी

संघीय सरकार को उन समस्त विषयों पर कर लगाने का अधिकार था जो संघीय तालिका में उद्धृत थे। आय सम्बन्धी प्रत्येक प्रस्ताव आर्थिक प्रस्ताव के रूप में होते थे जिनकी उपस्थिति गवर्नर जनरल की सम्मति पर ही निर्भर थी। आर्थिक प्रस्ताव पहले प्रथम भवन में उपस्थित होने चाहिएँ। इस भवन में पास होने के पश्चात् उन्हें द्वितीय भवन में उपस्थित किया जाता था। द्वितीय भवन को भी इस सम्बन्ध में मतदान का अधिकार प्रदान किया गया था।

प्रत्येक वर्ष गवर्नर जनरल संघीय व्यवस्थापिका सभा के दोनों भवनों के सन्मुख आय का वार्षिक ब्यौरा उपस्थित करता था जिसे बजट के नाम से पुकारा जाता था। यह ब्यौरा संघ राज्य के अनुमानित आय और व्यय से सम्बन्धित होता था। इसमें निम्नलिखित का पृथक रूप से विवेचन होता था :—

(अ) एक्ट द्वारा प्रस्तावित धन जो संघ राज्य की आय में से लिया जाने वाला हो, और

(ब) अन्य प्रस्तावित व्यय के लिए भारतवर्ष की आय में से जो धन लिया जाने वाला हो।

निम्नलिखित व्यय भारतवर्ष की आय में से देना निश्चित किया गया था :

"(अ) गवर्नर जनरल का वेतन और भत्ता तथा उसके पद से सम्बन्धित अन्य व्यय;

(ब) संघीय मन्त्रिमण्डल, सलाहकारों, आर्थिक सलाहकार और उसके अन्य कर्मचारियों, चीफ़ कमिश्नर्स, एडवोकेट जनरल और संघीय न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतन और भत्ता, आदि;

(स) रक्षा, विदेशनीति, असभ्य प्रदेश और धार्मिक कार्यों के विभागों का व्यय। एक्ट द्वारा यह निश्चित कर दिया गया था कि धार्मिक कार्यों के सम्बन्ध में लिया जाने वाला धन सेवा वृत्तियों के अतिरिक्त ४२ लाख रुपये से अधिक नहीं होना चाहिए;

(द) उन ऋण तथा उनके सूद, आदि के सम्बन्ध में जिनके लिए संघ राज्य उत्तरदायी था;

(क) देशी राज्यों से सम्बन्धित सम्राट (crown) के कार्यों के सम्पादन के प्रति हुए व्यय के सम्बन्ध में सम्राट (His Majesty) को दिया जाने वाला धन;

(ख) किसी प्रान्त के बहिष्कृत क्षेत्रों के शासन सम्बन्धी उद्देश्यों की पूर्ति के हेतु कोई अनुदान,

(ग) किसी न्यायलय के किसी निर्णय अथवा किसी डिक्री के सम्बन्ध में प्रदान किया जाने वाला धन;

(घ) संघीय व्यवस्थापिका सभा के किसी एक्ट द्वारा भारत सरकार द्वारा घोषित किसी अन्य विषय से सम्बन्धित व्यय ।"

इस प्रकार उपस्थित किए हुए बजट पर दोनों भवनों मे वादविवाद हो सकता था । सुरक्षित विषयों से सम्बन्धित व्यय मतदान की सीमा से पूर्ण रूप से परे थे । गवर्नर जनरल का वेतन और भत्ता तथा सम्राट (His Majesty) को दिए जाने वाले धन पर वाद-विवाद भी नहीं हो सकता था । यह सुरक्षित विषय संघीय व्यवस्थापिका सभा की आधीनता पर एक और छाप थी क्योंकि उन विषयों के सम्बन्ध में इस सभा को कोई अधिकार प्राप्त नहीं था । जो विषय सुरक्षित नहीं थे, उनके सम्बन्ध में वाद-विवाद तथा मतदान किया जा सकता था । इन विषयों से सम्बन्धित किसी माँग के सम्बन्ध में दोनों भवनों को अपनी स्वीकृति अथवा अस्वीकृति प्रदान करने का अधिकार था । प्रस्तावित माँग में कमी की जा सकती थी, परन्तु उसमें किसी प्रकार की वृद्धि नहीं की जासकती थी । यदि किसी प्रस्तावित माँग को संघीय परिषद् द्वारा अस्वीकृत कर दिया जाता था तो गवर्नर जनरल के आदेश बिना उसे राज्य परिषद् के सम्मुख उपस्थित नहीं किया जाता था। यदि भवन द्वारा कोई माग अस्वीकृत अथवा घटा दी जाती थी, तो गवर्नर जनरल को उसके पुन स्थापन का अधिकार था, यदि उसकी सम्मति में इस प्रकार की अस्वीकृति से उसके विशेष उत्तरदायित्वों के निभाने पर कोई प्रभाव पड़ता हो ।

(३) कार्यकारिणी पर नियन्त्रण सम्बन्धी अधिकार

शासन का यदि कोई क्षेत्र ऐसा था जिस पर व्यवस्थापिका सभा अपने नियत्रण का प्रयोग कर सकती थी तो वह क्षेत्र वह था जिसमें गवर्नर जनरल अपने मन्त्रियों की सम्मति से कार्य करता था । क्योंकि जब कभी गवर्नर जनरल अपने विवेक अथवा व्यक्तिगत निर्णय द्वारा कार्य करता था, तब ऐसे अवसरों पर वह केवल भारत सचिव के प्रति, और उसके द्वारा ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के प्रति उत्तरदायी रहता था । इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप से नियन्त्रण का एक अत्यन्त व्यापक क्षेत्र संघीय व्यवस्थापिका सभा के हाथों से छीन लिया गया था ।

इस सम्बन्ध में संयुक्त सचिवतन्त्र समिति की रिपोर्ट (Joint Parliamentary Committee Report) में यह सम्मति प्रकट की गई थी कि "उत्तरदायित्व पूर्ण मंत्रिमण्डल स्वयं कोई सरकार का प्रकार नहीं है जिसे अपनी इच्छा से एक कानून की धाराओं द्वारा उत्पन्न अथवा समाप्त किया जा सके, यह तो पारस्परिक सम्बन्धों की ही एक दशा है, जिसका विकास कुछ सरकारों के अन्तर्गत कुछ विशेष परिस्थितियों में होता है।"[१] इस प्रकार शेष क्षेत्र में भी व्यवस्थापिका सभा

1 "Ministerial responsibility is not itself a form of government

के प्रति मन्त्रियों का उत्तरदायित्व स्पष्ट रूप से वैधानिक प्रथा का ही एक विषय था। विधान में यह कहीं पूर्णतः स्पष्ट नहीं किया गया था कि मन्त्री अपने कार्य और नीति के लिए व्यवस्थापिका सभा के प्रति उत्तरदायी रहेंगे। गवर्नर जनरल ही मन्त्रियों की नियुक्ति करता था, वही उन्हे उनके पद पर आमन्त्रित करता था, वही उन्हे उनका कार्य सौंपता था, और वही उनके अपने प्रति, उनके विभागों और आधीन कर्मचारियों के प्रति सम्बन्ध निश्चित करता था। इस प्रकार मन्त्रियों का अनन्तरित स्वामी गवर्नर जनरल ही था। कानूनी रूप से, निम्नलिखित दो धाराओं के अतिरिक्त व्यवस्थापिका सभा के प्रति मन्त्रियों के उत्तरदायित्व का निर्देश एक्ट में कहीं नहीं किया गया था :—

(अ) मन्त्रियों का वेतन संघीय व्यवस्थापिका सभा के एक एक्ट द्वारा निश्चित किया जायगा, और

(ब) यदि कोई मन्त्री ६ मास के समय में संघीय व्यवस्थापिका सभा के किसी भी भवन की सदस्यता प्राप्त नहीं कर पाता था, तो उस अवधि के पश्चात् उसे अपने पद से त्यागपत्र दे देना पड़ता था।

परन्तु इन धाराओं से भी कुछ अधिक आशा करना व्यर्थ था क्योंकि :

(अ) किसी मन्त्री के कार्यकाल में ही उसके वेतन में वृद्धि नहीं की जा सकती थी;

(ब) कोई मन्त्री किसी भवन की सदस्यता "किसी आज्ञाकारी शासक (जिसका राज्य संघ में सम्मिलित हो गया हो) अथवा द्वितीय भवन में गवर्नर जनरल द्वारा" अपनी नियुक्ति कराकर प्राप्त कर सकता था; और

(स) व्यवस्थापिका सभा के किसी भवन में किसी मन्त्री का उपस्थित होना "इस बात का प्रमाण नहीं था कि वह प्रत्यक्ष रूप से उस संस्था के प्रति उत्तरदायी होगा।" (के० टी० शाह)

वर्तमान प्रजातन्त्र देशों में व्यवस्थापिका सभा अप्रत्यक्ष रूप से मुख्यत. निम्नलिखित द्वारा कार्यकारिणी पर नियन्त्रण रखती है :—

(अ) कार्यकारिणी द्वारा प्रस्तावित किसी कानून को अस्वीकृत करके।

(ब) कार्यकारिणी के लिए असुविधाजनक कुछ कानूनों के पास करने पर बल देकर,

---

which can be created or prevented at will by the clauses of a statute, so much as a state of relationship which tends to grow up in certain circumstances and under certain forms of government"

—Joint Parliamentary Committee Report

(स) कार्यकारिणी द्वारा प्रस्तुत कुछ माँगों को अस्वीकृत तथा घटा कर, जिससे कार्यकारिणी के लिए शासन प्रबन्ध सँभालना असम्भव होजाय,

(द) मन्त्रियों के वेतन में कमी करके, और

(क) मन्त्रिमण्डल के प्रति अविश्वास प्रस्ताव पास करके।

परन्तु भारतवर्ष में नियन्त्रण के इन साधनों के प्रयोग पर एक्ट द्वारा प्रतिबन्ध लगा दिया गया था। व्यवस्थापिका सभा की इच्छा के विरुद्ध भी गवर्नर जनरल कानून और माँगों को स्वीकृत कर सकता था, और इस प्रकार वह मन्त्रियों के कार्य में बाधा उपस्थित नहीं होने देता था, चाहे वे व्यवस्थापिका सभा की इच्छाओं को कुचल कर अग्रसर हो रहे हों। ऐसी परिस्थितियों में यही अधिक सम्भव था कि मन्त्रीगण व्यवस्थापिका सभा के प्रति उत्तरदायी न रह कर गवर्नर जनरल के प्रति उत्तरदायी रहते।

गवर्नर जनरल और कानून निर्माण

सन् १९३५ के एक्ट द्वारा गवर्नर जनरल को (१) व्यवस्थापिका सभा के तथा (२) प्रत्यक्ष रूप से कानून निर्माण करने के सम्बन्ध में कुछ अधिकार प्रदान किए गए थे। इन अधिकारों का विवेचन संक्षेप में निम्न प्रकार से किया जा सकता है :—

(१) व्यवस्थापिका सभा के सम्बन्ध में

(अ) कार्य प्रणाली सम्बन्धी नियम निश्चित करने का अधिकार

गवर्नर जनरल को अपने विवेक द्वारा, समयानुकूल स्पीकर अथवा सभापति से परामर्श करने के पश्चात्, निम्नलिखित के सम्बन्ध में नियम बनाने का अधिकार था :

(१) किसी ऐसे विषय से सम्बन्धित कार्य प्रणाली के संचालन के लिए, जिसका प्रभाव उसके उन विषयों पर पड़ रहा हो, जिनके सम्बन्ध में उसे अपने विवेक अथवा व्यक्तिगत निर्णय द्वारा कार्य करने का अधिकार था।

(२) आय सम्बन्धी कार्य को निश्चित समय के भीतर समाप्त करने के लिए,

(३) किसी देशी राज्य के किसी ऐसे विषय से सम्बन्धित प्रश्न पर हो रहे वाद-विवाद को रोकने के लिए, जिसके सम्बन्ध में संघीय व्यवस्थापिका सभा को कानून बनाने का अधिकार नहीं था,

(४) निम्नलिखित से सम्बन्धित किसी ऐसे वाद-विवाद को रोकने के लिए; जिस पर गवर्नर जनरल की स्वीकृति प्राप्त न की गई हो

(अ) सम्राट (His Majesty) अथवा गवर्नर जनरल के किसी देशी राज्य अथवा प्रान्त के सम्बन्ध के विषय में, अथवा

(ब) असभ्य प्रदेशों के सम्बन्ध में, अथवा

(स) किसी बहिष्कृत क्षेत्र के शासन के सम्बन्ध में; अथवा

(द) किसी प्रान्त के कार्यों के सम्बन्ध में विवेक द्वारा किए जाने वाले गवर्नर जनरल के किसी कार्य के सम्बन्ध में; अथवा

(क) किसी देशी राज्य के शासक अथवा उसके कुटुम्ब के किसी सदस्य के व्यक्तिगत आचरण के सम्बन्ध में।

(ब) भाषण और सूचना प्रदान करने के अधिकार

अपने विवेक के अन्तर्गत कार्य करते हुए गवर्नर जनरल व्यवस्थापिका सभा के किसी भवन अथवा दोनों भवनों की संयुक्त बैठक में भाषण दे सकता था। इस उद्देश्य के लिए वह व्यवस्थापिका सभा में मन्त्रियों को उपस्थित होने के लिए आदेश प्रदान कर सकता था। किसी भी विषय पर पुनर्विचार के लिए वह किसी भी भवन को इस सम्बन्ध में सूचना प्रदान कर सकता था। एक्ट के अन्तर्गत यह निश्चित कर दिया गया था कि इस प्रकार भेजे गए गवर्नर जनरल के विषयों के सम्बन्ध में भवनों को पुनर्विचार करना चाहिए।

(२) प्रत्यक्ष रूप से कानून-निर्माण करने के सम्बन्ध में

(अ) गवर्नर जनरल के आर्डिनेन्स

जिस समय संघीय व्यवस्थापिका सभा का अधिवेशन न हो रहा हो, उस समय के लिए एक्ट द्वारा गवर्नर जनरल को यह अधिकार प्रदान किया गया था कि यदि वह आवश्यक समझे तो किसी भी समय आर्डिनेन्स लागू कर सकता है। इस प्रकार के आर्डिनेन्स प्रायः मन्त्रियों की सम्मति द्वारा लागू किए जाने वाले थे। परन्तु यदि किसी आर्डिनेन्स का सम्बन्ध उस विषय से होता जिसके प्रस्ताव रूप में गवर्नर जनरल की स्वीकृति आवश्यक थी, तो ऐसे ऑर्डिनेन्स को गवर्नर जनरल व्यक्तिगत निर्णय द्वारा लागू कर सकता था। यदि किसी ऑर्डिनेन्स का सम्बन्ध ऐसे विषय से था जो यदि प्रस्ताव रूप उपस्थित किया जाता तो गवर्नर जनरल उसे सम्राट (His Majesty) की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रखने के लिए बाध्य था तो इस प्रकार के ऑर्डिनेन्स को वह सम्राट (His Majesty) के आदेश बिना लागू नहीं कर सकता था। व्यवस्थापिका सभा का अधिवेशन प्रारम्भ होते ही आर्डिनेन्स इसके सन्मुख उपस्थित किए जाते थे। इस प्रकार के ऑर्डिनेन्स की अवधि अधिक से अधिक ६ सप्ताह हो सकती थी। यदि दोनों भवन इसमें सहमत न होते तो उसे इस समय से पूर्व भी समाप्त किया जा सकता था। एक संघीय एक्ट के समान इसे भी सम्राट (His Majesty) द्वारा अस्वीकृत किया जा सकता था। गवर्नर जनरल इसे किसी भी समय वापिस लौटा सकता था।

जिन विषयों के सम्बन्ध में गवर्नर जनरल को अपने विवेक अथवा व्यक्तिगत निर्णय द्वारा कार्य करना था, उन विषयों के सम्बन्ध में भी उसे एक्ट द्वारा ऑर्डिनेन्स लागू करने का अधिकार प्रदान किया गया था। इस प्रकार के ऑर्डिनेन्स की अवधि भी सामान्यतया ६ मास होती थी। परन्तु इसे आगामी ६ मास के लिए और बढ़ाया जा सकता था। यदि किसी आर्डिनेन्स की अवधि में वृद्धि करने के लिए कोई ऑर्डिनेन्स लागू किया जाता था, तो इसे भारत सचिव के पास भेजना पड़ता था, जो उसे पार्लियामेंन्ट के दोनों भवनों के सन्मुख उपस्थित करता था। यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि इस प्रकार के ऑर्डिनेन्स का प्रभाव वही होता था जो सघीय व्यवस्थापिका सभा के किसी एक्ट का होता था। इसे सम्राट (King) द्वारा अस्वीकृत किया जासकता था। इसे भी गवर्नर जनरल किसी भी समय वापिस लौटा सकता था।

(ब) गवर्नर जनरल के एक्ट

इसके अतिरिक्त एक्ट के अन्तर्गत यह प्रस्तावित किया गया था कि यदि गवर्नर जनरल को यह अनुभव होता कि उन विषयों से सम्बन्धित किसी कार्य के सम्पादन तथा अपने उत्तरदायित्व की पूर्ति के लिए, जिनके सम्बन्ध में उसे अपने विवेक और व्यक्तिगत निर्णय द्वारा कार्य करना पड़ता था, विशेष कानून निर्माण अनिवार्य था, तो सघीय व्यवस्थापिका सभा को इन परिस्थितियों की सूचना देकर वह स्थायी कानूनों का निर्माण कर सकता था, जिन्हें गवर्नर जनरल के एक्ट कहा जाता था। इसी की एक और अन्य विधि के रूप में एक्ट द्वारा यह भी प्रस्तावित किया गया था कि उसी दृष्टिकोण के साथ गवर्नर जनरल दोनों भवनों को कोई प्रस्ताव भेज सकता था, और दोनों भवनों द्वारा प्रस्तुत किए गए सशोधनों और परिवर्तनों पर विचार करके उसे एक मास पश्चात् गवर्नर जनरल के एक्ट के नाम से लागू कर सकता था। यह सब करते समय उसे अपने विवेक द्वारा ही कार्य करना था। गवर्नर जनरल के एक्ट का वही प्रभाव होता था जो व्यवस्थापिका सभा के किसी एक्ट का। इसे भी सम्राट (King) द्वारा अस्वीकृत किया जा सकता था। सघीय व्यवस्थापिका सभा के व्यवस्थापक अधिकारों के क्षेत्र से परे यह एक्ट अवैध था। गवर्नर जनरल का प्रत्येक एक्ट भारत सचिव के पास भेजा जाता था, जो उसे पार्लियामेण्ट के दोनों भवनों के सन्मुख उपस्थित करता था।

(स) सामयिक वैधानिक संकट सम्बन्धी अधिकार

एक्ट द्वारा यह प्रस्तावित किया गया था कि यदि किसो समय गवर्नर जनरल को यह विश्वास हो जाए कि सघ शासन का सचालन सफलतापूर्वक नहीं किया जा सकता, तो वह अपने विवेक के अन्तर्गत एक घोषणा करके शासन सम्बन्धी कुछ अथवा समस्त अधिकार, यहाँ तक कि संघीय न्यायालय के अधिकार भी ग्रहण कर

सकता था। इसके पश्चात् प्रत्येक कार्य का सम्पादन उसे अपने विवेक के अन्तर्गत ही करना था। उसी घोषणा द्वारा वह इस एक्ट की किसी धारा को परिवर्तित कर सकता था, तथा संघीय न्यायालय के अतिरिक्त किसी भी अन्य संघीय संस्था से सम्बन्धित धारा को पूर्ण अथवा आंशिक रूप से स्थगित कर सकता था। इस घोषणा में कोई संशोधन अथवा इसकी समाप्ति एक अन्य घोषणा द्वारा हो सकती थी। इस प्रकार की घोषणा भारत सचिव के पास भेजी जाती थी, जो उसे पार्लियामेण्ट के दोनों भवनों के सन्मुख उपस्थित करता था। इस प्रकार की घोषणा ६ मास के पश्चात् समाप्त हो जाती थी। पार्लियामेण्ट के दोनों भवन यदि इस प्रकार की घोषणा को प्रचलित रखना चाहते तो वे इस घोषणा की अवधि में बारह मास की वृद्धि कर सकते थे, और इसी प्रकार अधिक से अधिक तीन वर्ष इसकी अवधि मे वृद्धि की जा सकती थी। इस अवधि के पश्चात् यह घोषणा समाप्त हो जाती थी, और इस प्रकार की घोषणा के पश्चात् भारत सरकार का शासन फिर से सन् १६३५ के गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया एक्ट (Government of India Act of 1935) के अनुसार किया जाने वाला था। इसमें पार्लियामेण्ट के संशोधन भी सम्मिलित हो सकते थे।

आलोचनात्मक निरीक्षण

उपर्युक्त बातों का अध्ययन करने के पश्चात् निम्नलिखित के सम्बन्ध में कुछ निरीक्षण करना अनिवार्य है :—

(अ) व्यवस्थापिका सभा का निर्माण;
(ब) व्यवस्थापिका सभा के अधिकार और कार्य; और
(स) गवर्नर जनरल की स्थिति।

(अ) व्यवस्थापिका सभा का निर्माण

संघीय व्यवस्थापिका सभा के निर्माण के सम्बन्ध मे निम्नलिखित बातें दर्शनीय हैं :—

(१) विश्व के अन्य संघों के द्वितीय भवनों की असमानता में, भारतवर्ष की राज्य परिषद् मे संघीय इकाइयों को समान प्रतिनिधित्व प्रदान नहीं किया गया था।

(२) देशी राज्यों के प्रतिनिधि उन राज्यों के शासकों द्वारा नियुक्त किए जाते थे, इसलिए उनसे केवल यही आशा की जा सकती थी कि वे व्यवस्थापिका सभा में रूढिवादिता और राष्ट्र के अहित सम्बन्धी सिद्धान्तों का प्रचार करेंगे। इस बात का भय राज्य परिषद् में अधिक था क्योंकि उसमें देशी राज्यों का अधिक प्रतिनिधित्व था।

१५

(३) विश्व के अन्य संघों के प्रथम भवनों की असमानता में, भारतवर्ष की सघीय परिषद् के लिए अप्रत्यक्ष निर्वाचन की विधि निश्चित की गई थी। इसका फल यही होता कि परिषद् के सदस्यों पर जनता का कुछ भी प्रभाव नहीं रहता।

(४) एक्ट के अन्तर्गत सघीय व्यवस्थापिका सभा के लिए होने वाले निर्वाचन का आधार साम्प्रदायिक निर्वाचन क्षेत्र रखा गया था। इससे साम्प्रदायिकता की विषवेल का फैलना निश्चित था और यह भी निश्चित था कि इस बेल से ब्रिटिश साम्राज्यवाद और भी अधिक दृढ तथा स्थायी हो जाता। इसके अतिरिक्त प्रथा के कारण श्रेष्ठ राजनैतिक दलों का विकास असम्भव हो जाता, यद्यपि यही दल सचिव-तन्त्र सरकार का आधार होते हैं।

(ब) व्यवस्थापिका सभा के अधिकार और कार्य

सन् १९३५ के एक्ट के अन्तर्गत स्थापित की जाने वाली सघीय व्यवस्थापिका सभा सन् १९१९ के एक्ट की केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा का प्रतिबिम्ब मात्र थी। यह निम्नलिखित आलोचनात्मक विवेचन से स्पष्ट हो जाएगा —प्रथम, कानून निर्माण के क्षेत्र में इसका स्वरूप भी सत्ता रहित था। इस सभा को जो कार्य और अधिकार प्रदान किए गए थे, वे बन्धनपूर्ण और व्यर्थ थे। जिन विषयों के सम्बन्ध में सघीय व्यवस्थापिका सभा को कानून बनाने का अधिकार प्राप्त था, उन विषयों के सम्बन्ध में भी गवर्नर जनरल इस पर प्रतिबन्ध लगा सकता था। द्वितीय, राष्ट्रीय आय के स्वस्थ विकास के लिए व्यावसायिक सुरक्षा के प्रतिबन्ध विष समान थे। निस्सन्देह उनका आधार पारस्परिक अनुग्रह (Reciprocity) का सिद्धान्त ही था, अर्थात् सयुक्त राज्य में भी भारतीय व्यवसाय की सुरक्षा के लिए इसी प्रकार की व्यावसायिक सुरक्षा प्रदान की गई थीं। इस विषय में चिन्तामणि और मसानी का कथन उल्लेख्य है कि "सयुक्त राज्य में निवास करने वाले भारतीयों और वहाँ व्यापार करने वाली (भारतीय) कम्पनियों की सख्या भारतवर्ष में स्थापित ब्रिटिश हित के अनुपात में इतनी न्यून तथा उपेक्षित है कि इन परिस्थितियों में यह अनुग्रह अधिक से अधिक एक खेदजनक उपहास ही प्रतीत होता है।"[1]

तृतीय, सुरक्षित विषयों पर व्यवस्थापिका सभा को मतदान करने का अधिकार नहीं था, इससे उसका अधिकार क्षेत्र और भी सकुचित हो गया था। " धन्य

---

1 "The number of Indians residing in the United Kingdom and the number of (Indian) Companies doing business there is so negligible compared to the huge British Vested interests in India .. that reciprocity in such conditions at its best is a painful joke"

—Chintamani and Masani.

है कि यह विषय संघीय परिषद् के मताधिकार क्षेत्र से बहिष्कृत कर दिए गए," जैसा कि श्री के० टी० शाह ने लिखा है, "अब जिस वास्तविक क्षेत्र में परिषद् मतदान कर सकेगी उसका प्रभाव, यदि बहुत हुआ तो, समस्त संघीय विषय के ¼ भाग से भी कम होगा।"[1] "संघीय व्यवस्थापिका सभा के मतदान के क्षेत्र में," के० टी० शाह ने लिखा है, "धारा ३५ के अन्तर्गत प्रदान किया गया गवर्नर जनरल का अधिकार व्यवस्थापिका सभा के लगभग समस्त अधिकारों को नष्ट कर देता है, धन्य है उसका स्वीकृत व्यय की सूची करने का अधिकार। परिषद् द्वारा अस्वीकृत अथवा कम की गई किसी मॉग को गवर्नर जनरल फिर से स्थापित कर सकता था, यदि उसे यह अनुभव होता कि उसके विशेष उत्तरदायित्वों के निभाने" तथा संघ के आर्थिक "स्थायित्व के लिए वह मॉग आवश्यक थी।" चतुर्थ, राज्य परिषद् को भी विभिन्न अनुदानों के प्रति अपना मतदान करने का अधिकार प्रदान किया गया था। यह विधि प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों के एक दम प्रतिकूल थी। इसकी सहायता से भारतीय बजट द्वारा साम्राज्य शाही के हित की और भी सेवा की जा सकती थी, क्योंकि एक्ट के अन्तर्गत राज्य परिषद् का निर्माण इस प्रकार का प्रस्तुत किया गया था कि निश्चय ही उसमें अँगरेजों का समर्थन करने वाले सदस्य होते। इस परिषद् में देशी राज्यों के शासकों के प्रतिनिधियों की संख्या भी यथेष्ट थी। पंचम, मत का अधिकार भी आय कर देने वालों, किसी विशेष स्तर, पद तथा उपाधि वालों को ही प्रदान किया गया था। अपनी स्वयं की स्थिति को सुरक्षित रखने के लिए यह आवश्यक ही था कि यह प्रतिनिधि अँगरेजों का पक्ष ग्रहण करते। और अन्त में, गवर्नर जनरल और सम्राट (His Majesty) का प्रतिनिषेध का अधिकार एक ऐसा शस्त्र था जिसके द्वारा यह कभी भी संघीय व्यवस्थापिका सभा को मृत्यु का आलिंगन करा सकते थे। यदि संघीय सरकार गवर्नर जनरल की इच्छानुकूल कार्य नहीं करती थी, तो उसे भी स्थगित किया जा सकता था। सारांश यही है कि संघीय व्यवस्थापिका सभा गवर्नर जनरल को प्रसन्न रख कर ही जीवित रह सकती थी, जो भारतवर्ष में साम्राज्यशाही के हितों का रक्षक और संरक्षक था।

(स) गवर्नर जनरल की स्थिति

इस एक्ट के अन्तर्गत भी गवर्नर जनरल को सर्व सत्ताधारी की स्थिति प्रदान की गई थी। गवर्नर जनरल के विशेष व्यवस्थापक तथा आर्थिक अधिकारों के कारण संघीय व्यवस्थापिका सभा की स्थिति आधीनता और असहाय की हो गई थी। सन्

---

1 " ... thanks to these items being excluded from the vote of the Federal Assembly, the actual region in which the Assembly vote will have any effect is less than 1/4 of the total Federal expenditure, if even so much."
—K. T. Shah.

१६१६ के एक्ट की प्रधान विशेषता अर्थात् कार्यकारिणी द्वारा कानून निर्माण को इस एक्ट के अन्तर्गत भी स्वीकार किया गया था। सन् १६१६ के एक्ट के अन्तर्गत गवर्नर जनरल प्रमाणित करने के अधिकार द्वारा जो कुछ कर सकता था, वही वह सन् १६३५ के एक्ट के अन्तर्गत अपने एक्ट तथा आर्डिनेन्स द्वारा कर सकता था। सत्य यही है कि कार्यकारिणी तथा व्यवस्थापक सम्बन्धी अधिकारों का मुख्य प्रयोगकर्त्ता अब भी गवर्नर जनरल ही था। सन् १६३५ के एक्ट के अन्तर्गत भारतीयों को अधिकार प्रदान करने का दिखावा केवल एक मायावी जाल ही था।

छठवाँ अध्याय

संघीय कार्यकारिणी

"वास्तव मे यह बात बडी विचित्र सी प्रतीत होगी कि प्रान्तों में से द्वैत शासन को हटाकर, उसी सिद्धान्त को केन्द्र में प्रचलित करने का समर्थन किया जाए। केन्द्र मे उत्तरदायी सरकार का स्वरूप एक ऐसी केन्द्रीय कार्यकारिणी का निर्माण करने से प्राप्त नहीं हो सकता जिसका एक भाग दूसरे भाग के प्रति उत्तरदायी न हो।"[1]

—साइमन कमीशन

सन् १९३५ के एक्ट द्वारा प्रान्तों मे द्वैत शासन की समाप्ति कदाचित केवल इसीलिए की गई कि केन्द्र में उसकी स्थापना की जाए। इस एक्ट के अन्तर्गत हस्तान्तरित और सुरक्षित विभागों का विभाजन फिर से किया गया। रक्षा, विदेश, धर्म तथा असभ्य क्षेत्रों आदि से सम्बन्ध रखने वाले विभाग और एक्ट से दिए गए कुछ आम विषयों का शासन पूर्णरूप से गवर्नर जनरल के हाथों में सुरक्षित कर दिया गया। गवर्नर जनरल को इन विभागोंका शासन अपने विवेक के अन्तर्गत तथा अपनी कार्यकारिणी के सदस्यों की सम्मति द्वारा करना था। इन विषयों के शासन के सम्बन्ध में गवर्नर जनरल केवल भारत सचिव के प्रति और उसके द्वारा ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के प्रति उत्तरदायी था। इनके अतिरिक्त कुछ हस्तान्तरित विषय थे (वे विभाग जो मन्त्रियों की अध्यक्षता में रख दिए गए थे) जिनका शासन प्रवन्ध गवर्नर जनरल को अपने मन्त्रियों की सहायता एवं सम्मति द्वारा करना था। यहाँ यह बात ध्यान में रखने की है कि यह विभाजन इसीलिए किया गया था कि अंग्रेजों की दृष्टि में भारत-वासी शासन करने के लिए योग्य नहीं थे, तथा अँगरेजों की यह नीति थी कि साम्राज्य-शाही के हित सम्बन्धी समस्त विषय गवर्नर जनरल के हाथ में ही रहे।

---

1 "It would indeed be an astonishing result if, at a time when Dyarchy is abandoned in the Provinces, the introduction of a similar principle were to be recommended at the centre. The ultimate creation of responsible government at the Centre cannot be reached by constructing a Central Executive, one part of which is not responsible to the other." —The Simon Commission.

इस प्रकार सघीय कार्यकारिणी का अध्ययन निम्नलिखित तीन शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है :—

(१) गवर्नर जनरल,

(२) गवर्नर जनरल के सलाहकार (Councillors);

(३) मन्त्रि परिषद् ।

प्रथक रूप से इनका अध्ययन करने के पूर्व हमें संघीय कार्यकारिणी के अधिकार क्षेत्र पर एक दृष्टि डाल लेनी चाहिए ।

प्रान्तों तथा सघ में सम्मिलित हुए राज्यों के उन समस्त विषयों के सम्बन्ध मे, जिनके लिए संघीय व्यवस्थापिका सभा को कानून बनाने का अधिकार था, संघीय कार्यकारिणी अपने अधिकार का प्रयोग कर सकती थी। भारतवर्ष में नौसेना, हवाई सेना और थल सेना की वृद्धि के सम्बन्ध में सम्राट (His Majesty) के स्थान पर वह अपने अधिकारों का प्रयोग कर सकती थी । इसके अधिकार क्षेत्र का विस्तार सम्राट (His Majesty) की उस सेना तक भी था जो भारतवर्ष में स्थित थी। और असभ्य प्रदेशों के शासन प्रवन्ध के सम्बन्ध में सम्राट (His Majesty) के अधिकारों का प्रयोग भी यही करती थी ।

(१) गवर्नर जनरल

अब हमें गवर्नर जनरल से ही प्रारम्भ करना है ।

(अ) नवीन रूप

सन् १९३५ के एक्ट के अन्तर्गत सघीय सरकार के अध्यक्ष गवर्नर जनरल और देशी राज्यों के सम्बन्ध में सम्राट (Crown) के कार्य करने के लिए सम्राट (His Majesty) के प्रतिनिधि में अन्तर स्वीकार किया गया ।

इस अन्तर की आवश्यकता स्पष्ट करते हुए श्री के० टी० शाह ने लिखा था कि "(प्रान्तों और देशी राज्यों के) सघ की स्थापना होने के पश्चात् भी देशी राज्यों के सम्बन्ध में सर्वोच्च सत्ता के राजकीय अधिकार समाप्त नहीं होंगे । इसीलिए दोनों पदों के अन्तर को कानून द्वारा स्पष्ट करने की आवश्यकता थी ।"

इस आवश्यकता के सम्बन्ध में एक बात और कही जा सकती है । एक्ट के अन्तर्गत यह प्रस्तावित किया गया था कि देशी राज्यों का सघ में सम्मिलित होना न होना उनकी स्वयं की इच्छा पर निर्भर होगा । इस प्रकार यह सम्भव था कि कुछ देशी राज्य संघ से पृथक रहते । सघ राज्य के अध्यक्ष के रूप में गवर्नर जनरल उनसे सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकता था, क्योंकि इस रूप में उसका अधिकार सघ में सम्मिलित हुए राज्यों तक ही सीमित था । इन पृथक देशी राज्यों को ब्रिटिश साम्राज्य

के अनन्य भाग बनाए रखने के लिए यह आवश्यक था कि सम्राट (Crown) एक प्रतिनिधि की नियुक्ति करे जो इन देशी राज्यों के सम्बन्ध में उनके 'सर्वोच्चसत्ता' के अधिकार का प्रयोग कर सके। इस सम्बन्ध में सर शफ़ात अहमद खाँ का कथन उल्लेखनीय है कि, "संघीय क्षेत्र से बाहर संघ में सम्मिलित न हुए देशी राज्यों तथा संघ में सम्मिलित हुए देशी राज्यों के उन विषयों के सम्बन्ध में जो उन्होंने संघ को नहीं सौंपे थे,' वाइसराय सम्राट (Crown) के प्रतिनिधि के रूप में 'सर्वोच्चसत्ता' के अधिकारों का प्रयोग करेगा।"

(ब) नियुक्ति और कार्यकाल

गवर्नर जनरल की नियुक्ति सम्राट (Crown) अनुमानतः प्रधान मन्त्री की सम्मति से करता था। उसका कार्यकाल सामान्यतया पाँच वर्ष था। सम्राट (Crown) के प्रतिनिधि की नियुक्ति भी इसी प्रकार होती थी। कानून द्वारा सम्राट (His Majesty) को यह अधिकार था कि वे दोनों पदों के लिए एक ही व्यक्ति की नियुक्ति करे।

(स) वेतन तथा अन्य सुविधाएँ

एक्ट द्वारा गवर्नर का वार्षिक वेतन २५०,८०० रुपए निश्चित किया गया था। इनके अतिरिक्त सम्राट और उनकी समिति (His Majesty in Council) द्वारा निश्चित किए गए अन्य व्यय तथा यात्रा सम्बन्धी सुविधाएँ भी गवर्नर जनरल को प्राप्त थीं। एक्ट द्वारा यह निश्चित कर दिया गया था कि गवर्नर जनरल का वेतन संघ राज्य की आय में से दिया जाएगा। गवर्नर जनरल के वेतन के सम्बन्ध में सघीय व्यवस्थापिका सभा को मतदान और वाद-विवाद करने तक का अधिकार नहीं था।

(द) गवर्नर जनरल के अधिकार

एक्ट में यह स्पष्ट कर दिया गया था कि "इस एक्ट की धाराओं के अनुसार, संघ राज्य के कार्यकारिणी सम्बन्धी अधिकारों का प्रयोग गवर्नर जनरल सम्राट (His Majesty) के निमित्त, प्रत्यक्ष रूप से अथवा अपने आधीन कर्मचारियों द्वारा करेगा...।"[1] गवर्नर जनरल इन अधिकारों का प्रयोग निम्नलिखित विशिष्ट साधनों द्वारा करता था :—

(१) विवेक के अन्तर्गत[2]

एक्ट द्वारा गवर्नर जनरल को अपने विवेक के अन्तर्गत अपने मन्त्रियों से सम्मति लिए बिना, अनेक कार्यों के सम्पादन का अधिकार प्रदान किया गया था।

---

[1] एक्ट की धारा ७

[2] In his discretion.

इस प्रकार विधान के अन्तर्गत गवर्नर जनरल का यह कार्य क्षेत्र मन्त्रियों की सम्मति से परे था।

जैसाकि अन्यत्र भी लिखाजा चुका है कि एक्ट के अन्तर्गत रक्षा, विदेशी नीति (औपनिवेशिक सम्बन्धों के अतिरिक्त), धार्मिक कार्य तथा असभ्य प्रदेश के विभाग गवर्नर जनरल के लिए सुरक्षित रख दिए गए थे। एक्ट द्वारा यह निश्चित कर दिया गया था कि इन विभागों के सम्बन्ध में गवर्नर जनरल अपने विवेक द्वारा कार्य करेगा।

इनके अतिरिक्त उसे अपने विवेक द्वारा निम्नलिखित कार्यों के सम्पादन का भी अधिकार था :—

(अ) किसी विषय से सम्बन्धित मतभेद का निर्णय उसी के हाथों में था कि वह विषय गवर्नर जनरल के विवेक अथवा व्यक्तिगत निर्णय के क्षेत्र के अन्तर्गत आता है अथवा नहीं,

(ब) मन्त्रियों को चुनने, उन्हें आमन्त्रित करने और पदस्थ करने के सम्बन्ध में;

(स) दोनों भवनों को आमन्त्रित करने तथा सघीय परिषद् को स्थगित तथा विसर्जित करने के सम्बन्ध में;

(द) सघीय व्यवस्थापिका सभा में भाषण देने के सम्बन्ध में,

(क) विचाराधीन प्रस्तावों के सम्बन्ध में सघीय व्यवस्थापिका सभा को सूचना देने के सम्बन्ध में,

(ख) प्रस्तावों को अस्वीकृत करने, अथवा स्वीकृत करने, अथवा उन्हें सम्राट (His Majesty) की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रखने के सम्बन्ध में,

(ग) प्रश्न किए जाने पर यह निर्णय करने के सम्बन्ध में कि कोई व्यय संघ की आय में से दिया जाए अथवा नहीं,

(घ) ऑर्डिनेन्स निर्मित करने के सम्बन्ध में,

(ङ) गवर्नर जनरल के एक्ट के निर्माण करने अथवा असाधारण परिस्थितियों में अपने विवेक और व्यक्तिगत निर्णय सम्बन्धी कार्यों के उचित सम्पादन के लिए एक प्रस्ताव तैयार कर सघीय व्यवस्थापिका सभा के इस उद्देश्य से भेजने के सम्बन्ध में कि वह उस प्रस्ताव के अनुरूप एक्ट पास करे,

(च) घोषणा द्वारा विधान को स्थगित करने और इस प्रकार स्वयं के अधिकारों में वृद्धि करने के सम्बन्ध में,

(छ) उसकी स्वीकृति के लिये सुरक्षित रखे गए प्रान्तीय प्रस्तावों पर अपनी स्वीकृति-अस्वीकृति प्रदान करने, अथवा उन्हें सम्राट (His Majesty) की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रखने, अथवा उस प्रस्ताव को अपने सशोधनों सहित अथवा रहित पुनर्विचार के लिए प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा क पास भेजने के सम्बन्ध में;

(ज) प्रान्तीय गवर्नरों को आर्डिनेन्स लागू करने के लिए आदेश प्रदान करने के सम्बन्ध में;

(झ) असाधारण परिस्थिति की घोषणा करके किसी प्रान्त के लिए संघीय व्यवस्थापिका सभा द्वारा कानून बनाए जाने की घोषणा करने के सम्बन्ध में;

(ञ) उन अभियोगों के लिए पुलिस के नियम प्रस्तावित करने के सम्बन्ध में, जिनका लक्ष्य सरकार को नष्ट करना था;

(त) अपने प्रतिनिधि के रूप में गवर्नरों को कुछ कार्यों के सम्पादन अथवा कुछ 'संघीय आदेश' के पालन अथवा प्रान्तों के कार्यकारिणी सम्बन्धी शासन के संचालन की विधि निर्देश करने के सम्बन्ध में;

(थ) संघ में सम्मिलित हुए देशी राज्यों के शासकों के प्रतिनिधित्व पर विचार करके उन्हें कुछ कार्यों की पूर्णता के लिए आदेश प्रदान करने के सम्बन्ध में; इत्यादि।

आलोचनात्मक निरीक्षण

गवर्नर जनरल के उपर्युक्त अधिकारों के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाएगा कि इस एक्ट के अन्तर्गत भी गवर्नर जनरल निरकुश शासक के रूप में ही था। उसके विवेक सम्बन्धी अधिकार शासन के एक महत्त्वपूर्ण तथा व्यापक क्षेत्र पर छाए हुए थे। उसके विवेक सम्बन्धी अधिकारों के कारण, जिनको ब्रिटिश साम्राज्यशाही के हितार्थ ही रखा गया था, यह निश्चय था कि मन्त्रिमण्डल वाला पक्ष अत्यन्त दुर्बल और शक्तिहीन हो जाएगा, और उत्तरदायी सरकार का महत्त्व भी कम होगा। इस सम्बन्ध मे डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद ने कहा था, "यदि किसी विधान द्वारा लोकप्रिय व्यवस्थापिका सभा के प्रति उत्तरदायी मन्त्रियों को रक्षा, विदेशी नीति, और धार्मिक कार्य सम्बन्धी विभाग न सौंपे जाकर गवर्नर जनरल को सौंप दिए जाएँ, तो यह नहीं कहा जा सकता कि उस विधान द्वारा पूर्ण स्वतन्त्रता तो क्या स्वराज्य, अथवा उत्तरदायी सरकार, अथवा औपनिवेशिक स्वराज्य भी प्रदान किया गया है।"[1]

(१) व्यक्तिगत निर्णय के अन्तर्गत [2]

इनके अतिरिक्त शासन के सम्बन्ध में गवर्नर जनरल को व्यक्तिगत निर्णय के अन्तर्गत प्रयोग के हेतु कुछ अधिकार प्रदान किए गए थे। इस प्रकार कार्य करते समय उसे अपने मन्त्रियों से सम्मति लेनी थी, परन्तु वह उसे स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं था, इस प्रकार इस स्थान पर वादविवाद और परामर्श तो सामूहिक अथवा संयुक्त

---

[1] सन् १९३४ के बबई के कॉंग्रेस अधिवेशन में बाबू राजेन्द्रप्रसाद द्वारा सभापति-पद से दिए गए भाषण से।

[2] In his Individual Judgement.

अर्थात् गवर्नर जनरल और मन्त्रियों के बीच हो सकता था, परन्तु अन्तिम निर्णय प्रदान करने वाला व्यक्ति एक ही था, और वह स्वयं गवर्नर जनरल था।

व्यक्तिगत निर्णय द्वारा किए जाने वाले कार्यों में गवर्नर जनरल का सबसे अधिक मुख्य तथा विशिष्ट कार्य था विशेष उत्तरदायित्वों को निभाने के सम्बन्ध में। अपने विशेष उत्तरदायित्वों के आधार पर एक्ट के अन्तर्गत उसे निम्नलिखित कार्य सौंपे गए थे :—

(अ) "भारतवर्ष की शान्ति और सुरक्षा से सम्बन्धित किसी संकट अथवा भय का निवारण,

(ब) आर्थिक स्थायित्व और संघीय सरकार की साख की सुरक्षा,

(स) अल्पदल के उचित हितों की सुरक्षा,

(द) पब्लिक सर्विस के सदस्यों के उचित हितों की सुरक्षा,

(क) मतभेद नष्ट करने वाले प्रस्तावों को कार्यकारिणी द्वारा लागू करना;

(ख) बर्मा और संयुक्त राज्य से आए हुए माल के सम्बन्ध में भेदभाव को रोकना,

(ग) देशी राज्यों के अधिकारों तथा उनके शासकों के अधिकारों और उनके गौरव एवं प्रतिष्ठा की रक्षा;

(क) इन विषयों तथा उसके विवेक द्वारा किए जाने वाले कार्यों के सम्पादन के लिए समुचित धन प्राप्त करना।"

आलोचनात्मक निरीक्षण

गवर्नर जनरल के विशेष उत्तरदायित्वों के सम्बन्ध में निम्नलिखित निरीक्षण दर्शनीय हैं —

१. गवर्नर जनरल को प्रदान किए गए विशेष उत्तरदायित्वों से अँगरेज़ों के भारतीयों के प्रति अविश्वास की सीमा निर्दिष्ट की जा सकती है जो उन्हें भारतीयों की शासन करने की योग्यता के सम्बन्ध में था। सन् १९३५ के एक्ट के निर्माण का आधार यही अनुमान था कि अभी भारतीयों को पूर्ण उत्तरदायित्व और अधिकार प्रदान नहीं किए जाएँगे, क्योंकि वे इस योग्य नहीं हैं, और यदि ऐसा किया भी गया तो वे राज्य के शासन में झंझट उत्पन्न कर देंगे। सन् १९३५ के एक्ट के अन्तर्गत इस बात की आवश्यकता अनुभव की गई कि गवर्नर जनरल को पर्याप्त मात्रा में विस्तृत एवं व्यापक अधिकार प्रदान करने चाहिएँ, जिससे वह शासन में अशुभ और अशुद्ध विकास एवं प्रगति को रोक सके, और जैसा कि 'संयुक्त सचिवतन्त्र समिति' की रिपोर्ट (Joint Parliamentary Committee Report) में लिखा था, "विभिन्न मतों के मतभेद को नष्ट कर सके और उन (वर्गों अथवा व्यक्तियों) की

रक्षा कर सके जो अपनी रक्षा करने के योग्य न हों और न उनका इतना प्रभाव ही हो कि वे अपनी रक्षा कर सकें।"

२. यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि एक्ट के निर्माताओं का यह विचार नहीं था कि इन अधिकारों का व्यर्थ प्रयोग किया जाय। इस सम्बन्ध में संयुक्त सचिवतन्त्र समिति (Joint Parliamentary Committee) का कथन उल्लेख्य है, "हमारा विचार है कि यह अधिकार वैधानिक प्रस्ताव अथवा घोषणा मात्र नहीं है, जिनका अस्तित्व उन व्यक्तियों की इच्छा और अनिच्छा पर निर्भर है जिन्हें वास्तविक शक्ति प्रदान की गई है। इसके विपरीत यह अधिकार उसी प्रकार महत्वपूर्ण और कानून द्वारा स्वीकृत हैं, जिस प्रकार संयुक्त राज्य के सभापति को सेना के प्रधान सेनापति के रूप में प्राप्त हैं, परन्तु अपने क्षेत्र और अपनी परिस्थितियों के सम्बन्ध में, जिनमें यह प्रयोग किए जा सकते है, यह अधिकार और भी व्यापक हैं।"

३. गवर्नर जनरल के विशेष उत्तरदायित्वों का सम्बन्ध किसी विशेष विभाग से नहीं था। शासन के सम्पूर्ण क्षेत्र मे यह अधिकार व्याप्त थे। इसके अतिरिक्त, एक्ट के अन्तर्गत विशेष उत्तरदायित्वों की व्याख्या जिस शब्दावली में की गई थी, वह अत्यन्त सन्दिग्ध थी। 'भारतवर्ष की शान्ति और सुरक्षा' 'आर्थिक स्थायित्व' और 'उचितहित' आदि कुछ ऐसे शब्द थे जिनके अनेक अर्थ किए जा सकते थे। इस प्रकार गवर्नर जनरल अपने विशेष उत्तरदायित्व के क्षेत्र का विस्तार सरलता से कर सकता था। जो कुछ अँगरेज़ प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त न कर सके, वह उन्होंने लेखनी के संकेत मात्र से प्राप्त कर लिया। क्योंकि एक्ट द्वारा यह निश्चित कर दिया गया था कि अपने विशेष उत्तरदायित्वों का अर्थ लगाने और यह घोषित करने के लिए कि किसी कार्य से उसका विशेष उत्तरदायित्व नष्ट होता है अथवा नहीं, गवर्नर जनरल पूर्ण स्वतन्त्र था। इस सम्बन्ध में बाबू राजेन्द्रप्रसाद ने उचित ही कहा था कि "यह शब्दावलियाँ इतनी व्यापक और सामान्य हैं कि कदाचित् ही कोई ऐसा कार्य हो जिसे गवर्नर जनरल इसके द्वारा अपने अधिकार में न ले सकता हो, यदि वह अपनी सम्मति में इसे आवश्यक समझता हो, और इस विषय मे उसकी सम्मति ही अन्तिम निर्णायक थी। यह विशेष उत्तरदायित्व इतने सन्दिग्ध, अनिश्चित और व्यापक हैं कि समस्त विभाग इनके नियन्त्रण में लिए जा सकते हैं।"[1] एक्ट के अन्तर्गत गवर्नर जनरल द्वारा इन विशेष उत्तरदायित्वों के उचित प्रयोग के लिए कोई प्रतिबन्ध अथवा संतुलन की प्रणाली प्रस्तावित नही की गई थी। वह अपने इन अधिकारों को अपनी इच्छानुसार पूर्ण निरंकुशता के साथ प्रयोग कर सकता था, और इस सम्बन्ध में उस पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था।

---

[1] सन् १९३४ के बम्बई के कॉंग्रेस अधिवेशन में बाबू राजेन्द्रप्रसाद द्वारा सभापति पद से दिए गए भाषण से।

४ इनके अतिरिक्त व्यावहारिक रूप में यह विशेष उत्तरदायित्व इस प्रकार प्रयोग किए जा सकते थे कि इनसे भारत के राष्ट्रीय हित की हानि और ब्रिटिश हित की रक्षा होसके। वास्तव में इनका अभिप्राय भी यही था। डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद ने सन् १९३४ के बम्बई के काँग्रेस अधिवेशन में सभापति पद से दिए गए अपने भाषण में इन विशेष उत्तरदायित्वों की बड़ी जाज्वल्यमान एवं बुद्धिसंगत आलोचना की थी, जिसे संक्षेप में निम्नलिखित रूप से रखा जा सकता है

प्रथम विशेष उत्तरदायित्व था—भारतवर्ष अथवा उसके किसी भाग की शान्ति तथा सुरक्षा सम्बन्धी भय का निवारण। इस उत्तरदायित्व द्वारा गवर्नर जनरल को प्रान्तों के शासन में भी हस्तक्षेप करने का अधिकार प्राप्त होगया, यद्यपि उनका शासन लोकप्रिय मन्त्रियों को सौंप दिया गया था। "कानून और अनुशासन कहने को तो प्रान्तों को सौंप दिए गए थे, परन्तु इस प्रकार उन्हें गवर्नर जनरल और गवर्नर के विशेष उत्तरदायित्व के दोहरे कोष में पूर्ण रूप से सुरक्षित रखा गया था।"[1] यह विशेष उत्तरदायित्व इतना व्यापक था कि इसके द्वारा समस्त राष्ट्रीय नेताओं को बन्दीगृह में डालना और जालियाँवाला बाग की घटना जैसी अमानुषिक और क्रूर कृति को न्यायसंगत सिद्ध किया जा सकता था।

द्वितीय विशेष उत्तरदायित्व के आर्थिक स्थायित्व और संघ की साख की रक्षा करना—आधार पर भारतवर्ष की हानिकर अँगरेजों का हित सुरक्षित रखा गया था।

तृतीय विशेष उत्तरदायित्व—अल्पदलों के उचित हितों की रक्षा—द्वारा वास्तव में अँगरेजों का यही अभिप्राय था कि भारतवर्ष के विभिन्न सम्प्रदायों में पारस्परिक विष का प्रभाव व्यापक होता रहे और अँगरेजों के सुख में वृद्धि और समृद्धि होती रहे। "भारतीय अल्पदलों की सुरक्षा के हेतु यह विशेष उत्तरदायित्व प्रदान किए गए थे, यह सोचना भ्रम मात्र ही है। व्यावहारिक रूप में उन्हें (अल्पदलों को) यह प्रतीत होगा कि प्रत्येक महत्वपूर्ण अवसर तथा प्रत्येक कार्य में उनका कोई स्थान न होकर जहाज के पक्षियों के समान उस परमाणु स्वरूप अल्पदल (अँगरेज) का महत्व है, जो सहस्रों योजन पार करके आते और सूर्य के प्रभा पूर्ण रहने तक किलोलें करते हैं, और साँझ की वेला का आगमन होते ही जो सुख भोगने अपने देश में फिर से चले जाते हैं।"[2]

---

[1] "Law and order, though said to be transferred in the Provinces, are thus kept quite safe within the double lock of Special Responsibility of the Governor General and the Governor"

—Dr. Rajendra Prasad.

[2] "It is a delusion to think that the safeguards are devised to serve any of the Indian minorities They will find in actual working that after all, in all matters of moment, it is not they who are meant,

चतुर्थ उत्तरदायित्व—पब्लिक सर्विस के सदस्यों के उचित हितों की रक्षा—प्रान्तीय स्वराज्य के लिए घातक था। इस प्रकार इन सदस्यों के रूप में प्रान्तीय मन्त्रियों के लिए एक और स्वामी का जन्म होगया था, जो उनके शासन प्रबन्ध में बाधा उपस्थित कर उनके मस्तक पर असफलता का सेहरा रख सकते थे। इस प्रकार मन्त्रियों को अपने ही कर्मचारियों पर नियन्त्रण प्रदान नहीं किया गया था। "वास्तव में हम अपने घर में स्वामी के रूप में होंगे, परन्तु अपने नौकरों पर हमारा कोई नियन्त्रण नहीं होगा।"[1]

पाँचवे विशेष उत्तरदायित्व के—अँगरेजों के विरुद्ध व्यावसायिक दुर्भाँति रोकना—आवरण में वास्तव में यही आश्वासन था कि पूर्व समय के अनुसार भविष्य में फिर भारतीयों के हित को नष्ट किया जाएगा।

छठवें विशेष उत्तरदायित्व का जो देशी राज्यों की सुरक्षा से सम्बन्धित है—लक्ष्य यही था कि देशी राज्यो मे वैधानिक सुधारों के हेतु हो रहे जनता के आन्दोलन का गला घोंट कर उन्हें भारतवर्ष मे ब्रिटिश साम्राज्यशाही का आधार बना लिया जाए। "इस विषय से सम्बन्धित''''''गवर्नर जनरल का विशेष उत्तरदायित्व देशी राज्यों मे प्रजातन्त्र के विषैले तत्व को प्रवाहित होने से रोकने के लिए किया जाएगा।"

—डा० राजेन्द्र प्रसाद

५. यह निश्चित था कि गवर्नर जनरल के विशेष उत्तरदायित्वों से मन्त्रिमण्डल के उत्तरदायित्व के क्षेत्र पर अवश्य आघात पहुँचेगा। संयुक्त सचिवतन्त्र समिति (Joint Parliamentary Committee) का यह कथन भ्रमित था कि यह अधिकार "उत्तरदायी सरकार के अनुकूल ही नही वरन उसके लिए सराहना रूप में आवश्यक है।"

परन्तु सत्य तो कुछ और ही था, जैसा कि डाक्टर ए० बी० कीथ को भी स्वीकार करना पड़ा था, "(विशेष) उत्तरदायित्वों की अत्यन्त सकुचित व्याख्या किए जाने के कारण यह सम्भव है कि यह मन्त्रिमण्डल के उत्तरदायित्व की सम्भावना को ही नष्ट कर दें।"[2]

---

but the small microscopic minority of those birds of passage who come from thousands of miles and make hay while the sun shines and then disappear in the evening of their days to enjoy the fruits in their native land again." Dr. Rajendra Prasad.

[1] "We shall indeed be masters in our own house without having the power to order our servants. —Dr. Rajendra Prasad.

[2] "Too narrowly interpreted the (Special) Responsibilities might detroy the possibility of Ministerial responsibility." —Dr. A.B. Keith

(स) मन्त्रियों की सम्मति द्वारा

यदि हम गवर्नर जनरल के विवेक और व्यक्तिगत निर्णय के क्षेत्र को पृथक कर दें तो मन्त्रिमण्डल के अधिकारों के प्रयोग के लिये जो क्षेत्र शेष रहता है वह अत्यन्त संकुचित एवं सीमित है। गवर्नर जनरल के विवेक के क्षेत्र में मन्त्रियों का कोई स्थान न था। व्यक्तिगत निर्णय के क्षेत्र में भी यह आवश्यक नहीं था कि गवर्नर जनरल मन्त्रियों की सम्मति को स्वीकार ही करे। इनके अतिरिक्त संघीय सरकार का वही भाग शेष रह गया था जिसमें गवर्नर जनरल अपने मंत्रियों की सम्मति द्वारा उन विषयों का शासन-भार सँभालता था जिनके सम्बन्ध में संघीय व्यवस्थापिका सभा कानून बनाने के लिए अधिकृत थी। यह भी तभी सम्भव था कि उस क्षेत्र के किसी विशेष भाग के सम्बन्ध में मंत्रियों के अधिकारों पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न लगा दिया गया हो।

(२) गवर्नर जनरल के सलाहकार—

विवेक तथा व्यक्तिगत निर्णय सम्बन्धी अपने कार्यों में सहायता लेने के लिए एक्ट द्वारा गवर्नर जनरल को कुछ परामर्शदाता अथवा सलाहकार नियुक्त करने का अधिकार था। इन सलाहकारों की संख्या ३ से अधिक नहीं हो सकती थी। इन परामर्शदाताओं के वेतन तथा उनके पद सम्बन्धी नियमों का निश्चय सम्राट और उनकी समिति (His Majesty in Council) करते थे। वे संघीय व्यवस्थापिका सभा के पदाधिकृत सदस्य थे, परन्तु इन्हें मतदान का अधिकार नहीं था।

इन परामर्शदाताओं का कार्य केवल परामर्श प्रदान करना था। गवर्नर जनरल इनके परामर्श को स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं था।

(३) मंत्रि परिषद्

एक्ट द्वारा यह निश्चित कर दिया गया था कि हस्तान्तरित पक्ष के लिए, जिसमें गवर्नर जनरल को अपने विवेक द्वारा कार्य नहीं करना था, गवर्नर जनरल की सहायता के लिए कुछ मन्त्री होंगे।

नियुक्ति

इन मन्त्रियों की संख्या दस से अधिक नहीं हो सकती थी। सैद्धान्तिक रूप से गवर्नर जनरल ही इन्हें नियुक्त करता था। उसके प्रति विश्वासी रह कर ही वे अपने पद पर आसीन रह सकते थे। गवर्नर जनरल उन्हीं व्यक्तियों को मन्त्रि मण्डल में सम्मिलित करता था जो संघीय व्यवस्थापिका सभा के सदस्य होते थे, अथवा होने वाले थे। क्योंकि एक्ट द्वारा यह निश्चित कर दिया गया था कि यदि कोई मन्त्री ६ मास तक संघीय व्यवस्थापिका सभा के किसी भवन का सदस्य नहीं बन पाता था, तो उस अवधि के व्यतीत हो जाने पर उसे अपने पद से त्याग पत्र देना पड़ता था। 'आदेश पत्र' (Instrument of Instructions) द्वारा गवर्नर जनरल को यह आदेश

प्रदान किया गया था कि उसे अपने मंत्रि मंडल में ऐसे सदस्य लेने चाहिएँ जो भवन का बहुमत प्राप्त कर सकते हों, तथा जो संयुक्त उत्तरदायित्व के साथ एक संस्था के समान कार्य कर सकते हों।

वेतन

मन्त्रियों का वेतन संघीय व्यवस्थापिका सभा के एक एक्ट द्वारा निश्चित किया जाने वाला था। एक मन्त्री का एक बार निश्चित किया हुआ वेतन उसके उस कार्य-काल में परिवर्तित नहीं किया जा सकता था।

कार्य और अधिकार

सरकार की योजना मे मंत्रि परिषद् को निम्नस्थिति प्रदान की गई थी। कानूनी रूप से मन्त्रीगण 'सरकार' के अंग नहीं थे। शासन का प्रत्येक अधिकार गवर्नर जन-रल के हाथों मे था। प्रत्येक प्रकार का कार्य उसी के नाम से किया जाता था। जिन विषयों मे गवर्नर जनरल अपने विवेक द्वारा कार्य नही करता था, केवल उन विषयों के सम्बन्ध मे मन्त्रियों को गवर्नर जनरल को सम्मति प्रदान करने का अधिकार था, और इसमें भी उनकी अवज्ञा की जा सकती थी।

संयुक्त उत्तरदायित्व की कल्पित गाथा

सन् १९३५ के एक्ट की एक विशेषता यह भी थी कि वह मन्त्रियों के संयुक्त उत्तरदायित्व के सम्बन्ध में मौन था। 'आदेश पत्र' (Instrument of Instructions) मे इस अभ्यास के प्रथा रूप में विकास करने के लिए गवर्नर जनरल को आदेश प्रदान किया गया था परन्तु निम्नलिखित कारणों से उसके लिए यह कार्य कठिन था :—

(अ) संयुक्त उत्तरदायित्व का जो सचिवतंत्र सरकार का सार है, विकास "समान व्यक्तियों के उन प्रतिनिधियों में हो सकता है, जिनके राजनैतिक सिद्धान्त और दृष्टिकोण भी समान हों।" परन्तु भारतीय मन्त्रि परिषद् का निर्माण ही बेमेल था। संघ में सम्मिलित हुए देशी राज्यो के प्रतिनिधि भी उसमें होते थे, जो स्वभावतः ही रूढ़िवादी, राष्ट्रहित विरोधी तथा साम्राज्यशाही के समर्थक थे। इस मन्त्रि परिषद् में अल्प दलों के प्रतिनिधि भी होते थे जो निश्चय ही साम्प्रदायिक स्वभाव के थे। और इस मन्त्रिमण्डल में प्रान्तों के प्रतिनिधि भी थे जिनमें राष्ट्रीय भावना जाग्रत हो चुकी थी। इन विभिन्न दृष्टिकोण वाले तथा एक दूसरे के विरोधी दलों से संयुक्त उत्तरदायित्व की आशा करना व्यर्थ था।

(ब) गवर्नर जनरल अपने विवेक के अधिकार के अन्तर्गत मन्त्रि मण्डल की बैठकों में सभापति का आसन ग्रहण कर सकता था। इससे मन्त्रिमण्डल के संयुक्त उत्तरदायित्व के नष्ट होने का और भी भय था। गवर्नर जनरल की उपस्थिति व्यक्ति-गत मन्त्रियों को अपने सहयोगियों की नीति से असहमत होने में भी प्रभावित करती थी,

क्योंकि इस प्रकार मत्री, जैसा कि श्री के० टी० शाह ने लिखा है "देश के अध्यक्ष की दृष्टि में योग्य सिद्ध होना चाहते थे।" किसी अन्य देश की अपेक्षा भारतवर्ष में यह और भी अधिक सम्भव था, क्योंकि यहा सुशासित तथा सुसंगठित राजनैतिक दलों का अस्तित्व नहीं हैं।

मन्त्रि परिषद् और गवर्नर जनरल

मन्त्रियों और गवर्नर जनरल का पारस्परिक सबध कुछ ऐसा प्रतिपादित किया गया था कि उसका स्वरूप प्रारभ से ही सचिवतन्त्र के विरोध में था। वास्तविक सचिवतन्त्रात्मक मन्त्रिमण्डलों मे—जैसाकि इगलैंड में है—कार्यकारिणी का अध्यक्ष राज्य का नाममात्र का ही अध्यक्ष होता है। उस अध्यक्ष के ही नाम में सब कार्य किया जाता है, परन्तु व्यावहारिक रूप मे मन्त्रिमण्डल सर्वोच्च सत्ता का उपभोग करता है। परन्तु भारतवर्ष में परिस्थिति कुछ और ही थी। गवर्नर जनरल भारतवर्ष का नाममात्र का अध्यक्ष नहीं था। उसे एक्ट द्वारा "मन्त्रियों पर नियन्त्रण रखने, प्रतिबन्ध लगाने, और उनकी योजना नष्ट करने" के भी विशेष अधिकार थे। गवर्नर जनरल को नीति निर्धारित करने, डिक्री द्वारा कानून बनाने तथा अपने निर्णयों को इच्छित रूप में मनवाने का अधिकार था। मन्त्रीगण एक चकित दर्शक अथवा व्यर्थ चिल्लाने वाले आलोचक के समान ही अपने स्वामी के कार्यों का अवलोकन कर सकते थे। यदि कभी मन्त्रीगण साहस करके जनता के प्रतिनिधियों के वास्तविक रूप में कुछ कहते तो गवर्नर जनरल अपने विवेक तथा व्यक्तिगत निर्णय के अधिकारों का प्रयोग कर उन्हें चुप कर सकता था।

गवर्नरजनरल देश की समस्त शासन प्रणाली का प्रभावपूर्ण अध्यक्ष था। मन्त्रिमडल की कार्यप्रणाली के संबन्ध में उसे अपने विवेक द्वारा नियम बनाने के अधिकार थे। स्वय द्वारा चुने हुए मन्त्रियों में विभाग वितरण का अधिकार भी उसे ही था। प्रत्येक कार्य का विवेचन गवर्नरजनरल के सन्मुख उपस्थित किया जाता था, और साधारण से साधारण विषयों के सबन्ध में भी मन्त्रियों को कुछ करने का अधिकार नहीं था, क्योंकि शासन प्रणाली के नियम गवर्नर जनरल स्वय अपने विवेक द्वारा बनाता था।

वास्तव में एक्ट के अन्तर्गत मन्त्रियों की स्थिति बडी दयनीय थी। उनसे यह आशा की जाती थी कि वे दोहरा अभिनय करें। प्रथम, तो उन्हें गवर्नर जनरल को सम्मति प्रदान करनी थी, और द्वितीय, उन्हें जनता के प्रतिनिधि की स्थिति में कार्य करना था। परन्तु गवर्नर जनरल की महत्त्वपूर्ण स्थिति के कारण उनके लिये दोनों में से कोई सा अभिनय सफलतापूर्वक करना कठिन था। गवर्नर जनरल का अधिकार क्षेत्र अत्यन्त विशाल और व्यापक था, और इसके विपरीत मन्त्रियों का अधिकार क्षेत्र अत्यन्त सीमित और संकुचित नहीं के बराबर था।

सारांश रूप मिस्टर चर्चिल का कथन उल्लेखनीय है, जिसमे उन्होंने वाइसराय की स्थिति का दिग्दर्शन अत्यन्त निष्पक्षता से किया है :

"वाइसराय अथवा गवर्नर जनरल को हिटलर और मुसोलिनी के समस्त अधिकार प्राप्त थे। अपनी लेखनी के संकेत मात्र से वह विधान के टुकड़े टुकड़े कर सकता था, तथा किसी डिक्री द्वारा कोई भी कानून, यहाँ तक कि मार्शल कानून भी पास कर सकता था, जोकि कोई कानून ही नहीं था। इन सबका केवल वही निर्णायक था। ऐसा कार्यकर्त्ता वास्तव मे एक तानाशाह ही था, और उसके पास एक विशाल सेना भी थी।"[1]

[1] "The Viceroy or Governor General was armed with all the powers of a Hitler or Mussolini. By a stroke of pen, he could scatter the constitution and decree any law to be passed or martial law, which was no law at all. Of all these he was the sole judge. Such a functionary was a dictator and he had a very powerful army"

—Mr. Churchill

१६

सातवाँ अध्याय

संघीय न्यायालय

"देश की अन्य प्रत्येक शासन व्यवस्था के समान भारतवर्ष की न्याय प्रणाली भी देश से बाहर स्थित सर्वोच्च सत्ता के आधीन है। अपील का सबसे उच्च न्यायालय, और देश के वैधानिक तथा सामान्य कानूनों की व्याख्या करने वाली सर्वोच्च सत्ता भारतवर्ष में नहीं है।"[1] —के टी. शाह

किसी संघीय प्रणाली में संघीय न्यायालय की उपस्थिति अत्यन्त आवश्यक है। जैसा कि अन्यत्र भी लिखा जा चुका है, प्रत्येक संघ राज्य में न्याय की एक ऐसी संस्था होनी चाहिए जिसे विधान की सुरक्षा और उसकी धाराओं की व्याख्या करने का भार सौंपा जा सके। इस प्रकार की संस्था की अनुपस्थिति में यह सम्भव है कि देश में स्थित न्याय-प्रणाली विधान की व्याख्या विभिन्न रूप से करे जिससे अनिश्चितता और संदिग्धता का जन्म हो। संघीय सरकार और संघ की विभिन्न इकाइयों के कार्य-क्षेत्र सम्बन्धी प्रश्नों का अन्तिम निर्णय भी संघीय न्यायालय द्वारा ही होता है। सन् १९३५ के एक्ट द्वारा भारतवर्ष के लिए एक संघीय विधान प्रस्तुत किया गया था, इसी एक्ट द्वारा एक संघीय न्यायालय की भी व्यवस्था की गई।

निर्माण

न्यायाधीशों की संख्या निश्चित करना सम्राट (His Majesty) का कर्तव्य था। इन न्यायाधीशों की संख्या ६ से अधिक नहीं हो सकती थी, जब तक कि संघीय व्यवस्थापिका सभा गवर्नर जनरल से इस बात की प्रार्थना न करे कि सम्राट (His Majesty) द्वारा इनकी संख्या में वृद्धि कर दी जाए।

संघीय न्यायालय के प्रत्येक न्यायाधीश की नियुक्ति सम्राट (His Majesty) द्वारा होती थी। कार्य के उचित सम्पादन के समय तक वह अपने पद पर आसीन

1 "The judicial system in India, as every other aspect of the country's Governmental machine, is subordinate to the supreme authority located outside the country. The highest appellate tribunal, and the most authoritative exponent of the Constitutional as well as the Common law of the land, is not in India"

—K T Shah.

रह सकता था। संघीय व्यवस्थापिका सभा को किसी न्यायाधीश को पदस्थ कराने का अधिकार नहीं था, और न वह किसी न्यायाधीश के न्याय सम्बन्धी कार्यों पर वाद-विवाद ही कर सकती थी। गवर्नर जनरल को भी किसी न्यायाधीश को पदस्थ करने का अधिकार नहीं था, यद्यपि वह भारतवर्ष के प्रधान न्यायाधीश की नियुक्ति अस्थाई रूप से कर सकता था। अस्थाई रूप से यह नियुक्ति सम्राट (His Majesty) द्वारा होती थी। सन् १६४२ में इस एक्ट में एक संशोधन किया गया। इसके द्वारा गवर्नर जनरल को यह अधिकार प्रदान किया गया कि वह एक अस्थाई न्यायाधीश की नियुक्ति कर सकता था, "यदि उसे यह विश्वास हो जाए कि किसी विशेष विषय में संघीय न्यायालय के किसी न्यायाधीश ने व्यक्तिगत पक्षपात से काम लिया है, तो उस विषय की सुनवाई तथा निर्णय आदि में उस न्यायाधीश को भाग नहीं लेना चाहिए, और उस कार्य के लिए संघीय न्यायालय में इतने न्यायाधीश नहीं थे जो संख्या पूरी कर सकते।" संघीय न्यायालय के न्यायाधीश को अवकाश प्राप्त करने की आयु ६५ वर्ष निश्चित की गई थी।

न्यायाधीशों के वेतन

न्यायाधीशों के वेतन, भत्ता तथा सेवावृत्ति आदि सम्राट और उनकी समिति (His Majesty in Council) द्वारा निश्चित किए जाते थे। उनकी नियुक्ति के पश्चात् इनमें किसी प्रकार का अन्तर नहीं किया जा सकता था। प्रधान न्यायाधीश का वेतन ७००० रुपए प्रति मास और अन्य न्यायाधीशों का वेतन ५५०० रुपए प्रति-मास निश्चित किया गया था। इन न्यायाधीशों के ये वेतन संघ की आय में से दिए जाते थे। इस प्रकार संघीय व्यवस्थापिका सभा को इन वेतनों के संबन्ध में अपना मत प्रकट करने का अधिकार नहीं था।

योग्यताएँ

संघीय न्यायालय का न्यायाधीश होने के लिए एक व्यक्ति के लिए यह आव-श्यक था कि वह :

(अ) ब्रिटिश भारत अथवा संघ में सम्मिलित हुए किसी देशी राज्य के हाईकोर्ट का पाँच वर्ष तक न्यायाधीश रह चुका हो; अथवा

(ब) दस वर्ष के अनुभव का इंग्लैंड अथवा उत्तरी आयरलैंड का बैरिस्टर अथवा स्कॉटलैंड का एडवोकेट अथवा भारतवर्ष का प्लीडर हो।

प्रधान न्यायाधीश के लिए जो योग्यताएँ निश्चित की गई थीं वे इन योग्यताओं के अनुपात में कुछ अधिक थीं। प्रधान न्यायाधीश के लिए यह आवश्यक था कि वह १५ साल के अनुभव का बैरिस्टर, एडवोकेट अथवा प्लीडर हो। ब्रिटिश भारत अथवा संघ के सम्मिलित हुए किसी देशी राज्य की हाई कोर्ट के न्यायाधीश की नियुक्ति

प्रधान न्यायाधीश के पद पर हो सकती थी, यदि उसका अनुभव पाँच वर्ष का हो, और हाई कोर्ट मे अपनी नियुक्ति के समय बैरिस्टर, एडवोकेट अथवा प्लीडर हो।

कार्य

सन् १६३५ के एक्ट के द्वारा प्रस्तावित सघीय न्यायालय के कार्यों का विवेचन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है —

(१) मौलिक[1]
(२) अपील सबन्धी[2]
(३) परामर्श सबन्धी[3]

मौलिक न्यायाधिकार

सन् १६३५ के गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया एक्ट (Government of India Act) अथवा संघीय कानूनों की व्याख्या सम्बन्धी विषयों के सम्बन्ध मे सघीय न्यायालय को सम्पूर्ण न्यायाधिकार प्राप्त थे। दो अथवा दो से अधिक निम्नलिखित दलों में अधिकार अथवा कार्य सबंधी झगडे के निर्णय का भी पूर्ण अधिकार संघीय न्यायालय को ही प्राप्त था :—

(अ) सघ,
(ब) कोई एक प्रान्त, अथवा
(स) सघ में सम्मिलित हुआ कोई एक देशी राज्य।

अपील सम्बन्धी न्यायाधिकार

सघीय न्यायालय को किसी प्रान्त अथवा सघ में सम्मिलित हुए देशी राज्य की हाईकोर्ट की अपील सुनने का अधिकार था, यदि हाईकोर्ट यह प्रमाणित करती कि उस विपय का सबंध विधान, अथवा किसी आदेश अथवा 'प्रवेश पत्र' (Instrument of Accession) की व्याख्या से था। अन्य विपयों के संबध में सघीय न्यायालय में ब्रिटिश भारत अथवा सघ मे सम्मिलित हुए किसी देशी राज्य की केवल हाईकोर्ट के निर्णय के विरुद्ध अपील की जा सकती थी।

परामर्श सम्बन्धी न्यायाधिकार

इनके अतिरिक्त सघीय न्यायालय को परामर्श सम्बन्धी न्यायाधिकार भी प्राप्त था। यदि गवर्नर जनरल को यह अनुभव होता कि कानून सबधी कोई समस्या उपस्थित हो गई है अथवा होने वाली है, और जिसका सबध जन हित से है, और जिसके सबध मे सघीय न्यायालय की सम्मति अत्यन्त आवश्यक है, तो वह उस विषय के

---

1 Original
2 Appellate
3 Advisory

संबंध में संघीय न्यायालय से सम्मति माँग सकता था। परामर्श का यह क्षेत्र एक्ट द्वारा संघीय क्षेत्र तक ही सीमित नहीं था। यह गवर्नर जनरल के विवेक पर निर्भर था, कि वह किसी विषय के संबन्ध में उससे परामर्श ले।

संघीय न्यायालय केवल अपनी सम्मति प्रदान कर सकता था। उसे मानने के लिए वह गवर्नर जनरल को बाध्य नहीं कर सकता था। परन्तु न्याय तथा शासन संबन्धी प्रत्येक पदाधिकारी का यह कर्त्तव्य था कि वह संघीय न्यायालय को उसके कार्यों में सहायता प्रदान करे।

संघीय न्यायालय के विरुद्ध अपील

निम्नलिखित दो विषयों के संबन्ध में संघीय न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध सम्राट और उनकी समिति (His Majesty in Council) के सन्मुख अपील उपस्थित की जा सकती थी :—

(अ) अपने मौलिक न्यायाधिकार के अन्तर्गत जब संघीय न्यायालय ने किसी ऐसे विषय के संबन्ध में निर्णय प्रदान किया हो जिसमें विधान की व्याख्या अंतर्हित हो; और

(ब) किसी अन्य विषय के संबन्ध में जिसमें संघीय न्यायालय अथवा सम्राट और उनकी समिति (His Majesty in Council) द्वारा इस प्रकार की अनुमति प्रदान कर दी गई हो।

इस प्रकार एक्ट द्वारा भारतीय विधान की व्याख्या से संबन्धित विषयों में प्रिवी काउन्सिल को अन्तिम निर्णायक का पद प्रदान किया गया।

संघीय न्यायालय की स्थापना

सन् १९३५ के एक्ट की धाराओं के अन्तर्गत अक्तूबर सन् १९३७ में संघीय न्यायालय की स्थापना कर दी गई थी, यद्यपि एक्ट द्वारा प्रस्तावित संघीय प्रणाली अभी प्रचलित नहीं की गई थी।

उपसंहार

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाएगा कि संघीय न्यायालय के अधिकारों का स्वरूप पूर्णतः संघीय नहीं था। शासन संबन्धी अपील भी इसके सन्मुख प्रस्तुत की जा सकती थी। इसके अतिरिक्त वह अपील संबन्धी अखिल भारतीय न्यायालय भी नहीं था, क्योंकि हाईकोर्ट के फौजदारी संबन्धी विषयों में इसे अपील सुनने का अधिकार नहीं था। और संघीय न्यायालय निश्चित रूप से सर्वोच्च न्यायालय नहीं था। वह प्रिवी काउन्सिल के आधीन था।

प्रधान न्याय
हाई के
श्री

आठवाँ अध्याय

प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा

"आमन्त्रित होने के क्षण से विसर्जित होने तक गवर्नर अपने आदेश, अभिमन्त्रित करने और व्यवस्था करने के अधिकारों द्वारा व्यवस्थापिका सभा पर छाया रहता है। व्यवस्थापिका सभा का कोई एक्ट गवर्नर की स्वीकृति बिना पूर्ण नहीं होता, परन्तु गवर्नर के किसी एक्ट के लागू होने के लिए व्यवस्थापिका सभा की स्वीकृति आवश्यक नहीं।"[1] —*श्री के टी. शाह०*

सन् १६३५ के एक्ट द्वारा यह निश्चित कर दिया गया था कि प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं में एक अथवा दो भवन तथा सम्राट (King) के प्रतिनिधि गवर्नर होंगे। मदरास, बंगाल, बंबई, संयुक्त प्रान्त, बिहार और आसाम में दो भवनों की व्यवस्था की गई, प्रथम भवन का नाम व्यवस्थापक समिति (Legislative Assembly) और द्वितीय भवन का नाम व्यवस्थापक परिषद (Legislative Council) रखा गया था। पंजाब, मध्यप्रदेश और बरार, उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रदेश, उडीसा और सिन्ध के लिये एक भवन की व्यवस्था की गई, जिसका नाम व्यवस्थापक समिति रखा गया था।

कुछ परिवर्तन

इस प्रकार सन् १६३५ के एक्ट द्वारा सन् १६१६ के एक्ट की व्यवस्था में दो परिवर्तन निम्नलिखित रूप से किये गये —

(अ) सम्राट King को प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं का स्पष्ट रूप से एक अनन्य अंग बना दिया गया, और वह भी "इस प्रकार कि जैसा सन् १६१६ के एक्ट तक नहीं हुआ था।" सम्राट (King) के प्रतिनिधि के रूप में गवर्नर से यह आशा की जा सकती थी कि वह अब केवल नाम मात्र का ही अध्यक्ष रहेगा।

---

1 "From the moment of its being summoned to its dissolution the Governor dominates the Legislature by his powers of initiation, direction and regulating Procedure No act of the Legislature is complete without the Governor's assent, but no Governor's Act needs the concurrence of the legislature to be binding"

—K T Shah.

यह परिवर्त्तन कदाचित् इसीलिये किया गया था कि सन् १९३५ के एक्ट द्वारा भारतीय प्रान्तों को पूर्ण प्रान्तीय स्वराज्य प्रदान करने का निश्चय किया गया था, और न्यायानुसार यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार की व्यवस्था मे गवर्नर को नाममात्र का शासक रहने के अतिरिक्त और कोई चारा न था।

(ब) प्रान्तो मे प्रथम बार द्विआगारिक व्यवस्थापिका सभाओं की व्यवस्था की गई। अब ६ प्रान्तों में दो भवन होने वाले थे, जिनमें, जैसाकि कहा जा चुका है, प्रथम भवन का नाम व्यवस्थापक समिति और द्वितीय भवन का नाम व्यवस्थापक परिषद् था।

निर्माण

(अ) व्यवस्थापक समिति

विभिन्न प्रान्तों की व्यवस्थापक समितियों का निर्माण निम्न प्रकार था :—

मद्रास मे २१५ सदस्य; सयुक्त प्रान्त में २२८ सदस्य; बवई मे १७५ सदस्य; पंजाब में १७५ सदस्य; बंगाल में २५० सदस्य, बिहार मे १५२ सदस्य, मध्य प्रदेश में ११२ सदस्य, उडीसा मे ६० सदस्य, आसाम में १०८ सदस्य, सिन्ध में ६० सदस्य और उत्तर पश्चिमी सीमा प्रदेश मे ५० सदस्य।

सुरक्षित स्थान

संघीय परिषद् के समान इनमें भी मुसलमान, सिख, ऐंग्लो-इन्डियन, योरूपियन और भारतीय ईसाइयों के लिए कुछ स्थान सुरक्षित कर दिये गये थे। व्यापार और व्यवसाय, ज़मीदार, विश्वविद्यालय, मजदूर और स्त्रियों के प्रतिनिधियों के लिए भी कुछ स्थान सुरक्षित कर दिए गए थे। स्त्रियों के लिए सुरक्षित की गई सीटों में मुसलमान, सिख, ऐंग्लो-इन्डियन और भारतीय ईसाइयो के लिए कुछ स्थान सुरक्षित थे।

प्रतिनिधित्व का स्वरूप

प्रान्त की व्यवस्थापक समिति के समस्त सदस्य निर्वाचित होते थे। इस निर्वाचन की विधि प्रत्यक्ष रखी गई थी। साम्प्रदायिक निर्वाचन क्षेत्रों की भी व्यवस्था की गई थी। मुसलमान, सिख, योरुपियन, ऐंग्लो-इन्डियन और भारतीय ईसाइयों को साम्प्रदायिक सीटो के लिए खडे हुए उम्मेदवारों के लिए एक पृथक मतदान करने का अधिकार था। निर्वाचन के हेतु स्त्रियों को भी विभिन्न साम्प्रदायिक विभागों में विभाजित कर दिया गया था। दलित वर्ग के प्रतिनिधियों के लिए साम्प्रदायिक निर्वाचन का सिद्धान्त स्वयं 'साम्प्रदायिक निर्णय' द्वारा प्रदान किया गया था, परन्तु कालान्तर मे पूना के समझौते द्वारा इसमें संशोधन कर दिया गया। संशोधित व्यवस्था के अनुसार द्विविध निर्वाचन की व्यवस्था की गई प्राथमिक और गौण। प्राथमिक निर्वाचन में मतदान का अधिकार केवल दलित वर्ग के सदस्यों को

ही था। ये व्यक्ति एक सीट के लिए चार सदस्यों का निर्वाचन करते थे। गौण निर्वाचन के अवसर पर केवल ये ही चार सदस्य उम्मेदवार हो सकते थे, परन्तु इस निर्वाचन में मतदान का अधिकार सामान्य निर्वाचन क्षेत्र के समस्त मतदाताओं (अर्थात् समस्त हिन्दू मतदाता) को था। इस प्रकार वास्तव में दलितवर्ग के उम्मेदवारों के सम्बन्ध में भी लेखनी के संकेत मात्र से ही साम्प्रदायिक निर्वाचन रखा गया था।

मताधिकार

मताधिकार की योग्यताएँ विभिन्न प्रान्तों में भिन्न-भिन्न थीं। सामान्य रूप से वे व्यक्ति जो आय कर अथवा मकान का किराया अथवा मालगुजारी देते थे, अथवा निश्चित की गई शैक्षिक योग्यताएँ प्राप्त किए हुए थे, अथवा जो म्युनिस्पिल अथवा मोटर कर देते थे, मतदान के अधिकारी थे। जिन स्त्रियों को यह योग्यताए प्राप्त थीं, वे भी मतदान के लिए अधिकृत थीं। उन व्यक्तियों की पत्नियां अथवा विधवाएँ, जो मतदान के लिए अधिकृत थे, भी, यदि वे कुछ शिक्षित थीं, मतदान के लिए अधिकृत थीं।

(ब) व्यवस्थापक परिषद्

६ प्रान्तों में व्यवस्थापक परिषद् का निर्माण निम्न प्रकार से था :—

प्रान्त का नाम	कम से कम सख्या	अधिक से अधिक सख्या
मद्रास	५४	५६
वम्वई	२९	३०
वंगाल	६३	६५
सयुक्त प्रान्त	५८	६०
वरार	२९	३०
आसाम	२१	२२

सुरक्षित स्थान

व्यवस्थापक परिषद् की सीटों का विभाजन मुसलमान, योरुपियन और भारतीय ईसाईयों में किया गया था। शेष सीटें सामान्य प्रकार की थीं। व्यवस्थापक परिषद् में विशेष हितों के लिए कोई सीट सुरक्षित नहीं रखी गई थी।

प्रतिनिधित्व का स्वरूप

व्यवस्थापक परिषद् का एक विशाल भाग निर्वाचित तथा एक सामान्य अंश नियुक्त किया गया था। इस परिषद् में भी साम्प्रदायिक निर्वाचन को स्थान दिया गया था। वगाल और विहार की व्यवस्थापक परिषदों के कुछ सदस्यों का निर्वाचन वहाँ की व्यवस्थापक समिति के सदस्य करते थे। इस प्रकार इन दोनों प्रान्तों में अप्रत्यक्ष निर्वाचन को भी प्रवेश करा दिया गया था।

मताधिकार

व्यवस्थापक परिषद् के लिए मत देने के अधिकार के लिए बड़ी उच्च योग्यताएँ नियत की गई थीं। वे व्यक्ति ही जो अधिक परिमाण में आय कर अथवा मालगुजारी अथवा किराया अथवा अन्य कर देते थे, इस परिषद् के लिए मतदान कर सकते थे। इसी प्रकार वे व्यक्ति जो व्यवस्थापिका सभा के सदस्य थे अथवा रह चुके थे, तथा सहकारी बैंक अथवा स्थानीय संस्थाओं के सभापति, तथा जो उच्च पदों पर जैसे मंत्री, परामर्शदाता थे तथा हाई कोर्ट के न्यायाधीश आदि भी मतदान कर सकते थे। जिन स्त्रियों को यह योग्यताएँ प्राप्त थीं, अथवा इन योग्यता प्राप्त व्यक्तियों की पत्नियाँ भी मतदान के लिए अधिकृत थीं।

व्यवस्थापिका सभा की अवधि

व्यवस्थापक समिति की अवधि पाँच वर्ष निश्चित की गई थी। गवर्नर अपने विवेकाधिकार का प्रयोग करके इसे अवधि से पूर्व भी विसर्जित कर सकता था। वह समिति के किसी अधिवेशन को कुछ काल के लिए स्थगित भी कर सकता था। परन्तु वह समिति की अवधि को बढ़ा नहीं सकता था। व्यवस्थापक परिषद् एक स्थायी संस्था थी, गवर्नर इसे विसर्जित नहीं कर सकता था। यदि गवर्नर चाहता तो इसके किसी अधिवेशन को कुछ काल के लिए स्थगित कर सकता था। यह निश्चित किया गया था कि इसके तिहाई सदस्य प्रति तीसरे वर्ष अवकाश ग्रहण कर लिया करेंगे।

भवनों के पदाधिकारी

एक्ट द्वारा यह निश्चित कर दिया गया था कि व्यवस्थापक समिति में एक स्पीकर और उसकी अनुपस्थिति में सभापति का पद ग्रहण करने के लिए एक उप-स्पीकर होगा। इसी प्रकार व्यवस्थापक परिषद् में एक सभापति और एक उपसभापति होंगे। इन पदाधिकारियों का चुनाव प्रत्येक भवन के सदस्य अपने में से करते थे। यदि ये पदाधिकारी भवनों के सदस्य नहीं रहते थे, तो इन्हें पद से त्याग पत्र देना पड़ता था। इसके अतिरिक्त भी वे अपने पद से त्याग-पत्र देसकते थे। उनको समस्त सदस्यों के बहुमत द्वारा पदस्थ किया जा सकता था, इसके लिए १४ दिन पूर्व ही सूचना भेजना अनिवार्य था। किसी विषय के सम्बन्ध में समान मत होने पर ये अपने निजी मत का प्रयोग कर सकते थे।

सदस्यों की अयोग्यताएँ, सुविधाएँ तथा वेतन

सदस्योंकी अयोग्यताएँ, अधिक समय तक अनुपस्थित रहने पर पद त्याग, और व्यवस्थापिका सभा में गैर कानूनी ढंग से बैठने का दण्ड प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा में भी वही थे जो संघीय व्यवस्थापिका सभा में। इसी प्रकार सदस्यों को प्रदान की गई सुविधाएँ भी उन्हीं के समान थीं। प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा के सदस्यों को वही वेतन दिया जाता था जो प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा अपने एक्ट द्वारा निश्चित करती थी।

आर्थिक प्रस्ताव के अतिरिक्त कोई सा प्रस्ताव किसी भी भवन में प्राथमिक रूप से उपस्थित किया जा सकता था। आर्थिक प्रस्ताव पहले पहल व्यवस्थापक समिति में ही उपस्थित किया जा सकता था। कोई प्रस्ताव उसी समय एक्ट का स्वरूप ग्रहण कर सकता था जिस समय व्यवस्थापक समिति अथवा जहाँ दो भवन थे, वहाँ दोनों भवनों द्वारा उसे पास कर दिया गया हो और उस पर गवर्नर ने अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी हो।

एक्ट के अन्तर्गत यह प्रस्तावित किया गया था कि यदि व्यवस्थापक समिति किसी प्रस्ताव को पास करके व्यवस्थापक परिषद के पास भेज दे, और यदि व्यवस्थापक परिषद उसे बारह मास के समय में गवर्नर की स्वीकृति के लिए उसके पास उस प्रस्ताव को न भेजे तो गवर्नर अपने विवेकाधिकार द्वारा दोनों भवनों की एक सयुक्त बैठक आमन्त्रित कर सकता था। इस प्रकार की सयुक्त बैठक बारह मास से पूर्व भी आमन्त्रित की जा सकती थी, यदि उसे यह प्रतीत हो कि उस प्रस्ताव का सम्बन्ध अर्थ अथवा धन से अथवा उस के किसी विशेष उत्तरदायित्व से है।

प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा के अधिकार और कार्य

सघीय व्यवस्थापिका सभा के समान प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा के अधिकार और कार्यों का अध्ययन भी निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है :—

(१) व्यवस्थापक अधिकार
(२) आर्थिक अधिकार,
(३) कार्यकारिणी पर नियन्त्रण सम्बन्धी अधिकार।

(१) व्यवस्थापक अधिकार

शक्ति वितरण योजना के अनुसार प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा निम्नलिखित के सम्बन्ध में कानून बना सकती थी :—

(अ) प्रान्तीय व्यवस्थापक तालिका में उद्धृत समस्त विषय,[1]

(ब) एकीभूत व्यवस्थापक तालिका में उद्धृत समस्त विषय। यदि प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा द्वारा निर्मित कानून सघीय व्यवस्थापिका सभा द्वारा निर्मित कानून के विरोध में होता तो विरोध की सीमा तक प्रान्तीय कानून अवैध घोषित कर दिया

---

[1] इस क्षेत्र में इसका अधिकार सामान्य रूप से वहिष्कृत के रूप में था, विशेष रूप से उन दो विशेष परिस्थितियों के कारण (जिनका वर्णन पहले किया जा चुका है) जब कि सघीय व्यवस्थापिका सभा प्रान्तीय विषयों के सम्बन्ध में कानून बना सकती थी।

जाता था। परन्तु संघीय व्यवस्थापिका सभा के कानून के विरोधी किसी प्रान्तीय कानून को जब गवर्नर जनरल अथवा सम्राट (His Majesty) की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रख लिया जाता था, और यदि उसे यह स्वीकृति प्राप्त हो जाती थी, तो उस प्रान्त में वह कानून संघीय कानून के विरोध मे वैध घोषित किया जाता था।

प्रतिबन्ध

प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा पर भी लगभग उतने ही प्रतिबन्ध थे जितने संघीय व्यवस्थापिका सभा पर। निम्नलिखित प्रतिबन्ध तो पूर्णरूप से वही थे, इसलिए पुनरुक्ति से कोई लाभ नहीं :—

(अ) 'बाह्य क्षेत्र विषय' सम्बन्धी प्रतिबन्ध।

(ब) 'व्यवसायिक सुरक्षा' का प्रतिबन्ध।

(स) 'कार्यगति अवरोधक धारा' का प्रतिबन्ध।

(द) 'उत्तर कालीन निषेध का प्रतिबन्ध'

अन्य प्रतिबन्धों का विवेचन निम्न प्रकार मे किया जा सकता है :

(क) पूर्व स्वीकृति का प्रतिबन्ध

गवर्नर जनरल की स्वीकृति बिना प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा मे कोई ऐसा कानून उपस्थित नही किया जा सकता था जिसका प्रभाव—

(१) ब्रिटिश भारत के सम्बन्ध मे पार्लियामेण्ट द्वारा पास किए गए किसी एक्ट पर पडता हो; अथवा

(२) गवर्नर जनरल के किसी एक्ट अथवा आर्डिनेन्स पर पडता हो; अथवा

(३) किसी ऐसे विषय पर पडता हो जिसके सम्बन्ध मे गवर्नर जनरल अपने विवेकाधिकार अथवा व्यक्तिगत निर्णय द्वारा कार्य करता था; अथवा

(४) जिसका प्रभाव उन फौजदारी विषयो की प्रणाली पर पड़ता हो जिसका सम्बन्ध योरुपियन अथवा अँगरेज़ प्रजा से हो।

केवल इतना ही यथेष्ट नहीं था। निम्नलिखित किसी प्रस्ताव अथवा संशोधन को उपस्थित करने के लिए गवर्नर की पूर्वस्वीकृति आवश्यक थी :—

(अ) गवर्नर द्वारा उसके विवेकाधिकार के अन्तर्गत प्रचलित किया गया कोई एक्ट अथवा आर्डिनेन्स; अथवा

(ब) पुलिस से सम्बन्धित कोई एक्ट।

(ख) 'अन्तिम स्वीकृति' का प्रतिबन्ध

प्रत्येक बिल, चाहे वह सामान्य हो अथवा आर्थिक, गवर्नर के सन्मुख उसकी स्वीकृति के लिए उपस्थित किया जाता था। वह अपने विवेकाधिकार के अन्तर्गत :

(अ) सम्राट (His Majesty) के निमित्त उस पर स्वीकृति प्रदान कर सकता था; [1]

---

[1] इस परिस्थिति मे प्रस्ताव एक्ट का स्वरूप ग्रहण कर लेता था।

(ब) अपनी स्वीकृति प्रदान नहीं कर सकता था,[1]

(स) उस प्रस्ताव को भवन अथवा दोनों भवनों के पास इस प्रार्थना के साथ वापिस भेज सकता था कि उस पर अथवा उसकी किसी धारा पर पुनर्विचार किया जाए, और स्वय द्वारा प्रस्तुत किसी संशोधन के सम्बन्ध में वह विशेष सकेत कर सकता था कि उसकी इच्छा है कि वह सशोधन भी सम्मिलित कर दिया जाए,[2] अथवा

(द) उसे गवर्नर जनरल की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रख सकता था, गवर्नर जनरल उस पर अपनी स्वीकृति-अस्वीकृति प्रदान कर सकता था, अथवा उस प्रस्ताव को व्यवस्थापिका सभा के पास पुनर्विचार के लिए लौटा सकता था, अथवा उसे सम्राट (His Majesty) की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रख सकता था।

सम्राट (His Majesty) की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रखे गए प्रस्ताव पर यदि वे बारह मास के समय में अपनी स्वीकृति प्रदान कर देते थे, और यदि गवर्नर को इसकी सूचना प्राप्त हो जाती थी, तो वह प्रस्ताव एक्ट का स्वरूप ग्रहण कर लेता था।

(२) आर्थिक अधिकार

प्रान्त की आय और व्यय के सम्बन्ध में प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा को कानून बनाने का अधिकार था। प्रान्तीय व्यवस्थापक तालिका में उद्धृत विषयों के सम्बन्ध में वह कर भी लगा सकती थी।

गवर्नर की स्वीकृति बिना व्यय-सबधी कोई आर्थिक प्रस्ताव उपस्थित नहीं किया जा सकता था। आर्थिक प्रस्ताव पहले पहल प्रथम भवन में ही उपस्थित किए जाने चाहिए थे। कालान्तर के लिए यह निश्चित कर दिया गया था कि उन प्रान्तों में, जहाँ दो भवन थे, आर्थिक प्रस्ताव द्वितीय भवन के सन्मुख उपस्थित किए जाएँगे। द्वितीय भवन को इन प्रस्तावों पर वाद-विवाद करने का अधिकार होगा, परन्तु उनके संबंध में वह अपना मत प्रकट नहीं कर सकेगा। अन्य साधारण प्रस्तावों के समान आर्थिक प्रस्ताव भी गवर्नर की स्वीकृति के लिए उसके सन्मुख उपस्थित किए जाते थे। आर्थिक प्रस्तावों के सबध में गैर सरकारी सदस्यों को कोई मौलिक अधिकार प्राप्त न था।

यह निश्चित कर दिया गया था कि प्रत्येक वर्ष गवर्नर प्रान्त की आय और व्यय का वार्षिक व्यौरा व्यवस्थापिका सभा के सन्मुख उपस्थित करेगा। सवीय व्यव-

---

[1] इस दशा मे वह प्रस्ताव समाप्त हो जाता था।

[2] व्यवस्थापिका सभा उस प्रस्ताव पर पुनर्विचार कर के उसे गवर्नर की स्वीकृति के लिए उसके सन्मुख फिर उपस्थित करती थी।

स्थापिका सभा के आर्थिक ब्योरे के समान इस ब्योरे में भी, जिसे बजट के नाम से पुकारा जाता है, दो बातों का स्पष्ट होना आवश्यक था।

(अ) सन् १९३५ के गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया एक्ट (Government of India Act of 1935) द्वारा प्रस्तावित उन व्यय के सम्बन्ध मे धन का परिमाण जिन्हे प्रान्त की आय मे से पूरा करना निश्चित कर दिया गया था, और

(ब) प्रान्त की आय में से अन्य व्यय के लिए धन के परिमाण के सम्बन्ध मे।

निम्नलिखित व्यय के लिए प्रान्तीय आय मे से धन लिया जाना निश्चित कर दिया गया था .

(१) गवर्नर का वेतन और भत्ता तथा उसके पद सम्बन्धी अन्य व्यय;

(२) मन्त्रियों, हाई कोर्ट के न्यायाधीशों तथा एडवोकेट जनरल के वेतन तथा भत्ता,

(३) वह ऋण तथा सूद जिसके लिए प्रान्त उत्तरदायी था;

(४) वहिष्कृत एव आंशिक रूप से बहिष्कृत क्षेत्रों के शासन प्रबन्ध का व्यय;

(५) किसी न्यायालय द्वारा घोषित किसी डिक्री आदि के लिए धन,

(६) इनके अतिरिक्त सन् १९३५ के गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया एक्ट (Government of India Act of 1935) अथवा प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा के किसी एक्ट द्वारा अन्य प्रस्तावित व्यय।

किसी व्यय का संबन्ध प्रान्तीय आय से था अथवा नहीं, यह गवर्नर अपने विवेकाधिकार के अन्तर्गत निश्चित करता था। जो व्यय 'सुरक्षित' शीर्षक के अन्तर्गत रख दिए जाते थे, उन पर विचार हो सकता था, परन्तु प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा को उनके संबन्ध मे अपना मत प्रकट करने का अधिकार नहीं था। परन्तु गवर्नर के वेतन तथा अन्य भत्ते तथा उसके पद से संबन्धित व्यय के संबन्ध मे व्यवस्थापिका सभा को विचार करने का भी अधिकार नहीं था। जो विषय सुरक्षित नहीं थे उनके द्वारा उपस्थित माँग के संबन्ध में व्यवस्थापक समिति अपनी स्वीकृति-अस्वीकृति प्रदान कर सकती थी, अथवा उसे कम भी कर सकती थी। यदि गवर्नर को यह अनुभव होता कि इस प्रकार कम अथवा अस्वीकृत की हुई माँग से उसके विशेष उत्तरदायित्वों के पालन पर कोई प्रभाव पड़ेगा तो वह इन माँगों को फिर से स्वीकृत कर सकता था।

(३) कार्यकारिणी पर नियन्त्रण सम्बन्धी अधिकार

कार्यकारिणी पर नियन्त्रण रखने के संबन्ध मे भी प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा संघीय व्यवस्थापिका सभा से कुछ अधिक अधिकृत नहीं थी। गवर्नर किसी भी रूप मे व्यवस्थापिका सभा के प्रति उत्तरदायी नहीं था। उसकी नियुक्ति अथवा उसे पदस्थ करने में भी व्यवस्थापिका सभा का कोई अधिकार नहीं था। केवल इतना ही सब कुछ

नहीं था। जिन विषयों के सबन्ध में गवर्नर अपने विवेकाधिकार अथवा व्यक्तिगत निर्णय द्वारा कार्य करता था, उनके संबन्ध में वह गवर्नर जनरल के प्रति और उसके द्वारा भारत सचिव और ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के प्रति उत्तरदायी था। इस प्रकार उसका यह कार्यक्षेत्र व्यवस्थापिका सभा के नियन्त्रण की सीमा से बिलकुल परे था। जिन विषयों के संबन्ध में गवर्नर अपने मन्त्रियों की सम्मति द्वारा कार्य करता था, उन्हीं विषयों के क्षेत्र मे व्यवस्थापिका सभा कार्यकारिणी पर नियन्त्रण रख सकती थी। इस क्षेत्र मे भी नियन्त्रण की सम्भावना अधिक नहीं थी। क्योंकि मन्त्रियों की नियुक्ति करने का अधिकार गवर्नर को सौंपा गया था। उसी के प्रति विश्वासी रह कर वे अपने पद पर आसीन रह सकते थे। विभागों तथा अन्य कार्यों का वितरण भी गवर्नर ही करता था। मन्त्रि-परिषद् की बैठकों मे भी वही सभापति का पद ग्रहण करता था। शासन के सचालन में सरलता तथा सुविधा रहे, इसके लिए गवर्नर नियम भी बना सकता था। इस प्रकार कानूनी रूप से इस प्रकार की कोई धारा नहीं थी कि मन्त्रीगण व्यवस्थापिका सभा के प्रति उत्तरदायी होंगे, मन्त्रियों का केवल वेतन ही प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा के एक एक्ट द्वारा निश्चित किया जाता था। परन्तु इस धारा से भी कुछ अधिक आशा नहीं की जा सकती थी, क्योंकि

(अ) एक बार मन्त्रियों का वेतन निश्चित हो जाने पर उनके कार्य काल मे उसमें किसी प्रकार की कमी नहीं की जा सकती थी, और

(ब) यदि मन्त्रीगण व्यवस्थापिका सभा की इच्छाओं के विरुद्ध भी कदम उठाते, तो गवर्नर अपने विशेष उत्तरदायित्वों के अन्तर्गत किसी कम की हुई अथवा अस्वीकृत की हुई माँग का पुनःस्थापन कर सकता था।

गवर्नर को प्रदान किए गए विशेष व्यवस्थापक अधिकारों द्वारा भी कार्यकारिणी पर व्यवस्थापिका सभा के नियन्त्रण में कमी हो सकती थी।

गवर्नर और कानून निर्माण

व्यवस्थापक क्षेत्र में गवर्नर के अधिकार लगभग वही थे जो केन्द्रीय व्यवस्थापक क्षेत्र में गवर्नर जनरल को प्राप्त थे। इन अधिकारों का वर्णन संक्षेप मे निम्नलिखित रूप से किया जा सकता है :—

(१) भवनों को आमन्त्रित, स्थगित तथा विसर्जित करने के अधिकार :

एक्ट द्वारा गवर्नर को यह अधिकार प्रदान किया गया था कि वह जिस समय और जिस स्थान पर उचित समझे, व्यवस्थापिका सभा के किसी भवन की बैठक आमन्त्रित कर सकता था। परन्तु यह आवश्यक था कि वह एक वर्ष में कम से कम एक बार तो प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा की बैठक अवश्य आमन्त्रित करे, जिससे एक अधिवेशन के अन्तिम और आगामी अधिवेशन के मध्य में बारह वर्ष से अधिक का

समय व्यतीत न हो। इसी प्रकार गवर्नर व्यवस्थापिका सभा के किसी भवन को कुछ काल के लिए स्थगित कर सकता था। वह केवल व्यवस्थापक समिति को ही विसर्जित कर सकता था। व्यवस्थापक परिषद् एक स्थायी संस्था थी। गवर्नर इसे विसर्जित नहीं कर सकता था। गवर्नर को किसी भवन अथवा दोनों भवनों की संयुक्त बैठक में भाषण देने का अधिकार था। इस उद्देश्य के लिए वह सदस्यों को आमन्त्रित कर सकता था। इसी प्रकार वह किसी भी भवन को अपने आदेश भेज सकता था। गवर्नर के आदेश प्राप्त होने पर भवन तुरन्त ही उन आदेशों का पालन करने का भरसक प्रयत्न करता था।

गवर्नर इन अधिकारों का प्रयोग अपने विवेकाधिकार के अन्तर्गत करता था।

(२) कार्यप्रणाली निश्चित करने का अधिकार

गवर्नर, भवनों के सभापति अथवा स्पीकर से परामर्श करने के पश्चात् अपने विवेकाधिकार के अन्तर्गत निम्नलिखित के सम्बन्ध में नियम बनाने के लिए अधिकृत था :—

(अ) किसी विषय की उस कार्य प्रणाली के सम्बन्ध में, जिसका प्रभाव उन कार्यों पर पड़ता हो जिसमें गवर्नर को व्यक्तिगत निर्णय अथवा विवेकाधिकार द्वारा कार्य करना था;

(ब) आर्थिक कार्यों को निश्चित समय में समाप्त करने के सम्बन्ध में,

(स) किसी देशी राज्य के विषय से सम्बन्धित किसी प्रश्न पर हो रहे वाद-विवाद को रोकने के सम्बन्ध में, यदि उसका प्रभाव प्रान्तीय सरकार अथवा प्रान्त में रहने वाले किसी व्यक्ति पर न पड़ रहा हो;

(द) "विवेकाधिकार द्वारा प्रदान की गई गवर्नर की स्वीकृति के अतिरिक्त किसी ऐसे विषय पर हो रहे वाद-विवाद अथवा उस विषय के सम्बन्ध में पूछे गए प्रश्न को रोकने के सम्बन्ध में, जिसका सम्बन्धः

(१) सम्राट (His Majesty) अथवा गवर्नर जनरल और किसी देशी राज्य अथवा प्रान्त के पारस्परिक सम्बन्ध से हो; अथवा

(२) असभ्य क्षेत्रों से हो; अथवा

(३) किसी बहिष्कृत क्षेत्र के शासन प्रबन्ध से हो; अथवा

(४) किसी देशी राज्य के शासक अथवा उसके कुटुम्ब के किसी सदस्य के व्यक्तिगत आचरण से हो।"

(३) गवर्नर के एक्ट और ऑर्डिनेन्स

कानून बनाने और ऑर्डिनेन्स लागू करने के गवर्नर के अधिकार पूर्ण रूप से वही थे जो गवर्नर जनरल के थे।

यदि किसी समय में प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा का अधिवेशन न हो रहा होता और यदि गवर्नर किसी कार्य के लिए यह अनिवार्य समझता, तो वह, गवर्नर जनरल के समान, एक ऑर्डिनेन्स लागू कर सकता था। इस सम्बन्ध मे गवर्नर से यह आशा की गई थी कि वह अपने मन्त्रियों की सम्मति से ऑर्डिनेन्स लागू करेगा। परन्तु यदि उस ऑर्डिनेन्स का सम्बन्ध किसी ऐसे विषय से था जिसके लिए गवर्नर जनरल की पूर्व स्वीकृति लेनी आवश्यक थी, तो उस ऑर्डिनेन्स के सम्बन्ध मे वह व्यक्तिगत निर्णय द्वारा कार्य करता था। केवल इतना ही यथेष्ट नहीं था। यदि उन्ही धाराओं के ऑर्डिनेन्स को गवर्नर को गवर्नर जनरल की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रखना पड़ता था, अथवा यदि उस प्रस्ताव के लिए गवर्नर जनरल की पूर्व स्वीकृति आवश्यक होती थी तो गवर्नर जनरल की पूर्व स्वीकृति के विना वह इन्हे लागू नहीं कर सकता था।

इस प्रकार लागू किए गए किसी ऑर्डिनेन्स का प्रभाव उसी प्रकार का होता था जैसा व्यवस्थापिका सभा द्वारा पास किए गए किसी एक्ट का। इस प्रकार के ऑर्डिनेन्स की अवधि ६ मास होती थी। व्यवस्थापिका सभा की बैठक फिर से आरम्भ होने पर यह ऑर्डिनेन्स ६ सप्ताह पश्चात् स्वय ही समाप्त हो जाता था। यदि प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा एक प्रस्ताव द्वारा ऑर्डिनेन्स के प्रति अपनी असम्मति प्रकट करती तो उसे और भी शीघ्र समाप्त किया जा सकता था। सम्राट (His Majesty) को भी उसे अस्वीकृत करने का अधिकार था।

गवर्नर जनरल के समान गवर्नर को भी एक और प्रकार के ऑर्डिनेन्स लागू करने का अधिकार था। यदि किसी विशेष परिस्थिति में गवर्नर को यह अनुभव होता कि विवेकाधिकार तथा व्यक्तिगत निर्णय के अन्तर्गत किए जाने वाले कार्यों के सम्बन्ध मे किसी ऑर्डिनेन्स का लागू करना नितान्त आवश्यक था, तो वह अपने विवेकाधिकार के अन्तर्गत ऐसा कर सकता था। इस प्रकार का आर्डिनेन्स ६ मास तक लागू रह सकता था। इसका प्रभाव भी वही होता था जो प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा द्वारा पास किए गए किसी एक्ट का। गवर्नर किसी ऑर्डिनेन्स की अवधि को एक अन्य ऑर्डिनेन्स लागू करके आगामी ६ मास के लिए बढा सकता था इसके विपरीत गवर्नर इसे किसी भी समय वापिस ले सकता था। इसके अतिरिक्त सम्राट (His Majesty) भी इसे अस्वीकृत कर सकते थे।

जिन विषयों के सम्बन्ध मे गवर्नर को अपने विवेकाधिकार अथवा व्यक्तिगत निर्णय द्वारा कार्य करना था, उनके सम्बन्ध में एक्ट द्वारा गवर्नर को यह अधिकार प्रदान किया गया था कि उसे गवर्नर जनरल की स्वीकृति तथा उससे पूर्व या पश्चात् व्यवस्थापिका सभा के मत को जान कर स्थायी एक्ट लागू करने का अधिकार था। यह कार्य भी उसे अपने विवेकाधिकार के अन्तर्गत ही करना था। गवर्नर का प्रत्येक

एक्ट गवर्नर जनरल द्वारा भारत सचिव के पास भेजा जाता था, जो उसे पार्लियामेन्ट के सन्मुख उपस्थित करता था।

(४) विधान सम्बन्धी संकटकालीन परिस्थिति में गवर्नर के अधिकार

एक्ट द्वारा यह प्रस्तावित किया गया था कि यदि किसी असाधारण परिस्थिति के कारण गवर्नर को यह अनुभव हो कि प्रान्त की उपस्थित शासन प्रणाली सफल नहीं हो सकती, तो वह अपने विवेकाधिकार के अन्तर्गत गवर्नर जनरल की स्वीकृति के पश्चात् इस प्रकार की घोषणा कर सकता था, और प्रान्तीय शासन से सम्बन्धित कुछ अथवा समस्त कार्य अपने अधिकार मे कर सकता था। परन्तु इस प्रकार की घोषणा का प्रान्तीय हाई कोर्ट के अधिकारों पर कोई प्रभाव नहीं पड सकता था। गवर्नर की इस घोषणा की अन्य धाराएँ वही थीं जो गवर्नर जनरल की घोषणा की थीं।

उपसंहार

संघीय व्यवस्थापिका सभा के समान प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा भी गवर्नर के सम्मुख तुच्छ और महत्वहीन थी। व्यवस्थापक और शासन सम्बन्धी दोनों क्षेत्रों में गवर्नर का अत्यधिक महत्व था। इस प्रकार के सीमित और प्रतिबन्धित कार्यक्षेत्र का संचालन करने वाली व्यवस्थापिका सभा द्वारा, जिसके पग-पग पर गवर्नर के विवेकाधिकार और प्रतिनिषेध के अधिकार का आघात होता था, हमारा प्रान्तीय स्वराज्य का स्वप्न कम से कम सत्य भावना और कानूनी रूप में तो असत्य ही था। उपर्युक्त वर्णन के अध्ययन के पश्चात् यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाएँ जनता की प्रतिनिधात्मक व्यवस्थापक समिति न होकर केवल वाद-विवाद समिति के समान ही थीं।

नवाँ अध्याय

प्रान्तीय कार्यकारिणी

"गवर्नर सरकार को केवल अलंकृत करने वाला अध्यक्ष नहीं है; वह सरकार का प्रभावशाली, नियन्त्रण तथा अधिकार रखने वाला अध्यक्ष भी है।"[1]

—के० टी० शाह

सन् १९३५ के एक्ट द्वारा कानूनी रूप से प्रान्तों को स्वतन्त्र राजनैतिक इकाइयों में परिवर्तित कर दिया गया, जिन्हें अपने अधिकार अब प्रत्यक्ष रूप से सम्राट (Crown) से प्राप्त करने थे।

प्रान्त के शासन सम्बन्धी समस्त अधिकार एक्ट द्वारा गवर्नर को सौंप दिए गए, क्योंकि वह सम्राट (King) का प्रतिनिधि था। द्वैत शासन की व्यवस्था समाप्त कर दी गई। उसके स्थान पर प्रान्तों के लिए पूर्ण स्वराज्य की स्थापना की योजना की गई। प्रान्तीय कार्यकारिणी को व्यवस्थापिका सभा के प्रति उत्तरदायी रखा गया। सन् १९१९ के एक्ट द्वारा प्रस्तावित द्वैत शासन की व्यवस्था से प्रारम्भ होकर ब्रिटिश भारत के प्रान्तों में उत्तरदायी शासन का विकास सन् १९३५ के एक्ट द्वारा पूर्ण हुआ। इस प्रकार भारतवर्ष में प्रान्तीय स्वराज्य एक विकसित होने वाले शिशु के समान था।

गवर्नरों के प्रान्तों की जो भारतवर्ष में प्रान्तीय स्वराज्य के केन्द्र रूप थे, संख्या ग्यारह थी। यह प्रान्त निम्नलिखित थे :—

मदरास, बम्बई, बंगाल, संयुक्त-प्रान्त, मध्यप्रदेश, पंजाब, बिहार, बरार, आसाम, उत्तर पश्चिमी सीमा प्रदेश, उड़ीसा और सिन्ध। इन प्रान्तों में प्रत्येक प्रान्त के शासन सम्बन्धी अधिकार गवर्नर में केन्द्रित थे। एक्ट द्वारा प्रस्तावित जिन विषयों में गवर्नर अपने विवेकाधिकार द्वारा कार्य करता था, उन कार्यों के अतिरिक्त अन्य विषयों में गवर्नर को सम्मति तथा सहायता प्रदान करने के लिए एक मंत्रि-परिषद् की व्यवस्था

---

1 "The Governor is . . not merely the ornamental head of the Government, he is also its effective, controlling and dominating head"
—K T Shah

की गई थी। इस प्रकार प्रान्तीय कार्यकारिणी के अध्ययन को दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है :—

(अ) गवर्नर

(ब) मन्त्रि परिषद्

निम्न पृष्ठों में इन दोनों का प्रथक रूप से वर्णन किया जायगा।

(अ) गवर्नर

गवर्नर की नियुक्ति भारत सचिव की सम्मति पर सम्राट (His Majesty) द्वारा होती थी। इसके विपरीत यहां यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि औपनिवेशिक गवर्नरों की नियुक्ति औपनिवेशिक मन्त्रि-मण्डल की सम्मति से होती है।

कार्यकाल

गवर्नर की नियुक्ति सामान्यतया पाँच वर्ष के लिए की जाती थी।

वेतन तथा भत्ता

प्रान्तीय गवर्नरों का वेतन और भत्ता एक्ट द्वारा निश्चित्त कर दिए गए थे। ये वेतन प्रान्तीय आय मे से दिए जाते थे। विभिन्न प्रान्तों में इन गवर्नरों का वेतन भी भिन्न था। बम्बई, मद्रास और बगाल में यह वेतन १,२०,००० रुपया; सयुक्त प्रान्त, पंजाब और बिहार में १,००,००० रुपया, मध्यप्रदेश और बरार में ७२,००० रुपया और शेष प्रान्तों मे ६६,००० रुपया था।

अधिकार और कार्य

गवर्नर जनरल के समान गवर्नर भी शासन-सम्बन्धी तीन प्रकार के अधिकारों का उपभोग करता था :—

(१) विवेक के अन्तर्गत आने वाले अधिकार;

(२) व्यक्तिगत निर्णय सम्बन्धी अधिकार; और

(३) मन्त्रियों की सम्मति द्वारा प्रयोग किए जाने वाले अधिकार।

अत्यन्त सक्षेप में इन अधिकारों का विवरण दिया जाता है।

(१) गवर्नर के 'विवेक' सम्बन्धी अधिकार

मन्त्रियों की सम्मति बिना गवर्नर जिन अधिकारों का प्रयोग करता था वह 'विवेकाधिकार' कहलाते थे। इन अधिकारों में मुख्य अधिकार निम्नलिखित थे :—

अपने विवेकाधिकार के अन्तर्गत गवर्नर

(अ) को यह निश्चित करने का अधिकार था कि कोई विषय उसके विवेक अथवा व्यक्तिगत सम्बन्धी अधिकारों के क्षेत्र में आता है अथवा नहीं;

(ब) को मन्त्रियों को चुनने, आमन्त्रित करने तथा पदस्थ करने का अधिकार था।

(स) को यह घोषित करने का अधिकार था कि वह अपने कुछ कार्यों का सम्पादन अपने विवेकाधिकार के अन्तर्गत करेगा जिससे सरकार के विरुद्ध षड्यन्त्रों का सामना कर सके।[1]

(द) को यह निर्णय करने का अधिकार था कि कोई प्रस्तावित व्यय सुरक्षित क्षेत्र के अन्तर्गत आता है अथवा नहीं, इत्यादि।

गवर्नर द्वारा उसके विवेकाधिकार के अन्तर्गत प्रयोग किए जाने वाले व्यवस्थापक अधिकारों का वर्णन पूर्व अध्याय में किया जा चुका है।

(२) गवर्नर के व्यक्तिगत निर्णय सम्बन्धी अधिकार

जिन अधिकारों का प्रयोग गवर्नर अपने मन्त्रियों की सम्मति से करता था, वे अधिकार गवर्नर के व्यक्तिगत निर्णय सम्बन्धी अधिकार कहलाते थे। गवर्नर मन्त्रियों की सम्मति को स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं था। व्यक्तिगत निर्णय के अधिकार का प्रयोग करते समय उसे निम्नलिखित विशेष उत्तरदायित्वों को निभाना पड़ता था

(अ) प्रान्त अथवा उसके किसी भाग की शान्ति और सुरक्षा को नष्ट करने वाली परिस्थितियों को दूर करना,

(ब) अल्पदलों के उचित हितों की रक्षा करना,

(स) सिविल सर्विस के पुराने तथा उपस्थित सदस्यों तथा उनके आश्रितों के अधिकारों की रक्षा करना,

(द) इग्लैंड में स्थिति कम्पनियों और ब्रिटिश निवासियों के प्रति उत्पन्न हुई किसी प्रकार की दुर्भोति को नष्ट करना,

(क) आंशिक रूप से बहिष्कृत क्षेत्रों के उन्नम और सुशासन का प्रबंध करना,

(ख) किसी देशी-राज्य के अधिकारों तथा किसी शासक के अधिकार और प्रतिष्ठा की रक्षा करना,

(ग) विवेकाधिकार के अन्तर्गत गवर्नर जनरल द्वारा दिए गए शासन सम्बन्धी आदेशों का पालन करना।

(३) मन्त्रियों की सम्मति द्वारा प्रयोग किए जाने वाले अधिकार

विवेकाधिकार तथा व्यक्तिगत निर्णय सम्बन्धी अधिकारों के अतिरिक्त शेष समस्त अधिकारों का प्रयोग गवर्नर अपने मन्त्रियों की सम्मति से करता था।

---

[1] "इस प्रकार के आदेशों के अन्तर्गत वह किसी पदाधिकारी को व्यवस्थापिका सभा अथवा भवनों की सयुक्त बैठक की कार्यप्रणाली में भाग लेने और बोलने का अधिकार प्रदान कर सकता था।"

(ब) मन्त्रि परिषद्

एक्ट द्वारा यह प्रस्तावित किया गया था कि विवेकाधिकार के अन्तर्गत किए जाने वाले कार्यों के अतिरिक्त शेष कार्यों में गवर्नर को सहायता एवं सम्मति प्रदान करने के लिए एक मन्त्रिपरिषद् होगा। द्वैत शासन की व्यवस्था की समाप्ति के पश्चात सैद्धान्तिक रूप मे तो प्रत्येक कार्य के सम्पादन का अधिकार मंत्रियों को ही था। सन् १६१६ के एक्ट द्वारा स्थापित सुरक्षित विभाग भी उनकी अधिकार सीमा से परे न थे।

मन्त्रियो की नियुक्ति

एक्ट द्वारा मन्त्रि परिषद् के आकार की ओर कोई सकेत नही किया गया था। गवर्नर अपने विवेकाधिकार के प्रयोग द्वारा मन्त्रियों को चुनता और आमन्त्रित करता था। गवर्नर के प्रति विश्वासी रहकर ही ये मन्त्रीगण अपने पद पर आसीन रह सकते थे। 'आदेश पत्र' (Instrument of Instructions) मे गवर्नर को यह आदेश प्रदान किया गया था कि "उस व्यक्ति से परामर्श लेकर, जो उसकी समझ मे व्यवस्थापिका सभा का बहुमत प्राप्त कर सकता हो, गवर्नर को ऐसे व्यक्तियो को चुनना चाहिए (इसमें जहाँ तक सम्भव हो सके वहाँ तक मुख्य अल्प दलो के सदस्य भी हों) जो सयुक्त रूप से भली प्रकार व्यवस्थापक समिति का विश्वास प्राप्त कर सकें।" 'आदेश पत्र' मे यह भी विचार प्रकट किया गया था कि गवर्नर को "मन्त्रियों में संयुक्त उत्तरदायित्व की भावना के विकास का भी ध्यान रखना चाहिए।" गवर्नर के मन्त्रियों को नियुक्त किए जाने वाले इस निरंकुश अधिकार पर केवल एक यही प्रतिबन्ध सम्भव हो सकता था कि यदि कोई मन्त्री ६ मास तक व्यवस्थापिका सभा की सदस्यता ग्रहण नहीं कर पाता था, तो उसे मन्त्री पद से हटना पडता था।

संयुक्त उत्तरदायित्व का विकास

यहाँ यह बात ध्यान में रखने की है कि सन् १६३५ के एक्ट द्वारा भी संयुक्त उत्तरदायित्व की भावना को विकसित होने के लिए छोड दिया गया। यह एक बडी विचित्र बात है कि जिस एक्ट द्वारा प्रान्तों मे उत्तरदायी सरकार की स्थापना की गई, उसी एक्ट द्वारा कानूनी रूप से सयुक्त उत्तरदायित्व प्रदान नहीं किया जा सका, जो कि समस्त विश्व में उत्तरदायी सरकार का आधार है।

वेतन और भत्ता

मन्त्रियों का वेतन प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा द्वारा निश्चित किया जाता था। एक मन्त्री का एक बार निश्चित किया हुआ वेतन उसके कार्यकाल मे परिवर्त्तित नहीं किया जा सकता था। इस धारा से भी कार्यकारिणी पर व्यवस्थापिका सभा के नियन्त्रण में कमी होना अवश्यम्भावी था।

गवर्नर और मन्त्रि-परिषद्

वास्तविक रूप में किसी प्रान्त की सरकार में मन्त्रि-परिषद् का कोई स्थान नहीं था। शासन के समस्त अधिकार गवर्नर के हाथों में थे। मन्त्रियों को केवल उसकी

सहायता करने और उसे सम्मति प्रदान करने के लिए रखा जाता था। मन्त्रियों में विभागों का वितरण करने का अधिकार भी गवर्नर को ही था। गवर्नर अपने विवेकाधिकार के अन्तर्गत मन्त्रिपरिषद् की बैठकों में सभापति का पद ग्रहण कर सकता था। शासन के सुविधापूर्ण सञ्चालन के लिए भी वह नियम बना सकता था। इस प्रकार यह स्पष्ट ही है कि मन्त्रीगण गवर्नर की सर्वोच्च सत्ता के आधीन थे। 'परिषद् की बैठकों में सभापति के पद पर बैठने का तात्पर्य यही था कि गवर्नर मन्त्रियों की नीति से पूर्ण रूप के परिचित हो जाए।

आलोचनात्मक विवेचन

उपर्युक्त विवरण के अध्ययन से यह भली भाँति स्पष्ट हो जाता है कि सन् १९३५ के एक्ट के अन्तर्गत मन्त्रियों की दशा द्वैत शासन की व्यवस्था के अन्तर्गत मन्त्रियों की दशा से किसी भी प्रकार उन्नत नहीं थी। किसी भी वस्तु और किसी भी कार्य पर मन्त्रियों को पूर्ण अधिकार नहीं था। गवर्नर के विवेक और व्यक्तिगत निर्णय सम्बन्धी अधिकारों के मध्य में वे पिस गए थे। 'विवेकाधिकार के अन्तर्गत' ये शब्द इतने व्यापक और विस्तृत थे कि इनके द्वारा मन्त्रियों के न्यायसगत क्षेत्र पर भी नियन्त्रण रखा जा सकता था। यदि गवर्नर अपने विवेकाधिकार के अन्तर्गत कार्य न कर रहा हो तो भी वह अपने व्यक्तिगत निर्णय द्वारा मन्त्रियों की सम्मति को अस्वीकार कर सकता था। जिन विशेष उत्तरदायित्वों का पालन गवर्नर को व्यक्तिगत निर्णय सम्बन्धी अधिकारों द्वारा करना था, उनका अर्थ ही बड़ा अनिश्चित तथा सन्दिग्ध था। 'उचित हित' अथवा 'भयकर संकट' आदि यह इस प्रकार की शब्दावलियाँ थीं जिनका अर्थ कुछ भी हो सकता था और इनका कुछ भी अर्थ लगाया जा सकता था। शासन के किसी भी क्षेत्र पर इनके द्वारा अधिकार किया जा सकता था। किसी विषय के सम्बन्ध में यह निर्णय करना कि वह विषय गवर्नर के विवेक अथवा व्यक्तिगत निर्णय सम्बन्धी अधिकारों के अन्तर्गत आता है अथवा नहीं, गवर्नर का ही कार्य था, और उसका निर्णय अन्तिम माना जाता था। विवेक अथवा व्यक्तिगत निर्णय सम्बन्धी अधिकारों के अन्तर्गत किए गए कार्यों के औचित्य पर विवाद नहीं किया जा सकता था। इस प्रकार प्रान्तीय क्षेत्र में अपने अधिकारों की सीमा निश्चित करने का अधिकार स्वय गवर्नर को ही था। गवर्नर मन्त्रियों के लिए एक अत्यन्त सकुचित कार्य-क्षेत्र निश्चित कर सकता था—यह भी जब वह चाहता तब। अपने विवेक और व्यक्तिगत निर्णय रूपी दो ऐन्द्रजालिक पिटारों के कारण गवर्नर गुप्त तथा अप्रकट रूप से नियन्त्रण रख सकता था। वास्तविकता तो यही है कि सन् १९३५ के एक्ट द्वारा द्वैत शासन प्रणाली नाममात्र को ही समाप्त की गई थी। जो इसका उद्देश्य पहले था वही अब भी था, अर्थात् गवर्नर के हाथों में अधिकार और शक्ति का केन्द्रीकरण।

दसवाँ अध्याय

प्रान्तीय स्वराज्य—सत्य अथवा भ्रान्ति ?

"एक शुण्डाकार स्तम्भ के समान, जिसके शिखर पर राजनैतिक शिल्पकार ने स्वर्णिम आभा लिए एक नियम प्रतिष्ठापित कर दिया है, इस भव्य भवन का विकास हुआ है, और जिसके द्वारा प्रान्तों को स्वराज्य का आश्वासन प्रदान किया गया है, परन्तु यह उस विषय के प्रति संकुचित है जिसमें सुधार के पूर्व और पश्चात् के प्रान्तों का अन्तर वास्तव में अदृश्य हो जाता है।" [1]

—*शफ़ात अहमद खाँ*

सन् १९३५ के एक्ट द्वारा प्रदान किए गए प्रान्तीय स्वराज्य का अध्ययन करने के पूर्व कि वह सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक रूप में सत्य था अथवा नहीं; प्रान्तीय स्वराज्य का अर्थ समझ लेना युक्तिसंगत होगा।

प्रान्तीय स्वराज्य का अर्थ

प्रान्तीय स्वराज्य के अर्थ के सम्बन्ध में विभिन्न मत प्रतिपादित किए गए हैं। स्वराज्य से स्वतन्त्रता का आभास होता है। इसलिए प्रान्तीय स्वराज्य की परिभाषा शासन की एक प्रणाली के रूप में की जा सकती है जिसमें प्रान्तीय सरकारें एक्ट द्वारा प्रदान किए गए शासन सम्बन्धी कार्यों का सम्पादन 'किसी वाह्य अथवा आन्तरिक शक्ति के आदेश अथवा हस्तक्षेप के विना' स्वतन्त्रता पूर्वक कर सकती हों। प्रान्तीय स्वराज्य के सार को श्री पूनिया ने निम्नलिखित शब्दों में बड़ी योग्यता से दर्शाया है :—

"प्रान्तों में उत्तरदायी सरकार का तात्पर्य यही है कि प्रान्त से सम्बन्धित समस्त विषयों मे केन्द्र का प्रान्त पर नियन्त्रण कम हो जाए—उन विषयों के अतिरिक्त

---

[1] "Like a pyramid upon the top of which the political architect has placed a gilded statute up grows this magnificint edifice, assuring autonomy to the Provinces, but it narrows to a point wherein the distinction between the pre-reformed and post-reformed Provinces virtually disappears. —Sir Shafaat Ahmad Khan.

सहायक अन्य प्रान्तों अथवा केन्द्र के हितों को हानि पहुँचती हो। 'प्रान्तीय स्वराज्य' दि हमारी सम्मति में यही अर्थ है। प्रथम तो इसका अर्थ है समस्त प्रान्तीय क्षेत्र में पूर्ण उत्तरदायी सरकार, और द्वितीय इस क्षेत्र में अपनी शक्ति को विना किसी बाह्य नियन्त्रण अथवा हस्तक्षेप के प्रयोग करने के लिए प्रान्तीय सरकार को स्वतन्त्रता।" [1]

इस प्रकार प्रान्तीय स्वराज्य के दो स्वरूप होते हैं, बाह्य और आन्तरिक। आन्तरिक स्वरूप का तात्पर्य होता है कि लोकप्रिय मन्त्रियों को गवर्नरों के हस्तक्षेप विना प्रान्तों की सरकार का सचालन करने की स्वतन्त्रता हो, और व्यवस्थापिका सभा मे उपस्थित जनता के प्रतिनिधियों द्वारा वे जनता के प्रति पूर्ण रूप से उत्तरदायी रहें। इस योजना में गवर्नर को नाम मात्र का अध्यक्ष पद दिया जा सकता था जिसके अन्तर्गत वह रक्षक रूप में रह सकता था, तथा जिसे शासन का अधिकार न था। प्रान्तीय स्वराज्य के बाह्य स्वरूप का तात्पर्य था कि प्रान्तीय सरकारें भारत सरकार तथा गृह सरकार के नियन्त्रण से मुक्त होकर शासन करेंगी।

प्रान्तीय स्वराज्य की शासन प्रणाली निर्धारित करते हुए ज्वाइन्ट सेलेक्ट कमेटी (Joint Select Committee) ने उसके बाह्य स्वरूप पर ही अधिक बल दिया था। उनका मत था कि इस प्रकार की व्यवस्था में "गवर्नरों के प्रत्येक प्रान्त में एक कार्यकारिणी और एक व्यवस्थापिका सभा होगी, जिसका कार्य क्षेत्र निश्चित किया हुआ होगा तथा जो केन्द्रीय सरकार और व्यवस्थापिका सभा के नियन्त्रण से मुक्त होगी।" यह स्पष्ट है कि ज्वाइन्ट सेलेक्ट कमेटी (Joint Select Committee) ने प्रान्तीय स्वराज्य के आन्तरिक स्वरूप की ओर अपनी अरुचि प्रदर्शित की थी, यद्यपि वह आन्तरिक स्वरूप ही प्रान्तीय स्वराज्य का सार और तत्व होता है। क्योंकि यद्यपि केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण को समाप्त भी कर दिया जाता, तो भी सम्राट (His Majesty) के प्रतिनिधि के रूप में गवर्नर को इतने अधिक अधिकार प्राप्त थे कि वह लोकप्रिय मन्त्रियों के निर्णय और कार्यों पर पूर्ण अधिकार रख सकता था, और इस प्रकार प्रान्तीय स्वराज्य को सारहीन बना सकता था।

---

1 "Responsible Government in the Provinces necessitates devolution of authority from the Centre to the Provinces in all matters of provincial concern except in so far as these might come into conflict with the interest of other Provinces or the Centre. This is what we understand by the term 'Provincial Autonomy' It means in the first place full responsible government over the whole Provincial field, and secondly, freedom for the Provincial Government to exercise its authority within this field without any interference or control from outside"

—C B Punnaiah

प्रान्तीय स्वराज्य की प्राप्ति

अब हम निम्नलिखित दो शीर्षकों के अन्तर्गत इस बात का अध्ययन करेंगे कि इस एक्ट द्वारा किस सीमा तक प्रान्तीय स्वराज्य प्रदान किया गया था :—

(१) सैद्धान्तिक दृष्टि से प्रान्तीय स्वराज्य; और
(२) व्यावहारिक दृष्टि से प्रान्तीय स्वराज्य।

(१) सैद्धान्तिक दृष्टि से प्रान्तीय स्वराज्य

यहाँ भी प्रारम्भ में ही हमें दो निम्नलिखित विभाजन करने पड़ेंगे :—

(अ) प्रान्तीय स्वराज्य—आन्तरिक स्वरूप; और

(ब) प्रान्तीय स्वराज्य—बाह्य स्वरूप।

(अ) प्रान्तीय स्वराज्य—आन्तरिक स्वरूप

यदि आन्तरिक स्वरूप के दृष्टिकोण से भी प्रान्तीय स्वराज्य की प्राप्ति के स्वप्न को साकार रूप प्रदान करना था, तो यह आवश्यक था कि गवर्नर को प्रान्त का नाम-मात्र का अध्यक्ष घोषित कर दिया जाता। सन् १९३५ के एक्ट के अन्तर्गत गवर्नर जिन अधिकारों और जिस सत्ता का भोग करता था, वह स्वयं प्रान्तीय स्वराज्य के आदर्श के ही विरुद्ध थी। यह हम पूर्व ही लिख चुके हैं कि प्रान्तीय शासन के कार्य-कारिणी सम्बन्धी तथा व्यवस्थापक कार्यों पर गवर्नर किस प्रकार नियन्त्रण रख सकता था। बिना गवर्नर की स्वीकृति के प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा का कोई प्रस्ताव एक्ट का स्वरूप ग्रहण नहीं कर सकता था। व्यवस्थापिका सभा से सम्मति लिए बिना, अथवा उसकी इच्छा के विरुद्ध भी गवर्नर को ऑर्डिनेन्स और एक्ट घोषित करने का अधिकार प्राप्त था। प्रान्तीय मन्त्रीगण गवर्नर की सहायता बिना एक पग आगे नहीं बढ़ सकते थे। अपने विवेकाधिकार के अन्तर्गत कार्य करते समय गवर्नर इस बात के लिए बाध्य नहीं था कि वह मन्त्रियों से उस सम्बन्ध में परामर्श ले; तथा व्यक्तिगत निर्णय सम्बन्धी कार्यों में वह अपने मन्त्रियों की सम्मति स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं था। अपने विशेष उत्तरदायित्वों के अन्तर्गत गवर्नर प्रान्तीय शासन के सम्पूर्ण तन्त्र को अपने अधिकार में ले सकता था, कानून बना सकता था, अस्वीकृत अथवा कम की हुई किसी माँग को पुनः स्थापित कर सकता था, यहाँ तक कि व्यवस्थापिका सभा के कार्यक्रम को रोक सकता था। गवर्नर को यह अधिकार था कि वह समस्त प्रान्तीय शासन को कुछ काल के लिए स्थगित कर के शासन सम्बन्धी समस्त अधिकार अपने हाथ में ले ले। इससे भी अधिक कौतुकमय बात थी कि गवर्नर के क्षेत्र के विषय में न्यायकर्त्ता भी वह स्वयं ही था। यह निश्चित करना केवल उसी का कार्य था कि कौन-कौन सा विषय उसके विवेक तथा व्यक्तिगत निर्णय सम्बन्धी अधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं। यहाँ यह बात ध्यान में रखने की है कि गवर्नर की स्थिति, प्रान्तीय

शासन पर साम्राज्यशाही के प्रभुत्व की केवल छाप स्वरूप ही नहीं थी, परन्तु उसके द्वारा बाह्यक्षेत्र में भी नियन्त्रण रखा जाता था। जिन विषयों के सम्बन्ध मे गवर्नर अपने विवेक अथवा व्यक्तिगत निर्णय से कार्य करता था, उन विषयों के सम्बन्ध में वह गवर्नर जनरल के प्रति और उसके द्वारा भारत सचिव और ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के प्रति उत्तरदायी था। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रान्तीय स्वराज्य प्रान्त के लोकप्रिय मन्त्रियों और प्रतिनिधात्मक व्यवस्थापिका सभाओं के लिए स्वराज्य न होकर गवर्नरों के लिए ही स्वराज्य था।

(ब) प्रान्तीय स्वराज्य—वाह्य स्वरूप

वाह्य स्वरूप के दृष्टिकोण से भी प्रान्तीय स्वराज्य केवल एक भ्रम मात्र था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस व्यवस्था के अन्तर्गत प्रान्त अपने अधिकार प्रत्यक्ष रूप से विधान से ही ग्रहण करते थे। प्रान्तीय सरकारें अब केन्द्रीय सरकार की प्रतिनिधि मात्र नहीं थी और न उससे अधिकार ही ग्रहण करती थीं। इस एक्ट द्वारा प्रान्तीय सरकारों के व्यक्तित्व को स्वीकार किया गया। परन्तु फिर भी प्रान्त केन्द्र के नियन्त्रण से बाहर नहीं थे। उन्हें अब भी स्पष्ट रूप से केन्द्रीय सरकार की आधीनता और नियन्त्रण में रखा गया। निम्न विवेचन से यह स्पष्ट हो जाएगा

(१) संघीय हस्तक्षेप

एक्ट द्वारा यह निश्चित कर दिया गया था कि गवर्नर जनरल द्वारा असाधारण परिस्थिति की घोषणा करने पर संघीय व्यवस्थापिका सभा प्रान्तीय व्यवस्थापक तालिका में दिए गए विषयों के सम्बन्ध में भी कानून बना सकती थी। एकीभूत तालिका में दिए गए विषयों के सम्बन्ध में केन्द्रीय और प्रान्तीय कानूनों में यदि विरोध होता तो सघीय कानून ही स्वीकृत किया जाता था। इस प्रकार सघ और प्रान्तों मे जो शक्ति वितरण किया गया था, वह इतना स्पष्ट नहीं था कि प्रान्तों पर केन्द्र के अधिकार और प्रभुत्व की कोई सम्भावना न रहे।

(२) गवर्नर जनरल की सर्वोच्च सत्ता

इसके अतिरिक्त गवर्नर जनरल को, जो केन्द्रीय सरकार का स्वय द्वारा प्रतिनिधित्व करता था, प्रान्तीय सरकारों पर नियन्त्रण रखने का अधिकार प्रदान किया गया था। यह हम बतला ही चुके हैं कि अनेक प्रकार के प्रस्ताव तथा सशोधन ऐसे थे, जिन्हें गवर्नर जनरल की पूर्व स्वीकृति विना प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा में उपस्थित भी नहीं किया जा सकता था। हम यह भी लिख चुके हैं कि प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा द्वारा पास किए गए प्रस्तावों को गवर्नर जनरल की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रखा जा सकता था, जिन्हें वह अस्वीकृत भी कर सकता था। केवल इतना ही यथेष्ट नहीं था। भारतवर्ष अथवा उसके किसी भाग की शान्ति तथा सुरक्षा के लिए

गवर्नर जनरल अपने विवेकाधिकार द्वारा गवर्नरों को यह आदेश प्रदान कर सकता था कि किसी प्रान्त अथवा प्रान्तों का शासन प्रबन्ध उसके (गवर्नर जनरल के) द्वारा निर्धारित प्रणाली पर किया जाए। वह किसी प्रान्त के गवर्नर को अपने प्रतिनिधि के रूप में निम्नलिखित कार्यों के सम्पादन के हेतु आदेश प्रदान कर सकता था :

(क) असभ्य प्रदेशों से सम्बन्धित; और

(ख) रक्षा, विदेशी विभाग अथवा धार्मिक विभाग से सम्बन्धित।

इस प्रकार गवर्नर प्रान्तों के स्वतन्त्र अध्यक्ष होने की अपेक्षा गवर्नर जनरल के प्रतिनिधि मात्र थे। गवर्नरों द्वारा प्रान्तीय शासन के क्षेत्र में केन्द्रीय नियन्त्रण का ताना बाना सरलता के साथ पूरा जा सकता था। प्रान्तीय स्वराज्य और आधीन अध्यक्ष, यह दोनों शब्द एक दूसरे के विरोधी मात्र थे।

(३) संघीय निर्देशक चिन्ह

एक्ट द्वारा यह स्पष्ट रूप से निश्चित कर दिया गया था कि प्रत्येक प्रान्त का शासन-प्रबन्ध इस प्रकार होना चाहिए कि जिससे सघ के अधिकारों में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित न हो। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सर्वीय सरकार निम्नलिखित के सम्बन्ध में प्रान्तों को कुछ आदेश प्रदान कर सकती थी :

(क) संघीय व्यवस्थापिका सभा के किसी एक्ट को लागू करने के लिए; और

(ख) सैनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण यातायात के साधनों की सुरक्षा के सम्बन्ध में।

यदि गवर्नर जनरल को यह अनुभव होता कि किसी प्रान्त में संघीय आदेशों का पालन उचित रूप से नहीं हो रहा तो वह अपने विवेकाधिकार के अन्तर्गत उस प्रान्त के गवर्नर को इस सम्बन्ध में कुछ विशेष आदेश प्रदान कर सकता था।

(४) गवर्नर जनरल के प्रति गवर्नरों का उत्तरदायित्व

एक्ट द्वारा यह निश्चित कर दिया गया था कि अपने विवेक तथा व्यक्तिगत निर्णय सम्बन्धी अधिकारों का प्रयोग करते समय गवर्नर गवर्नर जनरल के प्रति उत्तर-दायी रहेंगे। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रान्तों के व्यवस्थापक, आर्थिक तथा शासन सम्बन्धी क्षेत्र को गवर्नर जनरल पूर्ण रूप से अपने अधिकार में कर सकता था।

(५) विशेष परिस्थिति सम्बन्धी नियन्त्रण

सन् १९३५ के गवर्नमेण्ट आफ इन्डिया एक्ट (Government of India Act of 1935) के सम्बन्ध में सन् १९३९ में हुए एक संशोधन द्वारा केन्द्रीय सरकार को यह अधिकार प्रदान किया गया था कि युद्ध आदि विशेष परिस्थितियों में वह (केन्द्रीय सरकार) अपने आदेशानुसार प्रान्तीय शासन प्रबन्ध करवा सकती थी, और

प्रान्तीय विषयों से सम्बन्धित कार्यों के सम्पादन के हेतु कर्मचारी भी नियुक्त कर सकती थी।

इस प्रकार प्रान्तों के केन्द्रीय नियन्त्रण से मुक्त होने की कोई सम्भावना नहीं थी। किसी भी क्षण केन्द्रीय सरकार वास्तविक और प्रभावशाली बन सकती थी।

(२) व्यावहारिक दृष्टि से प्रान्तीय स्वराज्य

पहली अप्रैल सन् १९३७ से कुछ सप्ताह पूर्व जब सन् १९३५ के एक्ट का प्रान्तीय भाग कार्यरूप में परिणत किया गया, चुनावों की व्यवस्था की गई। बारह में से आठ प्रान्तों में काँग्रेस दल का बहुमत रहा। चुनावों के पश्चात काँग्रेस दल ने पद ग्रहण करना उस समय तक के लिए अस्वीकृत कर दिया जब तक कि गवर्नर उन्हें यह आश्वासन न दे दें कि वे अपने विवेक तथा व्यक्तिगत निर्णय सम्बन्धी अधिकारों का प्रयोग बहुधा तथा प्रत्येक विषय के सम्बन्ध में न करेंगे। इस प्रकार पद ग्रहण न करने का भय दिखलाकर कॉंग्रेस ने इस बात का प्रयत्न किया कि गवर्नर प्रान्तों के वैधानिक अध्यक्ष का पद ग्रहण करें और मन्त्रियों की सम्मति से कार्य करें। कुछ विधान सम्बन्धी कारणों के आधार पर गवर्नरों ने इस प्रकार का आश्वासन प्रदान करने से मना कर दिया। परन्तु उन्होंने कॉंग्रेस दल को अपने सहयोग, सहायता और सहानुभूति का आश्वासन दिया। परन्तु कांग्रेस दल अपने निश्चय पर दृढ़ रहा। इसलिए 'अस्थायी मंत्रियों' के युग का प्रारम्भ हुआ। जुलाई सन् १९३७ में कांग्रेस दल ने पद ग्रहण करना स्वीकार कर लिया। यहाँ यह बात ध्यान में रखने की है कि यद्यपि कांग्रेस गवर्नरों से उनके (गवर्नरों के) विशेषाधिकारों के प्रयोग के सम्बन्ध में निश्चित आश्वासन लेने में असफल रही, परन्तु उसके इस कार्य से गवर्नरों पर यह प्रभाव अवश्य पड़ा कि वे प्रान्तीय शासन के सम्बन्ध में अपने विशेषाधिकारों का अधिक प्रयोग न कर सकेंगे। उनके वे अधिकार केवल सुरक्षित अधिकार ही रहेंगे जिनका प्रयोग वे केवल कभी-कभी कर सकेंगे। काँग्रेस दल की इस दृढ़ता और इस विषय पर उसके निश्चित रहने से व्यावहारिक रूप में प्रान्तीय स्वराज्य का स्वप्न सफलीभूत सा दृष्टिगोचर होने लगा।

मन्त्रियों की नियुक्ति गवर्नरों ने अपने विवेकाधिकार द्वारा न कर व्यवस्थापिका सभा में बहुमत वाले दल के नेता की सम्मति से की। बहुमत वाले दल का नेता ही प्रधान अथवा मुख्य मन्त्री निश्चित किया गया यद्यपि एक्ट में इस बात की ओर बिलकुल संकेत नहीं किया गया था। संयुक्त उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को भी स्वीकार किया गया। जुलाई सन् १९३८ में मध्यप्रदेश के गवर्नर ने अपने प्रधान मन्त्री की सम्मति से कुछ मन्त्रियों से त्याग-पत्र देने को कहा, क्योंकि उन मन्त्रियों से प्रधान मन्त्री का मतभेद था। जब मन्त्रियों ने त्याग-पत्र उपस्थित नहीं किया, तब विवश होकर

उसे उन्हें पदस्थ करना पडा। संयुक्त उत्तरदायित्व के इस सिद्धान्त को स्थायी बनाए रखने के हेतु कॉग्रेस मन्त्री बड़े प्रयत्नशील रहे। उन्होंने मन्त्रिमण्डल में उन्हीं व्यक्तियों को लिया जो कॉग्रेस दल के पक्ष के थे और जो संकटपूर्ण अवसरों पर भी अपने दल का आदेश स्वीकार करने को तत्पर थे। गवर्नर यद्यपि मन्त्रि-परिषद् के सभापति का पद ग्रहण करते थे, परन्तु विभाग और कार्य आदि वितरण का कार्य उन्होंने स्वय मन्त्रियों पर ही छोड दिया था। केवल इतना ही नहीं, मन्त्रियो का कार्य-काल व्यवस्थापिका सभा के प्रति विश्वासी रहने पर ही निर्भर था। व्यवस्थापिका सभा के इस विश्वास को गवर्नरों ने प्रान्तीय मन्त्रि-मण्डलों का जीवनदाता स्वीकार कर लिया था। सन् १९३८ मे सिन्ध मे गुलामहुसैन और सन् १९४० मे सिन्ध मे अल्ला-बख्श के मन्त्रिमण्डलो के पतन का कारण व्यवस्थापिका सभा के विश्वास मे कमी होना ही था।

यह स्पष्ट था कि युद्ध के प्रारम्भ होने के साथ ही विधान के निर्माताओं का लक्ष्य यही हो गया कि प्रान्तीय स्वराज्य एक भ्रम मात्र था। यह भी स्पष्ट हो गया कि जिस सीमा तक प्रान्तीय स्वराज्य का स्वप्न सत्य हुआ था वह कॉग्रेस के रूप मे जन्मित राष्ट्रीयता की शक्ति द्वारा ही हुआ था।

कॉग्रेस मन्त्रि-मण्डलों के इस प्रश्न पर कि 'विशेष रूप से भारतवर्ष के सम्बन्ध मे' इस युद्ध का स्पष्ट उद्देश्य क्या था, जब ब्रिटिश सरकार ने कोई निश्चित तथा विश्वस्त उत्तर नहीं दिया तो आठों प्रान्तों के कॉग्रेस मन्त्रि-मण्डलों ने त्याग पत्र दे दिया। उन्हें त्याग पत्र उपस्थित करना पडा, क्योंकि :

(अ) भारतीय जनता अथवा व्यवस्थापिका सभा मे उसके प्रतिनिधियों की सम्मति विना ही भारतवर्ष को युद्ध मे सम्मिलित कर लिया गया था, और

(ब) सन् १९३९ के भारतीय सुरक्षा एक्ट (Defence of India Act of 1939) द्वारा भारत सरकार को वडे व्यापक अधिकार प्रदान कर दिए गए थे, जिन से यह स्पष्ट था कि प्रान्तीय शासन में हस्तक्षेप किया जाएगा।

इसके पश्चात् एक घोषणा द्वारा गवर्नरों ने प्रान्तों का शासन अपने विवेकाधि-कार तथा सिविल सर्विस के कुछ सदस्यों की सम्मति द्वारा करना प्रारम्भ कर दिया। व्यवस्थापिका सभाएँ स्थगित कर दी गईं। प्रान्तीय सरकारों में अब लोकप्रिय अथवा राष्ट्रीय सदस्यों का नाम तक न रहा। अब वह गवर्नर तथा कुछ अन्य पदाधिकारियों की विश्वस्त प्रतिनिधात्मक सरकार थी। कॉग्रेस के त्यागपत्र प्रस्तुत करने के पश्चात्, उन प्रान्तों में भी जहाँ व्यवस्थापिका सभा के प्रति उत्तरदायी लोकप्रिय मन्त्रीगण विना किसी अवरोध के कार्य कर रहे थे, गवर्नर और मन्त्रियो के पारस्परिक सम्बन्ध में यथेष्ट परिवर्त्तन होने लगे थे। इसका दिग्दर्शन अक्तूबर सन् १९४२ मे सिन्ध के मुख्य मन्त्री के पदस्थ किए जाने और मार्च सन् १९४३ मे बगाल के मुख्य मन्त्री के त्याग पत्र

उपस्थित करने में होता है। मन्त्रियों का परिवर्त्तन करने वाली परिस्थितियों और उनके वैधानिक महत्त्व का निर्देशन श्री पारदसानी ने योग्यता पूर्वक निम्न प्रकार से किया है :

"ऐसा ज्ञात होता है कि सितम्बर सन् १९४२ के लगभग सिन्ध के मुख्य मन्त्री स्वर्गीय मिस्टर अल्ला बख्श ने वाइसराय को एक पत्र लिखा था जिसमें उन्होंने ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रदान की गई उपाधियों को त्यागने का उल्लेख किया, और भारतवर्ष के सम्बन्ध में ब्रिटिश सरकार की नीति पर अनेक आरोप लगाए। इस पर, उन्हें वाइसरॉय से निम्नलिखित उत्तर प्राप्त हुआ :

"आपको प्रदान की गई उपाधियों से सम्बन्धित आपका पत्र मैं ने पढ़ा और मुझे यह देखकर अत्यन्त खेद का अनुभव हुआ कि आपने इतनी शीघ्रता तथा इस अशिष्टता के साथ यह बात प्रेस में भी देदी। आपने अपने पत्र में जो सुझाव उपस्थित किए हैं उन्हें मैं स्वीकार नहीं कर सकता क्योंकि आपको यह भली प्रकार ज्ञात हो जाना चाहिए कि वे सुझाव आधार रहित हैं। हमारे निर्णय द्वारा आपके वर्त्तमान पद पर जो प्रभाव पड़ेगा, उसकी सूचना आपको गवर्नर द्वारा प्राप्त होगी।"

१० अक्तूबर सन् १९४२ को मिस्टर अल्ला बख़्श को उनके मुख्य मन्त्री के पद से गवर्नर द्वारा हटा दिया गया। इस का कारण यह बतलाया गया कि अब मिस्टर अल्ला बख्श पर गवर्नर महोदय का विश्वास नहीं रहा। मिस्टर अल्ला बख़्श के हटाए जाने से यह एक और नियम बन गया कि किसी भी मुख्य मन्त्री को, जिसने व्यवस्थापिका सभा का विश्वास न खोया हो, गवर्नर द्वारा पदस्थ किया जा सकता था, और गवर्नर जनरल के पत्र का अर्थ यही था कि उनके 'निर्णय' का 'प्रभाव' यही पदस्थ किया जाना था। प्रथम बात द्वारा व्यवस्थापिका सभा के प्रति मन्त्रियों के सयुक्त उत्तरदायित्व के सिद्धान्त का हनन हुआ, और द्वितीय द्वारा यह स्पष्ट होगया कि अधिक से अधिक महत्त्वपूर्ण परिस्थितियों में भी प्रान्तीय सरकार केन्द्र के आधीन थीं।

बगाल के मुख्य मन्त्री श्री फजलुलहक़ का त्यागपत्र मार्च सन् १९४३ में निम्न प्रकार से उपस्थित करवाया गया था। "मिस्टर फ़जलुलहक़ ने लेजिस्लेटिव एसेम्बली में अपने भाषण में यह प्रकट किया कि समस्त दलों का सयुक्त मन्त्रिमण्डल निर्माण करने के पक्ष में वे अपना पद त्याग सकते हैं। गवर्नर को भी एक पत्र में उन्होंने यह सूचित कर दिया था। इसलिए गवर्नर ने उन्हें बुलाया और उनसे त्यागपत्र उपस्थित करने के लिए कहा। मिस्टर हक़ ने गवर्नर को यह बतलाया कि उनका तात्पर्य तो यह था कि यदि गवर्नर का यह अनुभव हो कि गवर्नर समस्त दलों का मन्त्रिमण्डल निर्माण करने में सफल हो सकेंगे तो वे त्यागपत्र दे देंगे, और जब इस समय इस प्रकार के मन्त्रिमण्डल का निर्माण सम्भव नहीं, तो उनके त्यागपत्र का प्रश्न ही नहीं उठता। गवर्नर महोदय ने कहा कि जब तक मिस्टर हक अपना त्यागपत्र

उपस्थित नहीं कर देंगे तब तक वह (गवर्नर) समस्त दलों के नेताओं से इस प्रका
मन्त्रिमण्डल के निर्माण के लिए कुछ न कह सकेगा, और इसलिए उनका त्याग
उपस्थित करना अत्यन्त आवश्यक था। गवर्नर महोदय ने उन्हें यह आश्वासन f
कि नितान्त आवश्यक होने के अतिरिक्त गवर्नर उनके त्यागपत्र का प्रयोग नहीं क
और यदि आवश्यकता हुई तो इस त्यागपत्र का प्रयोग अन्यदलों के नेताओं को दि
के लिए ही किया जाएगा। गवर्नर महोदय ने उनसे इस बात को गुप्त रखने के
कहा और यह भी कहा कि वह स्वय इस बात को गुप्त रखेंगे। इस बात पर मि
हक्क त्यागपत्र उपस्थित करने के लिए सहमत होगए। लगभग तुरन्त ही गवर्न
उनके सन्मुख एक टाइप किया हुआ पत्र रखा जिसका तात्पर्य था कि मिस्टर हक्क
पद से त्यागपत्र देते है।...... ..उसी दिवस रात को दस बजे मिस्टर हक्क को ग
मेण्ट हाउस से एक पत्र प्राप्त हुआ जिसमें उसे यह सूचित किया गया था कि उ
त्यागपत्र स्वीकार कर लिया गया था।" (माडर्न रिव्यू)

उपर्युक्त विवेचन में जो वैधानिक महत्त्व के विषय अन्तर्हित हैं, वे निम्नलि
हैं। गवर्नर महोदय ने मुख्य मन्त्री से उस समय त्यागपत्र उपस्थित करने के लिए
जब व्यवस्थापिका सभा मे उसका यथेष्ट बहुमत था, गवर्नर महोदय के भवन पर
मन्त्री के हस्ताक्षर के लिए, एक टाइप किया हुआ त्यागपत्र तैयार था; और ग
गवर्नर ने मिस्टर हक का त्यागपत्र नाम मात्र के लिए ही लिया था—केवल इस
कि समस्त दलों का मन्त्रिमण्डल निर्मित किया जा सके, परन्तु इस प्रकार का म
मण्डल निर्माण करने में असफल और अयोग्य होते हुए भी उसने वह त्या
स्वीकार कर लिया। वास्तव मे उसे वैधानिक प्रणाली की असफलता की घोषणा
पड़ी थी, और कई सप्ताह तक समस्त शासन को अपने विवेक के अन्तर्गत सच
करने के लिए उसे विवश होना पड़ा था। इन कई सप्ताहों के पश्चात् ही वह
मण्डल का निर्माण करने में सफल हो सका था।

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य बातें भी थीं। अब गवर्नर स्वय को दृढ़त
स्थिर करने लगे थे। अनेक विषयो के सम्बन्ध में उन्होंने मन्त्रियों की सम्मा
ठुकराया। अपने विशेष उत्तरदायित्वों के आवरण मे प्रान्तीय शासन को उन्होंने
अधिकार मे कर लिया। उदाहरणार्थ सिन्ध के गवर्नर ने बाँध के अन्तर्गत भू
सम्बन्धित मालगुज़ारी को बढ़ा दिया। और इसका कारण उसने यह बतला
लॉयड बाँध (Lloyed Barrage) और नहर योजना के प्रबन्ध के लि
अत्यन्त आवश्यक था; और ऐसा करना उसका एक विशेष उत्तरदायित्व भी था

बाह्य स्वरूप मे भी प्रान्तीय स्वराज्य का महत्व नहीं के बराबर था।
हस्तक्षेप वहाँ सदैव उपस्थित रहता था। सन् १९३८ में जब संयुक्त प्रदेश और
के कॉंग्रेस मन्त्रिमण्डलों ने राजनैतिक बन्दियो को छोड़ने का आयोजन कि

गवर्नर ने यह कह कर इसमें हस्तक्षेप किया कि ऐसा करना देश की शान्ति और सुरक्षा के लिए घातक था। जब युद्ध का प्रारम्भ हुआ तो "ब्रिटिश भारत की रक्षा के लिए, जनसुरक्षा, शान्ति की स्थापना, युद्ध सचालन तथा जनता के जीवन के लिए आवश्यक वस्तुएँ मँगवाने के लिए" केन्द्रीय सरकार ने अनेक विस्तृत और व्यापक अधिकार ग्रहण कर लिए थे। इन व्यापक अधिकारों के प्रयोग के लिए 'भारतीय सुरक्षा नियम' (Defence of India Rules) लागू किए गए। प्रान्तों में भी इन नियमों को लोकप्रिय मन्त्रियों की सम्मति बिना तथा उन्हें सूचित किए बिना ही लागू किया गया। युद्ध के आवरण में ब्रिटिश भारत पर फिर वही निरकुश शासन आरम्भ हो गया, प्रान्तीय सरकारें फिर से केन्द्रीय सरकार की प्रतिनिधि मात्र रह गई, जिनका अपना कोई अस्तित्व नहीं था और केन्द्रीय सरकार के आदेशों का पालन ही जिन का एकमात्र कर्तव्य था। जब प्रान्तीय सरकारें केन्द्र के आधीन ही थीं, तब प्रान्तीय स्वराज्य केवल एक ढोंग के और क्या था ?

काँग्रेस ने प्रान्तीय स्वराज्य के खोखलेपन में कुछ सार भरने की चेष्टा की थी। परन्तु जब काँग्रेस ने त्यागपत्र दे दिया, तब प्रान्तीय स्वराज्य अपने वास्तविक स्वरूप अर्थात् एक निपट ढोंग, एक कल्पित गाथा के रूप में प्रकट हो गया, जो कि वह वास्तव में था भी!

ग्यारहवाँ अध्याय

भारतीय सिविल सर्विस

"इस नवीन विधान को स्थिर रखने वाले स्तम्भ योग्य और ईर्षा करने योग्य नौकरशाही है.... ।"[1]

—सर शफ़ात अहमद खाँ

सन् १९१९ के एक्ट के समान सन् १९३५ के एक्ट के अन्तर्गत भी अनेक सुरक्षाएँ प्रदान की गई थी जिससे कि उत्तरदायी सरकार के हाथों भारतवर्ष में सिविल सर्विस के सदस्यो को हानि न पहुँचे। नवीन वैधानिक व्यवस्था के अन्तर्गत अपनी दशा को दयनीय समझकर इन सदस्यों ने जो प्रार्थना की थी, उसी के परिणामस्वरूप यह व्यवस्था की गई थी।

इन सुरक्षाओं पर ध्यान देने से पूर्व हमें इस सर्विस में भरती होने की प्रणाली पर ध्यान देना चाहिए। एक्ट द्वारा यह निश्चित कर दिया गया था कि इन्डियन सिविल सर्विस, इन्डियन पुलिस, भारत सरकार के सुरक्षित विभाग, इन्डियन मैडीकल सर्विस और इजीनियरिंग विभाग की सिचाई की शाखा के लिए भारत सचिव ही नियुक्तियाँ करेगा। इन पदाधिकारियो के वेतन तथा भत्ते भारतीय आय में से ही दिए जाने को थे। किसी दण्ड विधान, पदस्थ करने अथवा सर्विस की शर्तों मे सशोधन करने वाले किसी आदेश अथवा नियम के विरुद्ध सिविल सर्विस के सदस्यो को यह अधिकार था कि वे परिस्थिति अनुसार गवर्नर, गवर्नर जनरल अथवा भारत सचिव से शिकायत करते थे। १३ अप्रैल सन् १९३७ के पूर्व भारत सचिव द्वारा नियुक्त किए गए पदाधिकारियों को भी इन अधिकारो का भोग करने का अधिकार था। उपर्युक्त पदाधिकारियों के अतिरिक्त सघीय क्षेत्र में कुछ नियुक्तियो करने तथा इनके सम्बन्ध में नियम बनाने का अधिकार भारत सचिव गवर्नर जनरल अथवा किसी अन्य व्यक्ति को सौंप सकता था। प्रान्तीय क्षेत्र मे यह अधिकार गवर्नर को सौंपा जाता था।

सन् १९३५ के एक्ट के अन्तर्गत सिविल सर्विस की सुरक्षा के हेतु जिन सुरक्षाओं की व्यवस्था की गई थी, वे निम्न प्रकार थे :—

---

1 "The sustaining pillars of the new Constitution are an efficient and zealous bureaucracy..... " —Sir Shafaat Ahmad Khan.

(१) विशेष उत्तरदायित्व की सुरक्षा

सन् १९३५ के गवर्नमेण्ट ऑफ़ इण्डिया एक्ट (Government of India Act of 1935) के अन्तर्गत प्रस्तावित सिविल सर्विस के सदस्यों की रक्षा का भार गवर्नर जनरल और गवर्नरों को एक विशेष उत्तरदायित्व के रूप में सौंपा गया था। अल्प दलों के उचित हितों की रक्षा का भार भी गवनर जनरल और गवर्नरों पर था।

(२) न्याय प्रणाली के विरुद्ध सुरक्षा

एक्ट द्वारा यह निश्चित कर दिया गया था कि सघीय सर्विस अथवा प्रान्तीय सरकार के किसी पदाधिकारी द्वारा अधिकृत रूप से किए गए किसी कार्य के सम्बन्ध में उस पर गवर्नर जनरल अथवा गवर्नर की अनुमति विना फौजदारी अथवा दीवानी में किसी प्रकार का क़ानून लागू नहीं किया जा सकता था। यह अनुमति प्रदान करने अथवा न करने का अधिकार गवर्नर जनरल अथवा गवर्नर के विवेकाधिकार पर निर्भर था। फ़ौजदारी प्रणाली के नियमों द्वारा विशेष रूप से सुरक्षित कुछ पदाधिकारियों के सम्बन्ध में गवर्नर जनरल अथवा गवर्नर अपने व्यक्तिगत निर्णय के अन्तर्गत मुकदमे की स्वीकृति प्रदान कर सकता था। सिविल सर्विस के किसी सदस्य द्वारा अधिकृत रूप से किए गए किसी कार्य के सम्बन्ध में हुई हानि अथवा व्यय के लिए यदि उस पर मुकदमा चलाया जाता कि वह उसका भुगतान करे, तो गवर्नर जनरल अथवा गवर्नर यह निश्चित कर सकते थे कि उस हानि अथवा व्यय का आंशिक अथवा पूर्ण भाग सघीय अथवा प्रान्तीय आय में से दे दिया जाए।

(३) सामान्य नियमित सुरक्षाएँ

एक्ट के अन्तर्गत यह प्रस्तावित किया गया था कि :

(अ) किसी ऐसे व्यक्ति को उसके पद से किसी ऐसे पदाधिकारी द्वारा पदस्थ नहीं किया जा सकता था जो उसे नियुक्त करने वाले के आधीन हो;

(ब) सिविल सर्विस के किसी सदस्य के पद को उस समय तक न तो घटाया ही जा सकता था और न उसे पदस्थ ही किया जा सकता था, जब तक कि उसे इस बात का अवसर प्रदान न किया जाए कि उसके विरुद्ध जो बातें हैं उनका वह कोई न्यायसगत आधार उपस्थित कर सके,

(स) १ अप्रैल सन् १९२४ के पूर्व उन पदों पर नियुक्त किए गए व्यक्तियों के, जो पद उच्च घोषित कर दिए गए थे, वेतन तथा भत्ते का भुगतान संघीय अथवा प्रान्तीय आय में से ही किया जाने को था,

(द) शासन सम्बन्धी किसी पद को जो नवीन विधान के प्रान्तीय भाग के प्रवेश होने से पूर्व

(१) केन्द्रीय सर्विस (प्रथम अथवा द्वितीय श्रेणी); अथवा

(२) रेलवे सर्विस (प्रथम अथवा द्वितीय श्रेणी); अथवा

(३) प्रान्तीय सर्विस

में सम्मिलित था, यदि उसके नष्ट होने से सिविल सर्विस के किसी सदस्य को हानि पहुँचती, तो उसे गवर्नर जनरल (केन्द्र से सम्बन्धित) अथवा गवर्नर (प्रान्त से सम्बन्धित) की अनुमति बिना नष्ट नहीं किया जा सकता था;

(क) किसी ऐसे पद के समय से पूर्व नष्ट किए जाने पर, जिस पर कोई विशेष योग्यता वाला व्यक्ति आसीन था और जो भारतवर्ष में सम्राट (Crown) की सिविल सर्विस का स्थायी सदस्य नहीं था, उस व्यक्ति को कुछ धन दिया जाता था जिसका निश्चित करना गवर्नर जनरल अथवा गवर्नर का कार्य था,

(ख) सन् १६३५ के एक्ट के लागू होने के पूर्व से ही कार्य करने वाले सिविल सर्विस के किसी सदस्य के पद पर प्रभाव डालने वाला कोई आदेश किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा ही प्रदान किया जा सकता था जो ८ मार्च सन् १६२६ को इस प्रकार का आदेश प्रदान करने का अधिकारी होता, अथवा जिसे भारत सचिव द्वारा यह अधिकार प्रदान कर दिया गया था; परन्तु इसके विरुद्ध अपील भी की जा सकती थी, और

(ग) अधिकृत रूप से कार्य करने वाले सिविल सर्विस के किसी सदस्य से सम्बन्धित कोई कार्य यदि भारत सचिव अथवा गवर्नर जनरल अथवा गवर्नर को न्यायपूर्ण तथा न्यायसंगत प्रतीत हो तो वे उस सम्बन्ध में कार्य कर सकते थे। उनके इस अधिकार पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं था।

(४) भारत सचिव द्वारा नियुक्त किए गए व्यक्तियों के सम्बन्ध में विशेष नियमित सुरक्षाएँ

इस सम्बन्ध में एक्ट के अन्तर्गत यह प्रस्तावित किया गया था कि :

(अ) इन पदाधिकारियों को दिए जाने वाले वेतन, भत्ता और वृत्ति संघीय अथवा प्रान्तीय आय में से दिए जाएँगे,

(ब) इन पदाधिकारियों के वेतन तथा भत्ते के विरोध में किसी प्रकार के नियमों का निर्माण नहीं किया जा सकेगा;

(स) इन पदाधिकारियों की उन्नति, छुट्टी (कम से कम तीन मास की), आदि का निश्चय गवर्नर जनरल अथवा गवर्नर अपने व्यक्तिगत निर्णय के अन्तर्गत करेंगे;

(द) यदि किसी पदाधिकारी के पद पर अनुचित प्रभाव डालने वाला कोई आदेश लागू हो, तो उस सम्बन्ध में वह गवर्नर जनरल अथवा गवर्नर से उसकी शिकायत कर सकता था;

(क) इन पदाधिकारियों को दण्डित करने, उनके वेतन भत्ते तथा वृत्ति के अधिकार को कम करने के सम्बन्ध में नियम बनाने का अधिकार केवल गवर्नर जनरल और गवर्नर को ही होगा, जो इन नियमों का निर्माण व्यक्तिगत निर्णय के अन्तर्गत करेंगे। गवर्नर जनरल अथवा गवर्नर के इस प्रकार के नियम अथवा आदेशों के विरुद्ध भारत सचिव से अपील की जा सकती थी,

(ख) यदि सिविल सर्विस के किसी सदस्य की सर्विस की शर्तों पर अनुचित आघात पहुँचा हो, अथवा यदि किसी अन्य कारणवश भारत सचिव को यह प्रतीत हो कि उस सदस्य को कुछ धन प्रदान करना चाहिए, तो वह (भारत सचिव) उस सदस्य के लिए कुछ धन स्वीकृत कर सकता था। इस धन का परिमाण भारत सचिव ही निश्चित करता था।

आलोचनात्मक निरीक्षण

उपर्युक्त सुरक्षाओं की आलोचना रूप में सर तेज बहादुर सप्रू के संस्मरण से यह अंश उद्धृत किया जा सकता है :—

"शासन के एक विशाल क्षेत्र में प्रान्तीय स्वराज्य तथा केन्द्रीय शासन में उत्तरदायित्व करना और फिर सिविल सर्विस के सदस्यों की भरती और उन पर नियन्त्रण रखने के अधिकार को छीन लेने का—निःसन्देह इसमें उनके हितों की यथेष्ट और प्रभावपूर्ण सुरक्षाएँ भी थीं—तात्पर्य केवल उत्तरदायित्व के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंश को समाप्त करना ही नहीं है, बल्कि इससे भारतीय व्यवस्थापिका सभा और मन्त्रियों और सर्विस के सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों पर भी अनुचित प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी है। इसके अतिरिक्त भविष्य की भारतीय व्यवस्थापिका सभा व्यय में प्रत्येक प्रकार की कमी करने की चेष्टा करेगी; और इसके लिए मुझे कोई उपयुक्त तर्क दृष्टिगोचर नहीं होता कि भविष्य में बनने वाली भारत सरकार भविष्य में नियुक्तियाँ करते समय भारत सचिव द्वारा निश्चित वेतन आदि के नियम को स्वीकार करने के लिए क्यों विवश की जाए ?"

पब्लिक सर्विस कमीशन

एक्ट द्वारा एक संघीय पब्लिक सर्विस कमीशन और एक प्रान्तीय पब्लिक सर्विस कमीशन की स्थापना की व्यवस्था की गई। एक्ट के अन्तर्गत यह भी प्रस्तावित किया गया था कि दो अथवा दो से अधिक प्रान्त मिल कर एक कमीशन की नियुक्ति कर सकते थे। इन कमीशनों का कार्य था संघ और प्रान्तीय सर्विस में की जाने वाली नियुक्तियों के लिए परीक्षा की व्यवस्था करना। यदि दो अथवा दो से अधिक प्रान्त संघीय कमीशन से इस बात की प्रार्थना करते तो संघीय कमीशन किसी विशेष पद के लिए विशेष योग्यता वाले व्यक्तियों की परीक्षा भी कर सकता था। जिन पदों पर भारत

सचिव अथवा गवर्नर जनरल अथवा गवर्नर नियुक्तियाँ करते थे, और जिनके सम्बन्ध में कमीशन की सम्मति लेना आवश्यक न था, उन पदों के सम्बन्ध में नियमों का निर्माण भी यहीं करते थे। इस प्रकार के नियमों का निर्माण गवर्नर जनरल तथा गवर्नर अपने विवेक के अन्तर्गत करते थे। संघ और प्रान्तों में सम्प्रदायों में नियुक्ति और पदों के प्रदान करने की प्रणाली, अथवा किसी दुर्घटना के फलस्वरूप धन प्रदान करने अथवा वृत्ति के अतिरिक्त भारतवर्ष की पुलिस के निम्न पदाधिकारियों से सम्बन्धित विषयों के सम्बन्ध में कमीशनों से परामर्श करना आवश्यक नहीं था। इन विषयों के अतिरिक्त निम्न लिखित विषयों के सम्बन्ध में कमीशन से परामर्श लिया जाता था :—

(१) सिविल सर्विस सम्बन्धी पदों की भरती की समस्त प्रणालियों के सम्बन्ध में,

(२) निम्नलिखित के प्रति सिद्धान्तों के सम्बन्ध में

(अ) सिविल सर्विस के सदस्यों की नियुक्ति, उन्नति और तबादले के सम्बन्ध में,

(ब) उम्मेदवारों की योग्यता निश्चित करने के सम्बन्ध में;

(३) सिविल सर्विस के सदस्यों के अनुशासन सम्बन्धी विषयों के सम्बन्ध में;

(४) सिविल सर्विस के किसी सदस्य द्वारा अधिकृत रूप से किए गए किसी कार्य के सम्बन्ध में हुई हानि अथवा व्यय के सम्बन्ध में धन की स्वीकृति के लिए। इसके विपरीत इस हानि अथवा व्यय का भुगतान उस सदस्य को ही करना पड़ता।
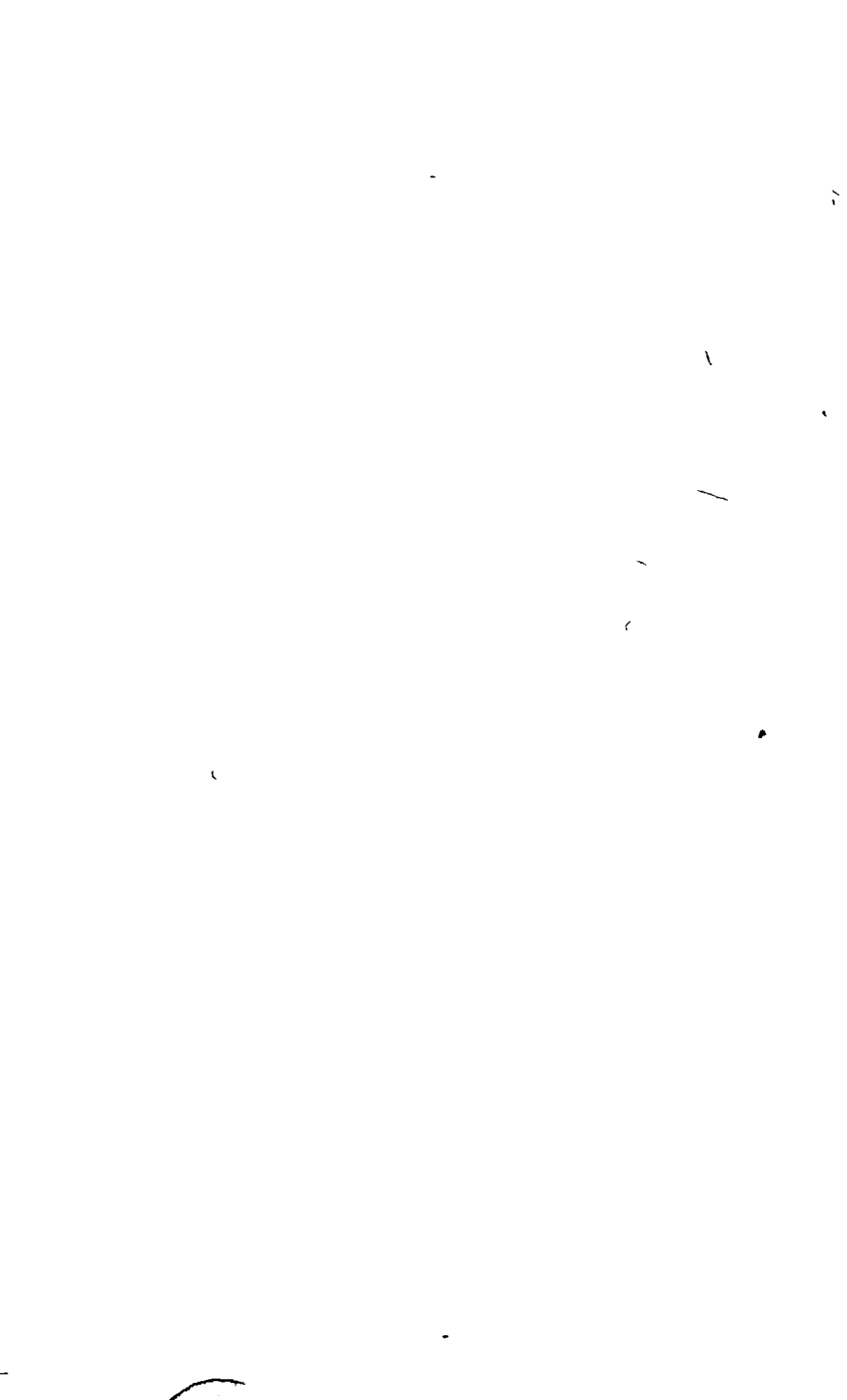
चतुर्थ खण्ड

भारतवर्ष का नवीन विधान

पहला अध्याय

प्रान्तीय स्वराज्य से स्वतन्त्रता तक

"हमारे शासकों के मस्तिष्क में यह बात एक दुर्दम सिद्धान्त के रूप में स्थिर होगई है कि भारतीयों के निवास करने के घरों का निर्माण परात्पर स्वरूप अंगरेजों को ही करना चाहिए। हमारे सिविल सर्विस के कर्मचारी उसका स्वरूप निश्चित करेंगे। हमारी पार्लियामेंट प्रस्ताव की प्रत्येक धारा पर वाद विवाद करेगी......। अब प्रकाश में इस जाग्रत राष्ट्र के सम्बन्ध मे विधाता समान व्यवहार करना असम्भव है।" [1] —ब्रेल्सफोर्ड

सन् १९३५ का गवर्नमेण्ट ऑफ़ इण्डिया एक्ट (Government of India Act of 1935), जिसकी व्याख्या श्री नेहरू ने 'दासता का एक नवीन आज्ञापत्र' कह कर की थी, अप्रैल सन् १९३७ में अनिच्छित और विरोधी भारतवर्ष पर लाद दिया गया। इस एक्ट का प्रान्तीय भाग ही कार्य रूप मे परिणत किया गया था, संघ का उद्‌घाटन अभी नहीं हुआ था। युद्ध संकट ने भारतीयों को यह शीघ्र ही स्पष्ट कर दिया कि प्रान्तीय स्वराज्य अधिक से अधिक एक काल्पनिक एव भ्रमित वास्तविकता थी, जिसका उद्देश्य भारतीयों को मोहित कर छलना ही था जिससे कि वे स्वतन्त्रता और स्वराज्य के मार्ग पर अग्रसर होने से रुक जाएँ। माया जाल से दूर रहने वाले तथा जाग्रत भारतीय उस समय तक लड़ते रहे जब तक कि भारतवर्ष स्वतन्त्र न हो गया—परन्तु हुआ केवल विभाजित होकर ही। प्रान्तीय स्वराज्य और पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति के मध्य के युग में अंगरेज़ों ने भारतवर्ष के वैधानिक विकास (नाममात्र के लिए ही कहे जाने वाले) के लिए कुछ योजनाएँ प्रस्तावित कर यह चेष्टा की कि भारतवासी साम्राज्य शाही की आधीनता में ही रहें। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रस्ताव अथवा योजनाएँ उल्लेखनीय हैं :

---

1. "It is fixed as an obstinate principle in our rulers' minds that God's Englishmen must shape the house in which Indians are to live. Our Civil Servants will do the drafting. Our Parliament clause by clause will debate the bill ...... It is too late in the day for us to play Providence to this awakened Nation" —Brailsford.

(१) क्रिप्स प्रस्ताव, [1]
(२) वैवल योजना, [2]
(३) केबिनेट मिशन योजना, [3] और
(४) माउन्टबेटन व्यवस्था। [4]

निम्न पृष्ठों में अब इन विभिन्न प्रस्तावों का पृथक रूप से विवेचन किया जाएगा।

(१) क्रिप्स प्रस्ताव

द्वितीय महायुद्ध के घोर झंझावात में ग्रेट ब्रिटेन का भविष्य बड़ा अंधकारमय था। उसका सितारा बुलन्दी पर न होकर गर्त्त की ओर अग्रसर हो रहा था। युद्ध सकट के समय में अँगरेज़ों को भारतवर्ष की सहायता का महत्त्व अनुभव हुआ। इस प्रकार ११ मार्च सन् १९४२ को चर्चिल महोदय को यह स्वीकार करना ही पड़ा·

"हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि भारतवर्ष ही एक ऐसा आधार है जिसके द्वारा अनाचार और अत्याचार की वृद्धि पर दृढ और सुगठित प्रतिघात लगाए जा सकते है।"

परन्तु भारतवासियों को, जैसा कि मिस्टर नेहरू ते कहा था "एक ऐसे युद्ध के प्रति किस प्रकार उत्साहित किया जाए जो उनका नहीं था।" वास्तव में यह एक बड़ी विकट समस्या थी। इसी समस्या को हल करने के लिए मिस्टर क्रिप्स भारतवर्ष आए और अपने साथ "एक ऐसी हुँडी लाए जिसका समय व्यतीत हो चुका था और जो एक ऐसे बैंक के नाम थी जो स्वय अपने जीवन की अन्तिम घड़ियाँ गिन रहा था।" मिस्टर क्रिप्स ने यह "वचन दिया कि भारतवर्ष में कुछ और वैधानिक विकास किया जाएगा जिससे तुरन्त ही युद्ध में उसकी सहायता प्राप्त हो सके।" इस प्रकार मिशन का प्रथम और अनन्तरित उद्देश्य भारतवर्ष के समस्त दलों का एक प्रकार का संगठन प्राप्त कर के युद्ध में उसकी सहायता प्राप्त करना था, वैधानिक योजना तो प्राथमिक रूप से उसी लक्ष्य का एक साधन मात्र थी।

मिस्टर क्रिप्स द्वारा जो प्रणाली प्रारम्भ की गई थी, उसका आरम्भ एक दम नहीं हुआ था। इसकी स्थापना उस समय की गई जब भारतीयों को दबाव आदि से जीतने के समस्त प्रयत्न निष्फल रहे। जिन परिस्थितियों के वशीभूत क्रिप्स प्रस्ताव ने जन्म ग्रहण किया था, उनके निम्नलिखित विवेचन से यह भली भाँति स्पष्ट होजाएगा —

1. The Cripps Proposals
2 The Wavel Plan
3 The Cabinet Mission's Plan
4 The Mountbatten Settlement

(अ) युद्ध के प्रति समस्त दलों की उदासीनता

द्वितीय महायुद्ध में अँगरेज़ सरकार ने उसी नीति का अनुसरण करना चाहा जो सन् १९१४ में प्रचलित की गई थी। युद्ध घोषणा के पश्चात के कुछ ही घंटों में ब्रिटिश सरकार ने भारतवर्ष को भी युद्ध में सम्मिलित घोषित कर दिया, यद्यपि भारतवर्ष की जनता अथवा उसके प्रतिनिधियों से इस सम्बन्ध में कोई परामर्श नहीं किया गया था। इस प्रकार एक बार फिर, जैसा कि पामदत्त ने कहा है, "भारतवासी ब्रिटिश सरकार द्वारा एक ऐसे युद्ध में खदेड़े जाने को थे जिसके आरम्भ करने में उसकी कोई इच्छा नहीं थी और जिसके प्रति उन्होंने सतत विरोध प्रदर्शित किया था।" परन्तु शीघ्र ही यह प्रकट हो गया कि अँगरेज़ इतिहास को व्यर्थ दोहराने की चेष्टा कर रहे थे। १४ सितम्बर को अखिल भारतीय कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति ने यह निर्णय किया कि "यह समिति इस प्रकार के युद्ध में न तो भाग ही ले सकती है और न किसी प्रकार की सहायता ही प्रदान कर सकती है, जिसका संचालन भारतवर्ष तथा अन्य स्थानों पर साम्राज्यशाही के पदचिन्हों पर किया जा रहा है।" इस प्रकार महान असन्तुष्टि का प्रारम्भ हुआ, अन्त में जिसका फल क्रिप्स प्रस्ताव का पदार्पण ही हुआ। उस समय यह परिस्थिति और भी अधिक संकटपूर्ण हो गई जब भारतवर्ष में समस्त राजनैतिक दलों—कांग्रेस, मुस्लिम लीग, महासभा, उदार दल आदि ने एक मत होकर यह निर्णय किया कि अपने लक्ष्य की प्राप्ति हमें पहले होनी चाहिए, उस के पश्चात् ही हम युद्ध में सहयोग प्रदान करेंगे। युद्ध के प्रति समस्त दलों की इस घृणा ने ही मिस्टर क्रिप्स को, भारतवर्ष आने पर विवश किया।

(ब) अटलान्टिक चार्टर में भारतवर्ष का बहिष्कार

अगस्त सन् १९४१ में अटलान्टिक चार्टर की घोषणा की गई जिसमें ब्रिटिश और अमरीका की सरकार ने यह प्रतिज्ञा की कि "जिन सरकारों के अन्तर्गत अन्य देशों के व्यक्ति रहते हैं उन सरकारों का स्वरूप निश्चित करने के उनके अधिकारों की रक्षा की जायगी।" इस सम्बन्ध में यह भी घोषित किया गया कि उनकी इच्छा यही है कि "जिन देशों से सत्ता और स्वराज्य के अधिकार ज़बरदस्ती छीन लिए गए हैं वे उन्हें फिर से मिल जाएँ।" परन्तु ९ सितम्बर सन् १९४१ को प्रधान मन्त्री मिस्टर चर्चिल ने इँग्लैंड की सरकार के अध्यक्ष के रूप में यह घोषणा की कि "राजनैतिक निस्तार और स्वराज्य" (Political Emancipation and Self Government) के इस अधिकार-पत्र में भारतवर्ष, बर्मा तथा साम्राज्य के अन्य भाग सम्मिलित नहीं है। इस बात से अँगरेज़ों के प्रति विरोध की भावना में और भी वृद्धि हुई।

(स) बारदोलाई प्रस्ताव

दिसम्बर सन् १९४१ में ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस के मुख्य नेताओं को मुक्त कर दिया। परिणाम स्वरूप अखिल भारतीय काँग्रेस ने बारदोलाई प्रस्ताव पास किया,

जिसमें यह घोषणा की गई कि "यदि भारतवर्ष को राष्ट्रीय सरकार के अन्तर्गत रखा जाए" तो भारतवर्ष "एक्सिस शक्ति" (Axis Power) के विरुद्ध, संयुक्त राष्ट्रों (United Nations) के सहायक के रूप में सशस्त्र सहायता प्रदान करेगा। इस प्रस्ताव के सम्बन्ध में टाइम्स ऑफ इण्डिया ने लिखा था "यह प्रस्ताव ब्रिटिश सरकार के साथ समझौते का द्वार फिर से खोल देता है, और इस प्रकार (इस प्रस्ताव द्वारा) महत्वपूर्ण क़दम उठाया गया है, आशा है यह अनुग्रह दूसरी ओर से भी पूर्ण किया जायगा।"[1] कॉंग्रेस के इस संशोधित व्यवहार ने अँगरेज़ों को मिस्टर क्रिप्स द्वारा भारतवर्ष का सहयोग प्राप्त करने का उत्साह अवश्य प्रदान किया होगा।

(द) अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियों की गति

कुछ अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियों ने भी भारतवर्ष की स्वराज्य की माँग का समर्थन किया। फरवरी सन् १९४२ में च्यॉग-काई-शेक भारतवर्ष पधारे। उन्होंने अपना मत प्रकट किया कि जितनी शीघ्रता पूर्वक हो सके भारतीयों को राजनैतिक शक्ति प्रदान कर दी जानी चाहिए जिससे कि वे भी युद्ध में अधिक उत्साह के साथ भाग ले सकें। आस्ट्रेलिया के विदेशी विभाग के मन्त्री ने भी यह कहा था कि "हमें भारतीयों की उच्च आकांक्षाओं के प्रति सहानुभूति है कि वे भी एक स्व-शासित राष्ट्र का स्वरूप ग्रहण करना चाहते हैं, और इस प्रकार एशिया में मित्रराष्ट्र के प्रयोजन की रक्षा करना चाहते हैं।"[2] २२ फरवरी सन् १९४२ को प्रेसीडेन्ट रूज़वेल्ट ने यह घोषणा की कि अटलान्टिक चार्टर का सम्बन्ध समस्त विश्व से था। भारतवर्ष की स्वतन्त्रता के समर्थन में उन्होंने ब्रिटिश सरकार को भी लिखा। क्रिप्स योजना के निर्माण में इस प्रकार निर्मित अन्तर्राष्ट्रीय मत का भी हाथ था।

(क) जापानी प्रगति का दबाव

रगून में जापानियों का प्रवेश भारतवर्ष में मिस्टर क्रिप्स के आगमन का अनन्तरित कारण था। ऐसा प्रतीत होता था कि जापानी, जिन्होंने इतनी शीघ्रता से मलाया और बर्मा को हस्तगत कर लिया था, शीघ्र ही बगाल और मदरास को भी अपने अधिकार में कर लेंगे। टोकियो रेडियो से प्रतिदिन यह घोषित किया जाता था कि

---

[1] "The resolution reopens the door to agreement with the British Government, thereby giving a valuable lead, which we hope will be reciprocated"
—Times of India

[2] "We sympathise with the aspirations of the Indian people to become one of the Self-governing nations and as such to take part in the defence of the Allied cause in Asia
—The Australian Foreign Minister.

बौद्ध धर्म के कारण जापानियो और भारतवासियो का सम्बन्ध अटूट है, और वे (जापानी) भारतीयो को मुक्त करने के लिए ही अग्रसर हो रहे हैं। यदि भारतवासी इन कथनों पर विश्वास भी नहीं करते तो इतना विश्वास तो उनको हो चला था कि ब्रिटिश साम्राज्य का सूर्य अस्त हो रहा था। इसलिए उन्होंने (भारतवासियो ने) इंग्लैंड को सहायता प्रदान न करना ही बुद्धिमत्ता समझा, क्योंकि इससे जापान के असन्तुष्ट हो जाने का भय था। परिणाम स्वरूप जब ८ मार्च को रगून भी हाथ से निकल गया, तो ११ मार्च सन् १९४२ को ही क्रिप्स मिशन की घोषणा कर दी गई।

क्रिप्स योजना

क्रिप्स योजना मे निम्नलिखित धाराएं प्रस्तावित की गई थीं :—

(अ) इस योजना द्वारा नवीन भारतीय सघ के लिए औपनिवेशिक स्तर प्रदान किया गया, जिसे यह अधिकार होगा कि यदि वह चाहे तो ब्रिटिश कॉमनवैल्थ से पृथक् हो जाए।

(ब) युद्ध के पश्चात भारतवर्ष मे एक निर्वाचित विधान सभा की स्थापना की जाएगी।

(स) उक्त संस्था मे देशी राज्यों के प्रवेश के लिए कुछ नियम निश्चित कर दिए जाएँगे।

(द) इस प्रकार निर्मित किए गए विधान को ब्रिटिश सरकार स्वीकार कर लेगी।

(क) ब्रिटिश भारत के प्रत्येक प्रान्त तथा प्रत्येक देशीराज्य को सघ से पृथक रहने अथवा उसमे सम्मिलित रहने की पूर्ण स्वतन्त्रता होगी। उसे यह भी अधिकार होगा कि यदि वह चाहे तो एक पृथक उपनिवेश के रूप में अपना विधान स्वय निश्चित करले।

(ख) यदि भारतीय नेताओं ने कोई अन्य प्रणाली उपस्थित न की तो विधान निर्माण करने वाली सभा की रचना निम्न प्रकार से होगी :—

(१) युद्ध के पश्चात् प्रान्तीय चुनावों की व्यवस्था की जाएगी। प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं के इस प्रकार निर्वाचित प्रथम भवनों के सदस्य विधान निर्माण करने वाली सभा का निर्वाचन करेंगे; निर्वाचन की विधि अनुरूप प्रतिनिधित्व की विधि होगी। विधान निर्माण करने वाली यह सभा प्रान्तीय प्रथम भवनों का लगभग $\frac{1}{10}$ भाग होगी।

(२) ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों के समान ही, अपनी समस्त जन-सख्या के अनुपात से ही देशी राज्य अपने प्रतिनिधियों की नियुक्ति करेंगे।

(ग) अधिकार के हस्तान्तरित होने और जातीय तथा आर्थिक अल्पदलों की रक्षा के सम्बन्ध में विधान निर्माण करने वाली संस्था ब्रिटिश सरकार से एक सन्धि करेगी।

(घ) युद्ध की समाप्ति तक भारतवर्ष की रक्षा का भार ब्रिटिश सरकार पर रहेगा। परन्तु ब्रिटिश सरकार की "यह इच्छा थी कि उनके देश, कॉमनवैल्थ और संयुक्त राष्ट्रों में भारतवासियों के मुख्य वर्गों के नेता अनन्तरित और प्रभावपूर्ण भाग लें।" इसके लिए उन्हें आमन्त्रित भी किया गया।

मिशन की असफलता

भारतवर्ष में समस्त राजनैतिक दलों ने मिस्टर क्रिप्स के प्रस्तावों को विभिन्न आधारों पर अस्वीकृत कर दिया।

कॉंग्रेस ने इस प्रस्ताव को निम्नलिखित आधारों पर अस्वीकृत किया —

(१) इस योजना में भारतवर्ष की स्वतंत्रता के प्रश्न को टाल दिया गया जिसे कॉंग्रेस सबसे प्रथम हल करना चाहती थी। क्रिप्स योजना में एक ऐसा वचन प्रदान किया गया था जिस की पूर्ति उसी समय न होकर भविष्य में होने वाली थी। और इस आश्वासन को कॉंग्रेस के नेता भविष्य के लिए नहीं चाहते थे।

(२) भारतीय संघ में प्रान्तों के सम्मिलित होने न होने का प्रश्न निःसन्देह यदि प्रत्यक्ष प्रोत्साहन नहीं, तो कम से कम पाकिस्तान की माँग की स्पष्ट स्वीकृति था।

(३) इस प्रस्ताव द्वारा देशी राज्यों के लाखों व्यक्तियों की ओर से मुँह फेर लिया गया, जिन्हें भारतवर्ष के संघ के विधान के निर्माण में कोई भाग प्रदान नहीं किया गया था।

(४) रक्षा सम्बन्धी व्यवस्था स्वीकार करने योग्य न थी। कॉंग्रेस के इस दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए श्री जवाहरलाल नेहरू ने अपनी पुस्तक "डिसकवरी आफ़ इन्डिया" (Discovery of India) में लिखा है कि अपनी अन्तिम अवस्था में योजना का यही तात्पर्य था कि "शासन का वर्तमान क्रम निश्चित रूप से पूर्व के समान ही रहेगा, वाइसराय के निरकुंश अधिकार भी रहेंगे, और हम में से कुछ व्यक्ति उसके अनुकरणकर्ता कर्मचारी ही बन सकेंगे, और सैनिक भोजनालय आदि की चौकसी कर सकेंगे।" [1]

---

1 "The existing structure of Government would continue exactly as before, the autocratic powers of the Viceroy would remain, and a few of us could become his liveried camp-followers and look after canteens and the like"

—Sri Jawaharlal Nehru

मुस्लिम लीग ने "अस्पष्ट रूप से पाकिस्तान की स्वीकृति" पर अपना संतोष प्रकट किया। परन्तु साथ ही साथ लीग ने यह भी घोषित किया कि प्रान्तों को सम्मिलित न होने का जो अधिकार प्रदान किया गया है वह अपूर्ण है। यह भी कहा गया कि सम्पूर्ण भारतवर्ष के लिए विधान निर्माण करने वाली एक ही संस्था में मुसलमान भाग नहीं ले सकेंगे क्योंकि ऐसा करना पाकिस्तान की माँग के ही विरोध में होगा।

हिन्दू महासभा ने यह कह कर कि "भारतवर्ष अखण्ड और अविभाजित है" प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया।

उदारदल के दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए सर तेजबहादुर सप्रू ने कहा था :

"एक से अधिक संघों की उद्भावना. . देश के महत्वपूर्ण हितों" तथा उसकी सुरक्षा और स्थिरता "के लिए घातक सिद्ध होगी।"

(२) वैवल योजना

गवर्नर जनरल लॉर्ड वैवल के शासनकाल में, १४ जून सन् १९४५ को तत्कालीन भारत सचिव मिस्टर एमरी (Mr. Amery) ने यह प्रस्ताव रखा कि गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी समिति का पुनर्निर्माण किया जाए, और उसके समस्त सदस्य (गवर्नर जनरल और प्रधान सेनापति के अतिरिक्त) भारतीय राजनैतिक नेता हों। हिन्दू और मुसलमान, दोनों जातियों को समान प्रतिनिधित्व प्रदान करने की व्यवस्था की गई। विदेशी विभाग (सीमान्त और असभ्य प्रदेशों से सम्बन्धित विषयों के अतिरिक्त) गवर्नर जनरल के हाथों से लेकर एक भारतीय सदस्य को देने की व्यवस्था की गई। मिस्टर एमरी ने यह आशा प्रकट की कि केन्द्र के सहयोग द्वारा यह सम्भव है कि मुख्य दलों की सयुक्तता के आधार पर उन प्रान्तों में जिनमें सन् १९३५ के एक्ट की धारा ९३ के अनुसार प्रान्तीय स्वराज्य समाप्त कर दिया गया था, की पुन: स्थापना की जा सके। इन परिवर्तनों से "भारतवर्ष के लिए भविष्य में बनने वाले विधान अथवा विधानों का सारभूत स्वरूप अविचारपूर्वक अथवा समय से पूर्व ही निश्चित नहीं किया जा सकता था।"

उपर्युक्त वैवल योजना निश्चित रूप से क्रिप्स योजना से कहीं अधिक समुन्नत थी क्योंकि इसमें कार्यकारिणी समिति के भारतीयकरण का आयोजन था। फिर भी इसमें भी पाकिस्तान की माँग को स्थान प्रदान किया गया था, क्योंकि इसके द्वारा भारतवर्ष के लिए दो विधानों की सम्भावना थी।

लार्ड वैवल ने शिमला में भिन्न-भिन्न दलों के नेताओं का एक सम्मेलन किया और उन्हें उपर्युक्त योजना को समझाते हुए उन्होंने कार्यकारिणी समिति में लिए जाने वाले व्यक्तियों के नाम आमंत्रित किए। कॉंग्रेस की ओर से मौलाना आज़ाद ने समस्त

व्यक्तियों की एक पूर्ण सूची उपस्थित की जिसमें मुख्य दलों के प्रतिनिधियों के नाम भी सम्मिलित थे :—

३ कॉंग्रेसी हिन्दू, २ कॉंग्रेसी मुसलमान, ३ लीगी मुसलमान आदि। उनका मत था कि सिद्धान्त के अनुसार सूची में दो कॉंग्रेसी मुसलमानों के नाम भी सम्मिलित होने चाहिए। एक राष्ट्रीय संस्था के नाते कॉंग्रेस किसी भी ऐसी व्यवस्था से सहमत नहीं हो सकती थी—भले ही वह अस्थाई ही क्यों न हो—जो उसके राष्ट्रीय स्वरूप पर आघात पहुँचाती हो। मिस्टर जिन्ना ने इस दृष्टिकोण का विरोध किया। इस आश्वासन के बिना उन्होंने सूची देने से मना कर दिया कि कार्यकारिणी समिति के समस्त मुसलमान सदस्य लीगी ही होंगे। १४ जुलाई सन् १९४५ को लार्ड वैवल ने सम्मेलन की समाप्ति की घोषणा की। मौलाना आजाद ने यह घोषणा की कि वाइसरॉय ने देश की प्रगति को आश्रय देने के लिए लीग को स्वतंत्रता प्रदान कर दी थी। मिस्टर जिन्ना ने इस योजना की निन्दा एक ऐसे "जाल अथवा फन्दे से की जो पंजाब के समस्त मुसलमानों को छिन्न-भिन्न करने पर उतारू थी।"

(३) कैबिनेट मिशन योजना

१९ फरवरी सन् १९४६ को ब्रिटेन की मजदूर सरकार ने यह घोषणा की कि तत्कालीन भारत सचिव लॉर्ड पैथिक लारेन्स (Lord Pethick Lawrence), सर स्टेफ़र्ड क्रिप्स (Sir Stafford Cripps) और मिस्टर ए वी अलेक्ज़ेन्डर (Mr. A V Alexander)—मन्त्रि-मण्डल के इन तीन सदस्यों का एक मिशन भारतवर्ष भेजा जाएगा। भारतवर्ष की सन् १९४२ की गौरवपूर्ण क्रान्ति के पश्चात् ब्रिटिश सरकार द्वारा राजनैतिक सुधार की जितनी भी योजनाएँ प्रस्तुत की गई थीं, वे सब विवशता से ही, और इसकी सफलता का सेहरा भारतवर्ष के राष्ट्रीय आन्दोलन को ही है। केबिनेट मिशन योजना को जन्म देने वाली परिस्थितियों का विवेचन संक्षेप में निम्न प्रकार से किया जा सकता है —

(अ) द्वितीय महायुद्ध

द्वितीए महायुद्ध से ब्रिटेन की शक्ति विश्व में गौण हो गई और इस कारण साम्राज्यशाही को स्थिर रखने की पूर्व की शक्ति उसमें न रही, और उन्हें भारतीयों के प्रतिपल अग्रसर होते हुए राष्ट्रीय आन्दोलन के सन्मुख झुकना पड़ा।

(ब) आज़ाद हिन्द सेना

आजाद हिन्द सेना के वीरों पर लाल क़िले में होने वाले मुकदमे ने जनमत को भी आकृष्ट किया। इस ऐतिहासिक घटना ने, जिसके द्वारा भारतवर्ष अपने देश-भक्त योद्धाओं के प्रति श्रद्धा और प्रेम के कारण उठ खड़ा हुआ था, कॉंग्रेस को और भी लोकप्रिय बना दिया, क्योंकि कॉंग्रेस ने आजाद हिन्द सेना के वीर सैनिकों के सिद्धांतों

से स्वय का समीकरण कर लिया था। इस घटना से भी अँगरेज़ों को भारत की राष्ट्रीयता की शक्ति का अनुभव हुआ।

(स) राजकीय भारतीय नौसेना का विद्रोह

केबिनेट मिशन के आगमन का एक अन्य मुख्य कारण था नौ सेना और वायु सेना में क्षोभ और विद्रोह की भावना का विकास। अब तक सरकार को निःशस्त्र भारतीयों का सामना ही करना पडा था परन्तु सन् १९४६ में राजकीय भारतीय नौसेना (Royal Indian Navy) ने उपद्रव का झन्डा खडा कर दिया। यह उपद्रव १८ फरवरी को तलवार ट्रेनिंग स्कूल मे आरम्भ हुआ। इसका कारण थीं कुछ ऐसी शिकायतें जिनकी सुनवाई नही हुई थी। इस उपद्रव के मुख्य केन्द्र बम्बई, मद्रास और करॉची थे। "ब्रिटिश साम्राज्यशाही को नष्ट करो"—यह आवाज़ प्रथम बार सम्राट (His Majesty) की राजकीय भारतीय नौसेना से सुनी गई। कॉंग्रेस और मुसलमान नेताओं के प्रार्थना करने पर यह उपद्रव स्थगित कर दिया गया, और वह भी यह कह कर कि "हम ब्रिटेन के नहीं भारतवर्ष के सन्मुख झुकते है।" भारतवर्ष मे ब्रिटिश साम्राज्यशाही का मुख्य आधार सेना ही थी। जब ब्रिटिश सरकार को सेनाओं की भक्ति पर ही विश्वास नही रहा तब भारतीयों को अधिकार हस्तान्तरित करने के अतिरिक्त उनके पास कोई अन्य साधन नहीं था।

केबिनेट मिशन योजना

केबिनेट मिशन ने यह चेष्टा की कि कॉंग्रेस और लीग में समझौता हो जाए। परन्तु जब यह प्रयत्न निष्फल सिद्ध हुआ तब केबिनेट मिशन ने १६ मई सन् १९४६ को अपनी योजना घोषित कर दी, जो निम्न प्रकार से थी :—

(क) भविष्य गत विधान के प्रति कुछ सम्मतियाँ

(१) भारतवर्ष को एक सघ होना चाहिए, जिसमे ब्रिटिश भारत और देशी राज्य दोनों ही होंगे और जो विदेश, रक्षा तथा यातायात सम्बन्धी विषयों का शासन भार सभालेंगे। इन विषयों के सन्बन्ध में उन्हे धन प्राप्त करने का अधिकार होगा।

(२) 'सघ मे कार्य कारिणी और व्यवस्थापिका सभा होगी, जिनमे ब्रिटिश भारत और देशी राज्यो के प्रतिनिधि सम्मिलित होंगे।

व्यवस्थापिका सभा मे किसी ऐसे प्रश्न के उठ खडे होने पर जिसका सम्बन्ध किसी महत्वपूर्ण साम्प्रदायिक विषय से हो, उसका निर्णय उपस्थित प्रतिनिधियों के बहुमत तथा दोनों मुख्य दलों (कॉंग्रेस और मुस्लिम लीग) के मतदान और उपस्थित समस्त सदस्यों के मतदान और बहुमत द्वारा होगा।

(३) संघ को प्रदान किए गए विषयों के अतिरिक्त समस्त विषय तथा अन्य समस्त शेष अधिकार प्रान्तों को प्रदान किए जाएँ।

(४) सघ को प्रदान किए गए विषयों के अतिरिक्त समस्त विषय एव अधिकार देशी राज्यों को सौंपे जाएँ।

(५) प्रान्तों को इस बात की स्वतन्त्रता होनी चाहिए कि कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका सभाओं के सम्बन्ध में वे सघ निर्माण कर सकें, और प्रत्येक सघ अथवा समुदाय ऐसे प्रान्तीय विषयों का निर्णय कर सके जिसका सचालन वह समान रूप से करना चाहता हो।

(६) सघ और समुदायों के विधानों मे एक ऐसी धारा भी होनी चाहिए जिसके द्वारा कोई भी प्रान्त अपनी व्यवस्थापक समिति (Legislative Assembly) के बहुमत द्वारा विधान की शर्त्तों के पुनर्विचार के लिए कह सके। इस प्रकार का पुनर्विचार दस वर्ष के समय के पश्चात् ही हो सकता था।

(ख) विधान-निर्माण प्रणाली से सम्बन्धित प्रस्ताव

(१) ३८९ सदस्यों की एक विधान सभा की व्यवस्था की योजना प्रस्तावित की गई। इसमें से २९२ सदस्य ब्रिटिश भारत के प्रान्तों के थे। इन सदस्यों के लिए निर्वाचन की विधि अप्रत्यक्ष रखी गई थी। इसके अतिरिक्त यह निर्वाचन साम्प्रदायिक आधार पर किया जाने को था। प्रान्तीय व्यवस्थापक समितियों द्वारा मुसलमान, सिख तथा सामान्य के लिए जनसख्या के अनुसार सीट सुरक्षित रखने की योजना भी प्रस्तावित की गई थी। शेष ९३ सदस्य देशी राज्यों के थे, जिनके सकलन की विधि विचार विमर्ष के पश्चात् भविष्य में निश्चित की जाने वाली थी।

(२) तीन विभागों में प्रान्तों को विभाजित कर दिया गया —

(अ) हिन्दुओं के बहुमत का प्रतिनिधित्व करने वाले क्षेत्र (मदरास, बम्बई सयुक्त प्रान्त, बिहार, मध्य प्रदेश और उडीसा),

(ब) मुसलमान बहुमत का प्रतिनिधित्व करने वाले उत्तर पश्चिमी क्षेत्र (पजाब, उत्तर पश्चिमी सीमा प्रदेश, सिन्ध और बलूचिस्तान), और

(स) मुसलमान बहुमत का प्रतिनिधित्व करने वाले उत्तर-पूर्वी क्षेत्र (बगाल और आसाम)।

यह योजना प्रस्तावित की गई कि इन समुदायों अथवा सघों के प्रतिनिधि पृथक रूप से मिलेंगे और प्रत्येक समुदाय के प्रान्तों के लिए प्रान्तीय विधान निश्चित

करेंगे। प्रान्तों को यह अधिकार होगा कि इस प्रकार के नवीन विधान का पूर्णता और इस आधार पर प्रथम चुनाव हो जाने पर ही वे संघ में प्रवेश करें।

(३) अल्पदलों के लिए परामर्शदात्री समितियों की व्यवस्था निश्चित की गई।

(४) संघ की विधान सभा संघीय विधान निश्चित करेगी। महत्वपूर्ण साम्प्रदायिक विषय सम्बन्धी प्रस्तावों के निर्णय के लिए उपस्थित सदस्यों का बहुमत और दोनों मुख्य दलों का मतदान और बहुमत आवश्यक होगा।

(ग) देशी राज्य

इस नवीन भारतीय संघ में देशी राज्यों के सहयोग का आधार सन्धि के रूप में निश्चित किया जाने को था। प्राथमिक दशा में देशीराज्यों का प्रतिनिधित्व एक मध्यस्थ समिति करेगी।

ब्रिटिश भारत के स्वतन्त्रता प्राप्त करते ही सर्वोच्च सत्ता (Paramountcy) नष्ट कर दी जायगी।

(घ) ब्रिटिश भारतीय सन्धि

सघीय विधान सभा और इंग्लैंड में एक ब्रिटिश-भारतीय सन्धि की जाएगी।

(ट) अस्थायी सरकार

"समस्त मुख्य राजनैतिक दलों की सहायता से एक अस्थायी सरकार की" स्थापना की योजना की गई। इस सरकार का निर्माण वाइसरॉय अपनी कार्यकारिणी समिति के पुनर्निर्माण के आधार पर करेगा।

प्रतिक्रिया और मिशन की असफलता

इस योजना की अनन्तरित प्रतिक्रिया एक प्रकार से पूर्ण ही हुई। महात्माजी ने यह कहा कि इस योजना में ऐसे बीज विद्यमान थे कि वे इस व्यथा तथा सन्ताप से भरे देश को व्यथा रहित कर देते। मिस्टर जिन्ना का मत था कि इस योजना से पाकिस्तान की नींव और आधार प्राप्त हो गया। परन्तु कॉंग्रेस ने इस प्रस्ताव पर कुछ अधिक गम्भीरता के साथ विचार किया। १ जून सन् १९४६ को अखिल भारतीय कॉंग्रेस समिति ने इस प्रस्ताव की आलोचना करते हुए कहा कि यह प्रस्ताव "उससे कुछ-अधिक नहीं है जो कुछ मिस्टर चर्चिल और मिस्टर एमरी प्रदान करने के लिए इच्छुक थे।" केबिनेट मिशन ने कॉंग्रेस को यही उत्तर दिया कि "इस योजना को पूर्ण रूप से ही स्वीकार अथवा अस्वीकार किया जा सकता है।" इसलिए कॉंग्रेस ने इस योजना को भी अस्वीकृत कर दिया। कॉंग्रेस ने यह निश्चय अवश्य किया कि

प्रस्तावित विधान सभा में वह इस दृष्टि से भाग लेने को सहमत है कि उसमें स्वतन्त्र, अखण्ड और प्रजातन्त्रात्मक भारतवर्ष का विधान निर्मित किया जायगा।

"अत में इस बात का विवेचन भी युक्तिसगत होगा कि मिशन असफल क्यों रहा ?" केबिनेट मिशन योजना की असफलता के कारणों का निर्देशन पामदत्त ने अपनी पुस्तक 'आज का भारतवर्ष' (India Today) मे निम्न प्रकार से बडी योग्यता के साथ किया है :—

"भारतीय स्वतन्त्रता की योजना के रूप मे सन् १९४६ की नवीन वैधानिक व्यवस्था को विश्व की सम्मति के लिए बडे व्यापक रूप से उसके सन्मुख उपस्थित किया गया था। फिर भी उसकी धाराओं के परीक्षण का निष्कर्ष यही निकला कि वास्तव में वह सन् १९४१ के क्रिप्स प्रस्ताव का ही तनिक परिवर्त्तित रूप था, और भारतीय स्वातन्त्र्य अथवा प्रजातन्त्रात्मक प्रणाली द्वारा निर्वाचित भारतवासियों के प्रतिनिधियों के इस अधिकार की स्थापना से अत्यन्त दूर था कि वे अपने भविष्य का निर्माण स्वय करेंगे।

(१) औपनिवेशिक स्थिति और स्वतन्त्रता में से एक को भविष्य में चुने जाने का जो भ्रम पूर्ण प्रस्ताव उपस्थित किया गया था, वह स्वय समस्त भारतीय राजनैतिक दलों की स्वतन्त्रता की अनन्तरित माँग से दूर था। वास्तव में स्वतन्त्रता के विषय का निश्चित किया जाना, एक अप्रतिनिधात्मक सस्था के लिए छोड़ दिया गया, जिसका निर्माण और कार्य प्रणाली अँगरेज़ों द्वारा निश्चित की जाने वाली थी और जिसका महत्त्व भी प्रतीकार की दशा में ही था।

(२) वयस्क मताधिकार के आधार पर प्रजातन्त्रात्मक विधान सभा का निर्वाचन —जो प्रजातन्त्रात्मक विधान का आवश्यक आधार है—केवल शीघ्रता के आधार पर अस्वीकृत कर दिया गया। विधान सभा का निर्माण अप्रजातन्त्रात्मक था क्यों कि इस के द्वारा साम्प्रदायिकता की नींव और भी दृढ होती थी। इस सभा का निर्वाचन समितियों (Assemblies) द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से होना था। इस विधान सभा के निर्माण का आधार वे निर्वाचक थे जो ११ प्रतिशत जनसख्या का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। और इस सबके अतिरिक्त इस सभा में ९३ सदस्य देशी राजाओं द्वारा नियुक्त किए गए प्रतिनिधि थे। समस्त सदस्यों का ¼ भाग तो इन्हीं सदस्यों ने पूर्ण कर लिया था।

(३) देशी राजाओ के राज्यों के लिए प्रजातन्त्र की किसी धारा की व्यवस्था नहीं की गई थी, यद्यपि यह राज्य भारतवर्ष का ⅓ भाग हैं। देशी राजाओं के साथ प्रत्येक बात का—यहाँ तक कि विधान सभा में उनके प्रतिनिधित्व के विषय का निर्णय ऐच्छिक सन्धियों द्वारा किए जाने के लिए छोड़ दिया गया। देशी राज्यों को केवल

अस्पृश्य ही नहीं किया गया, अपितु यह भी निश्चित था कि 'सर्वोच्च सत्ता' के समाप्त होने के पश्चात् यदि निश्चित समय में उनके पास कोई समझौता नहीं पहुंचता तो वे कानूनी रूप से स्वतन्त्र सत्ताधारी राज्यों का स्वरूप ग्रहण कर लेते।

(४) इस योजना द्वारा भारतवर्ष को चार क्षेत्रों में विभाजित कर दिया गया— हिन्दू बहुमत क्षेत्र; मुसलमान बहुमत दो क्षेत्र और चौथा देशी राज्यों का क्षेत्र। इस विभाजन को निरंकुश रूप में लादा जाने को था क्योंकि इस के सम्बन्ध में भारत-वासियों से किसी प्रकार का परामर्श, किसी प्रकार की सम्मति लेने का आयोजन नहीं किया गया था। इस विभाजन और आत्म दृढ़ता के सिद्धान्त में कोई समता नहीं; इसके परिणाम स्वरूप जिस तीन श्रेणी की संस्था का जन्म होगा, व्यावहारिक रूप में वह अयोग्य और नितान्त बेडौल सिद्ध होगी।

(५) इस विभाजन के आधार पर केन्द्र को सीमित अधिकार सौंपे गए, और इस प्रकार उसे अत्यन्त क्षीण बना दिया। प्रजातन्त्रात्मक प्रगति, प्रभावपूर्ण और व्यापक एवं विस्तृत योजना पर आर्थिक पुनर्निर्माण और सामाजिक स्तर को उठाने के लिए अखिल भारतीय आधार पर जिस आर्थिक योजना और समाज संचालन की आवश्यकता होती है, और इनके सम्पादन के लिए जो अधिकार आवश्यक होते हैं, उनकी इसके पास न्यूनता थी।

(६) माध्यमिक अथवा अस्थायी सरकार के काल में अधिकार प्रदान करना निश्चित नहीं किया गया था। वही पुराना विधान लागू होने को था और अस्थायी सरकार फिर से निर्मित वाइसराय की काउन्सिल के समान ही होने को थी, और इस प्रकार असामान्य परिस्थितियों में वाइसराय को प्रतिनिषेध के तथा अन्य महत्त्वपूर्ण अधिकार भी प्राप्त रहते।

(७) अनिश्चित माध्यमिक काल में सैनिक अधिकार अँगरेज़ों के हाथ में रहने को था, जिससे नवीन विधान का निर्माण भी सैनिक अधिकार की छाया में ही होता।

(८) विधान सभा सर्वोच्च सत्ताधारी नहीं होगी। इस सभा द्वारा निर्मित नवीन विधान उस समय तक वैध स्वीकृत नहीं किया जाएगा जब तक कि अंगरेज़ इसे स्वीकृत नहीं कर देंगे। और अँगरेज़ों की स्वीकृति दो शर्तों के पूरी होने पर निर्भर होगी—प्रथम, अल्पदलों की सुरक्षा के सम्बन्ध में पर्याप्त व्यवस्था की जाए और ब्रिटिश शासक उससे सन्तुष्ट हो जाएँ; और द्वितीय भारतीय-ब्रिटिश सन्धि की स्वीकृति— यह दोनों शर्तें उस समय से पूर्व ही पूरी हो जानी चाहिए थीं जब सत्ता का परित्याग किया जाएगा।"

(४) माउन्टबेटन व्यवस्था

और अन्त में वर्षों से चले आरहे राष्ट्रीय आन्दोलन और स्वातन्त्र्य सग्राम का अन्त विजय के रूप में दृष्टिगोचर हुआ, जब २० फरवरी सन् १९४७ को मिस्टर एटली (Mr Attlee) ने यह घोषणा की कि ब्रिटिश सरकार की "यह निश्चित धारणा है कि जून सन् १९४८ के पूर्व ही उत्तरदायी भारतीयो को अधिकार प्रदान कर दिया जाए।" यदि लीग विधान सभा में भाग नहीं लेगी तो ब्रिटिश सरकार को "यह विचार करना होगा कि ब्रिटिश भारत के लिए केन्द्रीय सरकार के आधार पर समस्त अधिकार अथवा कुछ क्षेत्रों में कार्य कर रही प्रान्तीय सरकारों को, अथवा भारतीयों के हितार्थ जिस रूप मे उत्तम हो उस रूप मे, ब्रिटिश भारत में केन्द्रीय सरकार के अधिकार निश्चित दिनांक से पूर्व किसे सौंपे जाएँ।" यह लिखा जा चुका है कि ब्रिटिश सरकार ने सन् १९४५-४६ के शीत काल मे केन्द्रीय और प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं के लिए चुनाव करवाने का निश्चय किया था। इस प्रकार हुए चुनावों मे काँग्रेस ने समस्त प्रान्तों में मुस्लिम सीटों के अतिरिक्त सब सीटों पर तथा उत्तर पश्चिमी सीमा प्रदेश में अधिक मुस्लिम सीटों पर और सयुक्त प्रान्त, मध्य प्रदेश, बरार और आसाम में कुछ मुस्लिम सीटों पर विजय प्राप्त की। मुस्लिम लीग ने समस्त मुस्लिम सीटों पर विजय प्राप्त की और सिन्ध और बगाल मे मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मिस्टर एटली ने कम से कम "प्रान्तीय सरकारों से क्षेत्र में" पाकिस्तान की सम्भावना को स्वीकार किया। इस प्रकार उत्साहित होकर मुस्लिम लीग ने अमानुषिक 'प्रत्यक्ष युद्ध' (Direct Action) का कार्यक्रम निश्चित किया, जिसका उद्देश्य था खून और आँसू की नदी बहाकर पाकिस्तान की प्राप्ति करना। परिणामस्वरूप ३ जून सन् १९४७ को तत्कालीन गवर्नर जनरल लॉर्ड माउन्टबेटन ने यह घोषणा की कि सत्यानाश न हो इसका एक ही उपाय है और वह है विभाजन। उन्होंने भारतवर्ष और साथ ही साथ बगाल, पजाब और आसाम के विभाजन का प्रस्ताव उपस्थित किया। उत्तर पश्चिमी सीमा प्रदेश के भाग्य का निर्णय 'लोक निर्णय' (Referendum) द्वारा किया जाने के लिए छोड़ दिया गया। कॉग्रेस और लीग दोनों ने यह योजना स्वीकार करली।

लॉर्ड माउन्टबेटन व्यवस्था की प्रधान विशेषताएँ निम्नलिखित थीं —

(अ) भारतवर्ष के विभाजन के लिए विस्तृत प्रणालियाँ निश्चित की गईं, इसी प्रकार विभाजित भारतवर्ष की नवीन सरकारों को उपनिवेश की स्थिति में शीघ्रातिशीघ्र अधिकार प्रदान करना निश्चित किया गया।

(ब) इस व्यवस्था में प्रत्यक्ष रूप से विभाजन प्रस्तावित नहीं किया गया। इसमें केवल "उन क्षेत्रों से सम्बन्धित प्रणाली प्रस्तावित की गई थी जो पाकिस्तान की सीमा में आ जाते थे। यह उनकी इच्छा पर निर्भर था कि चाहे अपनी व्यवस्थापक

समितियों के प्रतिनिधियों द्वारा अथवा लोक निर्णय द्वारा, वे केबिनेट मिशन योजना द्वारा प्रस्तावित विधान सभा और पृथक राज्य के लिए एक पृथक विधान सभा—इन दोनों में से एक को चुन लें।" "इसी के कारण पंजाब और बंगाल का विभाजन हुआ, जिससे कि मुसलमान बहुमत और अल्पमत वाले क्षेत्र पृथक रूप से अपना निर्णय कर सकें। व्यावहारिक रूप में तत्कालीन प्रतिनिधित्व के आधार पर, इसका तात्पर्य विभाजन ही था, और जिसमें भारतवर्ष के साथ-साथ पंजाब और बंगाल का विभाजन भी सम्मिलित था।"

(म) "सर्वोच्च सत्ता" समाप्त कर दी गई। इस योजना के अन्तर्गत देशी राज्यों को इस बात की स्वतन्त्रता प्रदान की गई कि वे चाहें तो पारस्परिक सन्धि करके अपनी स्वय की शर्तों के अनुसार अपना समुदाय अथवा सघ निर्मित करलें, अथवा "दूसरी ओर उन्हें सैद्धान्तिक रूप में यह भी अधिकार था . . . कि वे स्वय को स्वतन्त्र घोषित करके ब्रिटेन के साथ पृथक रूप से अपने सम्बन्ध स्थापित करें।" इस प्रकार माउन्टबेटन योजना द्वारा भारत को और भी विभाजित करने की विधि प्रस्तावित की गई।

भारतीय स्वातन्त्र्य एक्ट

माउन्टबेटन व्यवस्था के अनुसार जुलाई सन् १९४७ में ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने भारतीय स्वातन्त्र्य एक्ट पास किया। उसकी मुख्य धाराएँ निम्नलिखित थीं :—

(१) इस एक्ट द्वारा १५ अगस्त सन् १९४७ से 'भारतवर्ष' और 'पाकिस्तान' नाम के दो उपनिवेशों को जन्म दिया गया। यह निश्चित किया गया कि यह दोनों राज्य स्वतन्त्र सत्ताधारी होंगे, और ब्रिटिश सरकार इन दोनों राज्यों की विधान सभाओं को अपने-अपने देश का विधान निर्माण करने की पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करेगी।

(२) यह निश्चित किया गया कि प्रत्येक उपनिवेश में वहाँ के मन्त्रिमण्डल की सम्मति के आधार पर एक गवर्नर जनरल की नियुक्ति सम्राट (King) द्वारा की जाएगी। एक्ट के अन्तर्गत यह भी प्रस्तावित किया गया कि इस प्रकार नियुक्त किए गए गवर्नर और गवर्नर जनरल निरकुश सत्ताधारी न होंगे। इसके विपरीत विशेष उत्तरदायित्व एवं विवेकाधिकार सम्बन्धी कार्यों के सम्बन्ध में उन्हें अपने मन्त्रियों की सम्मति द्वारा कार्य करना था।

(३) विधान सभा देश की व्यवस्थापिका सभा के समान कार्य करेगी, और उस पर से समस्त प्रतिबन्ध हटा दिए जाएँगे।

(४) प्रत्येक उपनिवेश की व्यवस्थापिका सभा को पूर्ण व्यवस्थापक अधिकार प्राप्त होंगे और १५ अगस्त सन् १९४७ के पश्चात् ब्रिटिश पार्लियामेण्ट द्वारा पास किया गया कोई कानून उन पर लागू नहीं होगा।

(५) इस एक्ट द्वारा भारत सचिव का पद समाप्त कर दिया गया।

(६) नवीन विधान के निर्माण तक, सन् १९३५ का एक्ट ही भारतवर्ष का वैधानिक कानून स्थिर रहेगा, यद्यपि उसमें कुछ संशोधन किए जाएँगे।

(७) 'सर्वोच्च सत्ता' समाप्त हो जाएगी और देशी राज्य अपना विधान सम्बन्धी निर्णय करने के लिए स्वतन्त्र होंगे।

(८) दोनों उपनिवेशों की विधान सभाओं को यह निर्णय करने का अधिकार प्रदान किया गया कि 'भारतवर्ष' और 'पाकिस्तान' "इंग्लैंड से सम्बन्धित उपनिवेश रहेंगे अथवा पूर्णरूप से स्वतन्त्र राज्य रहेंगे।"

दूसरा अध्याय

विशेषताओं का अध्ययन

''स्वयं द्वारा संचालित जनता की सरकार का एक अर्थ और महत्व होता है, परतु अन्य राष्ट्र द्वारा संचालित किसी देश की सरकार जैसी वस्तु न स्थिर रहती है और न रह सकती है। एक राष्ट्र दूसरे को अपने लाभ के लिए धनोपार्जन के स्थान के समान रख सकता है, (इस प्रणाली मे शासित जनता) एक प्रकार का मानवों का वाडा है जिसे कोई राष्ट्र अपने लाभ के लिए रखता है।''[1]

—जान स्टुअर्ट मिल

समस्त विश्व मे ही 'स्वराज्य' से लोगो ने प्रेम किया है, उसी के लिए वे जीवित रहे और मरे हैं। दार्शनिकों ने वडे विचार पूर्वक 'स्वराज्य' की स्तुतियाँ गाई हैं। कवियों ने अपनी मनोहर कल्पनाओं द्वारा इसकी प्रशसा की है। इसलिए यह स्वभाविक ही है कि विश्व के नागरिक अपने देशों के स्वनिर्मित विधान के प्रति श्रद्धा का भाव रखते हैं क्योंकि वह उनके स्वशासन के पावन अधिकार का सूचक और उसका रक्षक है। और इस प्रकार यदि एक ओर अँग्रेज़ी विधान के प्रशंसक दार्शनिक और कवि आदि हैं, तो दूसरी ओर अमरीका के विधान के प्रति भी श्रद्धा रखने वाले अनेक अमरीका निवासी हैं। फिर भी भारतवर्ष के गणतन्त्र विधान को, जो स्वतन्त्रता के हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन की विजय का सूचक है, पुजारियो की अपेक्षा आलोचक ही अधिक प्राप्त हुए हैं। हमारे देश में ही कुछ ऐसे व्यक्ति हे जिनका हार्दिक भाव यही है कि यह नवीन विधान बिलकुल व्यर्थ है और जितनी शीघ्रता से इसे समाप्त कर दिया जाय भारतवर्ष के लिए उतना ही अच्छा है। उदाहरणस्वरूप समाजवादी नेता श्री जयप्रकाशनारायण ने २६ जनवरी सन् १९५० को लिखा था :—

[1] "The government of a people by itself has a meaning and a reality, but such a thing as government of one people by another does not, and cannot exist. One people may keep another for its own use, a place to make money in a human cattle farm for the profits of its own inhabitants." —John Stuart Mill.

"अन्त में हमें यह विस्मरण नहीं कर देना चाहिए कि जो विधान आज से लागू हुआ है, और जिसके द्वारा इस गणतन्त्र का जन्म हुआ है, वैयक्तिक स्वतन्त्रता और सामाजिक निष्पक्षता दोनों के लिए वह स्वयं अत्यधिक संकट स्रोत है। इस हेतु जितनी शीघ्र हो सके, नवीन विधान निर्मित करने के लिए वास्तविक रूप से एक प्रतिनिधात्मक विधान सभा को आमन्त्रित करना चाहिए, जो विधान सामाजिक स्वतन्त्रता का उचित साधन बन सके।"[1]

इस प्रकार भारतीय विधान की प्रशंसा का विषय प्रामाणिक महत्व का है। क्योंकि इस छान बीन का अर्थ होगा अपने ३०० भारतीय साथियों के निस्वार्थ परिश्रम का निर्णय, जिन्होंने दो वर्ष, ग्यारह मास और सत्रह दिन के कठिन परिश्रम के पश्चात अपने ज्ञान की आभा से परिपूर्ण भारत माता को यह विधान सौंपा। क्या यह सब परिश्रम व्यर्थ ही है और क्या यह त्याज्य ही है ? इस प्रश्न का उत्तर स्वतंत्र भारत के इस विधान की मुख्य विशेषताओं के अध्ययन तथा इस पर लगाए गए आरोपों तथा आक्षेपों के निष्पक्ष निरीक्षण के पश्चात् ही दिया जा सकता है।

निम्न पृष्ठों में इसी की चेष्टा की गई है।

मुख्य विशेषताएँ

गणतन्त्र विधान की मुख्य विशेषताओं का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है —

(१) लेख-पत्र के रूप में विधान।
(२) राजनैतिक व्यवस्था के रूप में विधान।
(३) संघीय योजना के रूप में विधान।

(१) लेख-पत्र के रूप में विधान

लेख-पत्र के रूप में भारतीय विधान की प्रधान विशेषता है उसका विस्तृत एवं व्यापक स्वरूप। इस विधान में ३९५ धारा और ८ सूचियाँ हैं। डाक्टर अम्बेडकर का यह कथन केवल कल्पना की उड़ान ही नहीं है कि यह विधान विश्व के अन्य समस्त विधानों से विस्तृत है। तृतीय गणतन्त्र के अन्तर्गत यदि फ्रांस का विधान "अपनी संक्षिप्तता, अपूर्णता, स्पष्ट शब्दावली की न्यूनता और अद्भुत सिद्धान्तों" की विशेषताओं का एक आदर्श है, तो भारतीय गणतन्त्र विधान अपने व्यापकत्व, स्पष्ट वक्तव्य और महत्त्वपूर्ण आदर्श के कारण अपना एक पृथक स्थान रखता है। यह विशेषताएँ इसमें उदार, प्रजातन्त्रात्मक और शान्तिपूर्ण भावनाओं के साथ रखी गई हैं। यदि अमरीका के विधान निर्माताओं ने अपने विधान को, जैसा कि रसेल लॉवेल (Russell Lowell) ने लिखा है, अनुभव, दोष और दोष-सुधार की प्रणाली द्वारा

---
[1] 'जनता' के 'गणतन्त्र अंक' से।

"काल चक्र पर बुने जाने के लिए" छोड दिया था, तो भारतीय विधान निर्माताओं ने सम्पूर्ण ताने-बाने को स्वय ही बुनने की चेष्टा की है, और उसकी समाप्ति पर उसकी पूर्णता और आदर्श के कारण उन्हे गर्व है।

इस सम्बन्ध मे हमारा विधान विश्व के अन्य विधानों से भिन्न है। विश्व के अनेक विधानों मे शासन प्रणाली के सचालन हेतु केवल सामान्य सिद्धान्त और व्यापक नियम ही दिए गए है। शासन प्रणाली से सम्बन्धित नियमो और प्रणाली के व्यापकत्व के निर्देशन का भार उनमे व्यवस्थापिका सभाओ पर छोड दिया गया है, जो परिस्थिति अनुसार उन्हे व्यापक बनाती चलें। परन्तु भारतीय विधान मे अनेक नियमों का व्यापक वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार भारतीय विधान केवल केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकार के तीन प्रधान अगो के निर्माण और कार्यों तथा नागरिकता और मौलिक अधिकारो की व्याख्या मे ही सन्तुष्ट नही हुआ है। इसमे शासन से सम्बन्धित छोटी से छोटी वस्तुओ और धाराओं का वर्णन है, उदाहरणार्थ "आय, सम्पत्ति, समझौता और मुकदमा, भारतीय सीमा में होने वाले व्यापार और व्यवसाय, चुनाव, पद, अल्पदल, सरकारी भाषा और असाधारण परिस्थिति वश उत्पन्न हुए विषयों के सम्बन्ध मे कुछ धाराएँ।" और इसी प्रकार इस विधान का आकार इतना बढ गया है।

अपने विधान के इस व्यापकत्व का पक्ष निम्नलिखित आधारो पर ग्रहण किया गया है .—

(१) देश की विशालता, उसकी जन सख्या की विषमता और उसके हितों की भिन्नता इस प्रयास पूर्ण विस्तार को युक्ति संगत सिद्ध करते है। भारतवर्ष की ३४ करोड जनता, विभिन्न धर्म, अनेक प्रकार की भाषाओ और अनेक अल्पदलों की उपस्थिति के कारण यह अनिवार्य था कि प्रत्येक वस्तु का व्यापक और विस्तृत वर्णन हो।

(२) हमारे विधान के विस्तार के कारण उसके स्वरूप के मूल में ही विद्यमान हैं। इस सम्बन्ध में श्री जोशी का कथन उल्लेखनीय है .

"इसका (विस्तार का) द्वितीय कारण भारतीय सघ का स्वरूप है जो सघ के किसी स्वीकृत सिद्धान्त के अनुरूप नहीं है, और भारतवर्ष की असाधारण और असामान्य आवश्यकताओ और परिस्थितियों की पूर्णता तथा हितैषी राज्य के उसके स्पष्ट एव स्थिर उद्देश्य की प्राप्ति के लिए जिसने सरकार की विभिन्न प्रणालियों (सचिवतन्त्रात्मक और असचिवतन्त्रात्मक) के अश ग्रहण किए है।"[1] विधान के विभिन्न स्वरूपों की निम्नलिखित विवेचना के पश्चात् यह भली भांति स्पष्ट हो जाएगा :—

---

1. "Another reason is the nature of the Indian Union, which conforms to no accepted theory of federalism and which adopts the ingredients of different systems of Government (Parliamentary and Presidential) to meet India's peculiar needs and conditions and whose avowed objective is to achieve the welfare state."

—Sri G. N Joshi.

(अ) हमारे विधान को दो स्वरूप प्रदान किए गए हैं। सामान्य काल में इसका स्वरूप सघीय रहेगा, और असाधारण परिस्थितियों में इसका स्वरूप एकात्मक हो सकता है। विधान के इस द्वितीय स्वरूप के कारण ही कुछ अन्य धाराओं को इसमें रखना पड़ा, जिससे इसके आकार में और भी वृद्धि हुई।

(ब) इसके अतिरिक्त इस विधान के निर्माताओं ने विभिन्न आकार के और राजनैतिक विकास की दृष्टि से भिन्न राज्यों को एक ही राजनैतिक बन्धन में बाधा है। ब्रिटिश भारतीय प्रान्त, देशी राज्य और चीफ़ कमिश्नर्स के प्रान्त राजनैतिक दृष्टिकोण से एक दूसरे से इतने भिन्न थे कि इन्हें एक ही सघ का सदस्य बनने से पूर्व यह आवश्यक था कि विधान में विभिन्न प्रकार की धाराओं का सन्निवेश किया जाता। इसलिए विधान का आकार और भी व्यापक हो गया क्योंकि "इस विधान में केवल सघ का विधान ही सम्मिलित नहीं है, वरन् विभिन्न स्तर के राज्यों का विधान भी सम्मिलित है।"

(२) राजनैतिक दासता के एक युग के पश्चात् प्रजातन्त्र का वृक्ष भारतीय भूमि के लिए अपरिचित सा हो गया है। इसलिए विशेष रूप से अपनी निरक्षरता, दारिद्रय, पिछड़ी हुई राजनैतिकता और राष्ट्रीयता की कमी के कारण भारतवर्ष स्वस्थ प्रजातन्त्रात्मक प्रथाओं के विकास के योग्य नहीं समझा गया। कई वर्षों के निरन्तर प्रयत्न के पश्चात् जीते हुए प्रजातन्त्रात्मक आदर्श का अनुसरण करने के लिए यह आवश्यक था कि प्रत्येक विषय से सम्बन्धित प्रत्येक धारा को व्यापक स्थान प्रदान किया जाए, क्योंकि स्वराज्य के इस ब्रह्मानन्द की प्राप्ति में विधान निर्माता किसी प्रकार की बाधा की सम्भावना भी नहीं रखना चाहते थे। वह उस दुःखित गाथा की पुनरावृत्ति नहीं चाहते थे जब नौकरशाही द्वारा निर्मित नियमों के कारण मॉर्ले-मिन्टो और मान्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार एक्ट को तत्त्वरहित एक स्वाँग और प्रहसन का रूप दे दिया गया था। इस दृष्टिकोण को डाक्टर अम्बेडकर ने निम्नलिखित शब्दों में बड़ी योग्यता के साथ प्रतिपादित किया है .

"यह उसी स्थान पर सम्भव है जहाँ व्यक्तियों में वैधानिक नैतिकता भरी हुई हो, कि शासन सम्बन्धी विस्तार को विधान मे स्थान प्रदान न करने और उन्हें निश्चित करने का अधिकार व्यवस्थापिका सभा को सौंपने का भय मोल लिया जाए। भारतवर्ष में प्रजातन्त्र भारतीय भूमि पर केवल एक लता के समान है, जो (भूमि) अभी प्रजातन्त्र के योग्य नहीं है। इस प्रकार की परिस्थितियों में बुद्धिमत्ता इसी में है कि शासन का स्वरूप निश्चित करने के सम्बन्ध में व्यवस्थापिका सभा पर विश्वास ही न किया जाए।"[1]

---

1. "It was only where people were saturated with constitutional morality that one could take the risk of omitting from the constitu-

(४) इसके अतिरिक्त यह भी प्रतिपादित किया गया है कि विस्तृत धाराओं से हमारा विधान समृद्ध हो हुआ है क्योंकि इनमें विश्व के महान प्रजातन्त्रात्मक देशों का अनुभव भी सन्निहित है जहाँ इन सिद्धान्तों को कसौटी पर कसा जा चुका है और जो राजनैतिक, उथल-पुथल मे सफल सिद्ध हुए हैं।

परन्तु भारतीय विधान की व्यापकता केवल एक सर्वगुण सम्पन्न आदर्श के रूप मे ही है। यह व्यापकता एक भयानक सकट की ओर भी सकेत करती है। जैसा कि अन्यत्र लिखा जा चुका है कुछ स्थानों पर भारतीय विधान मे छोटी से छोटी बातों का भी व्यापक वर्णन है। राजनैतिक ज्ञान के व्यावहारिक क्षेत्र में यह व्यवस्था उचित नहीं। इससे यह सम्भव है कि उन व्यक्तियों के कार्य मे बाधा पड़े अथवा कठिनाई उपस्थित हो जिन्हे समय और स्थानगत विशेषताओं तथा आवश्यकताओं का ध्यान रखते हुए विधान को कार्य रूप में परिणत करना होगा। शासन व्यवस्था केवल एक सिद्धान्त ही नहीं है। उसमें व्यावहारिकता का पुट देकर उसे पूर्ण करना पडता है। और इसलिए यही भय है कि कहीं हमारा विधान, जिसमे छोटी से छोटी बात का व्यापक वर्णन है, समय और स्थान की आवश्यकताओं के प्रति अपने उत्तरदायित्व का भली भांति पालन न कर सके। इसलिए यह सम्भव है कि हमारा विधान कही अधिक सकुचित और अचल न हो जाए और इसके परिणाम स्वरुप जीवन की दौड से कहीं भटक न जाए। कालगत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए निःसन्देह हमारे विधान में सशोधन की धाराएँ उपस्थित है। परन्तु मानव प्रकृति ही ऐसी है कि वस्तुओं को ज्यों का त्यों ग्रहण कर लेती है और उस समय तक उनमे परिवर्तन अथवा सुधार करने की चिन्ता नहीं करती जब तक कि स्पष्ट रूप से उसकी आवश्यकता प्रतीत न हो। इस प्रकार यह स्वीकार करना पडता है कि यद्यपि हमारे विधान मे युग-युगान्तर के राजनैतिक ज्ञान एवं अनुभव को स्थान प्रदान किया गया है, परन्तु हमारा विधान जीवन के इस सत्य से सर्वथा अनभिज्ञ है कि "वास्तविक विधान वही है जो सामान्य नियमों का जीवित समूह हो, जिनका सचालन जीवित अथवा उपस्थित व्यक्ति कर रहे हों।"

(२) राजनैतिक व्यवस्था के रूप मे विधान

'राजनैतिक व्यवस्था के रूप मे विधान' की मुख्य विशेषताओं का विवेचन निम्नलिखित रूप से किया जा सकता है.—

---

tion details of administration and leaving to the legislature to prescribe them. Democracy in India is only a top dressing on the Indian soil which is essentially undemocratic In these circumstances it is wiser not to trust the legislatures to prescribe forms of administration "

—Dr. Ambedkar.

(१) जनता का सर्वोच्च प्रजातन्त्रात्मक गणतन्त्र

'भूमिका' (Preamble) में इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेषता का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है। जनता की राज्यसत्ता के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए भूमिका में लिखा गया है —

"भारतवर्ष को 'सर्वोच्च सत्ताधारी प्रजातन्त्रात्मक गणतन्त्र' का स्वरूप प्रदान करने की प्रतिज्ञा के साथ, हम भारतवासी इस विधान का निर्माण कर इसे स्वयं को प्रदान करते हैं।"

इससे यह स्पष्ट है कि भारतीय गणतन्त्र विधान स्वयं द्वारा निर्मित है, किसी अन्य शक्ति द्वारा लादा हुआ नहीं। अब भारतवासी आत्म दृढ़ता के अधिकार का उपभोग कर रहे हैं और उन्होंने अपने प्रतिनिधियों द्वारा अपनी मातृभूमि को इच्छित एवं मनोवांछित विधान भेंट किया है। इसके अतिरिक्त आन्तरिक क्षेत्र में भारतवर्ष सर्वोच्च सत्ताधारी है, बाह्य क्षेत्र में भारतवर्ष स्वतन्त्र है, और राज्य सत्ता जनता के हाथों में है। भारतवर्ष का नवीन विधान जनता की केवल सर्वोच्च सत्ता के प्रति ही संकेत नहीं करता अपितु जनता के शासन के प्रति भी संकेत करता है। इस विधान द्वारा एक प्रजातन्त्रात्मक सरकार की स्थापना हुई है, ऐसी सरकार जिसमें एक सामान्य नागरिक भी उच्चतम पद प्राप्त कर सकता है। वह अब अपने राजनैतिक अधिकार का उपभोग कर रहा है—निर्वाचित करने और निर्वाचित होने के अधिकार का। विधान द्वारा यह महत्त्वपूर्ण अधिकार २१ वर्ष की आयु वाले प्रत्येक व्यक्ति को प्रदान किया गया है। इस सम्बन्ध में जन्म, धन, वर्ण, जाति आदि का कोई भेद भाव नहीं रखा गया है। वयस्क मताधिकार का प्रवेश, पृथक साम्प्रदायिक निर्वाचन और अछूत प्रथा की समाप्ति, मौलिक अधिकारों की स्वीकृति और स्वतन्त्र न्यायालय की स्थापना—यह हमारे विधान की कुछ विशेष प्रजातन्त्रात्मक विशेषताएँ हैं। हमारा विधान केवल प्रजातन्त्रात्मक ही नहीं, केवल जनता की सर्वोच्च राज्यसत्ता का निर्देशक ही नहीं, अपितु हमारा विधान गणतन्त्रात्मक भी है क्योंकि भारतवर्ष का शासनाध्यक्ष वंशीय सम्राट न होकर एक निर्वाचित राष्ट्रपति होगा। संक्षेप में हमारा विधान लिंकन के निम्नलिखित शब्दों का बड़े दृढ़ रूप में समर्थन करता है —

"जनता की, जनता के लिए और जनता द्वारा संचालित सरकार का पृथ्वी पर से कभी अन्त न होगा।"[1]

(२) न्यायालय के निरीक्षण के साथ सचिवतन्त्रात्मक आधार

भारतीय राज्य का शासनाध्यक्ष राष्ट्रपति कहलाता है। इससे यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि भारतवर्ष में असचिवतन्त्रात्मक सरकार है। भारतवर्ष में सचिवतन्त्रात्मक

---

[1] "Government of the people, by the people, for the people shall not perish from the earth." —Lincoln.

प्रजातन्त्र है जिसमें राज्य का अध्यक्ष केवल नाममात्र का शासक है। उसका पद अधिकार का न होकर केवल ऐश्वर्य और वैभव का है। उसके समस्त अधिकारों का भोग मन्त्रि-मण्डल करता है जिसका निर्माण व्यवस्थापिका सभा में से होता है और जो उसी के प्रति उत्तरदायी होता है। कार्यकारिणी पर व्यवस्थापिका सभा के नियन्त्रण के सम्बन्ध में—जो सचिवतन्त्रात्मक सरकार की एक प्रधान विशेषता है—हमारे विधान में लिखा है :—

"मन्त्रि मण्डल लोकसभा के प्रति संयुक्त रूप से उत्तरदायी रहेगा।"

इस स्थान पर हमारा विधान इँग्लैंड और फ्रांस के विधानों के अधिक निकट है न कि अमरीका के विधान के। यहाँ यह बात ध्यान में रखने की है कि कार्यकारिणी पर व्यवस्थापिका सभा का नियन्त्रण एक बात है और पालियामेण्ट की सर्वोच्च सत्ता दूसरी बात। हमारा विधान प्रथम का उपभोग करता है न कि द्वितीय का। इस एक बात में हमारा विधान इँग्लैंड के विधान से मतभेद रखता है कि पालियामेण्ट का अधिकार क्षेत्र निरंकुश और पूर्ण है और किसी न्यायालय को यह अधिकार नहीं कि उसके एक्ट की परीक्षा करे अथवा उसे अवैध घोषित कर सके। भारतीय विधान संघात्मक है और इसलिए स्वभावतः ही इसकी प्रधान विशेषता है विधान की सर्वोच्चता। केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा अपने समस्त अधिकार विधान से ही ग्रहण करती है और वैधानिक धाराओं द्वारा उसके क्षेत्र को निश्चित रूप से सीमित कर दिया गया है। सर्वोच्च न्यायालय विधान का संरक्षक है, और यदि केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा अपने क्षेत्र से बाहर एक पग भी रखती है तो सर्वोच्च न्यायालय उसे अवैध घोषित कर सकता है। इस प्रकार यदि इँग्लैंड के विधान की प्रमुख विशेषता पालियामेण्ट की सर्वोच्च सत्ता है तो भारतीय विधान की प्रधान विशेषता न्यायालय द्वारा परीक्षण है।

(३) लौकिक राज्य शासन विधि

हमारे विधान का लक्ष्य है भारतवर्ष में लौकिक राज्य शासन विधि की स्थापना। इसी लक्ष्य की प्राप्ति के हेतु राजनीति और धर्म के क्षेत्रों को पूर्ण रूप से पृथक कर दिया गया है। प्रत्येक भारतवासी को समान नागरिकता प्रदान की गई है भले ही वे किसी धर्म, जाति अथवा वर्ण का हो। प्रत्येक नागरिक को कोई सा धर्म अंगीकार करने का, अपने धर्म का प्रचार और प्रसार करने का पूर्ण अधिकार है, परन्तु यह प्रचार अथवा प्रसार जनशान्ति, जन सुरक्षा और आचरण एवं नीति के विरुद्ध न होना चाहिए।[१] राज्य की ओर से किसी धर्म का प्रचार नहीं होगा। पद ग्रहण करने अथवा सुरक्षा एवं आश्रय के सामान्य स्थानों तक पहुँचने में धर्म आदि के आधार पर किसी व्यक्ति के

१. विधान की धारा २५

सम्बन्ध में भेद भाव नहीं किया जायगा।[1] विधान में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि जिन विद्यालयों का सचालन पूर्ण रूप से राज्य के धन से किया जाता है उनमें किसी प्रकार के धर्म से सम्बन्धित शिक्षा प्रदान नहीं की जायगी।[1] जिन विद्यालयों को राज्य आर्थिक सहायता प्रदान करता है अथवा जो विद्यालय राज्य द्वारा स्वीकृत संस्थाएँ हैं उनमें भी किसी व्यक्ति को धर्म सम्बन्धी शिक्षा में सम्मिलित होने के लिए विवश नहीं किया जायगा।[2] श्री आर. वी सेम्पसन ने राज्य की लौकिकता का वर्णन निम्न-लिखित रूप से बड़ी योग्यता से किया है —

"उसके (विधान के) प्रगति शील रूप की सबसे अधिक प्रशसनीय धारा वह है जिसमें धर्म की उलझी हुई गुत्थी को सुलझाया गया है। यद्यपि समस्त नागरिकों को पूर्ण धार्मिक अधिकार प्रदान किए गए हैं, राज्य की ओर से जिस शिक्षा का प्रबन्ध किया गया है वह पूर्ण रूप से लौकिक होगी, राज्य की शैक्षिक सस्थाओं में धर्म की किसी प्रकार की शिक्षा प्रदान नहीं की जा सकेगी। यह अत्यन्त अद्भुत प्रतीत होता है कि जिस देश ने धार्मिक विरोध अथवा कलह के कारण इतने कष्ट झेले हों, शिक्षा को पूर्ण रूप से लौकिक स्वरूप प्रदान करने मे वही देश अग्रगण्य होगा।"[3]

(४) राज्य नीति के निर्देशक सिद्धन्त

केवल एक लौकिक राज्य शासन विधि हीन ही नहीं हमारे विधान के अन्तर्गत भारतीय राज्य शासन विधि एक हितैषी राज्य के रूप में भी है। इस स्वरूप पर अधिक बल देने के लिए एक 'आदेश पत्र' की व्यवस्था की गई है। विधान का यह अग 'राज्य की नीति के निर्देशक सिद्धान्त' के नाम से पुकारा गया है। इस शीर्षक के अन्तर्गत भारतीय राज्य द्वारा जनता को निम्नलिखित का आश्वासन प्रदान किया गया है —

(अ) जीवन यापन के पर्याप्त साधन, (ब) धन का निष्पक्ष वितरण, (स) समान कार्य के लिए समान वेतन, (द) वयस्क श्रमिकों की रक्षा, (क) नौकरी, (ख) चौदह वर्ष की आयु तक के बालकों के लिए आवश्यक और नि.शुल्क शिक्षा, (ग)

---

[1] विधान की धारा १५

[2] विधान की धारा २८

[3] "Most praiseworthy in its progressive attitude is the section dealing with the thorny problem of religion While full religious rights are guaranteed to all citizens, the State education is to be completely secular, no religious instruction being permitted in State educational institutions It is curious that the land which has suffered so much from religious strife should be foremost in the complete secularization of education" —Mr. R V Sampson.

बेकारी, वृद्धावस्था, बीमारी, अपाहिज आदि की दशा में जन सहायता; (ब) कार्य की ऐसी परिस्थितियाँ जिनसे जीवन का एक उचित स्तर स्थिर किया जा सके; (ङ) आधार के स्तर में वृद्धि; इत्यादि।

राज्य के कार्य क्षेत्र से सम्बन्धित स्थायी राजनैतिक घोषणा अथवा कार्यक्रम के रूप में निर्देशक सिद्धान्तों का सन्मिलित करना हमारे विधान की एक प्रधान विशेषता है। इस का स्थान समान ही रहेगा, भले ही राज्याधिकार किसी दल के हाथों में हो। इसकी समानता केवल आयरलैंड के गणतन्त्र के विधान में ही लक्षित होती है।

(५) अधिकार पत्र के रूप में विधान

इन सबके अतिरिक्त, भारतीय गणतन्त्र के विधान के अन्तर्गत ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि देश के प्रतिनिधियों ने लिंकन के निम्नलिखित शब्दों में यह प्रतिज्ञा की हो :

"हम यह निश्चय करते हैं कि इन शहीदों ने अपने प्राण व्यर्थ ही नहीं गँवाए होंगे, उस परात्पर के वरदहस्त के नीचे यह राष्ट्र स्वतंत्रता का नया जन्म गृहण करेगा।" [१]

हमारे विधान की भूमिका में प्रत्येक नागरिक को न्याय, स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के अधिकारों के प्रदान किए जाने का उल्लेख है। मौलिक अधिकारों के अध्याय द्वारा भूमिका को और भी वास्तविक रूप प्रदान किया गया है। इसके द्वारा प्रत्येक क्षेत्र में—राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक-वैयक्तिक स्वतन्त्रता की रक्षा होती है। इसके द्वारा प्रत्येक नागरिक को असमानता के विरुद्ध समानता का अधिकार प्राप्त है। इस प्रकार हमारे विधान में 'अधिकार पत्र' (Magna Carta) के निम्नलिखित सिद्धान्त के मुख्य तत्व को स्थान प्रदान किया गया है :—

"न्याय अथवा अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को दिए जाएँगे, इनमें किसी प्रकार का विलम्ब नहीं होगा और न इनका क्रय ही किया जाएगा।" [२]

(६) ग्राम्य गणतन्त्रों का गणतन्त्र

यहाँ इस बात का उल्लेख करना असंगत न होगा कि भारतवर्ष को ग्राम्य गणतन्त्रों—ग्राम पचायतों—का गणतन्त्र भी कहा जा सकता है। महात्मा गाँधी का यह विश्वास था कि :

"स्वतन्त्रता का प्रारम्भ मूल से आरम्भ होना चाहिए। इस प्रकार प्रत्येक ग्राम एक गणतन्त्र अथवा पचायत होगा जिसे पूर्ण अधिकार प्राप्त होंगे।"

---

1 "We here highly resolve that these dead shall not have died in vain, that this nation under God shall have a new birth of freedom."
—Lincoln

2 "No man will we deny, to no man will we delay, to no man will we sell justice or right." —From Magna Carta.

महात्मा जी के स्वराज्य के दृष्टिकोण को सफलीभूत बनाने के हेतु विधान में यह प्रतिपादित किया गया है कि :

"राज्य ग्राम पंचायतों के निर्माण की ओर क़दम उठाएगा, और उन्हें इतने अधिकार प्रदान किए जायेंगे जिससे कि वे स्वराज्य की एक इकाई के समान कार्य कर सकें।"

ग्राम पचायतों के निर्माण का उद्देश्य ही प्रजातन्त्र के एक आधार की प्राप्ति करना है। इन्हें प्रजातन्त्र की इकाई न समझ लेना चाहिए। प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था के विधाता समस्त व्यक्ति ही हैं।

(७) अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण

इसके पूर्व कि हम अपने विधान की प्रधान विशेषताओं का अध्ययन समाप्त करें, यहाँ यह उल्लेख करना भी आवश्यक है कि हमारे विधान का स्वरूप केवल प्रजातन्त्रात्मक और राष्ट्रीय ही नहीं है, अपितु उसका दृष्टिकोण अन्तर्राष्ट्रीय और शान्तिपूर्ण भी है। जिस युग में एक विधान का निर्माण होता है, उस विधान पर उस युग की छाप एक न एक रूप में अवश्य रहती है। फ्रांस के चतुर्थ गणतन्त्र के विधान के समान हमारे विधान ने भी अन्तर्राष्ट्रीयता के उस युग में जन्म लिया है जबकि विज्ञान ने विश्व को हमारा पड़ोसी बना दिया है, जब विश्व के नागरिक युद्ध से ऊब कर अखण्ड और अनन्त शान्ति के स्वर्णिम स्वप्न को साकार स्वरूप प्रदान करने के हेतु विश्व सरकार के निर्माण की योजना प्रस्तुत कर रहे हैं। और इसलिए यदि फ्राँस के चतुर्थ गणतन्त्र के विधान में यह उल्लेख है कि :

"अपनी प्रथाओं के प्रति विश्वासी रह कर फ्राँसीसी गणतन्त्र अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों का पालन करेगा और राज्य विस्तार के हेतु वह युद्ध नहीं करेगा और किसी राष्ट्र की स्वतन्त्रा के विरुद्ध शस्त्र ग्रहण नहीं करेगा"।

तो भारतीय विधान ने भी यह घोषणा की है कि वह :—

"विभिन्न राष्ट्रों में न्यायपूर्ण और आदरणीय सम्बन्धों का विकास करेगा, सगठित राष्ट्रों के प्रति हुई सन्धियों के प्रति पारस्परिक आदर की भावना तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रति अनुमोदन की भावना का विकास करेगा, और समझौते द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का निर्णय करने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देगा।"

इस प्रकार हमारे विधान का लक्ष्य यही है कि भारतीय राज्य शासन विधि को, जो अभी शैशवावस्था मे ही है, शान्ति की ओर उन्मुख करे।

(२) सँघीय योजना के रूप में विधान

हमारे विधान का निर्माण सघीय आधारों पर किया गया है। सघ की जो मुख्य विशेषताएँ होती हैं, वे सब इस में हैं। विधान की सर्वोच्च सत्ता यहाँ भी विध-

मान है। केन्द्र और राज्यों में शक्ति वितरण भली भाँति एवं स्पष्ट रूप से किया गया है। संघीय न्यायालय की स्थापना भी की गई है जिसे विधान के संरक्षक और हमारे मौलिक अधिकारों के रक्षक के रूप में अनेक महत्त्वपूर्ण अधिकार प्रदान किए गए हैं।

एक दृष्टिकोण से हमारे विधान की एक विलक्षण विशेषता है परिस्थिति के अनुकूल इसका एक साथ ही संघात्मक और एकात्मक होना। सामान्य रूप से तो यह संघात्मक ही रहेगा, परन्तु असाधारण परिस्थितियों में इसका स्वरूप एकात्मक होगा। इस दोहरे स्वरूप के कारण हम इस संघीय व्यवस्था को लचीले संघ[1] के नाम से पुकार सकते हैं क्योंकि यह बड़ी सरलता के साथ एकात्मक स्वरूप ग्रहण कर सकता है। इस विशेषता के अतिरिक्त हमारे विधान निर्माताओं ने देश में प्रचलित निष्केन्द्रीकरण की घातक प्रवृत्तियों को दृष्टिगत रखते हुए प्रान्तीय स्वराज्य पर अधिक बल न देकर राष्ट्रीय एकता और स्थायित्व पर अधिक बल दिया है। इसी के परिणामस्वरूप केन्द्र की शक्ति अधिक हो गई है, यहाँ तक कि हमारे संघ का झुकाव निश्चित रूप से एकात्मक स्वरूप की ओर है। यह दोनों विशेषताएँ अपने साथ कुछ अन्य विशेषताओं को भी ले आई हैं जिनका वर्णन निम्न प्रकार से किया जा सकता है।

कुछ अपूर्व विशेषताएँ

इन विशेषताओं में से मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :—

(१) संघ निर्माण की विपरीत प्रणाली

संघ का निर्माण उन इकाइयों को मिला कर किया जाता है जो संघ में सम्मिलित होने से पूर्व स्वतन्त्र होती हैं और जो अपने पारस्परिक सम्बन्धों के निश्चय करने में भी स्वतन्त्र होती हैं। इन स्वतन्त्र इकाइयों को कुछ समान उद्देश्यों तथा हितों की पूर्ति के लिए मिलाया जाता है। इस प्रकार राष्ट्रीय उद्देश्यों की पूर्णता के लिए कुछ राज्यों को मिला कर एक संघ का निर्माण किया जाता है। सामान्य रूप से संघ का निर्माण करने मे कुछ पृथक राज्यों को मिलाकर एक समूह बनाया जाता है, परन्तु भारतवर्ष में इसके निर्माण मे इकाइयों को मिलाने की अपेक्षा उनको खण्डित किया गया है। सन् १९३७ में ब्रिटिश भारत को कुछ स्वतन्त्र प्रान्तों के रूप मे खण्डित कर दिया गया था और फिर कुछ समय पश्चात् भाषा के आधार पर उनका निर्माण किया गया था। संघीय क्षेत्र के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय जैसे मुद्रा, रक्षा, विदेशी विभाग, आदि सन् १९३७ के पूर्व केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के हाथों में थे। भारत सरकार देश की शान्ति, सुरक्षा तथा उत्तम शासन के लिए उत्तरदायी थी।

भारतवर्ष में एक केन्द्रीय सरकार तथा कुछ अन्य आधीन सरकारें थीं जो सम्राट (Crown) के आधीन थीं। ब्रिटिश प्रान्तों के अतिरिक्त देशी राज्य भी सम्राट

[1] Flexible Federation

(Crown) की सत्ता के आधीन थे। इस लिए यह स्पष्ट है कि जिस समय भारतवर्ष में संघ का निर्माण किया गया उस समय सघ की इकाइयाँ विदेशी कार्यों के दृष्टिकोण से एक राज्य ही थीं। इस प्रकार विश्व के अन्य देशों की सघ निर्माण की प्रणाली से भारत की सघ निर्माण की प्रणाली विपरीत थी। हमारे नवीन विधान में भी इसी आधार को अपनाया गया है।

एकात्मकता के लक्षण

विधान सभा में भाषण देते हुए डाक्टर अम्बेडकर ने यह कहा था कि सब विशेष रूप से एक सघीय राज्य शासन विधि ही नहीं हैं, अपितु वह पाक्षिक सघीय राज्य शासन विधि है जिसमें एकात्मकता के कुछ महत्त्वपूर्ण तत्व भी सम्मिलित हैं। यद्यपि भारतीय विधान का स्वरूप सघीय है परन्तु विश्व के अन्य संघ राज्यों के विधान की असमानता में, हमारा विधान संघात्मक और एकात्मक दोनों ही है जैसा कि अन्यत्र लिखा जा चुका है। समय और परिस्थितियों के अनुसार वह अपना स्वरूप परिवर्तित कर सकता है। सामान्य परिस्थितियों में हमारे विधान का स्वरूप सघात्मक ही रहेगा, परन्तु असाधारण परिस्थितियों में इस का स्वरूप एकात्मक होगा।

हमारे विधान की एकात्मकता के इन लक्षणों का निर्देश करने वाली मुख्य धाराएँ निम्नलिखित हैं :—

(अ) हमारे विधान में यह निश्चित कर दिया गया है कि अवशेष अधिकार केन्द्र के हाथों में रहेंगे। जो विषय राज्यों की तालिका अथवा एकीभूत तालिका में सम्मिलित नहीं है उनके सम्बन्ध में यह निश्चित कर दिया गया है कि वे केन्द्र के हाथों में रहेंगे।

(ब) विधान में पूर्णत स्पष्ट कर दिया गया है कि राष्ट्र घातक असाधारण परिस्थितियों के अवसर पर केन्द्र कानूनी रूप से संघ में सम्मिलित होने वाले राज्यों के शासन में हस्तक्षेप कर सकेगा। उदाहरणार्थ, यदि राज्य परिषद् (Council of States) अपने उपस्थित सदस्यों के $\frac{2}{3}$ बहुमत द्वारा यह प्रस्ताव पास करदे कि राष्ट्रीय हित के लिए प्रान्तीय तालिका के कुछ विशेष विषयों के सम्बन्ध में यह आवश्यक है कि ससद कानूनों का निर्माण करे तो उन विषयों के सम्बन्ध में सघीय संसद् को कानून बनाने का अधिकार होगा।

(स) इसके अतिरिक्त विधान द्वारा राष्ट्रपति को यह अधिकार प्रदान किया गया है कि यदि उसे यह अनुभव हो कि युद्ध अथवा किसी बाह्य अथवा आन्तरिक अशान्ति के कारण ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गई है जिससे भारतवर्ष की सुरक्षा के नष्ट होने का भय है, तो वह इस प्रकार की घोषणा कर सकता है। जितने समय तक यह घोषणा प्रचलित रहेगी उतने समय तक केन्द्रीय ससद् को प्रान्तीय तालिका मे उद्धृत विषयों के सम्बन्ध में कानून बनाने का अधिकार होगा। राष्ट्रपति भी किसी प्रान्त को वहाँ के शासन सचालन के सम्बन्ध मे आदेश प्रदान कर सकते हैं।

(द) 'लीडर' के सम्पादक ने इस व्यवस्था का वर्णन निम्नलिखित शब्दों में किया है :

"विधान निर्माताओं का उद्देश्य यही था कि प्रान्तीय कार्यकारिणी सभाओं को, जो अन्तिमरूप से प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा के प्रति उत्तरदायी होंगी, केन्द्रीय कार्यकारिणी के नियन्त्रण में रखा जाए जो सघीय निर्वाचकों के नियन्त्रण में होगी।"

विधान मे कुछ ऐसी धाराए है जिनसे संघीय इकाइयो के शासन और केन्द्रीय शासन में घनिष्ट सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है। राष्ट्रपति स्वयं प्रान्तीय अध्यक्षों को आदेश भी दे सकता है और अपने नियन्त्रण में भी रख सकता है। उदाहरण स्वरूप विधान की धारा १६० द्वारा राष्ट्रपति को यह अधिकार प्रदान किया है : "राष्ट्रपति को किसी प्रान्त के गवर्नर के उन कार्यों के सम्पादन के सम्बन्ध में नियम बनाने का अधिकार होगा जिनके विषय में विधान भी मौन है. . ।"

(३) समान नागरिकता

सामान्यतः एक सघीय राज्य मे दोहरी नागरिकता होती है—संघीय नागरिकता और प्रान्तीय नागरिकता। संयुक्त राज्य अमरीका में दोहरी राज्य शासन विधि दोहरी नागरिकता द्वारा सम्पादित होती है। परन्तु भारतीय सघ में दोहरी राज्य शासन विधि होते हुए भी नागरिकता एक ही है। भारतवर्ष मे विभिन्न प्रान्तों की नागरिकता नाम की कोई वस्तु नहीं, देश के समस्त व्यक्ति सघीय नागरिक हैं। प्रत्येक भारतीय को नागरिकता के समान अधिकार प्राप्त है चाहे वह किसी प्रान्त में निवास करता हो। इस धारा का उद्देश्य यही है कि उन भारतीयों मे, जिनकी मातृभूमि एक है, जो समान सामाजिक और राजनैतिक अधिकारों का भोग कर रहे हैं, और देश और राष्ट्र के प्रति जिनके समान कर्तव्य है, उद्देश्य, हित और लक्ष्य की एकता की भावना अथवा चेतना को जाग्रत करे और उसका विकास करे। इस धारा का लक्ष्य यही है कि प्रान्तीय हितो के प्रति श्रद्धा से भी उच्च स्थान राष्ट्रीय हित को प्रदान किया जाए। और इसका अन्तिम उद्देश्य यही है कि इसके द्वारा सम्पूर्ण सघ की नींव और भी दृढ़ की जा सके।

(४) समग्र विधान

विश्व के अन्य संघ राज्यों में विशेष रूप से अमरीका में सघ और इकाइयों के विधान भिन्न-भिन्न है। सघ में सम्मिलित होने वाली इकाइयों के व्यवस्थापक, कार्यकारिणी एव न्याय सम्बन्धी समस्त पदाधिकारी उन इकाइयों के विधान के आधीन होते हैं। इस प्रणाली के विपरीत कनाडा के विधान में केवल सघ का विधान ही नहीं, वरन् उसमें सघ में सम्मिलित होने वाली इकाइयों का विधान भी सम्मिलित है। भारतवर्ष का विधान अमरीका के विधान के समान न होकर कनाडा के विधान के समान है। यहाँ भी संघ का एक ही विधान है जो समग्र एव पूर्ण है अथवा जिसमें

इकाइयों का विधान भी सम्मिलित है, तथा जिसमें से कोई राज्य स्वय को पृथक नहीं कर सकता।

(५) समानता के हितार्थ प्रस्तावित धाराएँ

केवल इतना ही नहीं भारतीय विधान में कुछ धाराएँ इस प्रकार के साधन रूप में प्रस्तुत की गई हैं जिनसे भारतीय सघ को वह समानता प्राप्त हो सके जो एक देश की एकता के लिए आवश्यक है। यह साधन है —(अ) समस्त भारत के लिए एक न्यायालय, (ब) फ़ौजदारी और दीवानी सम्बन्धी कानूनों में समानता, और (स) सघ और विभिन्न प्रान्तों के मुख्य पदों के लिए एक ही अखिल भारतीय सिविल सर्विस। विधान में यह प्रस्तावित किया गया है कि शासन का स्तर उत्तम बनाए रखने के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण पदों पर अखिल भारतीय सिविल सर्विस के कर्मचारी नियुक्त किए जाएँगे। भारतीय सघ में दोहरी न्याय प्रणाली नहीं है। सर्वोच्च न्यायालय और प्रान्तों की हाई कोर्ट एक ही शृङ्खला की कड़ियाँ हैं। अमरीका में इस प्रकार की व्यवस्था नहीं। वहाँ सघ तथा सघ में सम्मिलित होने वाली इकाइयों के कानूनों की व्याख्या करने के लिए पृथक न्यायालय स्थापित किए गए हैं।

(६) राष्ट्रपति का विशेष स्थान

अमरीका के सघ राज्य की कार्यकारिणी का अध्यक्ष जनता द्वारा निर्वाचित किया जाता है, कनाडा और आस्ट्रेलिया के शासनाध्यक्ष की नियुक्ति सम्राट (Crown) वहाँ के मन्त्रिमण्डलों की सम्मति से करते हैं, परन्तु भारतीय सघ के अध्यक्ष का निर्वाचन सघीय ससद और प्रान्तों की व्यवस्थापिका सभाए करती है। विश्व के अन्य सघ राज्यों के शासनाध्यक्ष को स्पष्टरूप से व्यवस्थापक अधिकार प्रदान नहीं किए गए हैं, परन्तु भारतीय सघ के अध्यक्ष को स्पष्ट व्यवस्थापक तथा असाधारण परिस्थिति सम्बन्धी अधिकार प्रदान किए गए है।

(७) विलक्षण शक्ति वितरण

विश्व के अन्य सघ राज्यों में शक्ति वितरण के सम्बन्ध में जो प्रणाली स्वीकार की गई है वह यह है कि सघीय अथवा प्रान्तीय सरकार दोनों में से एक को कुछ विशेष अधिकार सौंप दिए जाते हैं, और अवशेष अधिकार दूसरे को सौंप दिए जाते हैं। अमरीका और आस्ट्रेलिया में केन्द्रीय सरकार को कुछ विशेष निश्चित अधिकार सौंप दिए गए हैं और अवशेष अधिकार सघ में सम्मिलित होने वाले राज्यों को सौंप दिए गए हैं। कनाडा में केन्द्रीय सरकार और सघ में सम्मिलित होने वाले राज्यों की सरकारों को—दोनों को—कुछ विशेष निश्चित अधिकार सौंपे गए हैं और अवशेष अधिकार संघीय अथवा केन्द्रीय सरकार को सौंप दिए गए हैं। भारतीय सघ में सघीय और प्रान्तीय सरकारों के अधिकारों का उल्लेख

स्पष्ट रूप से तीन विस्तृत व्यवस्थापक तालिकाओं में किया गया है और अवशेष अधिकारों को केन्द्र को सौंपा गया है। यह व्यवस्था सघीय विधान के इतिहास में एक नवीन वस्तु है परन्तु भारत के सन् १९३५ के विधान की इस पर स्पष्ट छाप है।

(८) अचल विधान और उसकी दुर्बलता

विश्व के अन्य समस्त संघीय विधानों से भारतीय संघ का विधान सबसे कम अचल है। इसे युक्ति संगत रूप तथा यथोचित रीति द्वारा लचीला रखा गया है। इसमें स्वयं में विकास एवं प्रगति के बीज सन्निहित हैं।

भारतीय संघ की व्यवस्था उसी सीमा तक अचल है कि इसके विधान में सशोधन करने के लिए एक विशेष प्रणाली का आश्रय लेना पड़ता है। विधान में किए जाने वाले संशोधन का प्रस्ताव राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त करने से पूर्व, दोनों भवनो के स्पष्ट बहुमत तथा उपस्थित सदस्यों के $\frac{2}{3}$ भाग द्वारा पास हो जाना चाहिए। यदि संशोधन के उस प्रस्ताव द्वारा व्यवस्थापक अधिकारों की किसी तालिका में परिवर्तन होता हो, अथवा संसद में प्रन्तो के प्रतिनिधियों की सख्या पर उसका प्रभाव पडता हो, अथवा सर्वोच्च न्यायालय के अधिकारों पर उसका प्रभाव पड़ता हो, तो इस प्रकार का प्रस्ताव कानून बनने से पूर्व प्रान्तो के बहुमत द्वारा स्वीकृत होना चाहिए।

फिर भी हमारा विधान निम्नलिखित के कारण लचीला कहा जा सकता है :—

(अ) अमरीका के विधान में प्रस्तावित संशोधन की प्रणाली से हमारे विधान की प्रणाली कहीं अधिक सरल है; और

(ब) बिना कोई संशोधन हुए यह विधान स्वय को विभिन्न परिस्थितियों के अनुकूल बना सकता है। उदाहरणार्थ, असाधारण परिस्थितियों में राष्ट्रपति की लेखनी के एक सकेत मात्र से यह विधान एकात्मक स्वरूप ग्रहण कर सकता है।

(९) असघात्मक प्रतिनिधित्व

विश्व के अन्य संघ राज्यों के द्वितीय भवन में प्रत्येक राज्य को समान प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाता है चाहे उसका आधार एवं उसकी जन सख्या कुछ भी हो। प्रथम भवन में संघीय इकाइयों की एकता प्रतिपादित की जाती है। प्रथम भवन के सदस्यों का निर्वाचन सघ राज्य में सम्मिलित होने वाले राज्य मिलकर करते है। इस प्रकार एक भवन द्वारा संघ में सम्मिलित होने वाले राज्यों की समानता और स्वतन्त्रता को प्रकट किया जाता है, और दूसरे भवन द्वारा राष्ट्रीय एकता की स्थापना की जाती है। भारतीय संघ में द्वितीय भवन में समान प्रतिनिधित्व को स्थान प्रदान नहीं किया गया है क्योंकि इस भवन में प्रतिनिधित्व का आधार समान प्रतिनिधित्व न होकर उनकी जनसंख्या है।

इस प्रकार हमारा विधान विश्व के अन्य सघ राज्यों के विधानों से भिन्न है। सघीय प्रणाली की उपर्युक्त नवीन विशेषताओं के अध्ययन के पश्चात् यह कहना असगत न होगा कि हमारा विधान स्वय ही एक प्रकार है।

सामान्य आलोचनाएँ और उनका निरीक्षण

कोई भी विधान, चाहे वह कितना ही पूर्ण क्यों न हो और उसकी रचना और शब्दावली कितनी ही सुन्दर क्यों न हो, आलोचना से नहीं बच सकता, और यही बात भारतीय विधान के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। यह अन्यत्र भी लिखा जा चुका है कि भारतीय विधान की कड़ी आलोचना की गई है। इन आलोचनाओं का विवेचन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है :—

(१) धर्मज्ञों के लिए वास्तविक स्वर्ग के रूप में

आलोचकों का मत है कि यदि अमरीका का विधान "सामान्य व्यक्तियों का विधान है तो भारतीय विधान धर्मज्ञों का विधान है।" यह विधान धर्मज्ञों द्वारा निर्मित धर्मज्ञों के लिए ही है। इस कथन पर किसी को कोई शका अथवा आक्षेप नहीं होना चाहिए क्योंकि यह कथन केवल एक सत्य का प्रतिपादन मात्र करता है। प्रत्येक विधान जिसे वास्तविक अर्थ में विधान कहा जा सकता है—धर्मज्ञों द्वारा निर्मित होता है, और बिना उनकी विद्वत्ता और अनुभव की सहायता के कोई इस क्षेत्र में पग रखने का साहस भी नहीं कर सकता। यह भी सत्य है कि वैधानिक कानून से सम्बन्धित किसी प्रश्न का निर्णय अथवा हल उस क्षेत्र के धर्मज्ञों की सहायता बिना प्राप्त नहीं किया जा सकता। परन्तु उपर्युक्त कथन के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि यह कथन एक घृणित अर्थ का प्रतिपादन करता है, अर्थात् विधान का निर्माण जानबूझ कर इस प्रकार का किया गया है कि उसकी व्याख्या में कठिनाई उपस्थित हो, और विधान की दुर्बोध, असाध्य और जटिल धाराओं के परिणाम स्वरूप धर्मज्ञों को अधिक मुकदमे प्राप्त हो सकें। परन्तु यह आलोचना कुछ अधिक विवेकपूर्ण नहीं। जिस विधान सभा ने हमारे विधान का निर्माण किया था, उसमें धर्मज्ञ भी थे और अन्य व्यक्ति भी थे। विधान की धाराओं के निर्माण के सम्बन्ध में जो वादविवाद हुआ उसमें धर्मज्ञों के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों ने भी उतने ही उत्साह से भाग लिया था जितने उत्साह से धर्मज्ञों ने। विधान में जो आदर्श और भावनाएँ उल्लिखित हैं वे केवल धर्मज्ञों के कोष से ही नहीं लिए गए हैं, वरन् सामान्य जनता की समझ और दृष्टिकोण से सम्बन्ध रखते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि विधान सभा का प्रधान पथ प्रदर्शक तथा उसके मुख्य सहकारी धर्मज्ञ ही थे, परन्तु वे सब ऐसे व्यक्ति थे जिन्हें धन की लोलुपता और आकर्षण नहीं था। इसके अतिरिक्त यह कहना कि विधान की धाराओं को जानबूझ कर जटिल और दुरूह रखा गया है केवल इसीलिए

कि धर्मज्ञों के व्यवसाय में उन्नति हो—विधान सभा के धर्मज्ञ सदस्यों के उस त्याग और देश भक्ति के प्रति अन्याय करना है जिसका प्रदर्शन उन्होंने अपने आकर्षक और धन बरसाने वाले व्यवसाय को स्वेच्छा से त्यागने मे किया था—केवल इसीलिए कि राष्ट्र के विधान निर्माण के कार्य में उनके ज्ञान और अनुभव द्वारा भी कुछ सहायता पहुँचाई जा सके।

यह कहना तो और भी असंगत है कि हमारे विधान से धर्मज्ञों को अधिक लाभ होगा, क्योंकि जटिलता, दुरुहता और दुर्बोधता से बचने के हेतु हमारा विधान अत्यन्त विस्तृत और व्यापक बनाया गया है, तथा प्रत्येक वस्तु का उसमें विस्तृत वर्णन है। धर्मज्ञ तो विधाता के वह जीव है जो अन्धकार मे प्रकाश की एक हलकी किरण पाकर भी टटोलते हुए एक निश्चित निष्कर्ष पर पहुँच जाते है। परन्तु हमारा विधान तो सूर्य के प्रकाश के समान प्रकाशमान, उज्ज्वल एवं स्पष्ट है; तब ऐसी परिस्थिति मे उनका कार्य अत्यन्त सीमित हो जाता है।

(२) अनुकरण का भंडार

हमारे विधान के विरुद्ध एक आरोप यह भी लगाया गया है कि यह अनुकरण के भंडार के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। हमारा विधान विश्व के अन्य विधानो का विषम, असंगत एवं असम्बद्ध सम्मिश्रण मात्र है—केवल खिचड़ी के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारे विधान निर्माताओ ने विश्व के अन्य विधानों का अनुकरण किया है और स्वतन्त्रता के साथ किया है। कुछ उदाहरणों से यह सत्य भली भांति स्पष्ट हो जायगा। भारतीय विधान का प्रजातन्त्रात्मक आधार एवं वयस्क मताधिकार पाश्चात्य विचार धाराओं के आदर्श हैं जिनका पूर्व से कोई परिचय नहीं। हमारे विधान का पार्लियामेण्ट का स्वरूप भी हमारा अपना नहीं अंगरेज़ों का ही है। विधान का मौलिक अधिकारों का अध्याय अमरीका के 'अधिकार पत्र' के समान ही है। राज्य की नीति के निर्देशक सिद्धान्तों में हमें आइरिश आदर्श के दर्शन होते हैं। भारतीय संघ का राष्ट्रपति फ्रांस के राष्ट्रपति का प्रतिरूप ही है।

भारतीय विधान के निर्माताओं ने विश्व के अन्य विधानों का अनुकरण तो किया है परन्तु उन्होंने उस अनुकरण को भी भारतीय आवश्यकताओं के अनुकूल बना दिया है। हमारा विधान विश्व के अन्य विधानों से ली गई धाराओ का असंगठित एवं अव्यवस्थित समूह नहीं है। अनुकरण की गई धाराओं का ताना-बाना इस प्रकार से बुन दिया गया है कि उसमें चारों ओर सम्बद्धता एवं असंदिग्धता का दर्शन होता है। यहाँ यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि हमारे विधान निर्माताओं ने जो कुछ अनुकरण किया वह आँखें मूँद कर नहीं किया बल्कि उन्होंने आँखें खोलकर केवल उन धाराओं का ही अनुकरण किया है जो अपने देश के लिए लाभदायक सिद्ध हो सकती

थीं। देश के हितार्थ उन्होंने अन्य विधानों की धाराओं को अस्वीकार करने में लज्जा का अनुभव नहीं किया। विधान सभा के सभापति डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद ने डके की चोट यह कहा था कि "हम इस बात के लिए बाध्य नहीं हैं कि एक ऐसा विधान निर्मित करें जो पूर्ण रूप से विश्व के अन्य विधानों के ज्ञात प्रकारों की पंक्ति में आता हो।"[1] एक नागरिकता तथा देश के लिए एक सुसगठित न्याय व्यवस्था—यह मौलिक एव नवीन प्रवर्त्तन अथवा नवीन पद्धति है जो हमारी राष्ट्रीय एकता के स्वस्थ विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

इसके अतिरिक्त जो आलोचक अनुकरण के दृष्टिकोण के आधार पर हमारे विधान की आलोचना करते हैं, कदाचित् उस लक्ष्य के प्रति उनकी धारणा मिथ्या है जो विधान सभा के सदस्यों ने अपने सम्मुख रखा था। उनका विचार है कि कदाचित् वे सदस्य एक मौलिक विधान का निर्माण कर रहे थे। परन्तु वास्तविकता तो यह है कि उनका उद्देश्य केवल एक ऐसा विधान निर्माण करना था जिसके द्वारा उत्तम रूप से कार्य व्यवस्था हो, चाहे वह विधान मौलिक हो अथवा इसके विपरीत। इसके अतिरिक्त आज जब कि विश्व के विधान—जो अनेक प्रकार के हैं—इतने व्यापक एव विकसित हो गए हैं, कि एक मौलिक विधान का निर्माण करने की चेष्टा केवल एक भावुक कल्पना ही होती जिसमें तर्क और आधार न होते।

(३) जनता का विधान ?

आलोचकों का एक आरोप यह भी है कि यह विधान सभा के उन सदस्यों के परिश्रम का फल है जो किसी भी रूप में जनता के प्रतिनिधि नहीं थे। इस सभा के सदस्यों का निर्वाचन प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं के सदस्यों ने साम्प्रदायिक आधार पर अप्रत्यक्ष प्रणाली द्वारा किया था। यह निर्वाचन सन् १९४६ में सम्पन्न हुआ था। जिन मतदाताओं ने इन सदस्यों को चुना था वे वयस्क मतदाताओं का केवल ११°/॰ से १४% के अनुपात में थे। सन् १९४७ के स्वातन्त्र्य एक्ट के पश्चात् यही विधान सभा कानून निर्माण करने वाली सभा के रूप में परिवर्त्तित कर दी गई। विभाजन के पश्चात् यह सस्था ३०७ सदस्यों की अवशेष सस्था के रूप में रह गई जिसमें २३५ सदस्य प्रान्तों के थे और ७२ सदस्य देशी राज्यों के। समाजवादी दल का यह मत है कि यह विधान सभा राजनैतिक दृष्टिकोण से जनता की वास्तविक प्रतिनिधि नहीं थी क्योंकि इसका निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर नहीं हुआ था, इसलिए इस सभा द्वारा निर्मित विधान को जनता की इच्छाओं और आकांक्षाओं का प्रतीक नहीं कहा जा सकता।

---

1 "We are not bound to have a constitution which completely and fully falls in line with known categories of constitutions in the world"

—Dr Rajendra Prasad.

उस समय इस तर्क की नींव भी हिल जाती है जब हम इस सत्य का अनुभव करते हैं कि उस समय राजनैतिक वातावरण एवं परिस्थितियाँ कुछ इस प्रकार की थीं कि यदि वयस्क मताधिकार के आधार पर भी उस समय इस प्रकार की सभा का निर्वाचन होता तो कॉंग्रेस की विजय निश्चित थी, और तब उस दशा में भी विधान सभा का स्वरूप, उसकी सम्मति और आदर्श इसी प्रकार के होते। परिणामस्वरूप हमारा विधान भी इसी प्रकार का होता। श्रमिक नेता श्री एन. एम. जोशी ने भी इस दृष्टिकोण का समर्थन निम्नलिखित शब्दों में किया था :

"यह स्वीकार करना पडेगा कि वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचन की व्यवस्था करने में यथेष्ट समय लगता, और यदि वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचन की व्यवस्था की भी जाती तो कदाचित् कॉंग्रेस दल को विधान निर्माण करने वाली संस्था में निश्चित बहुमत प्राप्त होता।" [१]

(४) लौकिक राज्य शासन विधि से भय

कुछ विचारकों को लौकिक भारतीय राज्य की धारणा मे एक सकट का आभास प्रतीत होता है। राज्य शासन विधि की शैशवास्था की इस विशेपता के कारण यह सभव है कि जनता पूर्ण रूप से अनात्मवादी अथवा भौतिकवादी दृष्टिकोण का विकास कर ले और रामायण, भगवद्गीता आदि जैसे आत्म-ज्ञान के कोषों की ओर से अनभिज्ञ हो जाय, और उन्हे अरुचि की दृष्टि से देखने लगे। ऐसे आलोचकों का विचार है कि लौकिकता के कारण भारतवर्ष कहीं धर्म और ईश्वर को न त्याग बैठे और अनीश्वरवादी एवं नास्तिक न हो जाए।

परन्तु यह विचारधारा भ्रमपूर्ण है। यह आलोचना लौकिक राज्य के मिथ्या एव भ्रमित अर्थ पर आधारित है। लौकिक राज्य शासन विधि, जैसा कि वेंकट रमन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'लौकिक राज्य पर एक प्रवन्ध' (A Treatise on Secular State) में लिखा है "न तो धार्मिक होती है न अधार्मिक और न धर्म के विरुद्ध होती है, परन्तु वह धार्मिक सिद्धान्तों और कार्यों से पूर्ण रूप से असम्बद्ध होती है और इस प्रकार धार्मिक क्रियाओं मे वह तटस्थ रहती है।"[२]

1 "It has to be admitted that organising elections on adult franchise basis would have taken some substantial time and perhaps even if elections on adult sufferage basis had been held the congress party would have secured a definite majority in this constitution making body"
From 'Blitz'—dated 26th January, 1950 —Sri N M Joshi.

2. A secular polity "is neither religious nor irreligious, not anti-religious but is wholly detatched from religious dogmas and activities and is thus neutral in religious matters."

—Venkataraman.

इस प्रकार भारतवर्ष में लौकिक राज्य का सकेत अथवा उद्देश्य वास्तविकता और अधार्मिकता का प्रचार नहीं। इसके अतिरिक्त धर्म और विश्वास व्यक्तिगत आचरण की वस्तु हैं जिन पर राज्य का नियन्त्रण नहीं के समान रहता है। गीता और महाभारत, जो धार्मिक बाधाओं के होते हुए भी जीवित रहीं, विश्व में व्याप्त आज के धार्मिक सहिष्णुता के युग में किसी भी प्रकार लोप नहीं हो सकतीं। यही सहिष्णुता लौकिकता का मूल आधार है। इन पुस्तकों का अपना एक स्थान है, अपना एक पृथक् महत्व और वैभव है, जिसे न तो कालचक्र ही समाप्त कर सकता है और न मानव की भावनाओं का ज्वार ही।

(५) भारतवर्ष में प्रजातन्त्र ?

कुछ आलोचकों का मत यह भी है कि अभी भारतवर्ष में प्रजातन्त्रात्मक सस्थाओं का प्रवेश न कराया जाए। भारतीय विधान के अन्तर्गत २१ वर्ष तथा उससे अधिक आयु का व्यक्ति मतदान कर सकता है। आलोचकों का कथन है कि भारतवर्ष अभी इस योग्य नहीं कि यहाँ इतने व्यापक रूप से प्रजातन्त्र का प्रयोग किया जाए। दृढ निराशावादी के स्वभाव वाले व्यक्ति के समान वे भारतवर्ष के समस्त व्यस्क नागरिकों को मताधिकार प्रदान करने से डरते हैं—उन नागरिकों को जो अभी शिक्षित नहीं हैं और जिन्हें १५० वर्षों से प्रजातन्त्रात्मक सरकार की शिक्षा नहीं मिली है। इस स्थान पर आलोचकों का डर केवल भ्रम मात्र ही है। वे इस स्थायी सत्य को विस्मरण कर बैठते हैं कि प्रजातन्त्र स्वय ही एक पाठशाला है, और दोष और उनके सुधार के साथ प्रजातन्त्र स्वय व्यक्तियों को हृदयों में बिठा देता है।

(६) असघात्मकता का आरोप

कुछ आलोचकों का मत यह है कि भारतवर्ष के लिए संघ शासन उपयुक्त नहीं। इन आलोचकों में प्रोफेसर के० सी० व्हेर मुख्य हैं। उनका मत है कि :

"इसके (विधान के) द्वारा सरकार की एक ऐसी प्रणाली स्थापित की गई है जो अधिक से अधिक पाक्षिक रूप से सघात्मक है, जिसका स्वरूप लगभग निक्षेपण की प्रवृत्ति से आच्छादित है, यह अतिरिक्त एव सहायक सघात्मक विशेषताओं वाला एकात्मक राज्य है न कि अतिरिक्त एकात्मक विशेषताओं वाला सघात्मक राज्य।"[1]

कदाचित हमारे विधान की सघात्मकता के एकात्मक लक्षण ने प्रोफेसर व्हेर को अत्यन्त आगे बढा दिया है। यह एक वास्तविकता है, जैसा कि डाक्टर डी० एन०

---

1 "It establishes indeed a system of government which is at most quasi-federal almost devolutionary in character, a unitary State with subsidiary federal features rather than a federal state with subsidiary unitary features"

—Prof K C Wheare

बनज ने लिखा है कि "भारतवर्ष के विधान का स्वरूप संघात्मक है परन्तु उसमें व्यवस्थित एकात्मक लक्षण भी हैं।"[1]

परन्तु यह एकात्मक लक्षण किसी भी रूप में हमारे विधान के संघात्मक स्वरूप के विरुद्ध नहीं है। विधान निर्माताओं का उद्देश्य यही था कि असाधारण परिस्थितियाँ उत्पन्न होने पर यही सघात्मक प्रणाली एकात्मक सरकार का स्वरूप ग्रहण करले, और जिस समय राजनैतिक वातावरण शान्त एवं स्वच्छ हो तब यह प्रणाली संघात्मक ही रहे। वास्तव में विधान सभा के सदस्यों ने इस स्थान पर अपनी विद्वत्ता प्रकट की है। राजनैतिक विचारकों का यह मत है कि सघात्मक सरकार एक दुर्बल सरकार होती है और विशेष रूप से असाधारण परिस्थितियों मे, क्योंकि इस प्रकार की व्यवस्था मे शक्ति एक हाथों में केन्द्रित न रह कर अनेक इकाइयों मे विभाजित रहती है। एक दार्शनिक की विचारधारा में वहते हुए आलोचकों का यह कथन है कि जब मूसलाधार वर्षा होगी और जल प्रवाह बढ़ेगा, जब आँधी और तूफान के वेग में और भी वृद्धि होगी, जब आन्तरिक झगडों और बाह्य आक्रमणों द्वारा इसके स्थायित्व पर प्रहार होंगे, तब संघीय भवन का, जो स्वय मे विभाजित है, खडा रहना असम्भव हो जाएगा। इसलिए यह आवश्यक ही है कि एक संघीय शासन प्रणाली मे असाधारण परिस्थितियों का सामना करने की भी कुछ व्यवस्था होनी चाहिए। इस दिशा मे भारतीय विधान एक विस्तृत वैज्ञानिक एव व्यावहारिक प्रयत्न का प्रतिनिधित्व करता है। "हमारे विधान द्वारा लचीली संघात्मक व्यवस्था प्रस्तावित की गई है, जिसे इतना झुकाया या मोड़ा जा सकता है कि वह असाधारण परिस्थितियो का सामना कर सके और उसका स्वरूप भी नष्ट न हो; और जब वे असाधारण परिस्थितियाँ समाप्त हो जाए तब वह फिर अपने मूल स्वरूप को ग्रहण कर ले—उसी प्रकार जिस प्रकार कि एक वाहन के लिए मार्ग बनाने के हेतु एक वृक्ष की शाखा को एक ओर खींच लिया जाए और जब वह वाहन निकल जाए तब फिर उस शाखा को छोड दिया जाए ताकि वह अपने मूल स्थान पर आ जाए"।[2] इस दिशा में हमारा विधान विश्व के लिए एक आदर्श है और उन आलोचकों के इस कथन का उत्तर है कि सघीय सरकार में दृढ एव सुसंगठित राज्य शासन विधि हो ही नहीं सकती।

---

1 "India's constitution is federal in form with a pronounced unitary bias" —Dr D. N Bannerji.

2 "Our constitution provides for a flexible federal structure which can be stretched or bent so as to meet emergencies without breaking its framework, and when the emergency has passed it can slip back into its old form like a tree whose outer branches have been pulled aside to let a vehicle pass."

उपसंहार

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट हो जाएगा कि हमारे विधान में अनेक प्रशंसात्मक विशेषताएं हैं यद्यपि उसमें कुछ दोष भी हैं। पूर्ण हो अथवा अपूर्ण, गुणी हो अथवा दोषी, यह विधान कम से कम एक सुनिश्चित योजना तो है। भारतवर्ष के देश भक्तों का यह विधान एक ऐसा निष्कपट एवं शुद्ध प्रयत्न है जिसका लक्ष्य राष्ट्र की शक्तियों को प्रगतिशील और उन्नति शील धाराओं की ओर प्रवाहित करना है। विश्व के अन्य विधानों के समान हमारा विधान भी अभी केवल अस्थि-पंजर मात्र है। जनता ही इसका जीवन और प्राण है। भविष्य में हमारे विधान का स्वरूप वही होगा, जो हम इसे प्रदान करेंगे।

तीसरा अध्याय

नागरिकता

"नागरिक समाज के वे सदस्य होते हैं जो कुछ विशेष कर्त्तव्यों द्वारा समाज से सम्बन्धित होते हैं, जो समाज के नियन्त्रण मे रहते हैं और जो समाज की सुविधाओं का समान आनन्द भोगते हैं।"[1]

—*वटल*

एक स्पष्ट एवं भिन्न भारतीय नागरिकता की संस्था का व्यावहारिक महत्त्व इसी में है कि नागरिकों का अपना एक पृथक समुदाय अथवा समूह है, इन्हीं को भारतीय नागरिकता के अधिकार और कर्तव्य प्राप्त हैं। अधिकारों मे सामाजिक और राजनैतिक दोनों प्रकार के अधिकार सम्मिलित हैं। इसके विपरीत राज्य के प्रति उनके कुछ कर्तव्य भी होते हैं—विशेष रूप से यह कि राज्य के विरुद्ध षडयन्त्र न रचें और सेना आदि में भरती होकर कुछ ठोस कार्य करें। यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि नागरिकों को समस्त मौलिक अधिकार भी प्रदान किए जाते हैं, जो व्यक्ति नागरिक नहीं है और भारतवर्ष में रह रहे हैं, उन्हें समस्त मौलिक अधिकार नहीं दिए जाते, उनमें से केवल कुछ ही अधिकार प्रदान किए जाते हैं।

भारतीय विधान में सघीय नागरिकता को ही स्वीकार किया गया है। अमरीका के समान यहाँ दोहरी नागरिकता नहीं होगी। भारतवर्ष में केवल संसद को ही यह अधिकार है कि भारतीय नागरिकता की प्राप्ति और हानि से सम्बन्धित कानूनों का निर्माण कर सके।

इस सम्बन्ध में कानून निर्माण करने का अधिकार विधान ने संसद को सौंप दिया है। विधान में केवल यही वर्णन है कि कौन-कौन से व्यक्ति भारतवर्ष के नागरिक कहला सकेंगे। इस प्रकार के व्यक्तियों के समूहों में प्रथम वे व्यक्ति आते हैं जो यहाँ उत्पन्न हुए हों और यहीं निवास कर रहे हों। यह स्पष्ट कर दिया गया है कि वह व्यक्ति, जिसने अथवा जिसके माता-पिता ने भारतीय सघ की सीमा में जन्म ग्रहण किया हो, अथवा भारतीय संघ की सीमा में विधान के लागू होने के दिनांक से (अर्थात् २६

---

[1] "Citizens are the members of the civil society bound to this society by certain duties, subjected to its authority and equal participation in its advantages."

—Vattal

जनवरी सन् १९५० से पूर्व) पाँच अथवा पाँच वर्ष से अधिक समय से रह रहा हो, भारतवर्ष का नागरिक कहलाएगा।

इसके अतिरिक्त जो व्यक्ति पाकिस्तान से यहाँ आगए हैं उनके सम्बन्ध में भी नागरिकता के अधिकारों का विवेचन विधान में दिया गया है। इस सम्बन्ध में प्रथम सामान्य नियम यह रखा गया कि इस प्रकार के किसी व्यक्ति अथवा उसके माता-पिता अथवा बाबा-दादी के लिए यह आवश्यक था कि उन्होंने अविभाजित भारतवर्ष[1] की सीमा में जन्म लिया हो। इसके अतिरिक्त यदि वह भारतवर्ष और पाकिस्तान में 'प्रवेश पत्र' का नियम लागू होने से पूर्व ही चला आया हो[2], तब तो वह भारतवर्ष की सीमा में का साधारण निवासी था ही, इसलिए वह अपने अधिकार से भी नागरिक हो सकता था। यदि १९ जुलाई सन् १९४८ के पश्चात् वह भारतवर्ष आया हो, तो विधान के लागू होने पर वह भारत सरकार के किसी रजिस्ट्रेशन पदाधिकारी को प्रार्थना पत्र देकर अपना नाम नागरिकों की सूची में रजिस्टर करवा सकता था। इस प्रकार का रजिस्ट्रेशन उसी समय सम्भव था जब कि प्रार्थी प्रार्थना-पत्र देने के दिनाक से ६ मास पूर्व से भारतवर्ष की सीमा में रह रहा हो। यदि कोई व्यक्ति १ मार्च सन् १९४७ के पश्चात् भारतीय सीमा को त्याग पाकिस्तान चला गया हो, तो किसी भी दशा में उसे नागरिक का पद नहीं सौंपा जायगा। उन व्यक्तियों के सम्बन्ध में यह नियम लागू नहीं होगा जो कानूनी 'प्रवेश पत्र' द्वारा स्थायी रूप से रहने के लिए फिर भारतवर्ष चले आए हों। विधान के अन्तर्गत इस प्रकार के व्यक्तियों को १९ जुलाई सन् १९४८ के पश्चात् का आया हुआ माना जाएगा, इसलिए वे नागरिकता प्राप्त करने के अधिकारी होंगे।

विधान में यह भी प्रस्तावित किया गया है कि जो भारतीय व्यक्ति भारतवर्ष से बाहर निवास कर रहे हों, उनको दो शर्तों पर भारतवर्ष का नागरिक स्वीकार किया जाएगा। प्रथम शर्त्त तो यह है कि इस प्रकार के किसी व्यक्ति अथवा उसके माता पिता अथवा बाबा-दादी के लिए यह आवश्यक है कि उन्होंने अविभाजित भारतवर्ष में जन्म लिया हो। यदि ऐसा है तो वह भारतवर्ष का नागरिक बन सकता है।

उपर्युक्त दी गई कोई भी धारा विदेशी राज्यों के नागरिकों के लिए लागू नहीं होंगी। कोई ऐसा व्यक्ति जिसने अपनी इच्छा से किसी अन्य राष्ट्र की नागरिकता स्वीकार करली हो तो वह व्यक्ति भारतवर्ष का नागरिक नहीं रह सकेगा।

जो व्यक्ति भारतवर्ष के नागरिक हैं अथवा जो स्वीकार किए जाएँगे, वे नागरिकता की प्राप्ति और हानि के सम्बन्ध में बनाए गए ससद के प्रत्येक कानून के आधीन होंगे। इस धारा के आधीन रहकर यह समस्त व्यक्ति भारतवर्ष के नागरिक रहेंगे।

---

[1] सन् १९३५ के मौलिक गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया एक्ट में दी गई व्याख्या के अनुसार, अर्थात् सन् १९४७ के स्वातन्त्र्य एक्ट द्वारा हुए सशोधन से पूर्व के एक्ट में।

[2] १९ जुलाई सन् १९४८ से पूर्व।

चौथा अध्याय

मौलिक अधिकार

"भारतीय नवीन विधान में जनता को जो मौलिक अधिकार प्रदान किए गए हैं वे विश्व के अनेक देशों के विधानों में पाए जाने वाले मौलिक अधिकार से कहीं अधिक व्यापक एवं वास्तविक हैं।" [1]

—*श्री एम० अनाथासयनम आयंगर*

आरम्भ में ही हमारा विधान अधिकारों के आज्ञा पत्र के रूप में हमें आकर्षित करता है। अधिकार किसी एक देश की स्वतन्त्रता के द्योतक हैं। यह प्रजातन्त्र की वह प्राचीर है जिसमें समस्त व्यक्तियों को बिना किसी भेदभाव के समान समझा जाता है। अधिकार एक ऐसे स्वतन्त्र और शान्त वातावरण को जन्म देते हैं जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार अधिक से अधिक उन्नति कर सके। विधान में अधिकारों के उल्लेख का तात्पर्य यही होता है कि राज्य की शक्ति को सीमित एवं संकुचित बना दिया जाए जिससे कि मानव की स्वतंत्रता सरकार के आधीन न होजाए तथा सरकार के कुछ विलक्षण से कार्यों के सम्पादन के हेतु उसका बलिदान न हो जाए। इसके अतिरिक्त किसी देश में अल्प दलों को मौलिक अधिकारों द्वारा ही सुरक्षा प्रदान की जाती है। अधिकारों के महत्त्व को दर्शाते हुए लास्की ने लिखा है :

"संक्षेप में राज्य अधिकारों को जन्म न देकर उन्हें स्वीकार ही करता है, और राज्य का स्वरूप उन अधिकारों से ही स्पष्ट होता है जो किसी काल में स्वीकृत किए जाते हैं।"

हमारे मौलिक अधिकारों की विलक्षणता

यद्यपि हमारे मौलिक अधिकार अन्य देशों के विधानों से असामान्य नहीं है परन्तु वे अनेक रूप से विचित्र एवं विलक्षण हैं।

---

1 "The Fundamental Rights guaranteed to the people under the new Indian Constitution are more elaborate and real than those found in the constitution of several other countries in the world."

—Sri. M. Anathasayanam Ayyanger.

प्रथम, हमारे विधान में मौलिक अधिकारों का अध्याय अत्यन्त व्यापक है और विधान की उस भूमिका को अधिक दृढ़ एवं निश्चित करने वाला है जो निम्न-लिखित शब्दों में हमारी स्वतन्त्रता के आज्ञापत्र का प्रारम्भ करती है :

"हम भारतवर्ष के निवासी, भारतवर्ष को सर्वोच्च सत्ताधारी प्रजातन्त्रात्मक गणतन्त्र में परिवर्तित करने की दृढ़ प्रतिज्ञा कर और उसके समस्त नागरिकों को :

सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय, विचार, विचार-प्रकाशन, धर्म, विश्वास और पूजा की स्वतन्त्रता, स्तर और अवसर की समानता और वैयक्तिक प्रतिष्ठा और राष्ट्र की एकता के आश्वासन के साथ उन सब में भ्रातृत्व की भावना का विकास प्रदान करने के हेतु,

अपनी विधान सभा में नवम्बर मास के छब्बीसवें दिवस, सन् १९४९ को इस विधान का निर्माण कर ग्रहण करते तथा स्वयं को प्रदान करते हैं।"

हमारे विधान निर्माताओं ने मौलिक अधिकारों द्वारा भारतवर्ष के नागरिकों को उपर्युक्त वस्तुएँ प्रदान करने का प्रयत्न किया है।

द्वितीय, हमारे मौलिक अधिकार कोरे आदर्श ही नहीं हैं। इसके विपरीत यह वे आदर्श हैं जिन्हें भारतवर्ष की परिस्थितियों के अनुकूल एक वास्तविकता के साँचे में ढाल दिया गया है। उदाहरणस्वरूप, स्वतन्त्रता के अगोचर आदर्श को हमारे विधान में इसी हेतु स्थान प्रदान किया गया है कि हमारे अन्य भ्राताओं को भी सुरक्षा प्राप्त हो सके, विशेष रूप से मुसलमानों को जो हमारे देश में आज अल्पदल के रूप में निवास कर रहे हैं। समानता के अलक्षित सिद्धान्त का प्रयोग समाज से तिरस्कृत अभागे अछूतों के उद्धार के लिए किया गया है। इस प्रकार हमारे विधान में जो मौलिक अधिकार हमें प्रदान किए गए हैं वे विशेषरूप से हमारे देश की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उचित हैं क्योंकि उनको एक वास्तविक दृष्टिकोण से ग्रहण किया गया है। इस प्रकार हमारे मौलिक अधिकारों के दो स्वरूप हैं। वास्तव में यह अधिकार दो प्रकार के है—प्रथम आदर्शात्मक और द्वितीय वास्तविक। प्रथम तो अलक्ष्य और अगोचर महत्त्व वाले वे प्रसिद्ध और परिचित मौलिक अधिकार हैं जिन्हें विश्व के अन्य विधानों द्वारा भी स्वीकार किया गया है। और द्वितीय कुछ अन्य वे अधिकार हैं जो इस अगोचर प्रकाश को व्यापक रूप से स्पष्ट करने वाले हैं, तथा जिन्हें इन अधिकारों को देश की आर्थिक और समाजिक विशिष्ट व्यवस्था के अनुकूल बनाने के हेतु ही प्रदान किया गया है। इस सम्मिश्रण के साथ हमारे विधान में भारत [illegible] वास्तविक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए यह आदर्श प्रतिपादित किए गए [illegible] आदर्शों को वास्तविक रूप प्रदान किया गया है। और इस सम्बन्ध [illegible] अधिकार विलक्षण और अनोखे हैं।

तृतीय, हमारे विधान में राज्य को अधिकारों के संरक्षक के रूप में स्वीकार किया गया है। राज्य हमारे अधिकारों और स्वतन्त्रता की रक्षा करता है। विचारवादी दल के एक विचारक के समान यह कहा जा सकता है कि राज्य की सुरक्षा का अर्थ वास्तव में नागरिकों के अधिकारों की रक्षा ही है। इस दृष्टिकोण से हमारे विधान में व्यक्ति को उसी सीमा तक स्वतन्त्रता प्रदान की गई है जिस सीमा से राज्य के जीवन को कोई भय न हो सके। इस प्रकार व्यक्ति पर इस बात का वल देकर कि कोई अधिकार निरंकुश नहीं है और किसी अधिकार के प्रयोग का सबसे बड़ा आधार है समस्त देश के हित के लिए उसका प्रयोग किया जाना हमारे विधान का उद्देश्य वैयक्तिक स्वतंत्रता के सिद्धान्त और राज्य सुरक्षा के आदर्श का सामंजस्य कर देना ही है। अमरीका की वैधानिक प्रणाली के निर्माताओं के समान हमारे विधान निर्मात राज्य की अचेतन ईर्षा से उत्साहित नहीं हुए थे। और इसीलिए एक ओर तो हमारा विधान व्यक्तियों के अधिकारो की रक्षा करता है और दूसरी ओर इन अधिकारों के निरंकुश प्रयोग से राज्य की रक्षा करता है। इतने मे तो हमारा विधान उचित एव मुक्त मार्ग पर है। इसका दोष है राज्य की सुरक्षा पर आवश्यकता से अधिक वल देने में—इतना अधिक कि व्यक्ति के अधिकार भी नष्ट होने लगें।

अंत मे हमारे विधान ने सर्वोच्च न्यायालय को हमारे अधिकारो का संरक्षक नियत किया है। जिस प्रकार पाठशाला का एक विद्यार्थी अपनी पुस्तक छिन जाने पर अपने गुरु के पास जाता है क्योंकि उस स्थान पर वही उसका सरक्षक है, उसी प्रकार अपनी मूल स्वतन्त्रता से वञ्चित किए जाने अथवा अपने अधिकारों के छिन जाने पर हम सर्वोच्च न्यायालय से प्रार्थना कर सकते हैं क्योंकि हमारे मौलिक अधिकारों का सरक्षक वही है। हमारी अधिकार-प्रणाली की यह एक अन्य विशेषता है।

हमारे अधिकार

अब हमें उन अधिकारो का अध्ययन करना चाहिए जो हमें विधान के अन्तर्गत प्रदान किए गए हैं। हमारे गणतन्त्रात्मक विधान के अन्तर्गत जो अधिकार हमें प्रदान किए गए हैं उनका वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है :—

समानता का अधिकार

समानता का अधिकार विधान के अन्तर्गत पाँच धाराओ में प्रतिपादित किया गया है। उनका सम्बन्ध (अ) न्याय सम्बन्धी समानता, (ब) धर्म, जाति, गोत्र, अथवा जन्मस्थान के आधार पर भेद भाव पर प्रतिबन्ध; (स) जन सेवा के कार्य में समान अवसर, (द) अछूत प्रथा की समाप्ति और (क) उपाधियों की समाप्ति से है।

हमारे विधान में यह निश्चिय किया गया है कि समस्त व्यक्तियों को न्याय के सन्मुख समानता होगी और कानून द्वारा समस्त भारतीयों को समान सुरक्षा प्रदान की जाएगी। धर्म, जाति, गोत्र अथवा जन्मस्थान के आधार पर राज्य अपने नागरिकों

में किसी प्रकार का भेद भाव नहीं करेगा। इन्हीं आधारों पर किसी व्यक्ति पर दूकान तथा अन्य जनस्थानों पर जाने तथा कुओं, तालावों, स्नानघाटों, सडकों तथा ऐसे अन्य स्थानो के प्रयोग करने पर कोई प्रतिवन्ध नहीं होगा जिनका प्रवन्ध आंशिक अथवा पूर्ण रूप से राज्य के धन से होता है अथवा जिन्हें राज्य ने जनकार्य के हेतु अर्पण कर दिया है। स्त्री तथा बालकों के सम्बन्ध में राज्य को विशेष व्यवस्था करने का अधिकार है।

उपर्युक्त आधारों में से किसी आधार के कारण किसी व्यक्ति को राज्य के अन्तर्गत किसी पद अथवा नौकरी के लिए अयोग्य नहीं ठहराया जाएगा और न उस के साथ भेद भाव का व्यवहार किया जाएगा। किसी पिछड़े हुए वर्ग के व्यक्तियों के लिए राज्य कुछ पद सुरक्षित रख सकता है जिससे कि राज्य के पदों में उस वर्ग को भी समान प्रतिनिधित्व प्राप्त हो सके।

अछूत प्रथा के नष्ट करने में समानता का अधिकार पूर्णता के उच्चतम शिखर पर पहुँच जाता है। किसी भी रूप में अछूत प्रथा लागू करने पर कानून के अनुसार दण्ड प्रदान किया जा सकता है। अछूत प्रथा की समाप्ति विश्व इतिहास में एक महान् सामाजिक क्रान्ति को पूर्ण करती है। लेखनी के एक सकेंत से ही भारतवर्ष के ३ करोड ५० लाख अछूत शताब्दियों की सामाजिक दासता से मुक्त हो गए।

इनके अतिरिक्त, सेना तथा विश्वविद्यालय से सम्बन्धित उपाधियों के अतिरिक्त राज्य अन्य प्रकार की कोई उपाधि प्रदान नहीं करेगा। भारतवर्ष का कोई नागरिक किसी विदेशी राज्य की उपाधि स्वीकार नहीं कर सकेगा। इसके अतिरिक्त यदि कोई व्यक्ति राज्य के अन्तर्गत लाभ अथवा धरोहर का पद ग्रहण किए होगा, वह व्यक्ति राष्ट्रपति की स्वीकृति विना किसी विदेशी राज्य से किसी प्रकार की भेंट, उपाधि, अथवा किसी प्रकार का पद ग्रहण नहीं कर सकेगा।

आलोचनात्मक निरीक्षण

कुछ इस प्रकार के आलोचक हैं जिन्हें समानता के अधिकार की उपर्युक्त धाराओं में कुछ दोष का अनुभव होता है। उनके दृष्टिकोण को सक्षेप में निम्न प्रकार से रखा जा सकता है —

(अ) कुछ विद्वानों का विचार है कि स्त्रियों और बालकों के लिए विशेष प्रबन्ध करने की धारा समानता के सिद्धान्त के विरुद्ध है। इसमें किसी प्रकार का पक्षपात नहीं होना चाहिए। इस सम्बन्ध में आलोचकों को यह ध्यान रखना चाहिए कि यदि इस सम्बन्ध में किसी प्रकार का पक्षपात भी ग्रहण किया गया है तो वह मानव प्रकृति का पक्षपात है जिसका सार एव तत्व उपकार है। स्त्रियाँ और बालक हमारे समाज के निर्बल अग हैं, इसलिए इनको विशेष रक्षा और व्यवस्था की आवश्यकता है।

(ब) कुछ विचारक इस धारा के भी विरुद्ध हैं कि पिछड़े हुए वर्गों के लिए कुछ पद पर सुरक्षित किए जांए। उनका कथन है कि इस धारा से योग्यता के आधार पर भरती करने के सिद्धान्त की नींव हिल सकती है। इस स्थान पर यह आलोचकगण यह विस्मरण कर जाते हैं कि अवसर की समानता का कुछ महत्त्व उसी समय हो सकता है जिस समय समस्त नागरिकों की स्थिति समान हो। एक भिखारी और एक राजकुमार को अवसर की समानता प्रदान करने का अर्थ होगा दरिद्र के लिए और भी अधिक दारिद्र। इस प्रकार से समानता प्रतिपादित करना अत्यन्त हास्यास्पद तथा अव्यावहारिक सिद्ध होगा।

कुछ विचारकों का यह भी विचार है कि पिछड़े हुए वर्गों की रक्षा सम्बन्धी धारा का उद्देश्य समाज के पतितों को उठाना है। हमारी सामाजिक-राजनैतिक संस्था के इन दुर्बल अंगों की अस्वाभाविक सुरक्षा के साथ इस धारा से समस्त समाज में बीमारी फैल जाएगी, जिससे समाज की उन्नति और स्वस्थ विकास में बाधा उत्पन्न होगी। यह आलोचकगण 'योग्यों के लिए ही जीवन' वाले सिद्धान्त के अन्तर्गत स्थित अमानुषिक प्रवृत्ति का ही भंडा फोड कर रहे हैं। एक माता के समान, प्रजातन्त्र का भी यही कर्त्तव्य है कि वह अपने सब पुत्रों का ध्यान रखे, चाहे वह योग्य हो अथवा अयोग्य। हमारे विधान के अन्तर्गत एक प्रजातन्त्रात्मक हितैषी राज्य की स्थापना की गई है, जिसका यह कर्त्तव्य है कि वह इस बात का ध्यान रखे कि समाज के कुछ व्यक्ति पिछड़े हुए होने के कारण अपने अधिकारों से वंचित न कर दिए जाएँ; उनका यह पिछड़ा हुआ होना दरिद्रता के कारण हो सकता है, उनकी नीच जाति के कारण हो सकता है अथवा उन सामाजिक 'रूढ़ियों' के कारण हो सकता है, जो अन्यायपूर्वक उनके जीवन, स्वतन्त्रता और उन्नति के अधिकारों पर आघात करती हैं। यह अभागे जीव अपने पिछड़ेपन के लिए स्वयं उत्तरदायी नहीं; उनकी दशा उन बन्दियों के समान है जिनके हाथ पैरों में बेड़ियाँ पड़ी हुई हैं, वे उन शृंखलाओं को तोड़ना चाहते हैं और तोड़ सकते हैं परन्तु विवशता से तोड़ नहीं पाते। वस्तुतः उनके इस दुःखी जीवन और उनकी हतभाग्यता का उत्तरदायी हमारा समाज ही है। वास्तव में ऐसा करना अत्यन्त ही अन्यायपूर्ण होता कि पिछड़े हुए वर्गों को, बिना उनके किसी अपराध के, दुःख सहने और मरने के लिए छोड़ दिया जाता। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इन आलोचकों की इस आलोचना का उतना ही महत्व है जितना किसी एक कुलीन तन्त्रवादी द्वारा की गई प्रजातन्त्र की अस्पष्ट आलोचना का।

(२) स्वतन्त्रता का अधिकार

हमारे विधान में स्वतन्त्रता के अधिकार का बड़ा व्यापक वर्णन किया गया है। धारा १९ के अन्तर्गत समस्त नागरिकों को (अ) भाषण और विचार प्रकाशन की स्वतन्त्रता का अधिकार, (ब) अस्त्र-शस्त्र रहित तथा शान्ति पूर्वक सम्मिलित होने

का अधिकार, (स) समुदाय तथा संघ बनाने का अधिकार, (स) भारतवर्ष की सीमा में स्वतन्त्रता पूर्वक भ्रमण करने का अधिकार, (क) भारतवर्ष की सीमा में कहीं पर रहने का अधिकार, (ख) सम्पत्ति को प्राप्त करने, रखने और बेचने का अधिकार, (ग) कोई व्यवसाय व्यापार अथवा काम करने का अधिकार, (घ) अपराधी अथवा अपराध सम्बन्धी व्यवस्थापन के प्रति अधिकार, और (ङ) जीवन सुरक्षा और स्वतन्त्रता के अधिकार प्रदान किए गए हैं।

प्रतिबन्ध

अन्य अधिकारों के समान यह अधिकार भी निरंकुश नहीं है। इन्हें कुछ प्रतिबन्धों के साथ प्रदान किया गया है जो निम्न प्रकार से हैं —

(अ) भाषण और भाव प्रकाशन की स्वतन्त्रता का अधिकार किसी प्रचलित कानून से सीमित हो सकता है। इस पर प्रतिबन्ध के रूप में राज्य की निन्दा, अनादर, अप्रसिद्धि, न्यायालय के अनादर, अथवा किसी ऐसे विषय के सम्बन्ध में जो नैतिकता के विरुद्ध हो, अथवा जिससे राज्य की सुरक्षा पर कोई आघात होता हो, अथवा राज्य को नष्ट करने के सम्बन्ध में किए जाने वाले षडयन्त्र के सम्बन्ध में कानून बना सकता है।

(ब) सम्मिलित होने के अधिकार पर दो प्रतिबन्ध हैं—प्रथम, जो व्यक्ति वहाँ सम्मिलित हों उनका आचरण शान्ति पूर्ण हो, और द्वितीय, उनके पास कोई अस्त्र-शस्त्र न हो। संक्षेप में 'जन शान्ति' के हेतु इस अधिकार पर प्रतिबन्ध लगाए जा सकते हैं।

(स) संघ अथवा समुदाय बनाने के अधिकार पर भी राज्य के नियम बनाने के अधिकार द्वारा प्रतिबन्ध लगे हुए हैं। यह नियम जन सुरक्षा अथवा नैतिकता तथा इस अधिकार के उचित एवं युक्तिसंगत प्रयोग के लिए लागू किए जा सकते हैं।

(द) भारतवर्ष अथवा उसके किसी भाग में स्वतन्त्रता पूर्वक भ्रमण करने तथा किसी सम्पत्ति को ग्रहण करने, रखने तथा बेचने के अधिकार के सम्बन्ध में भी राज्य जनता के हित अथवा पिछड़े हुए वर्गों के हित के लिए इस अधिकार के प्रयोग पर कुछ न्यायसिद्ध [1] प्रतिबन्ध लगा सकता है, और इस सम्बन्ध मे कुछ नियमों का निर्माण भी कर सकता है।

---

[1] 'न्यायसिद्ध' (reasonable) शब्द का प्रयोग अत्यन्त महत्वपूर्ण है। 'न्यायसिद्ध' शब्द के प्रयोग का ही यह तात्पर्य है कि कानून द्वारा जो प्रतिबन्ध लगाए गए हैं वे न्यायसिद्ध हैं अथवा नहीं—इस प्रश्न के निर्णय का अधिकार न्यायालय को होगा जो उद्देश्य पूर्ण तथा निष्पक्षता की कसौटी पर इस प्रश्न का निरीक्षण करेगा। इस प्रकार न्यायालय द्वारा व्यवस्थापिका सभा के एक्ट के निरीक्षण की ओर भी संकेत किया गया है।

(क) इसी प्रकार कुछ व्यवसाय करने का अधिकार भी कुछ वैयक्तिक, नैतिक अथवा सांकेतिक योग्यताओं पर आधारित है। नागरिकों के स्वास्थ्य की रक्षा और धूर्तता से उनकी रक्षा करने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार कोई वृत्ति धारण करने अथवा कोई व्यापार-व्यवसाय करने के अधिकार के सम्बन्ध में भी राज्य जनता के हित के रक्षार्थ कुछ नियम बना सकता है और इस प्रकार इस अधिकार के प्रयोग पर कुछ न्यायसिद्ध [1] प्रतिबन्ध लगा सकता है। इस सम्बन्ध में राज्य किसी अन्य पदाधिकारी को भी यह अधिकार सौंप सकता है कि वह इन व्यवसायों आदि के सम्बन्ध में कुछ योग्यताएँ निश्चित कर दे।

(ख) अन्त में, किन्हीं असाधारण परिस्थितियों में यह सम्भव है कि हमारे अधिकार कुछ काल के लिए स्थगित कर दिए जाएँ। विधान निर्माताओं का विचार यह था कि सकट कालीन अवस्था अथवा आसाधारण परिस्थितियों में मौलिक अधिकारों के सम्बन्ध मे किसी प्रकार का प्रतिबन्ध राज्य द्वारा न लगाए जाने के कारण यह सम्भव है कि राज्य का जीवन और सुरक्षा ही संकट मे पड़ जाए। इस कारण मौलिक अधिकारों की धाराओं के अतिरिक्त, राज्य को किसी प्रकार का कानून बनाने अथवा और किसी प्रकार का पग उठाने के लिए अधिकार होगा।

अपराध और अपराधी सम्बन्धी व्यवस्थापन और जीवन और स्वतन्त्रता की सुरक्षा के अधिकारों के अतिरिक्त अन्य अधिकारों की व्याख्या की आवश्यकता नहीं। इन दोनों अधिकारों का विवेचन निम्नलिखित रूप से किया जा सकता है :

(अ) अपराध एव अपराधी सम्बन्धी व्यवस्थापन का अधिकार

एक ही अभियोग के लिए दो दण्डों की व्यवस्था तथा पूर्वकालीन अपराध सम्बन्धी व्यवस्थापन को रोकने के लिए हमारे विधान में कुछ नियम प्रस्तावित किए गए हैं। इसमे यह भी निश्चित कर दिया गया है कि एक अपराधी को स्वयं उस के विरुद्ध गवाही देने के लिए विवश नहीं किया जाएगा। वास्तव में यह भय उचित ही है कि एक सर्वोच्च सत्ताधारी व्यवस्थापिका सभा पूर्व कालीन व्यवस्थापन का आश्रय लेकर किसी अभियोग के सम्बन्ध में इतना दण्ड निश्चित कर दे जो उस दण्ड से कहीं अधिक हो जो अभियोग के समय में प्रचलित कानून के अन्तर्गत निश्चित था। पूर्वकालीन

---

[1] 'न्यायसिद्ध' (reasonable) शब्द का प्रयोग अत्यन्त महत्वपूर्ण है। 'न्यायसिद्ध' शब्द के प्रयोग का ही यह तात्पर्य है कि कानून द्वारा जो प्रतिबन्ध लगाए गए हैं वे न्यायसिद्ध हैं अथवा नहीं—इस प्रश्न के निर्णय का अधिकार न्यायालय को होगा जो उद्देश्य पूर्ण तथा निष्पक्षता की कसौटी पर इस प्रश्न का निरीक्षण करेगा। इस प्रकार न्यायालय द्वारा व्यवस्थापिका सभा के एक्ट के निरीक्षण की ओर भी सकेत किया गया है।

अपराध सम्बन्धी व्यवस्थापन के आधार पर दण्डित किए जाने के सम्बन्ध में हमारे विधान ने प्रतिबन्ध लगाए हैं। वास्तव में यह प्रतिबन्ध उस व्यवस्थापिका सभा पर है जो पूर्वकालीन व्यवस्थापन का अनुमोदन करती है।

हमारे विधान में यह प्रस्तावित किया गया है कि कोई व्यक्ति एक ही अभियोग के लिए एक से अधिक बार दण्डित नहीं किया जाएगा तथा किसी अपराधी को स्वय के विरुद्ध गवाही देने के लिए विवश नहीं किया जाएगा चाहे उसका अभियोग कुछ भी हो। इनके द्वारा हमारे विधान ने भारतवर्ष के कानूनी धर्मशास्त्र में सर्वसाधारण के कानूनों के दो सिद्धान्तों को स्थान प्रदान किया है।

(ब) जीवन और वैयक्तिक स्वतन्त्रता की सुरक्षा का अधिकार

हमारे विधान में यह भी प्रस्तावित किया गया है कि कानून प्रणाली के अतिरिक्त किसी अन्य प्रणाली द्वारा किसी व्यक्ति का जीवन अथवा उसकी वैयक्तिक स्वतन्त्रता का हरण नहीं किया जाएगा। इस प्रकार हमारे विधान ने देश में कानून की सत्ता को प्रतिपादित किया है। यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि जीवन और स्वतन्त्रता का अधिकार भी निरकुश नहीं है। हमारे विधान में केवल यही स्वीकार किया गया है कि कानून प्रणाली के अतिरिक्त किसी अन्य साधन द्वारा किसी व्यक्ति के जीवन अथवा वैयक्तिक स्वतन्त्रता का हरण नहीं किया जाएगा। किसी व्यक्ति को कानून विरुद्ध अथवा निरकुश रूप से शारीरिक हानि नहीं पहुँचाई जा सकेगी और न उसे बिना किसी कारण के बन्दीगृह में ही रखा जा सकेगा। हमारे विधान में यह भी प्रस्तावित किया गया है कि किसी व्यक्ति को उसके अपराध के बारे में अथवा उसको बन्दी बनाने के कारणों को शीघ्रतिशीघ्र[1] बतलाए बिना उसे बन्दीगृह में अधिक समय तक नहीं रखा जा सकेगा।

अपराधी को यह अधिकार प्रदान किया गया है कि वह अपनी इच्छानुसार किसी धर्मज्ञ से परामर्श ले अथवा उसे अपने अपराध के सम्बन्ध में वादविवाद करने के लिए रख ले। विधान में यह भी प्रस्तावित किया गया है कि जिस व्यक्ति को बन्दी बनाकर हवालात मे रखा जाता है उसे चौवीस घटो के समय में ही किसी निकटतम न्यायाधीश के सन्मुख उपस्थित किया जाए। इन चौवीस घटों में बन्दीगृह से न्यायालय तक जाने का समय सम्मिलित नहीं है। न्यायाधीश की आज्ञा के अतिरिक्त और कोई व्यक्ति इस समय से अधिक किसी को बन्दीगृह में नहीं रखा सकता।

---

[1] 'शीघ्रातिशीघ्र' के सम्बन्ध में श्री. जी एन जोशी ने लिखा है कि "यह अत्यन्त ही सन्दिग्ध शब्द है। यदि इसका यह अर्थ है कि जितना शीघ्र सम्भव हो सके, तो यह भी उतना ही सन्दिग्ध एव अनिश्चित है।"

प्रतिवन्धक अवरोध[1]

वन्दी वनाए गए किसी व्यक्ति को चौवीस घंटों के समय में किसी न्यायाधीश के सन्मुख उपस्थित करने की धारा निम्नलिखित दो स्थानों पर लागू नहीं होती :—

(अ) उस व्यक्ति के सम्बन्ध में जो अस्थायी रूप से विदेशी शत्रु हो, अथवा

(व) उस व्यक्ति के सम्वन्ध में जिसे किसी कानून के अन्तर्गत प्रतिवन्धक अवरोध के लिए रखा गया हो।[2]

हमारे विधान में यह भी प्रस्तावित किया गया है कि ससद किसी कानून द्वारा प्रतिवन्धक अवरोध प्रस्तावित कर सकती है। यह भी प्रस्तावित किया गया है कि इस प्रकार के कानून के अन्तर्गत किसी व्यक्ति को तीन मास से अधिक नहीं रोका जा सकेगा। परन्तु यदि परामर्शदात्री समिति (Advisory Board), जिसके सदस्य इतने योग्य हों कि किसी हाईकोर्ट के न्यायाधीश नियुक्त किए जा सकते हों, तीन मास के समय के समाप्त होने से पूर्व अपनी यह सम्मति प्रदान करे कि यह अवरोध उचित एव युक्तिसगत है तो इस समय को अनिश्चित काल के लिए वढाया जा सकता है। किसी व्यक्ति को तीन मास से अधिक रखा जा सकता है यदि उसे धारा की उपधारा ७ के अन्तर्गत प्रस्तावित किसी ऐसे कानून द्वारा रोका गया हो जिन्हें प्रतिवन्धक अवरोध के हेतु प्रस्तावित किया गया था। यदि किसी व्यक्ति को इस प्रकार रोका जाता है तो इस प्रकार रोके रखने का आदेश देने वाले पदाधिकारी का यह कर्त्तव्य है कि वह उस व्यक्ति को इस प्रकार रोके रखे जाने के कारण वतला दे। इस प्रकार रोके गए व्यक्ति को शीघ्रताशीघ्र इस वात का अवसर प्रदान करना चाहिए कि वह पदाधिकारियों के आदेश के विरुद्ध अपना प्रतिनिधित्व कर सके। जिन तथ्यों को अधिकारी जनहित के विरुद्ध समझें उनको स्पष्ट एवं प्रकट करने के लिए वह वाध्य नहीं है। जिन आधारों पर उन्होंने इस प्रकार का आदेश प्रदान किया है उन आधारों को प्रकट किया जा सकता है।

आलोचनात्मक निरीक्षण

विधान द्वारा प्रदान किए गए स्वतंत्रता के अधिकार की वडी कडी आलोचना की गई है। आलोचकों का यह विचार है कि स्वतन्त्रता के अधिकार पर प्रतिबन्धों के

---

1 Preventive Detention

२ संघीय संसद ने प्रतिवन्धक अवरोध का एक्ट पास कर दिया है और जैसे ही यह पृष्ठ मुद्रालय में जाएँगें, उस समय पडित नेहरू की सरकार Preventive Detention (Second Amendment Bill) के एक्ट का सामान्य से संशोधन के साथ नवीनकरण कर रही है। इसे ससद के दोनों भवन स्वीकार कर चुके हैं, और केवल राष्ट्रपति के हस्ताक्षर बाक़ी हैं।

रूप में जो शृंखला डाली गई है वह अपनी सदिग्धता एवं अनिश्चितता में इतनी व्यापक एवं विस्तृत है कि यह सम्भव है कि वह स्वयं अधिकार के तत्त्व और सार को ही संशय में डाल देगी। इस सम्बंध में निम्नलिखित तर्क उपस्थित किए गए हैं :

(अ) जैसा कि अन्यत्र लिखा जा चुका है भाषण और भाव प्रकाशन की स्वतन्त्रता के अधिकार को राज्य द्वारा सीमित किया जा सकता है यदि उस अधिकार का सम्बन्ध "किसी ऐसे विषय से हो जो नैतिकता के विरुद्ध हो, अथवा जो राज्य की सुरक्षा के लिए संकटमय हो अथवा जिसके द्वारा राज्य को नष्ट करने का षड्यन्त्र किया जा रहा हो।" यह प्रतिबंध भी अपने आवरण में सदिग्ध है। यह प्रतिबन्ध इतना लचीला है कि इसका कुछ भी और कोई भी अर्थ लिया जा सकता है। यह गवर्नर जनरल के उस विशेष उत्तरदायित्व के समान है जिसके अंतर्गत वह भारतवर्ष अथवा उसके किसी भाग की शांति और सुरक्षा के लिए उत्तरदायी था। एक इस प्रकार की सरकार के हाथों में जो शक्ति के लिए लालायित हो, इस प्रतिबंध को इस व्यापक अधिकार के चारों ओर शृंखला के रूप में इतनी बुरी तरह से डाला जा सकता है कि इस अधिकार के प्रयोग को नहीं के समान बना दे। "इस व्यापक सिद्धांत के अन्तर्गत" जैसा कि श्री जी एन जोशी ने प्रतिबन्ध लिखा है, "संसद साधारण व्यवस्थापन द्वारा भी इस अधिकार के प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगा सकती है।"

(ब) इसी प्रकार सम्मिलित होने के अधिकार के विरुद्ध जनसुरक्षा का प्रतिबन्ध भी एक ऐसा प्रतिबन्ध है जिसका कोई निश्चित एवं स्वीकृत अर्थ नहीं और इसलिए इसका प्रयोग इसके निश्चित क्षेत्र से बाहर भी किया जा सकता है।

(स) हमारे विधान में यह प्रस्तावित किया गया है कि निश्चित कानून प्रणाली के अतिरिक्त किसी अन्य प्रणाली द्वारा किसी व्यक्ति का जीवन और उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं किया जाएगा। 'कानून द्वारा स्थापित प्रणाली के अतिरिक्त'—सामान्य रूप से इस शब्दावली को जो अर्थ प्रदान किया जा सकता है उससे यह सम्भव है कि हमारा वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अधिकार नाम मात्र के लिए ही रह जाए। प्रणाली का अर्थ है उस रीति अथवा ढंग से जिसके द्वारा किसी व्यक्ति को बन्दी बनाया जाता है अथवा उसे रोका जाता है। इस प्रकार 'कानून द्वारा स्थापित प्रणाली के अतिरिक्त' के सिद्धान्त का तात्पर्य यही है कि यदि व्यवस्थापिका सभा द्वारा कोई एक्ट पास किया जाए जिसमें किसी व्यक्ति को किसी ऐसे कार्य के लिए बन्दी बनाए जाने तथा रोके रखने के लिए प्रस्तावित किया गया हो जिस कार्य का उल्लेख कानून के अन्तर्गत हो, तो उस व्यक्ति को बन्दी बनाया जा सकता है और वह प्रणाली कानून के अनुसार मानी जाएगी। यदि किसी व्यक्ति को व्यवस्थापिका सभा द्वारा निश्चित प्रणाली के अनुसार बन्दी बनाया जाता है तो यह बन्दी बनाया जाना 'निश्चित प्रणाली के अनुसार' होगा। इस धारा का दोष यही है कि यह इस अधिकार के प्रयोग

के सम्बन्ध में हेबियस कॉर्पस[1] के सिद्धांत पर आघात करती है। हेबियस कॉर्पस एक ऐसा सिद्धान्त है, जिसका आश्रय कानून विरुद्ध अवरोध को समाप्त करने मे लिया जा सकता है। इसलिए यह भी स्वाभाविक है कि यदि व्यवस्थापिका सभा कुछ विशेष आधारों पर वन्दी किए जाने तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप किए जाने के सम्बन्ध मे कुछ कानून बनाती है और यदि किसी व्यक्ति को उन्ही आधारों पर बन्दी बनाया जाता है तो वह बन्दी बनाया जाना कानूनी होगा और उसके सम्बन्ध में हेबियस कॉर्पस लागू नहीं होगा।

(ट) अन्त में प्रतिवंधक अवरोध की धारा हमारी मौलिक स्वतन्त्रताओं पर एक प्राणघातक प्रहार के समान है। प्रतिबधक अवरोध के अन्तर्गत एक व्यक्ति को बन्दी बनाया जा सकता है और उसे तीन मास तक बिना कुछ न्याय किए रोका जा सकता है। और इससे अधिक दुर्गति हो भी क्या सकती है। प्रतिबधक अवरोध ने इस प्रकार भारतवासियों को, जैसा कि श्री. के टी शाह ने व्यंगपूर्ण भाषा में लिखा है, "बिना किसी न्याय के तीन मास के अवरोध का अधिकार प्रदान किया है।" परामर्शदात्री समिति से कोई सम्मति लेने की आवश्यकता अनुभव करते हुए संसद अवरोध के इस समय को अनिश्चित काल के लिए बढा सकती है। यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि प्रतिबधक अवरोध के किसी एक्ट का निरीक्षण न्यायालय नहीं कर सकेगा, भले ही वह कार्य कितना ही बुरा, अनाचारी एव अत्याचारी क्यों न हो। हमारे विधान मे प्रस्तावित प्रतिवंधक अवरोध वास्तव मे ब्रिटिश राज्य के युद्धकालीन 'भारतीय सुरक्षा के नियम' (Defence of India Rules) का प्रतिरूप ही है। इस सम्बध में श्री जी एन, जोशी का कथन उल्लेखनीय है कि "यह एक ऐसी धारा है कि इसका प्रयोग संकटकालीन अवस्था में होना चाहिए, परन्तु यह निश्चित नहीं है कि इसका प्रयोग केवल सकटकालीन अवस्था में ही होगा।"[2]

जस्टिस महाजन ने लिखा है कि . "प्रतिबधक अवरोध का अर्थ है वैयक्तिक स्वतंत्रता और भ्रमण की स्वतत्रता का पूर्ण निषेध, यह इन दोनों विषयों से बेमेल और असगत है, परंतु फिर भी इसे उन्हीं के साथ उसी एक विभाग में स्थान प्रदान किया गया है।"[3]

---

[1] न्यायालय में अथवा न्यायाधीश के सन्मुख अपराधी को उपस्थित करने की आज्ञा।

[2] "This is a crisis provision but it is not confined to a crisis"
—Sri G N Joshi.

[3] "Preventive Detention means a complete negation of freedom of movement and of personal liberty and is incompatible with both the subjects and yet it is placed in the same compartment with them."
—Justice Mahajan

प्रतिबन्धक अवरोध की धारा हमारे देश में विचित्र है। यह स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्र दोनों की मूल भावना के ही विरुद्ध है। आलोचकों का यह कथन कुछ अत्युक्ति पूर्ण नहीं है कि इस धारा के अन्तर्गत राज्य की सुरक्षा के लिए वैयक्तिक स्वतन्त्रता का बलिदान कर दिया गया है। राज्य लिप्सा से लालायित एवं तृषित एक शासक के हाथों द्वारा प्रतिबन्धक अवरोध की इन धाराओं का प्रयोग व्यक्तियों की स्वतन्त्रताओं को छीनने के लिए किया जा सकता है। नित्य एवं सनातन अप्रमत्तता ही स्वतन्त्रता का मूल्य है। भारतवर्ष में इसकी और भी आवश्यकता है। हमें राज्य के हस्तक्षेप के विरुद्ध अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए स्वयं सैनिक और संरक्षक का स्वरूप ग्रहण करना पडेगा।

(३) बेगार के विरुद्ध अधिकार

बेगार के विरुद्ध अधिकार द्वारा हमारे विधान ने भारतीय जनता को आर्थिक और व्यावसायिक क्षेत्र में स्वतन्त्रता प्रदान की है। जैसा कि अन्यत्र लिखा जा चुका है, समस्त व्यक्तियों को भारतवर्ष की सीमा में व्यापार और व्यवसाय का अधिकार प्रदान किया गया है। बेगार आदि का निषेध किया गया है तथा देश के कानून के अन्तर्गत इसे अभियोग माना गया है तथा इसके लिए दण्ड भी निश्चित किया गया है। चौदह वर्ष से कम आयु के बालकों का नौकरी करना वर्जित घोषित किया गया है। जन सेवा तथा सैनिक कार्यों के सम्पादन के लिए राज्य कुछ सेवाएँ निश्चित कर सकता है।

आलोचनात्मक निरीक्षण

इन अधिकारों का उद्देश्य भारतवर्ष के नागरिकों में सामाजिक संतुलन उत्पन्न करना, सबल के हाथों से निर्बलों की रक्षा करना, और इस प्रकार व्यक्तियों को आर्थिक स्वतन्त्रता प्रदान करना है। हमारे प्रजातन्त्रात्मक निर्माण में इनका सम्मिलित किया जाना तर्कानुसार सगत था। इस निर्माण में सब को समान समझ कर व्यक्ति के व्यक्तित्व को स्पष्ट करना है। क्योंकि जैसा कि थियोडोर पार्कर ने लिखा है कि, "प्रजा-तन्त्र का यह अर्थ नहीं कि 'मैं उतना ही उत्तम हूँ जितने तुम हो', बल्कि 'तुम उतने ही उत्तम हो जितना मैं हूँ'।"[1] यह अधिकार हमारी नव-जन्मित राज्य शासन विधि के हितैषी राज्य के स्वरूप को पुष्ट करते हैं।

(४) धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार

हमारे विधान के अन्तर्गत भारतवर्ष के नागरिकों को जाति अथवा गोत्र के किसी भेद भाव के विना धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान की गई है। इसके साथ-साथ हमारे

---

1 "Democracy means not 'I am as good as you are', but 'you are as good as I am'"

—Theodore Parker

राज्य को लौकिक राज्य का स्वरूप भी प्रदान किया गया है। राज्य का कोई अपना धर्म नहीं है जिसका वह प्रचार अथवा प्रसार करे। भारतीय राज्य शासनविधि की लौकिकता पर इस बात से और अधिक बल दिया गया है कि जिन शैक्षिक संस्थाओं का सचालन राज्य के धन से होता है, उन संस्थाओं में किसी धर्म की शिक्षा प्रदान नहीं की जाएगी। जो शैक्षिक संस्थाएँ राज्य द्वारा स्वीकृत हैं अथवा जिन्हें राज्य द्वारा आर्थिक सहायता प्रदान की जाती है, वे संस्थाएँ भी किसी व्यक्ति को उसकी सम्मति बिना, अल्पायु होने पर उसके सरक्षक की सम्मति बिना, किसी विशेष धार्मिक आराधना के लिए विवश नहीं कर सकेंगी। धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार एक निरंकुश अधिकार के रूप में प्रदान नहीं किया गया है। हमारे विधान में यह प्रस्तावित किया गया है कि "जन सुरक्षा, नैतिकता और इस भाग की अन्य धाराओं के अतिरिक्त, समस्त व्यक्तियों को धार्मिक स्वतन्त्रता और धर्म के प्रचार और प्रसार की पूर्ण स्वतन्त्रता है।" सिखों को कृपाण रखने की आज्ञा प्रदान की गई है। इसी प्रकार प्रत्येक धार्मिक वर्ग को अपने धार्मिक कार्यों का प्रबन्ध करने, और धार्मिक तथा दान सम्बन्धी उद्देश्यों के लिए सम्पत्ति ग्रहण करने तथा उसका प्रबन्ध करने की स्वतन्त्रता प्रदान की गई है।

आलोचनात्मक निरीक्षण

विधान में धार्मिक स्वतन्त्रता के अधिकार को स्थान प्रदान करते समय हमारे विधान निर्माताओं ने इतिहास से शिक्षा ग्रहण की है। हमारा देश विभिन्न धर्मों का केन्द्र रहा है। परिणाम स्वरूप उसे अपनी प्रजा की धार्मिक असहिष्णुता तथा शत्रुता से अनेक कष्ट उठाने पड़े। उसके धार्मिक मतभेदों के कारण अनेक शताब्दियों तक उसे राजनैतिक दासता का बोझ सहना पड़ा। धर्म और राष्ट्रीय राजनीति के मिश्रण ने भारतवर्ष को विभाजित कर दिया। जब धार्मिक पक्षपात को राज्य का आधार बना दिया गया, तब शक्तिशाली मुग़ल साम्राज्य का अन्त हो गया। और इसीलिए हमारे विधान ने धार्मिक सहिष्णुता के उस सिद्धान्त को स्थापित किया है, जो इतिहास द्वारा एक उन्नतिशील एवं प्रगतिशील राज्य के आधारस्वरूप अत्यन्त सफल सिद्ध हुआ है।

(५) सांस्कृतिक और शैक्षिक अधिकार

विधान के अन्तर्गत सांस्कृतिक और शैक्षिक अधिकार प्रदान करने वाली धारा, जैसा कि विधान सभा के एक सदस्य ने कहा था, "अल्पदलों के अधिकारों का एक नवीन युग खोलती है। यह धारा अल्पदल के अपनी भाषा और संस्कृति के अधिकार को सुरक्षित करती है; राज्य किसी कानून द्वारा उस पर किसी अन्य स्थानीय संस्कृति को नहीं लाद पाएगा।" इस प्रकार अल्पदलों को इस बात का पूर्ण अवसर प्रदान किया गया है कि वे अपनी स्वयं की परिस्थितियों, विद्वत्ता और संस्कृति के

अनुसार चाहे जितना विकास कर लें। प्रत्येक अल्पदल को—धार्मिक हो अथवा भाषा से सम्बन्धित—अपनी भाषा, लिपि और संस्कृति को सुरक्षित रखने का अधिकार प्रदान किया गया है। उन्हें इस बात की पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान की गई है कि वे अपनी इच्छा के अनुकूल शैक्षिक संस्थाओं की स्थापना और उनका संचालन करें, और इस प्रकार की संस्थाओं को अनुदान प्रदान करते समय राज्य किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं करेगा। जिन शैक्षिक संस्थाओं का संचालन राज्य द्वारा होता है अथवा जिन्हें राज्य द्वारा अनुदान प्रदान किया जाता है, उन संस्थाओं में किसी व्यक्ति से उसके धर्म, जाति, गोत्र अथवा भाषा के आधार पर प्रवेश के लिए मना न किया जा सकेगा। इस प्रकार अपने पृथक लाभ के साथ-साथ अल्पदलों को भी वही शैक्षिक सुविधाएँ प्राप्त होंगी, जो बहुमत दल के नागरिकों को प्रदान की गई हैं।

आलोचनात्मक निरीक्षण

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है हमारा विधान धर्म अथवा भाषा पर आधारित अल्पदलों को केवल स्वीकार ही नहीं करता बल्कि उनकी भाषा, उनकी लिपि और उनकी संस्कृति की रक्षा की व्यवस्था भी करता है। इस सम्बन्ध में विधान की धाराएँ अत्यन्त संदिग्ध हैं। परिणामस्वरूप, इनकी व्याख्या में भी अधिक कठिनाई अनुभव होनी चाहिए। यह कथन भी कुछ अत्युक्तिपूर्ण एवं असंगत नहीं कि इन सांस्कृतिक और शैक्षिक अधिकारों से यह सम्भव है कि हमारी राष्ट्रीय एकता, भाषा और संस्कृति के विकास में बाधा उपस्थित हो। शैक्षिक और सांस्कृतिक अधिकार हमारे विधान में नेहरू रिपोर्ट के भग्नावशेष हैं जिसका यह मत था कि अल्पदलों को सुरक्षा के रूप में सांस्कृतिक और शैक्षिक अधिकार प्रदान किए जाएँ जिससे कि बहुमत दल के अत्याचार का डर उनके हृदय से निकल जाए और अपनी संस्कृति की रक्षा के हितार्थ कहीं वे साम्प्रदायिकता की शरण में न पहुँच जाएँ।

(६) सम्पत्ति का अधिकार

हमारे विधान के अन्तर्गत यह प्रस्तावित किया गया है कि "कानून के अतिरिक्त किसी अन्य रूप से किसी व्यक्ति को उसकी सम्पत्ति से वंचित नहीं किया जाएगा।" उसमें यह भी लिखा हुआ है कि "इस प्रकार अधिकृत अथवा प्राप्त की गई सम्पत्ति के सम्बन्ध में कानून द्वारा प्रतिफल का धन प्रस्तावित होना चाहिए।"

"विधान सभा के महान् धर्मज्ञ" जैसा कि के संनथानम् ने लिखा है, "इस प्रकार के कानून की न्यायता की सीमा के सम्बन्ध में असन्दिग्ध एवं अनिश्चित थे। इस प्रकार की कोई निर्दिष्टता नहीं है कि निश्चित किया हुआ प्रतिफल का धन न्यायपूर्ण और पर्याप्त होना चाहिए।"

हमारे विधान निर्माताओं ने इसमें बड़ी बुद्धिमत्ता प्रकट की है कि 'उचित प्रतिफल', 'कानून की उचित प्रणाली' आदि शब्दावलियाँ नहीं रखी हैं।

इन शब्दावलियों के सम्मिलन से अनेक न्याय की व्याख्याएँ और अनावश्यक मुकदमे उत्पन्न हो जाते। इस प्रकार हमारे विधान के अन्तर्गत न्यायालयों को यह निरीक्षण करने का अधिकार नहीं है कि किसी विशेष विषय में कोई प्रतिफल न्याय युक्त है अथवा नहीं, अथवा पर्याप्त है अथवा नहीं। प्रतिफल का निश्चय करना व्यवस्थापिका सभा का कार्य है और उसके सम्बन्ध में वह कुछ नियम भी प्रस्तावित कर सकती है।

विधान के अन्तर्गत यह प्रस्तावित किया गया है कि सम्पत्ति की अनिवार्य प्राप्ति के सम्बन्ध में राज्य का कोई व्यवस्थापक नियम उस समय तक लागू नहीं हो पाएगा जब तक कि उस पर राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त न कर ली जाए। इस प्रकार की प्राप्य सम्पत्ति से सम्बन्धित प्रस्तावों पर जैसे कि उत्तर प्रदेश का ज़मींदारी उन्मूलन प्रस्ताव था—"जो विधान के लागू होने के समय तक एक राज्य की व्यवस्थापिका सभा में पड़े हुए थे" इसके पूर्व कि वह लागू किए जाएँ, राष्ट्रपति की स्वीकृति आवश्यक थी।

आलोचनात्मक निरीक्षण

सम्पत्ति के अधिकार तथा प्रतिफल सम्बन्धी धाराओं के सम्बन्ध में समाजवादी और साम्यवादी अनेक पत्रों से इसकी कठोर आलोचना की गई है। यह दल वैयक्तिक सम्पत्ति के पूर्णत: नष्ट करने के पक्ष में है। परन्तु हमारे विधान निर्माताओं ने विधान के जन्म के समय के वातावरण तथा भारतवर्ष के इस परिवर्तित युग को ध्यान में रखते हुए उन्होंने इस पराकाष्ठा पर पहुँचने वाले मार्ग को शंकित एवं सन्देहपूर्ण समझ कर ग्रहण नहीं किया। परन्तु हमारे विधान में भी समाजवाद के क्रमिक विकास को पूर्णरूप से बहिष्कृत नहीं किया गया है। इसके विपरीत राज्य शासन विधि के निर्देशक सिद्धांतों के अध्याय के अन्तर्गत, स्वतन्त्र भारतवर्ष की नवजन्मित राज्य शासन विधि में यह सिद्धांत इसीलिए प्रस्तावित किए गए हैं कि इनके द्वारा इस आदर्श की प्राप्ति की जा सके। हमारे विधान की यह धारा कि वैयक्तिक सम्पत्ति को हस्तगत करने पर उसका प्रतिफल प्रदान किया जाए, यही दिग्दर्शित करती है कि हमारे विधान निर्माता भी वैयक्तिक सम्पत्ति तथा ज़मींदारी और, जागीरदारी जैसी प्राचीन प्रथाओं के अवशेषों को समाप्त करने के लिए इच्छुक हैं। श्री. एम अनाथासयनम आयंगर का निम्नलिखित कथन अत्युक्ति पूर्ण नहीं है कि :—

"यही लक्ष्य स्थिर किया गया है कि विधान समाजवादी प्रजातंत्रात्मक गणतंत्र के रूप को ग्रहण करले। विश्व में प्रचलित दो विरोधी सिद्धांतों का यही एक

सार एव तत्व है। (यह दो विरोधी सिद्धात हैं) पश्चिम के पूँजीवादी प्रजातंत्र और रूस की समाजवादी तानाशाही।" [1]

इस सत्य से विमुख नहीं हुआ जा सकता कि इस निश्चित लक्ष्य की ओर अग्रसर होना जैसा कि विधान की धाराओं में प्रस्तावित किया गया है दूरस्थ, ग्लान एव परिश्रान्त होगा।

(७) वैधानिक उपचार का अधिकार

हमारे विधान द्वारा हमें केवल अधिकार प्रदान ही नहीं किए गए है, वल्कि उनकी सुरक्षा और उन्हें लागू करने की भी व्यवस्था की गई है। हमारे विधान की धारा ३२ में यह प्रतिपादित किया गया है कि कोई व्यक्ति अपने मौलिक अधिकारों को व्यावहारिक रूप में लागू और उनकी रक्षा के हेतु उचित प्रणाली द्वारा सर्वोच्च न्यायालय से प्रार्थना कर सकता है। इस सम्बन्ध में उचित एव वैधानिक प्रणाली अथवा उपचार है, सरकार से यह प्रार्थना करना कि इस सम्बन्ध मे कुछ अथवा आज्ञापत्र प्रदान किए जाएँ। इन आज्ञापत्रों का स्वरूप 'हेवियस कॉर्पस' [2] (बन्दी प्रत्यक्षीकरण), 'मेन्डेमस' [3] (परमादेश), निशेध, [4] 'को वारन्टो' [5], (न्यायालय का चुनौतीपूर्ण अधिकार पत्र) और 'सरटियोरेरी' [6] (विशिष्ट न्यायालय का आज्ञापत्र)।

इन आज्ञापत्रों के क्षेत्र को भली प्रकार समझने के लिए इनका अर्थ तथा इनका व्यावहारिक रूप समझना अत्यन्त आवश्यक है। निम्नलिखित पृष्ठों में इसी की चेष्टा की गई है।

आज्ञापत्रों का अर्थ और क्षेत्र

(अ) बन्दी प्रत्यक्षीकरण

यह आज्ञापत्र एक ऐसे सर्वोच्च सत्ताधारी अथवा पदाधिकारी द्वारा प्रदान किया हुआ होता है कि कोई व्यक्ति अथवा कोई अन्य अधिकारी इसके विरोध में नहीं ठहर सकता। कार्यकारिणी अथवा शासन प्रवन्ध से सम्वन्धित किसी पदा-

---

1 "The constitution is intended to usher in a Socialist Democratic Republic This is the essence of the two conflicting ideologies prevailing in the world—the capitalist democracies of the west and the Socialist dictatorship of Russia " Sri M Anathasayanam Ayyanger.

2 Habeas Corpus

3 Mandamus

4 Prohibition

5 Quo-warranto.

6 Certiorari

धिकारी द्वारा अनुचित एवं गैर कानूनी रूप से वन्दी वनाए जाने तथा कारावास में रखने के विरुद्ध यह वैधानिक उपचार प्रस्तुत किया गया है। यह आज्ञापत्र उस व्यक्ति को प्रदान किया जाता है जिसने किसी अन्य व्यक्ति को गैर कानूनी रूप से वन्दी वना लिया हो अथवा उसे कारावास में वन्द कर रखा हो। इसके द्वारा उसे यह आज्ञा प्रदान की जाती है कि वह तुरन्त ही उस व्यक्ति को आज्ञापत्र प्रदान करने वाले न्यायाधीश अथवा न्यायालय के सन्मुख उसके वन्दी वनाए जाने के कारणों सहित उपस्थित करे, और इस सम्वन्ध में न्यायाधीश अथवा न्यायालय जो भी कुछ निर्णय करे, उसे स्वीकार करे। संक्षेप में, यह आज्ञापत्र उन व्यक्तियों को मुक्त कराने के हितार्थ प्रस्तावित किया जाता है जिन्हें अनुचित एवं गैर कानूनी रूप से वन्दी वना लिया गया हो, चाहे इस प्रकार के विषय का स्वरूप दीवानी हो अथवा फौजदारी।

(ब) परमादेश

परमादेश के उच्च आज्ञापत्र तथा आदेश के रूप में किसी व्यक्ति, संस्था अथवा न्यायालय को प्रदान किया जाता है कि वह व्यक्ति, संस्था अथवा न्यायालय जन-कर्त्तव्य के नाते कुछ विशेष कार्यों का सम्पादन करे। परमादेश उस समय प्रदान किया जाता है जव पदाधिकारीगण जनता के प्रति अपने कर्त्तव्य को निभाने में असफल होते हैं और इस प्रकार के आज्ञापत्र के प्रदान करने के पश्चात् इन पदाधिकारियों को उस विस्तृत कार्य के सम्पादन को फिर से अपने हाथ में लेना पड़ता है।

(स) निषेध

निषेध का आज्ञापत्र सर्वोच्च न्यायालय अथवा किसी हाई कोर्ट द्वारा किसी निम्न न्यायालय को प्रदान किया जाता है कि किसी विशेष विषय के सम्बन्ध में वह कार्यक्रम को स्थगित करदे, क्योंकि वह विषय उसके अधिकार-क्षेत्र की सीमा से वाहर का है अथवा देश के कानून के ही विरुद्ध है।

(द) न्यायालय का चुनौतीपूर्ण अधिकार पत्र

इस आज्ञापत्र के प्रदान करने का उद्देश्य होता है किसी विशेष पद पर आसीन व्यक्ति को उसी पद पर स्थित रहने की आज्ञा प्रदान करना। इसके द्वारा उससे यह पूछा जाता है किस अधिकारी द्वारा वह उस पद पर आसीन है। इस आज्ञापत्र का प्रदान करना प्रार्थी के अधिकार की पूर्ति के रूप में न होकर न्यायालय के विवेक पर निर्भर है, अर्थात् यह आज्ञापत्र प्रदान करना अथवा न करना न्यायालय पर निर्भर है—चाहे इसे प्रदान करने के लिए जिन परिस्थितियों की आवश्यकता होती है वे सव पूरी क्यों न हो जाएँ।

(क) विशिष्ट न्यायालय का आज्ञापत्र

यह एक प्रकार का विशेष आज्ञापत्र है जिसे कोई श्रेष्ठ अथवा विशिष्ट न्यायालय किसी निम्न न्यायालय को प्रदान करता है कि वह निम्न न्यायालय किसी

विशेष विषय को जिसका मुक़दमा उनके यहाँ चल रहा हो—उस श्रेष्ठ न्यायालय में भेज दे। श्रेष्ठ न्यायालय को यह आज्ञा पत्र प्रदान करने के अधिकार का उद्देश्य यही है कि इस प्रकार के आज्ञापत्र द्वारा निम्न न्यायालयों का कार्य सुगम एव वैधानिक रूप से सम्पादित होता रहे।

यह लिखा जा चुका है कि मौलिक अधिकारों को व्यावहारिक रूप प्रदान करने के हेतु सर्वोच्च न्यायालय को आदेश अथवा आज्ञापत्र प्रदान करने का अधिकार है। विभिन्न हाई-कोर्ट को भी यह अधिकार प्राप्त है। यह भी प्रस्तावित किया गया है कि सर्वोच्च न्यायालय के अधिकारों को हानि न पहुँचाते हुए, ससद को यह अधिकार है कि वह कानून द्वारा किसी निम्न न्यायालय को यह अधिकार प्रदान करदे कि मौलिक अधिकारों को व्यावहारिक रूप प्रदान कराने के सम्बन्ध में वह अपनी स्थानीय सीमा में सर्वोच्च न्यायालय के अधिकारों का प्रयोग कर सकता है। इस धारा की प्रशसा में श्री० जी० एन० जोशी ने उचित ही लिखा है कि:—

"यह धारा अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि भारतवर्ष एक विशाल देश है, और यह सम्भव है कि भारतवर्ष के किसी एक भाग में व्यक्तियों के अधिकारों पर आघात किया जाए अथवा उनका अपहरण किया जाए, ऐसी परिस्थिति में नागरिकों के लिए यह अत्यन्त कठिन होगा कि इस सम्बन्ध में कुछ आदेश अथवा आज्ञापत्र प्रदान करने के लिए वे सर्वोच्च न्यायालय अथवा हाईकोर्ट से भी प्रार्थना करें।"

यहाँ यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि इन उपचारों के अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति इस बात के लिए स्वतन्त्र है कि वह किसी न्यायालय में किसी क़ानून का विरोध कर सकता है—इस आधार पर कि वह क़ानून विधान के विरुद्ध है।

सर्वोच्च न्यायालय से प्रार्थना के अधिकार का निरोध

सामान्य एवं साधारण परिस्थितियों में अपने मौलिक अधिकारों के सम्बन्ध में जनता के सर्वोच्च न्यायालय से प्रार्थना करने के अधिकार का निरोध नहीं हो सकेगा। परन्तु असाधारण परिस्थितियों में यह सम्भव है। विधान में यह प्रस्तावित किया गया है कि यदि राष्ट्रपति को यह अनुभव हो कि युद्ध, अथवा वाह्य आक्रमण अथवा अन्तर्देशीय अशान्ति के कारण कुछ असाधारण परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई हैं और इनसे भारतवर्ष अथवा उसके किसी भाग की शान्ति एव सुरक्षा के भग होने का भय है, तो वह सकटकालीन अवस्था की घोषणा कर सकता है। इस प्रकार की घोषणा युद्ध अथवा वाह्य आक्रमण अथवा अन्तर्देशीय अशान्ति के स्पष्ट रूप से प्रकट होने के पूर्व ही की जा सकती है। इस प्रकार की घोषणा के कार्यरूप में परिणत होने पर राष्ट्रपति इस बात का आदेश प्रदान कर सकता है कि आदेश के अन्तर्गत स्पष्ट किए गए मौलिक अधिकारों की रक्षा के सम्बन्ध में कोई व्यक्ति किसी न्यायालय से प्रार्थना नहीं

कर सकेगा, तथा उन अधिकारों से सम्बन्धित चल रहे विषयों को उतने काल के लिए स्थगित कर दिया जाए जब तक कि वह घोषणा प्रचलित रहे अथवा उतने समय तक के लिए जितने समय का निर्देश उस आदेश में किया गया हो। असाधारण परिस्थितियों से सम्बन्धित घोषणा दो मास की अवधि के पश्चात् समाप्त मानी जायगी यदि उस अवधि के समाप्त होने के पूर्व ससद् के दोनों भवन एक प्रस्ताव पास कर उसे स्वीकृत न कर दें। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वैधानिक उपचार के अधिकार को राष्ट्रपति दो मास के लिए स्थगित कर सकता है, परन्तु संसद् द्वारा स्वीकृत होने पर उसे और अधिक समय के लिए स्थगित किया जा सकता है।

आलोचनात्मक पुनर्निरीक्षण

अन्त में यहाँ यह लिखना अनुपयुक्त न होगा कि कुछ विद्वानों का विचार है कि विधान को मौलिक अधिकारों की केवल घोषणा ही करनी चाहिए थी, उन्हें प्रदान नहीं करना चाहिए था। उनका मत है कि मौलिक अधिकार व्यक्ति के बीजभूत एवं मौलिक तथा अविच्छेक अधिकार हैं जो उसके स्वय के हैं, इसलिए उनको जन्म प्रदान न कर उन्हें केवल स्वीकार ही किया जा सकता है। यदि यही मत प्रतिपादित किया जाए कि जब तक एक व्यक्ति को अधिकार प्रदान न किए जाएँ तब तक वह उनका भोग कैसे कर सकता है, तो प्रदान करने के क्षण से ही उन अधिकारों की मौलिकता नष्ट हो जाती है। अपने तर्क की पुष्टि में आलोचकों का यह कथन है कि अँगरेज़ जाति विश्व में सबसे अधिक स्वतन्त्रता और अधिकारों का भोग करती है, यद्यपि उनका विधान अलिखित है और उन्हें यह अधिकार प्रदान भी नहीं किए गए हैं। उनका कथन है कि विधान द्वारा अधिकारों का प्रदान किया जाना ही इस बात को भी दिग्दर्शित करता है कि प्रदान किए जाने के समान ही एक संशोधन द्वारा उन्हें छीन भी लिया जा सकता है, जो हमारे संविधान के अन्तर्गत कुछ अधिक कठिन नहीं।

इन तर्कों की दृढ़ता और सत्यता में सन्देह नहीं किया जा सकता। परन्तु यह भी निश्चित है कि मौलिक अधिकारों को प्रदान किए जाने से जो लाभ हैं वे उसकी हानि से कहीं अधिक हैं। यह कथन निम्नलिखित से भली भाँति स्पष्ट हो जाएगा :

प्रथम, हमारे विधान मे प्रस्तावित मौलिक अधिकारों का अध्याय हमारे देश में प्रजातन्त्र को वास्तविक और यथार्थ रूप प्रदान करता है। अधिकारों के प्रदान किये जाने से व्यक्ति का व्यक्तित्व सुप्रतिष्ठित हो जाता है और राज्य का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह उसकी सेवा और रक्षा करे। हमारे नवजन्मित प्रजातन्त्रात्मक गणतन्त्र के सैद्धान्तिक और व्यवहारिक दोनों स्वरूपों में प्रजातन्त्र के देवाधिदेव जनता को एक महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। इसके द्वारा राज्य एक साधन तथा व्यक्ति एक लक्ष्य के रूप प्रतिष्ठापित होता है। इसका उद्देश्य है सब के हित की प्राप्ति।

विशेष विषय को जिसका मुक़दमा उनके यहाँ चल रहा हो—उस श्रेष्ठ न्यायालय में भेज दे। श्रेष्ठ न्यायालय को यह आज्ञा पत्र प्रदान करने के अधिकार का उद्देश्य यही है कि इस प्रकार के आज्ञापत्र द्वारा निम्न न्यायालयों का कार्य सुगम एव वैधानिक रूप मे सम्पादित होता रहे।

यह लिखा जा चुका है कि मौलिक अधिकारों को व्यावहारिक रूप प्रदान करने के हेतु सर्वोच्च न्यायालय को आदेश अथवा आज्ञापत्र प्रदान करने का अधिकार है। विभिन्न हाई-कोर्ट को भी यह अधिकार प्राप्त है। यह भी प्रस्तावित किया गया है कि सर्वोच्च न्यायालय के अधिकारों को हानि न पहुँचाते हुए, ससद को यह अधिकार है कि वह कानून द्वारा किसी निम्न न्यायालय को यह अधिकार प्रदान करदे कि मौलिक अधिकारों को व्यावहारिक रूप प्रदान कराने के सम्बन्ध में वह अपनी स्थानीय सीमा में सर्वोच्च न्यायालय के अधिकारों का प्रयोग कर सकता है। इस धारा की प्रशसा में श्री० जी० एन० जोशी ने उचित ही लिखा है कि·—

"यह धारा अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि भारतवर्ष एक विशाल देश है, और यह सम्भव है कि भारतवर्ष के किसी एक भाग में व्यक्तियों के अधिकारों पर आघात किया जाए अथवा उनका अपहरण किया जाए, ऐसी परिस्थिति में नागरिकों के लिए यह अत्यन्त कठिन होगा कि इस सम्बन्ध में कुछ आदेश अथवा आज्ञापत्र प्रदान करने के लिए वे सर्वोच्च न्यायालय अथवा हाईकोर्ट से भी प्रार्थना करें।"

यहाँ यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि इन उपचारों के अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति इस बात के लिए स्वतन्त्र है कि वह किसी न्यायालय में किसी क़ानून का विरोध कर सकता है—इस आधार पर कि वह क़ानून विधान के विरुद्ध है।

सर्वोच्च न्यायालय से प्रार्थना के अधिकार का निरोध

सामान्य एव साधारण परिस्थितियों में अपने मौलिक अधिकारों के सम्बन्ध में जनता के सर्वोच्च न्यायालय से प्रार्थना करने के अधिकार का निरोध नहीं हो सकेगा। परन्तु असाधारण परिस्थितियों में यह सम्भव है। विधान में यह प्रस्तावित किया गया है कि यदि राष्ट्रपति को यह अनुभव हो कि युद्ध, अथवा वाह्य आक्रमण अथवा अन्तर्देशीय अशान्ति के कारण कुछ असाधारण परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई हैं और इनसे भारतवर्ष अथवा उसके किसी भाग की शान्ति एव सुरक्षा के भग होने का भय है, तो वह सकटकालीन अवस्था की घोषणा कर सकता है। इस प्रकार की घोषणा युद्ध अथवा वाह्य आक्रमण अथवा अन्तर्देशीय अशान्ति के स्पष्ट रूप से प्रकट होने के पूर्व ही की जा सकती है। इस प्रकार की घोषणा के कार्यरूप में परिणत होने पर राष्ट्रपति इस बात का आदेश प्रदान कर सकता है कि आदेश के अन्तर्गत स्पष्ट किए गए मौलिक अधिकारों की रक्षा के सम्बन्ध में कोई व्यक्ति किसी न्यायालय से प्रार्थना नहीं

कर सकेगा, तथा उन अधिकारों से सम्बन्धित चल रहे विषयों को उतने काल के लिए स्थगित कर दिया जाए जब तक कि वह घोषणा प्रचलित रहे अथवा उतने समय तक के लिए जितने समय का निर्देश उस आदेश में किया गया हो। असाधारण परिस्थितियों से सम्बन्धित घोषणा दो मास की अवधि के पश्चात् समाप्त मानी जायगी यदि उस अवधि के समाप्त होने के पूर्व संसद के दोनों भवन एक प्रस्ताव पास कर उसे स्वीकृत न कर दें। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वैधानिक उपचार के अधिकार को राष्ट्रपति दो मास के लिए स्थगित कर सकता है, परन्तु संसद द्वारा स्वीकृत होने पर उसे और अधिक समय के लिए स्थगित किया जा सकता है।

आलोचनात्मक पुनर्निरीक्षण

अन्त में यहाँ यह लिखना अनुपयुक्त न होगा कि कुछ विद्वानों का विचार है कि विधान को मौलिक अधिकारों की केवल घोषणा ही करनी चाहिए थी, उन्हें प्रदान नहीं करना चाहिए था। उनका मत है कि मौलिक अधिकार व्यक्ति के बीजभूत एवं मौलिक तथा अविच्छेद्य अधिकार हैं जो उसके स्वयं के हैं, इसलिए उनको जन्म प्रदान न कर उन्हें केवल स्वीकार ही किया जा सकता है। यदि यही मत प्रतिपादित किया जाए कि जब तक एक व्यक्ति को अधिकार प्रदान न किए जाएँ तब तक वह उनका भोग कैसे कर सकता है, तो प्रदान करने के क्षण से ही उन अधिकारों की मौलिकता नष्ट हो जाती है। अपने तर्क की पुष्टि में आलोचकों का यह कथन है कि अँगरेज़ जाति विश्व में सबसे अधिक स्वतन्त्रता और अधिकारों का भोग करती है, यद्यपि उनका विधान अलिखित है और उन्हें यह अधिकार प्रदान भी नहीं किए गए हैं। उनका कथन है कि विधान द्वारा अधिकारों का प्रदान किया जाना ही इस बात को भी दिग्दर्शित करता है कि प्रदान किए जाने के समान ही एक संशोधन द्वारा उन्हें छीन भी लिया जा सकता है, जो हमारे संविधान के अन्तर्गत कुछ अधिक कठिन नहीं।

इन तर्कों की दृढ़ता और सत्यता में सन्देह नहीं किया जा सकता। परन्तु यह भी निश्चित है कि मौलिक अधिकारों को प्रदान किए जाने से जो लाभ हैं वे उसकी हानि से कहीं अधिक हैं। यह कथन निम्नलिखित से भली भाँति स्पष्ट हो जाएगा :

प्रथम, हमारे विधान में प्रस्तावित मौलिक अधिकारों का अध्याय हमारे देश में प्रजातन्त्र को वास्तविक और यथार्थ रूप प्रदान करता है। अधिकारों के प्रदान किये जाने से व्यक्ति का व्यक्तित्व सुप्रतिष्ठित हो जाता है और राज्य का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह उसकी सेवा और रक्षा करे। हमारे नवजन्मित प्रजातन्त्रात्मक गणतन्त्र के सैद्धान्तिक और व्यवहारिक दोनों स्वरूपों में प्रजातन्त्र के देवाधिदेव जनता को एक महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। इसके द्वारा राज्य एक साधन तथा व्यक्ति एक लक्ष्य के रूप प्रतिष्ठापित होता है। इसका उद्देश्य है सब के हित की प्राप्ति।

द्वितीय, मौलिक अधिकारों की धारा का उद्देश्य व्यक्ति को बहुमत दल की निरंकुशता और अत्याचारों से बचाना भी है। यह सम्भव है कि प्रजातन्त्र और राजतन्त्र में कोई समानता न हो, परन्तु उनमें एक समानता अवश्य है, और वह है अत्याचार एव निरकुशता का भय। एक राजतन्त्र के अन्तर्गत जनता राजा के अत्याचार और अनाचार से सशकित रहती है। एक प्रजातन्त्र के अन्तर्गत बहुमत दल के अत्याचार और अनाचार का भय रहता है जो जनता की आकाक्षाओं, अधिकार और स्वतन्त्रता को कुचल सकता है क्योंकि व्यवस्थापिका सभा में उसे अपने बहुमत और अपनी शक्ति का विश्वास रहता है। परिणामस्वरूप प्रजातन्त्र के सन्मुख यही एक समस्या है कि बहुमत दल के अत्याचार और क्रर व्यवहार से अल्पदलों की रक्षा किस प्रकार की जाय। इसलिए विधान में अधिकारों का प्रस्तावित करना और भी आवश्यक हो गया है जिससे कि अनित्य एवं अस्थिर बहुमत दल व्यवस्थापन की सामान्य प्रणाली द्वारा जनता के अधिकारों के साथ खिलवाढ न कर सकें। इस प्रकार इन अधिकारों का सम्मिलन बहुमत दल के सम्भावित अत्याचार एव अनाचार को जकड़ने के हेतु शृङ्खला के रूप में है। अन्त में, हमारे विधान में मौलिक अधिकारों का सम्मिलन इस विधान को स्वतन्त्रता के अधिकार पत्र का स्वरूप ग्रहण करा देता है। भारतवर्ष में इसकी और भी अधिक आवश्यकता थी, क्योंकि युगों की दासता ने भारतवासियों की प्रवृत्ति को भी दासता से पूर्ण बना दिया था। एक स्वतन्त्र देश के नागरिक के समान उन्हें अपने अधिकारों के भावपूर्ण एव स्वर्णिम अन्तरिक्ष की ओर उन्मुख करने तथा अपने अधिकारों के प्रति उत्साहित करने के लिए यह आवश्यक था कि इन अधिकारों को विधान में स्थान प्रदान किया जाता। वास्तव में गुलाम भारतवर्ष और स्वतन्त्र भारतवर्ष के विधानों में जो अन्तर—मौलिक अन्तर—है वह यह है कि वे विधान हमारी दासता के आज्ञापत्र थे, और इसके विपरीत यह हमारे स्वराज्य का अधिकार पत्र है, हमारे अधिकार और हमारी स्वतन्त्रता का द्योतक है।

पांचवाँ अध्याय

राज्यनीति के निर्देशक सिद्धान्त

"निर्देशक सिद्धान्त इस प्रकार के निश्चित एव अनन्त सिद्धान्त नहीं है जो विभिन्न देशों और विभिन्न युगों में परिवर्तित नहीं होते। ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि इन सिद्धान्तों को विधान मे मूर्खों और श्रद्धालुओं को तुच्छ सन्तुष्टि प्रदान करने के लिए ही स्थान प्रदान किया गया है। क्या यह कहा जा सकता है कि तालिका में समस्त कालों के लिए उपयुक्त समस्त निर्देशक सिद्धान्त दे दिए गए है, अथवा समस्त सिद्धान्त व्यावहारिक दृष्टिकोण से असंदिग्ध रूप से निश्चित और उचित एवं युक्त हैं ?"[1]

—श्री. एन. आर. राघवचारी.

भारतवर्ष के नवीन विधान में राज्य का स्वरूप हितैषी रखा गया है जिससे यह आशा की गई है कि वह जननी के समान बिना किसी भेद भाव के अपनी समस्त प्रजा के हित का ध्यान रखेगा। राज्य शासन विधि के इस स्वरूप पर अधिक बल डालने के लिए विधान में राज्य नीति के निर्देशक सिद्धान्त के रूप में कुछ आदेश प्रस्तावित किए गए हैं। इनका उद्देश्य है हमारे प्रजातन्त्र रूपी शिशु की शक्ति को राष्ट्रीय और उन्नतिशील स्रोत की ओर उन्मुख करना। निर्देशक सिद्धान्तों का उल्लेख हमारे विधान की एक प्रमुख विशेषता है। इसकी समानता केवल स्वतन्त्र आयरलैंड के विधान में पाई जाती है।

निर्देशक सिद्धान्तों का अर्थ और स्वरूप

भारतीय विधान में राज्यनीति के निर्देशक सिद्धान्तों का जो उल्लेख है, वह भारतीय राज्य के सन्मुख कुछ आदर्शों को रखता है। इन आदर्शों का सम्बन्ध भारतीय

---

1 "Directive principles are not such settled and eternal principles which do not change from country to country or from age to age. It almost reads as if the directive principles are embodied in the constitution just to give cheap satisfaction to the gullible and the credulous. Can it be said that the list includes all the directive principles for all time or that all the principles are unquestionably sound and sensible from the practical point of view ?"

—Sri N. R. Raghavachari.

जनता के सामाजिक, आर्थिक और नैतिक हित से है, जिसकी आज महान आवश्यकता है। इस प्रकार राज्य नीति के आदर्श के रूप में इन निर्देशक सिद्धान्तों में भारतवर्ष की वास्तविक आवश्यकताएँ सन्निहित हैं। यहाँ यह भी उल्लेख कर देना आवश्यक है कि इन आदर्शों का स्वरूप ऐसा है कि प्रत्येक स्थान पर यही एक वास्तविक प्रजातन्त्र का सार एव तत्त्व का स्वरूप ग्रहण करते हैं।

निर्देशक सिद्धान्त और मौलिक अधिकार

निर्देशक सिद्धान्तों को मौलिक अधिकारों के दृढ़ एव निश्चित पुन स्थापन के हेतु ही जन्म दिया गया है। इन सिद्धातों का उद्देश्य है जितना शीघ्र हो सके नागरिकों के प्रत्यक्ष जीवन में मौलिक अधिकारों के सार एव तत्त्व को अपनी राष्ट्रीय सरकार द्वारा प्रयोग में लाना। हमारे स्वातन्त्र्य लेख की भूमिका और विधान में दिए गए मौलिक अधिकारों के अध्याय में जनता के स्वतन्त्रता, समानता, भ्रातृत्व और न्याय के अधिकारों को स्वीकार किया गया है। राज्यनीति के निर्देशक सिद्धात इस कार्य को राज्य के नैतिक कर्तव्य का स्वरूप प्रदान करते हैं कि एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था स्थापित की जाए जिससे कि जीवन के समस्त क्षेत्रों में—सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक—समानता, स्वतन्त्रता और न्याय की प्राप्ति सम्भव हो सके। "यदि मौलिक अधिकारों का अध्याय एक लक्ष्य का दिग्दर्शन कराता है तो निर्देशक सिद्धांतों का अध्याय साधनों का अध्ययन है। यदि एक उत्तम जीवन का दर्शन शास्त्र है तो दूसरा उसका व्यावहारिक स्वरूप है।"[1]

निर्देशक सिद्धान्तों का क्षेत्र

निर्देशक सिद्धातों का उद्देश्य संघीय सरकार तथा प्रातीय सरकारों की नीति तथा ग्राम पंचायतों, म्युनिसिपल और जिला बोर्ड आदि के कार्यों पर नियन्त्रण रखना है।

इस भाग की आरम्भिक धारा में 'राज्य' शब्द के दो अर्थ प्रतिपादित किए गए हैं। सामूहिक रूप में इसका अर्थ केन्द्रीय सरकार और केन्द्रीय संसद तथा प्रत्येक प्रांत की सरकार और व्यवस्थापिका सभाएँ हैं। और इससे अधिक व्यापक क्षेत्र में इसका अर्थ ग्राम पचायत, ज़िला और म्युनिसिपल बोर्ड तथा अन्य स्थानीय सस्थाएँ भी हैं।

इस प्रकार निर्देशक सिद्धांत इस बात पर बल देते हैं कि समस्त भारतवर्ष को, जिसमें सघ, प्रात और स्थानीय सस्थाएँ सम्मिलित हैं, प्रजा के हित के लिए

---

[1] "The chapter on Fundamental Rights is an exposition of ends, the chapter on Directives a study of means If one is philosophy of good life, the other is its practice"

सतत प्रयत्न करना है। यदि कोई संस्था स्वतन्त्र भारत में अपना अस्तित्व स्थिर रखना चाहती है तो उसे सेवा कार्य करना चाहिए। यही वह आदर्श है जिसे निर्देशक सिद्धांत हमारे सन्मुख रखते हैं।

निर्देशक सिद्धान्तों का प्रचलन

आरम्भ में ही हमारे विधान की धारा ३७ द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया है कि निर्देशक सिद्धांत यद्यपि देश के शासन में मौलिक भाग लेते हैं, भारतवर्ष में किसी न्यायालय द्वारा लागू नहीं किए जाएँगे। सरकार का निर्माण करने वाले जनता के प्रतिनिधियों का यह नैतिक कर्तव्य है कि वे निर्देशक सिद्धांतों के अन्तर्गत निश्चित सद्आचरण के नियमों का पालन करें।

निर्देशक सिद्धान्तों का निरीक्षण

धारा ३८ में निर्देशक सिद्धांतों के महत्व को बड़े व्यापक रूप में निम्नलिखित शब्दों में दर्शाया गया है :—

"राज्य, अधिक से अधिक प्रभावपूर्ण रूप में एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना और सुरक्षा द्वारा, जिसमें आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक न्याय की प्राप्ति हो, जनता के हित के विकास का प्रयत्न करेगा, और राष्ट्रीय जीवन की प्रत्येक संस्था को इस सम्बन्ध में सूचित करेगा।"

इस प्रकार निर्देशक सिद्धांतों का लक्ष्य राज्य के कार्यों द्वारा जनता के हित की प्राप्ति करना है। इनका उद्देश्य भारतवर्ष में प्रत्येक प्रकार का प्रजातन्त्र—राजनैतिक; सामाजिक और आर्थिक—स्थापित करना है, अनुमानतः "एक व्यक्ति, समान महत्व" के सिद्धांत पर।[1]

विधान में प्रस्तावित राज्यनीति के निर्देशक सिद्धांतों का विवेचन निम्नलिखित शीर्षक के अन्तर्गत किया जा सकता है :

(अ) आर्थिक सुरक्षा सम्बन्धी राजनैतिक सिद्धान्त

हमारे विधान निर्माताओं ने विधान में प्रजातन्त्रात्मक आर्थिक व्यवस्था को विशेष रूप से स्थान दिया है। यह वर्तमान काल के समाजवादी दृष्टिकोण के अनुकूल है। विधान की ३६, ४१, ४२, ४३, ४६, ४७ और ४८ वीं धाराओं द्वारा भारतीय जनता के आर्थिक हित की रक्षा के लिए पग बढ़ाया गया है। समान हित के हेतु उनमें निम्नलिखित की ओर विशेष ध्यान दिया गया है :

"(१) जीवनयापन के समुचित साधन; (२) जनता के भौतक साधनो के स्वामित्व का निष्पक्ष वितरण और नियंत्रण; (३) धन और उत्पादन के साधनों के ऐसे

1. The principle of 'one man, one value.'

केन्द्रीकरण को रोकना जो समान हित के लिए घातक हों, (४) स्त्री और पुरुषों के समान कार्य के लिए समान वेतन, (५) स्त्री, पुरुष और और बालकों को उनकी आयु के अयोग्य कार्यों को करने से रोक कर उनके स्वास्थ्य और शक्ति की रक्षा करना, (६) नौकरी, (७) बेकारी, वृद्धावस्था, बीमारी और अपाहिज आदि की अवस्था में जन-सहायता प्रदान करना, (८) जीवन का एक स्तर प्राप्त करने के लिए उचित वेतन प्रदान करना; (९) घरेलू उद्योग-धन्धों की उन्नति, (१०) अछूतों के शैक्षिक, सामाजिक और आर्थिक हित की उन्नति, (११) गौ-हत्या पर प्रतिबंध लगाना तथा वैज्ञानिक आधारों पर पशुशालाएँ खुलवाकर पशुपालन करना।"

(ब) सामाजिक हित सम्बन्धी निर्देशक सिद्धान्त

आर्थिक हित की उपर्युक्त धाराओं के अतिरिक्त निर्देशक सिद्धान्तों के अन्तर्गत राज्य सामाजिक हित की स्थापना का प्रयत्न भी करेगा।

इस सम्बन्ध में निर्देशक सिद्धान्त निम्नलिखित से सम्बन्धित हैं :

(१) आहार आदि के स्तर को उठाना तथा जनस्वास्थ्य की उन्नति के लिए जीवन के स्तर को बढ़ाना;

(२) शिशु जन्म तथा शिशु पालन की सुविधाएँ, और

(३) औषधि में प्रयोग किए जाने के अतिरिक्त मदिरा तथा अन्य मादक द्रव्यों के प्रयोग पर प्रतिबन्ध।

(स) न्याय, शिक्षा और प्रजातन्त्र सम्बन्धी निर्देशक सिद्धान्त

भारतवर्ष की जनता में न्याय की प्राप्ति, शिक्षा के प्रचार और प्रसार और प्रजातन्त्र की भावना के विकास के लिए भी निर्देशक सिद्धातों में कुछ धाराएँ प्रस्तावित की गई हैं।

न्याय की प्राप्ति के लिए निर्देशक सिद्धातों के अन्तर्गत यह प्रस्तावित किया गया है कि समस्त नागरिकों के लिए समान कानून होना चाहिए। कार्यकारिणी और न्यायव्यवस्था के पृथक्करण पर भी बल दिया गया है।

शिक्षा के प्रगतिशील प्रसार के लिए निर्देशक सिद्धातों के अन्तर्गत धारा ४५ में यह प्रस्तावित किया गया है कि, "इस विधान के लागू होने के दस वर्ष के समय में राज्य चौदह वर्ष तक के बालकों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा प्रदान करने का प्रयत्न करेगा।"

प्रजातन्त्र की भावना के विकास के हेतु निर्देशक सिद्धान्तों के अन्तर्गत यह प्रस्तावित किया गया है कि स्वराज्य की इकाई के रूप में ग्राम पंचायतों का संगठन किया जाए। एक्ट की धारा ४० में यह प्रतिपादित किया गया है कि "राज्य ग्राम-

पंचायतों के संगठन की ओर कदम उठाएगा, और उन्हें इतने अधिकार प्रदान किए जाएँगे, जिनके द्वारा वे स्वराज्य की सहायक इकाई के रूप में कार्य कर सकें।"

(द) प्राचीन स्मारकों की रक्षा सम्बन्धी निर्देशक सिद्धान्त

निर्देशक सिद्धांतों के अन्तर्गत प्राचीन स्मारकों, भवनों तथा ऐतिहासिक और राष्ट्रीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थानों की रक्षा और स्थायित्व की ओर भी ध्यान दिया जाना प्रस्तावित किया गया है। इस सम्बन्ध में विधान की धारा ४९ उल्लेखनीय है :

"कलात्मक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण प्रत्येक स्मारक तथा भवन और संसद द्वारा घोषित राष्ट्रीय महत्त्व के स्थानों के नष्ट होने, कुरूप होने, क्रय अथवा हटाए जाने से रक्षा करना राज्य का कर्त्तव्य होगा।"

(क) अन्तर्राष्ट्रीयता सम्बन्धी निर्देशक सिद्धांत

निर्देशक सिद्धांतों के अध्याय की एक और महत्वपूर्ण धारा निम्न प्रकार से है :

"५१. राज्य इस बात का प्रयत्न करेगा कि :

(१) अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा का विकास हो;

(२) राष्ट्रों में न्यायपूर्ण तथा आदरणीय सम्बधों की स्थापना हो;

(३) अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा संगठित राष्ट्रों की संधि आदि के प्रति आदर की भावना का विकास हो;

(४) अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों के निर्णय के लिए समझौते की भावना का उदय हो।"

इस धारा का कुछ मौलिक महत्त्व भी है। यह धारा देश के उच्च आदर्शों, शांति के हेतु उसकी श्रद्धा और युद्ध के प्रति उसकी घृणा के अनुकूल तथा समानान्तर है। यह बात अत्यत महत्त्वपूर्ण है कि अन्तर्राष्ट्रीय सद्-इच्छा और विश्व शांति के सिद्धांत हमारे विधान में ही सन्निहित हैं। इस प्रकार भारतवर्ष सदैव ही राज्य विस्तार की लिप्सा और साम्राज्यशाही से घृणा करता रहेगा। इसी प्रकार वह विश्व को शांति के पथ पर अग्रगण्य के रूप में अग्रसर करता रहेगा।

निर्देशक सिद्धान्तों की आलोचना

हमारे विधान में प्रस्तावित राज्यनीति के निर्देशक सिद्धांतों की निम्नलिखित आधारों पर बड़ी कड़ी आलोचना की गई है :—

(१) एक सर्वोच्च सत्ताधारी राष्ट्र का स्वय के लिए इन सिद्धांतों का नियत करना अत्यन्त अस्वाभाविक तथा हास्यास्पद प्रतीत होता है। यह सम्भव है कि कोई उच्च सत्ता अपनी आधीन सत्ता को इन सिद्धांतों का निर्देश करे तथा उनकी नीति निर्धारित करे परतु यह अत्यंत ही अप्राकृतिक है कि एक सत्ताधारी राज्य स्वयं के लिए

इस प्रकार के सिद्धांत नियत करे क्योंकि इससे उसी के अधिकार सीमित हो जाएँगे और उनके प्रयोग में बाधा उपस्थित होगी।

परन्तु आलोचकगण इस स्थान पर यह विस्मरण कर जाते हैं कि निर्देशक सिद्धांत किसी प्रकार के आदेश अथवा आज्ञा नहीं हैं; और इसलिए इनके द्वारा राष्ट्रीय राज्य सत्ता को कोई हानि पहुँचना असम्भव है। इनके प्रयोग के लिए राज्य कानून द्वारा बाध्य नहीं है। यदि राज्य इन सिद्धान्तों का पालन नहीं करता तो कोई न्यायालय इसके लिए उसे विवश नहीं कर सकता। इस प्रकार इन निर्देशक सिद्धांतों की उपस्थिति में भी राज्य अपने शासनाधिकारों के प्रयोग के लिए स्वतंत्र है।

(२) निर्देशक सिद्धान्तों के अध्याय का तात्पर्य यही है कि इसमें कुछ इस प्रकार के सिद्धान्त निहित हैं जो निश्चित हैं तथा जो किसी एक समय के न होकर अनन्तकालीन हैं, और विभिन्न कालों में जिनमें परिवर्त्तन की सम्भावना नहीं। परन्तु काल चक्र की परिवर्त्तित होने वाली गति में प्रत्येक सिद्धांत अथवा आदेश सदा ही लाभदायक सिद्ध नहीं हो सकते। आज वे लाभदायक सिद्ध हो सकते हैं परन्तु कल के लिए तो कुछ नहीं कहा जा सकता। निर्देशक सिद्धांतों के अध्याय में मानव प्रकृति के प्रगतिशील विकास और उसकी आवश्यकताओं, भावनाओं और आदर्शों के विकास के लिए कोई स्थान नहीं। इसके अतिरिक्त निर्देशक सिद्धांतों के रूप में जो सिद्धांत प्रतिपादित किए गए हैं व्यावहारिक दृष्टिकोण से वे असंदिग्ध रूप से निश्चित एवं लाभदायक नहीं कहे जा सकते। उदाहरणस्वरूप मादक द्रव्यों के विरोध से सम्बन्धित निर्देशक सिद्धांत केवल एक अगोचर दुर्गुण ही है। इस अनिश्चित एव संदिग्ध प्रयोग द्वारा जिस आय को हानि हुई है उसका प्रयोग जनहित के अन्य महत्वपूर्ण तथा आवश्यक कार्यों के सम्पादन में किया जा सकता था। निर्देशक सिद्धांतों द्वारा प्रस्तावित मादक द्रव्यों के निषेध की नीति अधिक से अधिक एक अतिव्ययी असफलता के नाम से पुकारी जा सकती है, जिसके द्वारा एक ओर तो सरकार एक विशाल आय से वंचित हो जायगी और दूसरी ओर अवैध रूप से मादक द्रव्यों के क्रय-विक्रय के अभियोगों तथा इन द्रव्यों के कानून विरुद्ध आदान प्रदान में वृद्धि होगी। इसके विपरीत यदि सरकार मदिरा आदि अन्य मादक द्रव्यों पर इतना अधिक कर लगा देती कि धनिकों के अतिरिक्त और कोई उसका प्रयोग ही नहीं कर पाता तो सरकार के दोनों उद्देश्य पूर्ण हो सकते थे। वर्त्तमान परिस्थिति में मादक द्रव्यों के निषेध से आय में जो हानि हुई है वह न हो पाती। सरकार का द्वितीय उद्देश्य यह था कि श्रमिक वर्ग के व्यक्ति इन मादक द्रव्यों का प्रयोग न कर पाएँ। कर में वृद्धि करने पर इन श्रमिकों को कदाचित् इन मादक द्रव्यों की सुगंध से भी वंचित हो जाना पड़ता। इस प्रकार इस आलोचना का सारांश श्री० एन० आर० राघवाचारी के निम्नलिखित शब्दों में उद्धृत किया जा सकता है:

"इसलिए इन सिद्धांतों को व्यवहारिक राजनीति के स्थान पर राजनैतिक दर्शन की विशेषता ही प्रदान करनी पडती है, और व्यर्थ परन्तु वैभवपूर्ण शब्दावली में जडी हुई उच्चतम कल्पनाओं एवं भावनाओं की पंक्ति के अतिरिक्त, एक वैधानिक आलोचक अथवा एक आलोचनात्मक वैधानिक की दृष्टि में इनका महत्त्व न्यून अथवा कुछ भी नहीं।"[1]

उपर्युक्त आलोचना में सत्य और महत्त्व का यथेष्ट अंश है। परन्तु निर्देशक सिद्धांत इतने व्यर्थ और निष्फल नहीं जितना कि उपर्युक्त दृष्टिकोण वाले आलोचक-गण का विचार है। 'निर्देशक सिद्धांतों के पक्ष में' शीर्षक के अंतर्गत यह कथन भली भाँति स्पष्ट होजाएगा।

(२) कुछ आलोचकों का यह भी कहना है निर्देशक सिद्धान्तों के अन्तर में कुछ विनीत आकांक्षाओं और झूठे सपनों के अतिरिक्त और कुछ नहीं। उदाहरण-स्वरूप जैसा कि सेम्पसन ने लिखा है :

"जो लक्ष्य निश्चित किए गए हैं उनमें से कुछ का तो सम्भावित कार्यक्रम की वास्तविकता से अत्यन्त न्यून सम्बन्ध है। उदाहरणस्वरूप विवेकहीन आशावादी को भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि अपनी जनता को वैभव और आनन्द तथा सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों से परिपूर्ण जीवन के उच्च स्तर का आश्वासन प्रदान करने को आशा से पूर्व भारतवर्ष को वडा कठिन मार्ग पूरा करना होगा।"[2]

आलोचक महोदय यहाँ यह विस्मरण कर गए कि केवल एक आदर्श ही एक अन्य आदर्श की प्राप्तिके लिए उत्साहित कर सकता है। आलोचक महोदय से यह प्रश्न किया जा सकता है कि, "क्या उन व्यक्तियों ने कभी उन्नति की है जो एक आदर्श की चुनौती से डर गए हैं?" यह नग्न सत्य है कि प्रत्येक राजनैतिक समाज अथवा संस्था अपनी उन्नति के हितार्थ एक आदर्श की प्राप्ति का उद्देश्य स्थिर कर लेती है,

---

1. "One is, therefore, disposed to characterise these principles as more political philosophy than practical politics and except as a parade of high-sounding sentiments couched in vain-glorious verbirge, they have little or no appeal to a constitutional critic or a critical constitutionalist" Sri N R Raghavachari.

2 "Some of the goals enumerated bear little relation to the realities of possible achievement The most abandoned optimist would have to admit that India has a long and hard road to travel before she can, for example, hope to ensure for her people a decent standard of life with full enjoyment of leisure and social and cultural opportunities." Mr. Sampson.

जिसके लिए उसे अत्यन्त उत्साह के साथ कार्य और चेष्टा करनी चाहिए। मानव की आकाँक्षाओं और आदर्शों का अतरिक्ष जितना अधिक स्वप्निल और आकर्षक होगा और उसकी प्राप्ति जितनी अधिक दुरुह होगी, उसे प्राप्त करने के लिए उतना ही अधिक उत्साह तथा उतनी ही अधिक लालसा एव प्रेरणा भी होगी। निर्देशक सिद्धांतों के अध्याय में आदर्शों की निहित भारतीय राज्य को उन्नति एवं प्रगति के पथ पर अग्रसर करने वाला एक शुभ एव कल्याणकारी साधन है।

(४) इसके अतिरिक्त कुछ आलोचकों का कथन है कि निर्देशक सिद्धांतों के अध्याय में जिन धाराओं को स्थान प्रदान किया गया है, उनके सम्बंध में न्यायालय को यह अधिकार होना चाहिए था कि वह उन्हें लागू कर सके। यदि ऐसा न होगा तो उनको स्थान प्रदान करने का अर्थ ही क्या हो सकता है ? इनको लागू करने की अपेक्षा अधिकतर इन पर ध्यान ही नहीं दिया जायगा।

इस स्थान पर आलोचकगण यह विस्मरण कर जाते हैं कि हमारे विधान-निर्माता इस तथ्य से अनभिज्ञ नहीं थे कि राज्य की नीति को निर्धारित करने में समय और वातावरण जैसी सचालक शक्तियों का भी यथेष्ट हाथ रहता है। उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि किसी सरकार का सचालन कानूनी आधारों की अपेक्षा विश्वास द्वारा अधिक होता है। उनका लक्ष्य ही यह था कि उस समय भारतवर्ष में प्रचलित हो रहे उन आदर्शों को साकार रूप प्रदान किया जाए, जिनकी आवश्यकता समय और परिस्थिति को देखते हुए थी। निर्देशक सिद्धान्त जनता के प्रतिनिधियों को इस बात का ध्यान दिलाने के लिए रखे गए थे कि स्वय उनकी और देशवासियों की आशाएँ, आकाँक्षाएं और आवश्यकताएँ क्या हैं। जनता के हितों के रक्षक और सरक्षक तथा राष्ट्र के सेवक के रूप में सरकार से यह आशा की जाती है कि वह अपनी यथार्थ एव निष्कपट चेष्टाओं द्वारा इन आदर्शों को पूर्ण करने का प्रयत्न करे। इनका लक्ष्य यह नहीं है कि भविष्य में होने वाले भारतवर्ष के शासकों के हाथ पैर जकड दिए जाएँ, इसके विपरीत इनका उद्देश्य यही है कि अग्रसर होने के लिए उनका पथ प्रदर्शन किया जाए तथा उनको उत्साहित किया जाए।

(५) कुछ विचारकों का यह भी मत है कि निर्देशक सिद्धान्तों का रखना ही व्यर्थ है क्योंकि इनके अन्तर्गत जो सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए हैं वे आधुनिक प्रजातन्त्र राज्य की नीति में उपलक्षित होते हैं, जो अपने 'नागरिकों को उत्तम जीवन'[1] प्रदान करने के लिए ही स्थित है।

वास्तव में यह आलोचना निर्देशक सिद्धान्तों के विरुद्ध होने की अपेक्षा उनके पक्ष में अधिक है। यदि निर्देशक सिद्धान्तों का कार्यक्रम भी वही हो, और उनका वह

---

[1] अरस्तू

कार्यक्रम है, जो आधुनिक प्रजातन्त्रात्मक राज्य के जीवन मे ही उपलक्षित होता हो, तब उस दशा में वे किसी अन्य बात का भार नहीं लादते, बल्कि प्रजातन्त्र के तत्व एवं सार को ही स्पष्ट करते हैं, और इस प्रकार वास्तव में वे उस प्रजातन्त्रात्मक स्वरूप पर अधिक बल देते हैं जिस स्वरूप को हमारी शिशु रूपी राज्य शासन विधि को भी ग्रहण करना है। इस आलोचना से एक निष्कर्ष और भी निकलता है, और वह यह है कि यदि यह सिद्धान्त प्रजातन्त्र के अनुकूल हैं तो एक प्रजातन्त्रात्मक राज्य में इनकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना अस्वाभाविक एवं अप्राकृतिक नहीं है बल्कि इसके विपरीत इनकी प्राप्ति सम्भव भी है। परिणामस्वरूप आज नहीं तो कुछ समय में भारतवर्ष उस स्वर्गिक लक्ष्य को प्राप्त करने की आशा कर सकता है जिसका सकेत इन निर्देशक सिद्धान्तों में है।

निर्देशक सिद्धान्तों के पक्ष में

निर्देशक सिद्धांत राष्ट्र के उन हितों के रक्षार्थ स्थिर किए गए हैं जिन्हें जनता के प्रतिनिधि कदाचित दल-बन्दी के प्रबल प्रवाह में विस्मरण कर बैठे। निर्देशक सिद्धान्तों को स्थान प्रदान करने का वास्तविक एवं न्याय-युक्त कारण यह भय है कि विभिन्न दलों की सरकारों के भाग्य परिवर्त्तन के साथ, जिसका होना हमारे देश की सचिवतन्त्रात्मक व्यवस्था में अवश्यम्भावी है, यह सम्भव है कि जिस दल के हाथों में शासन की बागडोर हो वह दल कुछ स्वार्थी प्रवृत्तियों के कारण निर्देशक सिद्धान्तों के अन्तर्गत प्रतिपादित की गई मातृ-भूमि की वास्तविक आवश्यकताओं और आकांक्षाओं को विस्मरण कर बैठे। परन्तु क्योंकि निर्देशक सिद्धान्त निश्चित कर दिए गए हैं, इस कारण उस दल को जिसका व्यवस्थापिका सभा में बहुमत होगा, तथा जिसने कार्यकारिणी का निर्माण किया होगा, निर्देशक सिद्धान्तों का आदर करना पड़ेगा। वह दल इन सिद्धांतों को केवल इसी कारणवश न त्याग देगा कि इन पर ध्यान न देने से उसे किसी न्यायालय के प्रति उत्तरदायी न होना पड़ेगा, बल्कि वास्तव में इसके लिए उसे निर्वाचकों के प्रति, जो दण्ड और पारितोषिक प्रदान करने वाला जनता का सब से उच्च न्यायालय है, उत्तरदायी होना पड़ेगा। किसी दल द्वारा निर्देशक सिद्धांतों के प्रति अरुचि प्रदर्शित होने से अथवा पूर्व समय से निश्चित् योजना द्वारा उन्हें नष्ट करने से जनता में प्रतिघात की प्रवृत्ति का जाग्रत होना स्वाभाविक है, और उस दल के प्रतिनिधि, जिन्होंने इस प्रकार का व्यवहार किया हो, निर्वाचकों से यह आशा नहीं रख सकते कि उन्हें फिर से निर्वाचित कर दिया जाए। इस प्रकार निर्देशक सिद्धांतों को एक बंधन के रूप में इसी हेतु स्थान प्रदान किया गया है कि कोई दल जनता की वास्तविक आवश्यकताओं को कुचल न सके।

इसके अतिरिक्त निर्देशक सिद्धांतों का लक्ष्य यह भी है कि राष्ट्रीय शक्ति को समाज के रूढ़िवादी दल की मन की तरंग एवं सनक के विरुद्ध भी प्रगतिशील एवं

उन्नतिशील धाराओं में प्रवाहित करे। सेम्पसन को भी, जो निर्देशक सिद्धांतों का कठोर आलोचक है, यह स्वीकार करना पड़ा.

"किसी वैधानिक लेख पत्र में किसी ऐसी वस्तु के सम्मिलित करने की विद्वत्ता के, जो किसी राजनैतिक घोषणा के तुल्य हो, सम्बन्ध में सशय उठाए जा सकते हैं, परन्तु प्रत्येक परिस्थिति में यह (यह निर्देशक सिद्धांतों का अध्याय) इस सम्भावना को न्यून कर देगा कि अचल विधान का आश्रय लेकर (रुढिवादी प्रवृत्ति के व्यक्ति) सामाजिक उन्नति में रोढ़ा अटका सकें।"[१]

---

1 "While the wisdom of including what is tantamount to a political manifesto in a constitutional instrument may be open to question, it should at any rate diminish the possibility of appeal to a rigid constitution as a means of blocking social progress" —Mr Sampson

छठवाँ अध्याय

संघीय संसद्

"वे (संसद के सदस्य) इस बात को जानते हैं कि वे आलोचना कर सकते हैं, वे यह भी जानते हैं कि उनकी आलोचना का उस सरकार पर प्रभाव पड़ेगा जिसका समस्त आधार जनता की सहायता है, वे यह भी समझते हैं कि अनुपात में उनकी थोड़ी सी परिवर्तित सम्मति निकट भविष्य में सरकार और उसकी नीति दोनों को परिवर्तित कर सकती है, इसके अतिरिक्त वे यह भी जानते हैं कि सरकार भी इस बात को समझती है और इसी के अनुसार वह कार्य करेगी।"[1] —जेनिंग्स

नवीन गणतन्त्रात्मक विधान के अन्तर्गत भारतीय ससद में दो भवन होंगे, प्रथम भवन लोक सभा (house of the people) कहलाएगा, और द्वितीय भवन का नाम राज्य परिषद् (council of states) होगा। राष्ट्रपति ससद के एक अनन्य भाग के रूप में रहेगा। दोनों भवनों द्वारा पास किए प्रस्तावों पर उसकी स्वीकृति आवश्यक होगी और उसी के नाम से समस्त एक्ट लागू किए जाएँगे। यह प्रस्तावित किया गया है कि संसद् के दोनों भवन एक वर्ष में दो बार अवश्य आमन्त्रित किए जाएँ, तथा एक अधिवेशन की अन्तिम बैठक और आगामी अधिवेशन को प्रथम बैठक के मध्य का समय ६ मास से अधिक नहीं होना चाहिए। इस धारा के अन्तर्गत राष्ट्रपति समय-समय पर (१) ससद् के एक अथवा दोनों भवनों को स्वय द्वारा निश्चित स्थान समय पर आमन्त्रित कर सकता है, (२) दोनों भवनों को कुछ काल के लिए स्थगित कर सकता है, और (३) लोक सभा को समाप्त कर सकता है। दोनों भवनों का कोरम (निर्दिष्ट सख्या) उनके समस्त सदस्यों की संख्या का चौथाई भाग होगा।

---

1. "They (the members of Parliament) know that they can criticize, they are aware that their criticism will have effect on a Government whose whole basis is popular support, they know that a comparatively small change of opinion will in the near future alter both Government and policy, they know above all that the Government knows it and will act accordingly." —Jennings.

निर्माण

(अ) राज्य परिषद्

राज्य परिषद् के सदस्यों की अधिक से अधिक सख्या २५० होगी, जिनमें से बारह सदस्यों की नियुक्ति राष्ट्रपति करेगा और शेष सदस्य प्रान्तों के प्रतिनिधि होंगे। नियुक्त किए गए सदस्यों में वे व्यक्ति होंगे जो साहित्य, विज्ञान, कला और सामाजिक सेवा का विशेष ज्ञान अथवा व्यावहारिक अनुभव रखते हों। प्रान्तों के प्रतिनिधियों में से उन राज्यों के प्रतिनिधियों का, जो प्रथम नामावली (schedule) के 'अ' और 'ब' भाग में सम्मिलित हैं, निर्वाचन उन प्रान्तों की व्यवस्थापक समितियों के प्रतिनिधि अविभक्त हस्तान्तरित मत द्वारा अनुरूप प्रतिनिधित्व की प्रणाली के आधार पर करेंगे। इसके विपरीत उन राज्यों के प्रतिनिधियों के जो भाग 'स' में सम्मिलित हैं, निर्वाचन की प्रणाली ससद द्वारा निर्मित किसी क़ानून द्वारा निश्चित की जायगी। २३८ सदस्यों में से विभिन्न प्रान्तों को कुछ समय के लिए निम्नलिखित रूप से सीटें प्रदान की गई हैं।

(भाग 'अ') आसाम ६, बिहार २१, बम्बई १७, मदरास २७, मध्य प्रदेश १२, उडीसा ६, पजाब ८, उत्तर-प्रदेश ३१ और पश्चिमी बगाल १५, (जोड़ १४६)।

(भाग 'ब') हैदराबाद ११, जम्मू और काश्मीर ४, मध्य भारत ६, मैसूर ६, पटियाला और पजाब प्रान्तों का पूर्वी सघ ३, राजस्थान ६, सौराष्ट्र ४, ट्रावनकोर-कोचीन ६, और विन्ध्य प्रदेश ४, (जोड़ ५३)।

(भाग 'स') अजमेर और कुर्ग १, भोपाल १, बिलासपुर और हिमाचल प्रदेश १, देहली १, कूच १, और मनीपुर और त्रिपुरा १, (जोड़ ६)।

भारतवर्ष का उपराष्ट्रपति राज्य परिषद् का पदाधिकृत सभापति होगा। राज्य-परिषद् के सदस्य आपस में से एक उप-सभापति का निर्वाचन करेंगे।

(ब) लोक सभा

लोक सभा के सदस्यों की सख्या अधिक से अधिक ५०० हो सकेगी जिनका निर्वाचन देश की समस्त जनता विभिन्न निर्वाचन क्षेत्रों से करेगी। निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर होगा, अर्थात् २१ वर्ष तथा उससे अधिक आयु का प्रत्येक व्यक्ति इस निर्वाचन में भाग ले सकेगा। जो व्यक्ति यहाँ का निवासी न हो, जो पागल हो, अथवा जिसे किसी अभियोग में दण्ड मिल चुका हो, वह इस निर्वाचन में भाग न ले सकेगा। प्रतिनिधित्व का अनुपात यह रखा गया है कि ७५०००० जनसख्या के लिए कम से कम एक प्रतिनिधि और ५००००० के लिए अधिक से अधिक एक

प्रतिनिधि भेजा जायगा। समस्त भारतवर्ष में निर्वाचन का यही अनुपात रखने का प्रयत्न किया जायगा। जन गणना की पूर्णता पर अनेक निर्वाचन क्षेत्रों को फिर से संसद् के क़ानून द्वारा व्यवस्थित किया जायगा। विधान में यह भी प्रस्तावित किया गया है कि यदि राष्ट्रपति को यह अनुभव हो कि ऐंग्लो-इण्डियन जाति का प्रतिनिधित्व पर्याप्त नहीं हुआ है तो वह इस विधान के लागू होने के दिनांक से दस वर्ष के समय के लिए विधान के अन्तर्गत निश्चित प्रतिनिधित्व से दो सदस्य अधिक नियुक्त कर सकता है। इसके अतिरिक्त प्रथम नामावली के भाग 'स' में उल्लिखित किसी राज्य अथवा किसी ऐसी सीमा के प्रतिनिधित्व को जो किसी राज्य में सम्मिलित नहीं हो संसद् अपने एक क़ानून द्वारा लोक सभा में स्थान प्रदान कर सकती है। विधान के लागू होने के दिनांक के समय से दस वर्ष तक के लिए जन संख्या के अनुपात के आधार पर निम्नलिखित के लिए कुछ सीटें सुरक्षित रखी जाएँगी:—

(१) दलित वर्ग;

(२) आसाम के पिछड़े हुए क्षेत्रों के पिछड़े हुए वर्गों के अतिरिक्त अन्य पिछड़े हुए वर्ग; और

(३) आसाम के स्वतन्त्र जिलों के पिछड़े हुए वर्ग।

लोक सभा के सदस्य आपस में से ही दो सदस्यों का निर्वाचन करेंगे जो अध्यक्ष (Speaker) और उपाध्यक्ष (Deputy Speaker) होंगे।

भवनों की अवधि

राज्य परिषद् एक स्थायी संस्था होगी। इसका विसर्जन नहीं हो सकेगा, परन्तु इसके एक तिहाई सदस्य प्रति द्वितीय वर्ष अवकाश ग्रहण कर लिया करेंगे।

इसके विपरीत लोक सभा की अवधि पाँच वर्ष नियत की गई है। इसे इस अवधि के पूर्व भी समाप्त किया जा सकता है। इस प्रकार की परिस्थिति उत्पन्न न होने पर पाँच वर्ष पश्चात् यह स्वयं ही विसर्जित हो जाएगी। असाधारण परिस्थिति अथवा संकटकालीन अवस्था के अन्तर्गत संसद् अपने एक कानून द्वारा लोक-सभा की अवधि को एक बार में एक वर्ष के लिए बढ़ा सकती है, परन्तु इस प्रकार की संकटकालीन अवस्था की घोषणा के समाप्त होने पर लोक सभा ६ मास से अधिक स्थिति नहीं रह सकेगी।

योग्यताएँ

संसद् की सदस्यता के लिये निम्नलिखित योग्यताएँ निश्चित की गई हैं:—

(१) वह भारतवर्ष का नागरिक होना चाहिए।

(२) राज्य परिषद् के सम्बन्ध में उसकी आयु तीस वर्ष तथा लोक सभा के सम्बन्ध में उसकी आयु पचीस वर्ष से कम न होनी चाहिए।

(३) ससद द्वारा निर्धारित की गई अन्य योग्यताएँ भी रखता हो।

इसके विपरीत कोई ऐसा व्यक्ति ससद के किसी भवन की सदस्यता का भोग नहीं कर सकेगा जो

(१) भारत सरकार तथा किसी राज्य की सरकार के अन्तर्गत किसी ऐसे पद पर हो जिससे उसे लाभ होता हो। इस सम्बन्ध में संसद ने कुछ ऐसे पद घोषित किए हैं जिन पर यह प्रतिबन्ध लागू नहीं होता ,

(२) पागल हो तथा किसी न्यायालय ने यह घोषित भी कर दिया हो,

(३) दिवालिया हो ,

(४) भारतवर्ष का नागरिक न हो अथवा जिसने किसी अन्य राज्य की नागरिकता प्राप्त करली हो अथवा जो किसी अन्य राज्य के साथ सन्धि किए हुए हो ,

(५) संसद के किसी कानून द्वारा अयोग्य सिद्ध कर दिया गया हो।

इस सम्बन्ध में यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि केन्द्रीय सरकार तथा प्रान्तीय सरकारों के मन्त्री पद इस प्रकार के पद नहीं हैं जो लाभ के अन्तर्गत आते हों। कोई व्यक्ति एक साथ ही ससद के दोनों भवनों का सदस्य नहीं हो सकता और न कोई व्यक्ति एक साथ ससद के किसी एक भवन तथा प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा के किसी एक भवन का सदस्य हो सकता है। किसी सदस्य के सम्बन्ध में अयोग्यता के प्रश्न का निर्णय राष्ट्रपति पर निर्भर होगा। निर्वाचित सदस्य भी राष्ट्रपति अथवा उसके द्वारा नियुक्त किए गए किसी अन्य व्यक्ति के सन्मुख विधान के अनुसार शपथ ग्रहण किए बिना ससद के किसी भवन में न तो बैठ ही सकता है और न मतदान ही कर सकता है। यदि कोई व्यक्ति ससद के किसी भवन में बिना शपथ ग्रहण किए बैठता है, और इस बात को वह जानता है कि वह इसके अयोग्य है तो उस व्यक्ति पर जितने दिन वह किसी भवन में बैठेगा, पाँच सौ रुपया प्रतिदिन की गणना से उस पर जुर्माना किया जाएगा।

ससद के सदस्यों को प्राप्त सुविधाएँ

ससद के प्रत्येक सदस्य को भाषण की स्वतन्त्रता होगी। संसद में दिए गए किसी भाषण अथवा ससद अथवा उसकी किसी समिति में दिए गए किसी मत के सम्बन्ध में किसी सदस्य पर मुकद्दमा नहीं चलाया जा सकेगा। किसी भवन की रिपोर्ट अथवा प्रणाली के अधिकृत रूप से प्रकाशन करने पर उसका प्रकाशन करने वाला व्यक्ति भी किसी न्यायालय के सन्मुख उपस्थित नहीं किया जा सकेगा। अन्य विषयों के सम्बन्ध में जब तक संसद सदस्यों के अधिकार और सुविधाओं को अपने कानून द्वारा निश्चित न करदे, तब तक के लिए उनके अधिकार, सुविधाएँ

आदि ब्रिटिश पार्लियामेंट की लोक सभा के सदस्यों के अधिकार आदि के समान ही होंगी। इन सदस्यों के वेतन का निश्चय संसद अपने कानून द्वारा समय-समय पर करेगी, और जब तक कि यह निश्चित न हो जाए तब तक संसद के सदस्यों को वही वेतन मिलेगा जो इस विधान के लागू होने से पूर्व विधान सभा के सदस्यों को मिलता था।

मत, कोरम भाषा आदि से सम्बन्धित व्यवस्था

विधान के अन्तर्गत प्रस्तावित की गई धाराओं के अतिरिक्त, संसद के किसी भी भवन में किसी प्रश्न का निर्णय वहाँ उपस्थित सदस्यों के बहुमत द्वारा होगा। इस सम्बन्ध में भवन का सभापति मत देने के लिए अधिकृत नहीं होगा। परन्तु पक्ष और विपक्ष में दोनों ओर बराबर मत होने पर उसे निजीमत अथवा निर्णयात्मक मत प्रदान करने का अधिकार होगा। जब तक संसद कुछ अन्य निश्चय न करदे, ससद के दोनों भवनों की निर्दिष्ट सख्या (कोरम) भवनों की पूर्ण सख्या का दसवाँ भाग होगी। निर्दिष्ट सख्या के उपस्थित न होने पर भवन के अध्यक्ष का यह कर्त्तव्य होगा कि वह उस बैठक को उस समय तक के लिए स्थगित कर दे जब तक कि निर्दिष्ट सख्या उपस्थित न हो जाए। कार्य प्रणाली के सम्बन्ध में यह निश्चित कर दिया गया है कि प्रत्येक भवन को अपनी कार्य प्रणाली निश्चित करने का अधिकार होगा। जब कभी दोनों भवनों की संयुक्त बैठक का आयोजन किया जायगा उस समय राष्ट्रपति दोनों भवनों के अध्यक्ष से परामर्श लेकर कार्य प्रणाली निश्चित करेगा। इस प्रकार की संयुक्त बैठकों में अध्यक्ष (Speaker) सभापति का स्थान ग्रहण करेगा; उसकी अनुपस्थिति में कार्य-प्रणाली द्वारा निश्चित किया गया व्यक्ति उस पद को ग्रहण करेगा। २६ जनवरी सन् १९५० से पन्द्रह वर्षों तक संसद का कार्य हिन्दी अथवा अँगरेजी में होगा; उसके पश्चात् यदि संसद कुछ और निश्चत न करे, तो कार्य प्रणाली की भाषा हिन्दी होगी। परन्तु यदि कोई सदस्य हिन्दी अथवा अँगरेजी में अपने विचार प्रकट नहीं कर सकता तो अध्यक्ष (Speaker) अथवा सभापति की आज्ञा से उसे अपनी मातृ भाषा के प्रयोग करने का अधिकार होगा। किसी न्यायाधीश को पदस्थ कराने के हेतु राष्ट्रपति को दिए गए प्रार्थना पत्र से सम्बन्धित वादविवाद के अतिरिक्त संसद में सर्वोच्च न्यायालय अथवा हाई कोर्ट के न्यायाधीशों के आचरण के सम्बन्ध में वादविवाद नहीं किया जा सकेगा।

व्यवस्थापक कार्य प्रणाली

(अ) आर्थिक प्रस्ताव के अतिरिक्त अन्य प्रस्तावों से सम्बन्धित कार्य प्रणाली

आर्थिक प्रस्तावों के अतिरिक्त अन्य प्रस्ताव ससद के किसी भवन मे प्रथम बार उपस्थित किए जा सकेंगे। यह प्रस्ताव उस समय तक पास नहीं माने जाएँगे

जब तक कि ससद् के दोनों भवन इस पर अपनी स्वीकृति प्रदान न कर दें। यदि कोई संशोधन किया जाता है तो वह भी दोनों भवनों द्वारा स्वीकृत होना चाहिए। यदि कोई प्रस्ताव ससद में हो और दोनों भवन कुछ काल के लिए स्थगित कर दिए जाएँ, अथवा यदि कोई प्रस्ताव राज्य परिषद् में हो और लोक सभा को विसर्जित कर दिया जाए, तो वे प्रस्ताव रद्द नहीं माने जाएँगे, भले ही लोक सभा ने उस प्रस्ताव को पास किया हो अथवा नहीं। परन्तु यदि कोई प्रस्ताव लोक सभा में हो, और यदि उस समय लोक सभा विसर्जित हो जाए तो वह प्रस्ताव रद्द हो जाएगा। आर्थिक प्रस्ताव के अतिरिक्त यदि किसी अन्य प्रस्ताव को ससद का एक भवन स्वीकृत करदे तथा दूसरा अस्वीकृत करदे अथवा किसी प्रस्ताव से सम्बन्धित सशोधन पर दोनों भवन सहमत न हों, अथवा यदि किसी भवन में प्रस्ताव को प्राप्त किए ६ मास व्यतीत हो चुके हों और वह पास न किया गया हो, तो राष्ट्रपति ससद के दोनों भवनों की एक सयुक्त बैठक आमन्त्रित कर सकता है। यदि किसी सयुक्त बैठक में उपस्थित सदस्यों के बहुमत द्वारा कोई प्रस्ताव पास कर दिया जाए, तो वह प्रस्ताव दोनों भवनों द्वारा स्वीकृत माना जाएगा। सयुक्त बैठकों में सशोधनों पर विचार करने के सम्बन्ध में कुछ प्रतिबन्ध लगा दिए गए हैं। यदि कोई प्रस्ताव एक भवन द्वारा स्वीकृत कर दिया जाए और दूसरा भवन उसे स्वीकृत न कर कुछ सशोधनों सहित उसे उस भवन में लौटा दे तो उन सशोधनों के अतिरिक्त जिनके कारण उस प्रस्ताव के होने में विलम्ब हुआ है, किसी अन्य संशोधन पर विचार नहीं हो सकेगा। इसके विपरीत यदि दूसरा भवन उस प्रस्ताव को कुछ सशोधनों सहित स्वीकृत कर उस भवन के पास भेज दे, तो केवल उन्हीं सशोधनों तथा अन्य ऐसे आवश्यक सशोधनों पर विचार किया जा सकेगा जिन्हें उस भवन ने उनमें स्थान न प्रदान किया हो।

(ब) आर्थिक प्रस्ताव

आर्थिक प्रस्ताव प्रथम बार केवल लोक सभा में ही उपस्थित किया जा सकता है। इस प्रकार के आर्थिक प्रस्ताव को लोक सभा स्वीकृत कर राज्य परिषद् के पास भेज देती है। राज्य परिषद् इस प्रस्ताव को या तो स्वीकृत कर सकता है अथवा कुछ संशोधनों सहित उसे लोक सभा के पास भेज सकता है। परन्तु इतने कार्य के सम्पादन के लिए उस प्रस्ताव की प्राप्ति के दिनाक से चौदह दिन से अधिक नहीं लगने चाहिए। यह लोक सभा पर निर्भर है कि वह इन सशोधनों को स्वीकृत करे अथवा अस्वीकृत करे। लोक सभा जिस रूप में उस आर्थिक प्रस्ताव को दूसरी वार पास करेगी, उसी रूप मे वह दोनों भवनों द्वारा स्वीकृत माना जाएगा। यदि राज्य परिषद् उस प्रस्ताव को चौदह दिन के समय में नहीं लौटाती तो वह प्रस्ताव दोनों भवनों द्वारा स्वीकृत माना जाएगा।

आर्थिक प्रस्ताव की परिभाषा

इस व्यवस्था से सम्बन्धित विधान के अन्तर्गत आर्थिक प्रस्ताव वह है जिसका सम्बन्ध निम्नलिखित एक अथवा समस्त विषयों से हो :—(१) किसी कर को लागू करने, समाप्त करने, परिवर्तित करने, व्यवस्थित करने तथा चुकाने से, (२) ऋण लेने से; (३) भारतवर्ष के सचित धन[1] के सरक्षण से, तथा इस प्रकार के धन में और धन सचित करने तथा धन लेने से; (४) भारतवर्ष के सचित धन में से धन के विनियोग[2] से, (५) इस प्रकार के धन को सचित धन के अन्तर्गत घोषित करने अथवा इस प्रकार के व्यय मे वृद्धि करने से, (६) भारतवर्ष के सचित धन की आय मे धन की प्राप्ति अथवा भारतवर्ष की जनता के ब्यौरे अथवा इस प्रकार के धन को सचित करने अथवा सघ अथवा किसी राज्य के हिसाव के निरीक्षण से; अथवा (७) क्रम-सख्या १ और ६ मे दिए गए विषयों के सम्बन्ध में किसी आकस्मिक विषय से। इसके अतिरिक्त केवल उपर्युक्त विषयों से सम्बन्ध रखने वाला प्रस्ताव ही आर्थिक प्रस्ताव नहीं माना जाएगा, बल्कि किसी प्रस्ताव के सम्बन्ध में यदि यह प्रश्न उठे कि वह प्रस्ताव आर्थिक प्रस्ताव है अथवा नहीं, तो लोक सभा के अध्यक्ष (Speaker) का निर्णय सर्वमान्य होगा, और इस प्रकार के प्रस्ताव को राज्य परिषद् अथवा राष्ट्रपति के पास भेजते समय वह अर्थात् अध्यक्ष (Speaker) उस प्रस्ताव के साथ एक प्रमाणपत्र भी भेजेगा कि वह प्रस्ताव आर्थिक प्रस्ताव है। इस स्थान पर हमारे अध्यक्ष का यह अधिकार इंग्लैंड की लोक सभा (House of Commons) के अध्यक्ष के अधिकार के समानान्तर है।

(स) प्रस्ताव से सम्बन्धित स्वीकृति और निषेधाधिकार

जब कोई प्रस्ताव ससद के दोनो भवनों द्वारा स्वीकृत हो जाएगा तो उसे राष्ट्रपति की स्वीकृति के हेतु भेजा जाएगा। राष्ट्रपति को उस प्रस्ताव को स्वीकृत अस्वीकृत करने का अधिकार होगा। यदि राष्ट्रपति उस पर अपनी अस्वीकृति प्रकट करेगा तो वह शीघ्रातिशीघ्र अपने सुझाव उपस्थित कर उसे दोनों भवनों के पास भेज देगा। इस सम्बन्ध मे यह ध्यान रखना आवश्यक है कि वह प्रस्ताव आर्थिक प्रस्ताव नहीं होना चाहिए। उसके भेजने के पश्चात् ससद उस प्रस्ताव पर उसी रूप से विचार करेगी। यदि वह प्रस्ताव संशोधन सहित अथवा रहित फिर से स्वीकृत करके राष्ट्रपति के पास भेजा जाएगा, तो वह उसे अस्वीकृत नहीं करेगा।

आर्थिक कार्य प्रणाली

(अ) वार्षिक आय-व्यय का ब्योरा

विधान के अन्तर्गत आर्थिक विषयों की कार्यप्रणाली को उनकी विशेषताओं के अनुसार तीन शीर्षकों में विभाजित कर दिया गया है। उनमें प्रथम है वार्षिक

[1] Consolidated Fund
[2] Appropriation

आय-व्यय का ब्योरा, जिसे राष्ट्रपति संसद के सम्मुख रखता है और जिसमें भारत सरकार की उस वर्ष की आय और व्यय का अनुमानित ब्योरा होता है। ब्यौरे में उद्धृत अनुमानित व्यय में यह स्पष्ट होना चाहिए कि—(१) भारतवर्ष के संचित धन के व्यय से सम्बन्धित धन, तथा (२) भारतवर्ष के संचित धन में से किए जाने वाले व्यय का धन और अन्य व्यय के अतिरिक्त मालगुज़ारी से सम्बन्धित व्यय कितना है। भारतवर्ष के संचित धन में से निम्न-लिखित विषयों पर धन व्यय किया जाएगा :—

(१) राष्ट्रपति का वेतन, भत्ता तथा अन्य सुविधाएँ आदि तथा उसके पद से सम्बन्धित अन्य व्यय, (२) राज्यपरिषद् के सभापति और उप सभापति और लोक सभा के अध्यक्ष (Speaker) और उपाध्यक्ष (Deputy Speaker) के वेतन और भत्ता, (३) ऋण सम्बन्धी व्यय जिसके लिए भारत सरकार उत्तरदायी है तथा जिसमें सूद, निहित धन, मुक्ति धन, तथा ऋण लेने और चुकाने का व्यय भी सम्मिलित है, (४) सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों का वेतन, भत्ता तथा वृत्ति, (५) संघीय न्यायालय के न्यायाधीश की वृत्ति, (६) उन हाईकोर्ट के न्यायाधीशों की वृत्ति जिसका न्यायाधिकार उस क्षेत्र पर हो जो भारतवर्ष की सीमा में हो अथवा इस विधान के लागू होने से पूर्व किसी ऐसे प्रान्त के क्षेत्र पर जिनका न्यायाधिकार हो जो प्रथम नामावली के भाग 'अ' में उद्धृत किसी राज्य के समान हो, (७) भारतवर्ष के औडीटर जनरल का वेतन, भत्ता तथा वृत्ति, (८) किसी न्यायालय द्वारा प्रदान किए गए किसी निर्णय पारितोषिक अथवा डिग्री की पूर्णता के लिए धन, (९) सर्वोच्च न्यायालय का शासन प्रबन्ध सम्बन्धी व्यय, (१०) समझौते के अनुसार निश्चित देशी राजाओं का निजी व्यय का धन, (११) यूनियन पब्लिक सर्विस कमीशन सम्बन्धी व्यय, और (१२) विधान अथवा संसद के किसी कानून द्वारा घोषित अन्य व्यय। संचित धन से लिए जाने वाले व्यय के सम्बन्ध में यह प्रस्तावित किया गया है कि संसद में इन पर केवल वाद-विवाद ही हो सकेगा, किसी को इनके सम्बन्ध में मत दान का अधिकार न होगा। इसके विपरीत अन्य व्यय का ब्योरा केवल एक माँग के रूप में लोक सभा के सन्मुख उपस्थित किया जा सकेगा, लोक सभा को यह अधिकार होगा कि इस प्रकार उपस्थित की गई माँगों को स्वीकृत करदे अथवा अस्वीकृत करदे अथवा प्रस्तावित माँग को घटा दे। किसी अनुदान से सम्बन्धित माँग राष्ट्रपति की स्वीकृति बिना उपस्थित नहीं की जा सकेगी।

(ब) विनियोग प्रस्ताव

उपर्युक्त प्रणाली पर अनुदान प्रदान करने के पश्चात्, भारतवर्ष के संचित धन में से उस समस्त धन का विनियोग प्राप्त करने के लिए लोक सभा के सन्मुख एक

प्रस्ताव उपस्थित किया जायगा जिसे (१) लोक सभा द्वारा प्रदान की गई मॉगों; और (२) भारतवर्ष के संचित धन से लिए जाने वाले धन के लिए लिया गया है। परन्तु यह धन उस धन से अधिक नहीं होना चाहिए जो संसद के सन्मुख उपस्थित किए गए पूर्व के व्योरे में था। जिन विषयों के सम्बन्ध में भारतवर्ष के संचित धन में से लिया जाएगा, उन विषयों के प्रति व्यय किए जाने वाले धन को न्यूनाधिक करने अथवा अनुदान का शीर्षक परिवर्तित करने अथवा अनुदान के धन को न्यूनाधिक करने से सम्बन्धित किसी प्रस्ताव को ससद का कोई भवन स्वीकार न करेगा। इस प्रकार पास किए गए विनियोग प्रस्ताव के अतिरिक्त भारतवर्ष के सचित धन में से धन न लिया जायगा।

(स) अन्य आर्थिक प्रस्ताव

अन्य व्यय की आवश्यकता पड़ने पर राष्ट्रपति अन्य व्यय की मॉग कर सकता है। इस मॉग की स्वीकृति के सन्बन्ध में भी वही प्रणाली अपनाई जायगी। लोक सभा को कोई अनुदान स्वीकृत करने का अधिकार होगा, और भारतवर्ष के सचित धन में से प्रदान किए गए इस प्रकार के धन को लौटा लेने का अधिकार संसद को होगा।

अन्त में यह ध्यान में रखना चाहिए कि कोई आर्थिक प्रस्ताव प्रथम बार राज्य परिषद् के सन्मुख उपस्थित नहीं किया जा सकेगा। राष्ट्रपति की आज्ञा के पश्चात् यह सम्भव हो सकता है। किसी कर के घटाने अथवा समाप्त करने के सशोधन के सम्बन्ध में किसी प्रकार का साधन सफल नहीं हो सकेगा।

संसद् के कार्य

विशेषकर हमारी संसद निम्नलिखित कार्य करेगी :—

(अ) व्यवस्थापक काय

विशेप रूप से ससद् का कार्य कानून बनाना है। 'संघ तालिका' मे दिए गए विषयों के सम्वन्ध में इसे कानून बनाने का अधिकार है। एकीभूत तालिका में दिए गए विषयों के सम्वन्ध में भी यह कानून वना सकती है। इन विषयों के सम्बन्ध मे राज्य की व्यवस्थापिक सभाएँ भी कानून बना सकती है, परन्तु सामान्य रूप से संसद् के कानून ही वैध घोपित किए जाते हैं। संसद् राजकीय तालिका में दिए गए विषयों के सम्वन्ध मे भी कानून बना सकती है—परन्तु कुछ विशेप परिस्थितियों में ही। संसद् के प्रत्येक कानून पर राष्ट्रपति की स्वीकृति आवश्यक है, जो प्राय: प्राप्त हो ही जाती है।

कार्यकारिणी-नियंत्रण सम्वन्धी कार्य

मन्त्रि परिषद् संसद् के प्रति उत्तरदायी रहेगा। मंत्रि परिषद् संयुक्त रूप से लोक-सभा के प्रति उत्तरदायी होगा।"[१] यद्यपि विधान के अतर्गत उन साधनों की विवे-

[१] धारा ७५ की उपधारा ३.

चना नहीं की गई है जिनके द्वारा लोक सभा कार्यकारिणी को उत्तरदायी बनाने के हेतु नियन्त्रण रक्खेगी। परन्तु निम्नलिखित द्वारा ही लोक सभा कार्यकारिणी पर नियन्त्रण रखेगी।

(१) सदस्यों का प्रश्न पूछने का अधिकार, (२) निन्दा का प्रस्ताव पास करना, (३) किसी मन्त्री अथवा मन्त्रि परिषद् के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पास करना, (४) किसी मन्त्री द्वारा उपस्थित किसी प्रस्ताव को अस्वीकृत करना अथवा उसमें इस प्रकार के संशोधन रखना जो मन्त्री को स्वीकार न हों, अथवा (५) किसी माँग अथवा कर के प्रस्ताव को घटाना अथवा अस्वीकृत करना।

अर्थ-नियन्त्रण सम्बन्धी कार्य

राष्ट्र की प्रतिनिधि होने के नाते संसद संघ के आय-व्यय पर भी निरीक्षण रखेगी। यह प्रजातन्त्र की एक स्वीकृत लोकोक्ति है कि कर लगाने के लिए जनता से पूछा जाए और व्यय के लिए उसकी स्वीकृति प्राप्त की जाए। इसे जनता संसद द्वारा ही कर सकती है। प्रत्येक वर्ष कार्यकारिणी संसद के सन्मुख आय-व्यय का एक अनुमानित ब्योरा उपस्थित करेगी। संसद किसी कर को घटा अथवा नष्ट कर सकती है। कर लगाने के किसी नवीन प्रस्ताव को भी यह अस्वीकृति कर सकती है। व्यय के कुछ शीर्षक संसद के सन्मुख उसके मतदान के लिए उपस्थित नहीं किए जाएँगे। यद्यपि इनके सम्बध में संसद को मतदान का अधिकार नहीं परन्तु प्रत्येक शीर्षक पर वह वाद विवाद करके अपनी इच्छा प्रकट कर सकती है, और यदि कार्यकारिणी संसद की सहायता चाहती है, तो अवश्य ही वह इन विचारों पर गम्भीरतापूर्वक सोच विचार करेगी। अन्य समस्त विषयों पर इसे मतदान का अधिकार होगा, और इस लिए वह किसी माँग को घटा अथवा अस्वीकृत कर सकती है।

दोषारोपण सम्बन्धी कार्य

दोषारोपण के अवसर पर संसद एक न्याय-संस्था के रूप में कार्य करेगी। यदि राष्ट्रपति विधान का उल्लंघन करता है तो संसद उस पर मुकदमा चला सकती है। संसद का कोई एक भवन अभियोग लगाएगा और दूसरा भवन उसकी छान-बीन करेगा। इस प्रकार का अभियोग एक प्रस्ताव के रूप में चौदह दिन पूर्व सूचना देकर दिया जाना चाहिए, और इस प्रकार के प्रस्ताव पर उस भवन के चौथाई सदस्यों के हस्ताक्षर होने चाहिए। यह प्रस्ताव उस भवन की कुल संख्या के $\frac{2}{3}$ भाग द्वारा पास होना चाहिए। छान-बीन करने वाला भवन यदि उस अभियोग को स्थित रखना चाहता है तो यह भी एक प्रस्ताव के रूप में ही होगा, जिसका समर्थन उस भवन के समस्त सदस्यों के $\frac{2}{3}$ भाग द्वारा होना चाहिए।

न्याय प्रवन्ध सम्बन्धी कार्य

यद्यपि न्याय प्रवन्ध में संसद कोई हस्तक्षेप नहीं करेगी, परन्तु उसके उचित प्रबंध का निरीक्षण उसी का कार्य होगा। किसी न्यायाधीश के कुव्यवहार करने पर अथवा उसकी अयोग्यता के कारण ससद राष्ट्रपति से ऐसे न्यायाधीश को पदस्थ करने की प्रार्थना कर सकती है, और वह इस प्रार्थना के अनुसार कार्य करेगा। इस प्रकार की प्रार्थना दोनों भवनों मे सदस्यों की कुल सख्या के वहुमत का समर्थन तथा उपस्थित सदस्यों के ⅔ भाग के वहुमत द्वारा पास होना चाहिए।

उपसहार

मन्त्रि परिषद् और संसद

अंगरेजी आदर्श पर निर्मित भारतीय संसद अधिक से अधिक "आलोचना के केन्द्र और वाह्य सम्मति की प्रतिच्छाया के" रूप में कार्य कर सकेगी। कार्यकारिणी से प्रश्न पूछ कर, अथवा उसकी निंदा का प्रस्ताव पास कर, अथवा उसके प्रति अविश्वास प्रस्ताव पास कर वह मन्त्रि परिषद् को त्याग पत्र देने के लिए विवश कर सकती है। ससद कार्यकारिणी के समस्त कार्यों का निरीक्षण करेगी और उन पर नियन्त्रण रखेगी इस प्रकार राष्ट्रीय मार्ग में उन व्यक्तियों की रक्षा और संरक्षण करते हुए, जो अग्रगण्य हैं, संसद सतत् एव अनवरत् रक्षक के रूप में है। परन्तु ससद का यह नियन्त्रण केवल सैद्धान्तिक है वास्तविक नहीं।

इसलिए यह भी सत्य है कि एक प्रस्ताव के प्रवेश, उस पर होने वाले वाद-विवाद पर और उसके पास होने में कार्यकारिणी का भी यथेष्ट प्रभाव रहता है। संसद को मन्त्रिपरिषद् के निर्णय और नीति को अस्वीकृत करने का साहस अधिकतर नहीं होगा, क्योंकि मन्त्रिपरिषद् संसद में वहुमत का भोग करेगा। सैद्धान्तिक रूप से ससद कानून निर्माण करने वाली एक स्वतन्त्र संस्था है; परन्तु राजनीति का कोई विद्यार्थी जिसका दृष्टिकोण व्यावहारिक होगा इस सत्य को अस्वीकार नही कर सकता कि जिन देशों में सचिवतंत्र सरकार है वहाँ कर लगाने और कानून वनाने के कार्यों पर ससद का अधिकार कभी भी निरकुश एव पूर्ण नहीं रहा। वास्तव में ससद के सदस्यों के 'एक दल और समान नीति' विचारने वाले मस्तिष्क में यह भय सदा रहता है कि कहीं उनसे सीट छिन न जाय, और परिणामस्वरूप व्यवस्थापक प्रस्तावों का भाग्य निर्णय तो उनके उपस्थित किए जाने के पूर्व ही हो जाता है। ब्रिटिश प्रणाली की ओर संकेत करते हुए रैमज़े म्योर ने लिखा है कि, "यह कहना कि पार्लियामेण्ट मन्त्रिमण्डल पर नियन्त्रण रखती है, एक मूर्खता है।" आर्थिक विषयों के सम्बन्ध में भी कार्यकारिणी एक निर्णायक के रूप में रहेगी। यह स्वीकार करना कुछ कठिन नहीं कि लोक सभा में ऐसे सदस्यों की संख्या यथेष्ट हो सकती है जो शासन सम्बन्धी कार्यों के सम्पर्क में कभी न आए हों। यदि मन्त्रिपरिषद् उन्हें आय और व्यय के अंक प्रदान न करे, तो

वे इसकी खोज भी नहीं कर सकते। इस प्रकार की परिस्थिति में व्यवस्थापिका सभा अधिक से अधिक यही कर सकती है कि कार्यकारिणी के प्रस्तावों का समर्थक मौन रहकर कर दे। विदेशी नीति से सम्बन्धित विषयों में भी मन्त्रिमण्डल की सत्ता सर्वोच्च रहेगी। शासन व्यस्था का जटिल स्वरूप व्यवस्थापिका सभा के सदस्यों के ज्ञान से परे की वस्तु है। व्यवस्थापिका सभा को अपने नियन्त्रण में रखने का अन्तिम अस्त्र कार्यकारिणी के पास है व्यवस्थापिका सभा को विसर्जित करना। जब तक भवन में मन्त्रिपरिषद् का समर्थन उसका दल करता रहेगा, तब तक मन्त्रिपरिषद् ही संसद पर अपना नियन्त्रण रखेगी।

सातवां अध्याय

राष्ट्रपति

"इस पदाधिकारी का पद सयुक्त राज्य के राष्ट्रपति का स्मरण करा देता है। परन्तु नाम की समानता के अतिरिक्त अमरीका में प्रचलित शासन की प्रणाली और इस (निर्मित) विधान के अन्तर्गत प्रतिपादित शासन प्रणाली में कोई समानता नहीं।"[1]

—डाक्टर अम्बेदकर

भारतीय विधान के अन्तर्गत प्रतिपादित प्रजातन्त्र के स्वरूप का आधार इंग्लैंड में प्रचलित सरकार की सचिवतन्त्रात्मक प्रणाली है। यद्यपि भरतवर्ष एक गणतन्त्र है परन्तु इस का अध्यक्ष इँग्लैंड के सम्राट समान वशीय न होकर अमरीका के सभापति के समान निर्वाचित है। यद्यपि भारतीय संघ का अध्यक्ष अपने नाम (राष्ट्रपति) के सम्बन्ध में संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति के समान है, परन्तु उसकी स्थिति इँग्लैंड के सम्राट के समान है। उसके समान यह भी अधिकार पूर्ण और अधिकार रहित है—सैद्धान्तिक रूप से अधिकार पूर्ण और व्यावहारिक रूप से अधिकार रहित। यह एक ऐसा पदाधिकारी है जिसके सब ओर बधन हैं, इसे सब कुछ करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त है, परन्तु कर यह वही सकता है जो इसके मंत्री कहें, अपनी इच्छानुसार यह कुछ नहीं कर सकता। भारतवर्ष की सचिवतन्त्रात्मक सरकार की प्रणाली में यह नाम-मात्र का अध्यक्ष तथा एक प्रतिरूप के समान है, जिसे समय-समय पर अपने व्यक्तित्व के प्रयोग के अतिरिक्त और कोई अधिकार नहीं। राष्ट्रपति के अधिकार पूर्ण और अत्यंत व्यापक पद का निर्माण करते समय विधान निर्माताओं ने इसी दृष्टिकोण से राष्ट्रपति की कल्पना की थी। उन्होंने इस पद का निर्माण इसकी पूर्णता के साथ किया

1. "The title of this functionary reminds one of the President of the United States. But beyond identity of names there is nothing common between the form of government prevalent in America and the form of government under the (draft) constitution."

—Dr Ambedkar.

परन्तु इसके सब ओर पड़ी शृंखला की ओर उन्होंने केवल एक संकेत मात्र ही किया, और उसे सचिवतन्त्रात्मक प्रणाली के करघे पर एक प्रथा के रूप में विकसित होने के लिए छोड़ दिया। इसके परिणाम स्वरूप यह सम्भव है कि यदि किसी ऐसे महान व्यक्तित्व वाले राष्ट्रपति पर, राष्ट्र में भी जिसके अनेक अनुयायी हों, शक्ति की ईश्वरीय आकांक्षा अपना प्रभुत्व स्थापित करले, तो प्रथा के रूप में अपने चारों ओर पड़ी शृंखला को वह मकड़ी के जाले के समान तोड़ सकता है और विधान द्वारा प्रतिपादित उन अधिकारों का प्रयोग आरम्भ कर सकता है जो उसे इस सम्भावना के साथ प्रदान किए गए थे कि वह इनका प्रयोग नहीं करेगा। परन्तु इस सत्य से भी विमुख नहीं हुआ जा सकता कि यह सम्भावना केवल कल्पना की एक ऊँची उड़ान है, दूर की कौड़ी है।

भारतवर्ष की सचिवतन्त्रात्मक सरकार की प्रणाली में राष्ट्रपति की उपस्थिति तर्कसंगत है, क्योंकि इस प्रकार की प्रणाली के अन्तर्गत एक सरकार के समाप्त होने और दूसरी के निर्मित होने में कुछ समय लगता है, और उसी शून्य स्थान को भरने के लिए राष्ट्रपति की उपस्थिति अनिवार्य है। किसी सरकार के न होने पर शक्ति का पूर्ण अधिकारी राष्ट्रपति ही होगा। सरकार की अनित्यता एवं अविच्छिन्नता का द्योतक केवल राष्ट्रपति ही है। मंत्रिमण्डलों के जीवन और मरण की उथलपुथल में राष्ट्रपति पाँच वर्ष तक देश की रक्षा एवं पथ प्रदर्शन करते हुए स्थित एवं दृढ़ रहेगा।

भारतीय संघ की कार्यकारिणी शक्ति एक व्यक्ति—भारतीय गणतंत्र के राष्ट्रपति में निहित की गई है। यदि इस शक्ति को अनेक व्यक्तियों में विभाजित कर दिया गया होता, तो यह अत्यन्त क्षीण हो जाती। संयुक्त अथवा बहुल कार्यकारिणी का तात्पर्य होता गतिमान बहुमत दलों की उपस्थिति और इससे दलबन्दी की प्रवृत्ति को और भी प्रोत्साहन मिलता।

राष्ट्रपति के पद की विश्लेषणा निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत की जा सकती है:

(१) राष्ट्रपति का निर्वाचन

राष्ट्रपति का निर्वाचन अप्रत्यक्ष प्रणाली के आधार पर संसद के दोनों भवनों तथा समस्त राज्यों की व्यवस्थापक समितियों (प्रथम भवन) के सदस्यों की निर्वाचक संस्था द्वारा होगा। राष्ट्रपति के निर्वाचन की प्रणाली अविभक्त हस्तान्तरित मत के आधार पर अनुरूप प्रतिनिधित्व की प्रणाली होगी। मतदान की रीति गुप्त होगी। अविभक्त हस्तान्तरित मत द्वारा अनुरूप प्रतिनिधित्व की प्रणाली का तात्पर्य है कि इसके अन्तर्गत प्रत्येक निर्वाचक को एक मत का अधिकार प्रदान किया जाता है परन्तु विभिन्न उम्मीदवारों के लिए वह अपनी विभिन्न रुचि का प्रदर्शन कर सकता

है। प्रत्येक उम्मीदवार के मतो की गणना पूर्व से निश्चित एक स्थायी अनुपात एवं अश (कोटा) के अनुसार की जाती है। किसी उम्मेदवार द्वारा निर्दिष्ट अंश से अधिक प्राप्त किए गए मत उसके आगामी उम्मेदवार को प्रदान कर दिए जाते हैं। यह निश्चित अंश निम्नलिखित सिद्धान्त के आधार पर निश्चित किया जाता है :—

$$\frac{\text{मतो की कुल सख्या} + १}{\text{निर्वाचित होने वाले उम्मेदवारों की संख्या} + १}$$

उदाहरण स्वरूप मान लीजिए कि मत पत्रों की सख्या १८००० और निर्वाचित होने वाले उम्मेदवारों की सख्या ६ है। इस दशा में निश्चित अश (कोटा) होगा :

$$\frac{१८०००}{६ + १} + १ = २५७२$$

प्रथम गणना में केवल प्रथम रुचि वाले मतों की गणना की जाती है और जो उम्मेदवार उपर्युक्त निश्चित संख्या की प्राप्ति कर लेता है वह वह निर्वाचित घोषित कर दिया जता है। हमारे विधान निर्माताओं का लक्ष्य था विभिन्न राज्यों के प्रतिनिधित्व की सख्या में जहाँ तक सम्भव हो सके समानता प्राप्त करना तथा इसके साथ-साथ राज्यों (एक इकाई के रूप में) और संघ को समानता प्राप्त करना। संसद और प्रत्येक राज्य की व्यवस्थापक समिति के निर्वाचित सदस्यों को कितने मत देने का अधिकार है—यही निश्चित करने के लिए विधान के अन्तर्गत कुछ नियम प्रस्तावित किए गए हैं। किसी राज्य की व्यवस्थापक समिति के प्रत्येक सदस्य के मत दान की संख्या का मू य वही होगा जो उस राज्य की जनसख्या को उस राज्य की व्यवस्थापक समिति के निर्वाचित सदस्यों की संख्या से विभाजित करने पर जो भाज्यफल आए उसे एक सहस्र से विभाजित करने पर जो संख्या भाज्यफल की होगी। अन्तिम विभाजन के पश्चात् शेष की यदि वह पाँच सौ से न्यून नहीं है—गणना भी भाज्यफल में प्राप्त की गई मतों की संख्या मे एक मत की गणना के आधार से करदी जाएगी। भली प्रकार से समझने के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत करना आवश्यक है। उदाहरण-स्वरूप यह मान लीजिए कि बिहार राज्य की जनसंख्या ३७,७४१,००० और उसकी व्यवस्थापक समिति के निर्वाचित सदस्यों की संख्या ३७७ है। उपर्युक्त विधि के अनुसार जनसंख्या को ३७७ से विभाजित करना होगा। विभाजित करने पर इसका भाज्यफल १००,१०८ आता है। इसके पश्चात् इस भाज्यफलको १००० से विभाजित करना होगा। इस विभाजन के फलस्वरूप जो भाज्यफल होगा वही प्रत्येक सदस्य के मत की संख्या का मूल्य होगा। इस स्थान पर यह भाज्यफल १०० होगा—शेष १०८ रद्द कर दिए जाएँगे क्योंकि वे ५०० से कम हैं।

इसी प्रकार संसद के दोनों भवनों के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य के मतदान की संख्या का मूल्य वही होगा जो समस्त राज्यों की व्यवस्थापक समितियों के सदस्यों को प्रदान किए मतों की समस्त सख्या को ससद के दोनों भवनों के समस्त निर्वाचित सदस्यों की सख्या से विभाजित करने पर जो संख्या भाज्यफल की होगी। यदि शेष आधे से अधिक होगा तो सदस्यों के मतदान में एक मत और जोड़ दिया जाएगा।

(२) योग्यताएँ

राष्ट्रपति का पद प्राप्त करने के लिए किसी व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि :—

(अ) वह भारतवर्ष का नागरिक हो;

(ब) उसकी आयु ३५ वर्ष अथवा इससे अधिक हो,

(स) वह लोक सभा की सदस्यता प्राप्त करने के योग्य हो, और

(द) वह किसी ऐसे पद पर न हो जो सघीय अथवा किसी राज्य की सरकार के अन्तर्गत लाभ प्रदान करने वाला हो, अथवा किसी ऐसी स्थानीय सस्था आदि में इस प्रकार के पद पर आसीन हो जो उपर्युक्त सरकारों के आधीन हो। निम्न-लिखित पद लाभ प्रदान करने वाले पद नहीं स्वीकार किए गए हैं। सघ के राष्ट्रपति का पद अथवा उपराष्ट्रपति का पद अथवा किसी राज्य के राज्यपाल, राजप्रमुख अथवा उप राजप्रमुख का पद अथवा सघ अथवा किसी राज्य की सरकार का मन्त्री पद। राष्ट्रपति इस पद के लिए दुबारा चुनाव लड़ सकता है।

(३) अवधि और सुविधाएँ

राष्ट्रपति का कार्यकाल पाँच वर्ष निश्चित किया गया है। राष्ट्रपति इस अवधि तक अपने पद पर आसीन रहेगा यदि इसके पूर्व ही वह अपने पद से त्याग पत्र न दे दे। इस प्रकार का त्यागपत्र राष्ट्रपति उपराष्ट्रपति के सन्मुख उपस्थित करेगा, और वह उसे लोकसभा के अध्यक्ष के सन्मुख उपस्थित करेगा। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति को विधान का उल्लघन करने के आधार पर अभियोग द्वारा भी उसके पद से हटाया जा सकता है। इस प्रकार का अभियोग ससद का कोई भवन लगा सकता है। इस प्रकार के अभियोग की धाराएँ एक प्रस्ताव के रूप में होनी चाहिए जो चौदह दिन की पूर्व सूचना के पश्चात् ही उपस्थित किया जा सकता है। इस प्रस्ताव के सम्बन्ध में यह भी आवश्यक है कि इस पर उस भवन के सदस्यों की कुल सख्या के कम से कम एक चौथाई ($\frac{1}{4}$) सदस्यों के हस्ताक्षर होने चाहिए। इस प्रकार का प्रस्ताव उस भवन के $\frac{2}{3}$ बहुमत द्वारा पास होना चाहिए। उसके पश्चात् दूसरा भवन (यह कोई सा भवन हो सकता है) उस अभियोग के सम्बन्ध में छानबीन करेगा। छानबीन के अवसर पर राष्ट्रपति को अपील करने और प्रतिनिधित्व का अधिकार प्रदान किया गया है। यदि

इस छानबीन के परिणामस्वरूप उस अभियोग को स्थित रखने के सम्बन्ध में उस दूसरे भवन में भी इस प्रकार का प्रस्ताव ⅔ बहुमत द्वारा पास कर दिया जाए, तो इस प्रकार के प्रस्ताव के पास होने के दिनांक से राष्ट्रपति को उसके पद से पृथक कर दिया जाएगा।

राष्ट्रपति के वेतन, भत्ता तथा अन्य सुविधाओं का निश्चित करना संसद का कार्य है। यह कार्य संसद के एक कानून द्वारा सम्पन्न होगा। राष्ट्रपति के कार्य काल के मध्य में इनमें किसी प्रकार की न्यूनता अथवा कमी नहीं की जा सकेगी। इस सम्बन्ध में जब तक संसद कोई कानून निर्मित न करे, उस समय तक के लिए उसे १००००) रुपया प्रति मास वेतन तथा अन्य भत्ते तथा सुविधाएँ प्रदान की जाएँगी। यह भत्ता तथा सुविधाएँ वही होंगी जो औपनिवेशिक भारतवर्ष के गवर्नर जनरल को प्राप्त थीं। राष्ट्रपति को निवास के लिए सरकार की ओर से एक भवन प्रदान किया जाएगा।

राष्ट्रपति को न्याय सीमा से अत्यधिक मुक्ति प्रदान की गई है। अपने पद से सम्बन्धित किसी कार्य के सम्बंध में वह देश के किसी न्यायालय के सन्मुख उत्तरदायी नहीं होगा। जब तक वह अपने पद पर आसीन है उस समय तक उसके विरुद्ध किसी प्रकार की फौजदारी न्यायप्रणाली लागू नहीं की जा सकेगी। इसी प्रकार उसके विरुद्ध किसी प्रकार की दीवानी न्याय प्रणाली उस समय तक लागू नहीं की जा सकेगी जब तक कि इस सम्बन्ध में उसे नोटिस न दिया जाय और इस प्रकार के नोटिस को दिए हुए दो मास का समय व्यतीत न हो गया हो। उसको बन्दी बनाने के आशय का कोई आदेश लागू नहीं किया जा सकता। विधान का उल्लंघन करने के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार से वह संसद के प्रति उत्तरदायी नहीं होगा। विधान के उल्लंघन के सम्बंध में उस पर मुकदमा चलाया जा सकता है।

(४) राष्ट्रपति के अधिकार

संघ के राष्ट्रपति अधिकारों का वर्णन निम्नलिखित दो व्यापक शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है :—

(अ) साधारण समय में राष्ट्रपति के अधिकार;

(ब) असाधारण परिस्थिति में राष्ट्रपति के अधिकार।

इन अधिकारों का विस्तृत विवेचन निम्न प्रकार से किया जा सकता है :—

(अ) साधारण समय में राष्ट्रपति के अधिकार

इस शीर्षक के अन्तर्गत राष्ट्रपति के अधिकारों का विश्लेषण निम्न प्रकार से किया जा सकता है :—

(१) शासन सम्बन्धी अधिकार

राष्ट्रपति सघीय कार्यकारिणी का अध्यक्ष होता है। भारत सरकार के समस्त शासन सम्बधी कार्यों का सम्पादन उसी के नाम से होगा। यहाँ इस बात का उल्लेख भी आवश्यक है कि सघ की कार्यकारिणी शक्ति का सम्बंध

(अ) उन समस्त विषयों से है जिनके सम्बध मे ससद को कानून निर्माण का अधिकार प्राप्त है, और

(ब) उन समस्त अधिकारों के प्रयोग से है जो भारत सरकार को किसी संधि अथवा समझौते द्वारा प्राप्त हुए है।

राष्ट्रपति इन अधिकारों का प्रयोग प्रत्यक्ष रूप से अथवा अपने आधीन पदाधिकारियों द्वारा करेगा। प्रत्येक दशा में इन अधिकारों का प्रयोग विधान के अनुसार ही होगा।

उपर्युक्त विवेचन केवल एक सामान्य विवेचन ही है। उसके विशेष शासन सम्बन्धी अधिकारों का वर्णन निम्न प्रकार से किया जा सकता है :—

(अ) नियुक्ति सम्बन्धी अधिकार

नियुक्ति करने के सम्बध मे राष्ट्रपति को अत्यत व्यापक अधिकार प्राप्त है। प्रधान मंत्री तथा उसकी सम्मति से अन्य मंत्रियों की नियुक्ति राष्ट्रपति करेगा। राष्ट्रपति के प्रति विश्वासी रह कर ही यह पदाधिकारी अपने पदों पर आसीन रह सकेंगे। इनके अतिरिक्त निम्नलिखित की नियुक्ति भी राष्ट्रपति ही करेगा।

भारतवर्ष के सर्वोच्च न्यायालय तथा हाईकोर्ट के न्यायधीश, राज्यों के राज्यपाल, भारतवर्ष के औडीटर जनरल और कम्पट्रोलर जनरल (Comptroller General), भारतवर्ष का एटोरनी जनरल तथा सघीय पब्लिक सर्विस कमीशन के अध्यक्ष तथा अन्य सदस्य इसके अतिरिक्त सेना तथा शासन से सम्बन्धित प्रत्येक पदाधिकारी राष्ट्रपति के प्रति विश्वासी रह कर ही अपने पद पर आसीन रह सकेगा। इस सम्बन्ध में विधान कुछ अन्य नियम भी प्रस्तावित कर सकता है। राज्यों के पारस्परिक वैमनस्य को दूर करने अथवा समस्त राज्यों मे एकता की भावना के विकास के हेतु राष्ट्रपति एक अन्तर्राज्य समिति की स्थापना भी कर सकता है। इनके अतिरिक्त राष्ट्रपति निम्नलिखित समितियों (कमीशनों) की नियुक्त भी कर सकता है :—

निर्वाचन समिति, आर्थिक समिति, पिछड़े हुए क्षेत्रों और जातियों के शासन की सूचना के हेतु एक समिति, पिछड़े हुए वर्गों की सुरक्षा के हेतु एक समिति और भाषा समिति।

(ब) नियम-निर्माण सम्बन्धी अधिकार

विभिन्न कार्यों के सम्पादन के हेतु भी उसे नियम निर्माण के अत्यन्त व्यापक अधिकार प्राप्त हैं। इनमे सबसे अधिक मुख्य है भारत सरकार के कार्य के सुविधा पूर्ण सचालन के हेतु नियम निर्माण तथा उस कार्य के संचालन के हेतु मन्त्रियों में विभागों का वितरण। प्रथम नामावली के भाग 'स' और 'द' मे उद्धत केन्द्र द्वारा शासित क्षेत्रों का शासन प्रवन्ध राष्ट्रपति चीफ् कमिश्नर अथवा उप-राज्यपाल (Lieutenant Governor) द्वारा करेगा। इन दोनों पदाधिकारियों की नियुक्ति भी उसी के द्वारा होगी। भाग 'स' में उल्लिखित राज्यों का शासन प्रवन्ध वह किसी पडोसी राज्य की सरकार द्वारा करेगा।

(२) संसद और व्यवस्थापन सम्बन्धी अधिकार

राष्ट्रपति संसद का एक अनन्य भाग है जो इस देश की सर्वोच्च व्यवस्थापक संस्था है। संसद और व्यवस्थापन के सम्बन्ध मे राष्ट्रपति को निम्नलिखित अधिकार प्राप्त हैं :—

(अ) संसद के निर्माण से सम्बन्धित अधिकार

हमारी संसद में दो भवन है : प्रथम भवन लोकसभा कहलाती है और द्वितीय भवन राज्य परिषद्। राष्ट्रपति राज्य परिषद् मे बारह ऐसे व्यक्तियों की नियुक्ति करेगा जो साहित्य, विज्ञान, कला और समाज सेवा से सम्बन्धित विशेष ज्ञान अथवा व्यावहारिक अनुभव रखते हों। इस के अतिरिक्त लोक सभा में वह ऐंग्लो-इण्डियन जाति के दो सदस्य नियुक्त कर सकता है यदि उसे यह प्रतीत हो कि उस जाति को भवन में पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं हुआ है। यदि राज्य परिषद् के सभापति और उप-सभापति अथवा लोक सभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के दोनों एक साथ रिक्त होते हैं तो राष्ट्रपति उस भवन के एक सदस्य को सभापति पद का कार्य सँभालने के लिए नियुक्त कर सकता है। इसके अतिरिक्त, राष्ट्रपति निर्वाचन समिति की सम्मति द्वारा यह निर्णय करेगा कि संसद का कोई सदस्य विधान द्वारा प्रतिपादित सदस्यता की योग्यताओं के आधार पर अयोग्य सिद्ध होता है अथवा नहीं। राष्ट्रपति व्यवस्थापक कार्यप्रणाली के सुविधा जनक संचालन के हेतु भी नियम बना सकता है।

(ब) संसद को आमन्त्रित करने, स्थगित करने, विसर्जित करने और संसद में भाषण सम्बन्धी अधिकार

राष्ट्रपति को संसद के एक अथवा दोनों भवनों की बैठक स्वयं द्वारा निश्चित समय अथवा स्थान पर आमन्त्रित करने का अधिकार है। राष्ट्रपति का यह अधिकार विधान की एक धारा द्वारा सीमित कर दिया गया है। उस धारा के अन्तर्गत यह प्रतिपादित किया गया है कि एक वर्ष में संसद की कम से कम दो बैठक आवश्य

हो जानी चाहिए, और इनके प्रथम अधिवेशन की अन्तिम बैठक और आगामी अधिवेशन की प्रथम बैठक के मध्य का समय ६ मास से अधिक नहीं होना चाहिए। राष्ट्रपति को संसद की बैठक को कुछ काल के लिए स्थगित करने का अधिकार प्राप्त है। यदि राष्ट्रपति यह आवश्यक समझे तो वह लोकसभा को उसकी अवधि समाप्त होने से पूर्व ही विसर्जित कर सकता है। राष्ट्रपति संसद के किसी भवन अथवा दोनों भवनों की संयुक्त बैठक में भाषण दे सकता है। इंग्लैंड के सम्राट के समान संसद के प्रत्येक अधिवेशन के आरम्भ में राष्ट्रपति दोनों भवनों की संयुक्त बैठक में भाषण देता है। इसके अतिरिक्त वह संसद के किसी भवन को किसी विषय के सम्बन्ध में कुछ सुझाव भेज सकता है कि वह भवन उन पर विचार करे। इस प्रकार भेजे गए सुझावों पर भवन विचार करने के लिए बाध्य है और वह भी जितना शीघ्र हो सके।

(स) भवनों की संयुक्त बैठक आमन्त्रित करने के अधिकार

आय प्रस्ताव के अतिरिक्त किसी अन्य प्रस्ताव पर विचार करने के हेतु राष्ट्रपति संसद के दोनों भवनों की एक संयुक्त बैठक आमन्त्रित कर सकता है यदि वह प्रस्ताव एक भवन द्वारा पास कर दिया गया हो और दूसरे भवन ने उसे अस्वीकृत कर दिया हो अथवा दोनों भवन उस प्रस्ताव से सम्बन्धित संशोधनों पर सहमत न हों अथवा दूसरे भवन द्वारा उस प्रस्ताव को प्राप्त किए हुए ६ मास से अधिक समय व्यतीत हो गया हो और वह प्रस्ताव पास न किया गया हो।

(द) व्यवस्थापक प्रस्तावों से सम्बन्धित अधिकार

संसद द्वारा स्वीकृत कोई प्रस्ताव उस समय तक एक्ट का स्वरूप ग्रहण नहीं कर सकता जब तक कि राष्ट्रपति उसके सम्बन्ध में अपनी स्वीकृति प्रदान न करदे। आय प्रस्ताव के अतिरिक्त अन्य प्रस्तावों के सम्बन्ध में उसे अपनी अस्वीकृति प्रदान करने का भी अधिकार है। इस प्रकार अस्वीकृत किए गए प्रस्तावों को वह पुन भवनों के विचारार्थ भेज देगा। इसके साथ साथ वह उन प्रस्तावों के सम्बन्ध में संशोधन भी उपस्थित कर सकता है। यदि वह प्रस्ताव संसद द्वारा पुन. स्वीकृत कर दिया जाता है तो राष्ट्रपति उस के सम्बन्ध में अपनी स्वीकृति प्रदान करने के लिए बाध्य है। इस प्रकार व्यवस्थापक प्रस्तावों के सम्बन्ध में राष्ट्रपति को एक प्रकार का अस्थायी निषेधाधिकार प्राप्त है। लोक सभा में किसी प्रकार के अनुदान की माँग का प्रस्ताव राष्ट्रपति की स्वीकृति बिना उपस्थित नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार समस्त आय प्रस्ताव एवं आर्थिक प्रस्तावों के सम्बन्ध में भी यह निश्चित कर दिया गया है कि इन प्रस्तावों को संसद में उपस्थित करने से पूर्व राष्ट्रपति की स्वीकृति आवश्यक है।

(क) ऑर्डिनेन्स घोषित करने का अधिकार

राष्ट्रपति को आर्डिनेन्स लागू करने का अधिकार भी प्राप्त है। यह ऑर्डिनेन्स उसी समय लागू किए जा सकते हैं जब संसद का अधिवेशन न हो रहा हो और उस

समय किसी आकस्मिक घटना एवं परिस्थिति के जन्म के कारण राष्ट्रपति को यह प्रतीत हो कि व्यवस्थापन अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार घोषित किए गए ऑर्डिनेन्स संसद के अधिवेशन के आरम्भ होने के दिनांक से ६ सप्ताह के समय में नष्ट हो जाएँगे। इस प्रकार के ऑर्डिनेन्स का संसद के दोनों भवनों के सम्मुख उपस्थित किया जाना अनिवार्य है। कोई आर्डिनेन्स इस अवधि के पूर्व भी समाप्त हो सकता है यदि ससद इस आशय का प्रस्ताव स्वीकृत कर दे।

(३) सर्वोच्च न्यायालय और न्याय से सम्बन्धित अधिकार

यद्यपि हमारा विधान मान्टेस्क्यू (Montesquieu) के 'शक्ति पृथक्करण' (Separation of Powers) के सिद्धान्त पर निर्मित नहीं हुआ है, फिर भी हमारे विधान के अतर्गत न्यायालय की स्वतन्त्रता का समर्थन किया गया है। और इसलिए न्याय प्रबन्ध में राष्ट्रपति को प्रत्यक्ष हस्तक्षेप का अधिकार प्रदान नहीं किया गया है। फिर भी, अन्य न्यायाधीशों की सम्मति से वह सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशो की नियुक्ति करेगा। समय-समय पर देहली के अतिरिक्त किसी अन्य स्थान मे सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना के सम्बन्ध मे भारतवर्ष के प्रधान न्यायाधीश को राष्ट्रपति की स्वीकृति लेनी होगी। इसके अतिरिक्त न्यायालय की कार्य व्यवस्था से सम्बन्धित सर्वोच्च न्यायालय द्वारा निर्मित नियमो के सम्बन्ध में राष्ट्रपति की स्वीकृति आवश्यक होगी (यह नियम संसद के कानून अथवा नियमों के विरोध में न होंगे तथा इनके आधीन होंगे)। लोकहित सम्बन्धी किसी अत्यन्त महत्वपूर्णविषय के सम्बन्ध में राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय से सम्मति भी ले सकता है। इसके अतिरिक्त किसी ऐसी सन्धि अथवा समझौते के सम्बन्ध में भी राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय से सम्मति ले सकता है जो किसी ऐसे राज्य से की गई हो जो पूर्व समय में किसी देशी नरेश का राज्य था।

इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति को क्षमा प्रदान करने, प्राण दण्ड को कुछ काल के लिए स्थगित करने, दण्ड में कुछ विलम्ब करने अथवा दण्ड की आज्ञा को स्थगित करने का अधिकार प्राप्त है। वह किसी ऐसे व्यक्ति के दण्ड को कम तथा परिवर्त्तित कर सकता है जिस पर निम्नलिखित से सम्बन्धित किसी अभियोग का दोषारोपण किया गया हो :—

(अ) जब यह दण्ड व्यवस्था कोर्ट मार्शल द्वारा निर्देशित हो;

(ब) जब दण्ड की व्यवस्था उस विषय के सम्बन्ध में की गई हो जो संघ की कार्यकारिणी शक्ति के क्षेत्र के अंतर्गत हो; और

(स) जब प्राण दण्ड की व्यवस्था की गई हो।

उपर्युक्त से सम्बन्धित किसी भी विषय में राष्ट्रपति अपने इन अधिकारों का प्रयोग कर सकता है।

(४) आय से सम्बन्धित अधिकार

राष्ट्रपति ससद के दोनों भवनों के सन्मुख अनुमानित आय-व्यय के वार्षिक व्योरे को उपस्थित करेगा। जैसा कि अन्यत्र लिखा जा चुका है कि कोई आय प्रस्ताव अथवा कोई अन्य आर्थिक प्रस्ताव अथवा कोई माँग राष्ट्रपति के पूर्व अनुग्रह बिना ससद के सन्मुख उपस्थित नहीं की जा सकेगी। इसी प्रकार भारतवर्ष के सचित धन से सम्बन्धित किसी व्यय की माँग को ससद केवल राष्ट्रपति के अनुग्रह पर ही स्वीकृत करेगी। "आकस्मिक घटना सम्बन्धित धन" भी राष्ट्रपति को पूर्ण रूप मे सौंप दिया जाता है जिससे कि वह आकस्मिक घटना अथवा अलक्षित आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसमें से धन ले सके।

(५) पिछड़े हुए वर्गों से सम्बन्धित अधिकार

राष्ट्रपति किसी राज्य के राज्यपाल अथवा राजप्रमुख के साथ परामर्श करके दलित वर्ग और पिछड़े हुए वर्ग निश्चित करेगा जिनके सम्बन्ध में विधान के अन्तर्गत कुछ विशेष धाराएँ प्रस्तुत की गई हैं। विधान के अन्तर्गत इन जातियों और वर्गों के हेतु प्रस्तावित सुरक्षा की पूर्णता की छान-बीन के लिए राष्ट्रपति एक विशेष पदाधिकारी की नियुक्ति करेगा। पिछड़े हुए वर्ग और क्षेत्रों के हित तथा शासन से सम्बन्धित सूचना प्राप्त करने के हेतु राष्ट्रपति एक समिति (कमीशन) की नियुक्ति कर सकता है। दलित वर्ग तथा पिछड़े हुए वर्गों की दशा को जानने और उससे भली प्रकार परिचित होने के हेतु राष्ट्रपति एक अन्य समिति (कमीशन) की नियुक्ति कर सकता है।

(६) राज्यों से सम्बन्धित अधिकार

यह सघ केवल विभिन्न राज्यों का सघ मात्र है और राष्ट्रपति इस सघ का अध्यक्ष है, इसलिए विभिन्न राज्यों के सम्बन्ध में भी राष्ट्रपति को कुछ अधिकार प्रदान किए गए हैं जो सक्षेप में निम्नलिखित हैं —

(अ) नियुक्ति सम्बन्धी अधिकार

किसी राज्य के राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होगी और उसी के प्रति विश्वासी रह कर वह अपने पद पर आसीन रह सकेगा। यदि कोई आकस्मिक घटना घटित हो जाती है तो राज्यपाल के कार्यों के सम्पादन के हेतु राष्ट्रपति ही प्रबन्ध करेगा।

(ब) व्यवस्थापन सम्बन्धी नियन्त्रण

किसी राज्य का राज्यपाल राज्य की व्यवस्थापिका सभा के किसी प्रस्ताव को राष्ट्रपति की स्वीकृति के हेतु सुरक्षित रख सकता है। कुछ विषयों से सम्बन्धित प्रस्तावों को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रखना राज्यपाल के लिए अत्यन्त आव-

श्यक है। इस प्रकार के प्रस्तावों में कुछ मुख्य प्रस्ताव हैं जैसे हाई कोर्ट के अधिकारों को कम करने, अथवा संसद द्वारा घोषित जीवन के लिए अनिवार्य वस्तुओं के क्रय-विक्रय पर कर लगाने के सम्बन्ध में, आदि। इन प्रस्तावों के सम्बन्ध में राष्ट्रपति अपनी स्वीकृति-अस्वीकृति प्रदान कर सकता है अथवा इन प्रस्तावों को राज्यपाल द्वारा व्यवस्थापिका सभा के विचारार्थ भेज सकता है। एकीभूत तालिका में उद्धृत किसी विषय के सम्बन्ध में निर्मित किसी राज्य का कानून यदि संघीय कानून के विरोध में हो, और यदि राज्य के उस कानून को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रखा जाए और उसे यह स्वीकृति प्रदान हो जाए तो राज्य का कानून वैध घोषित किया जायगा।

(स) राष्ट्रपति के निर्देशक सिद्धान्त

राष्ट्रपति किसी राज्य की सरकार को किसी ऐसे विषय से सम्बन्धित कुछ विषय सौंप सकते हैं जो साधारण रूप से संघ की कार्यकारिणी के क्षेत्र के अन्तर्गत हो। यह कार्य उस राज्य की सरकार की सम्मति द्वारा ही किया जा सकेगा। विभिन्न राज्यों में एकता की भावना के विकास तथा पारस्परिक वैमनस्य को नष्ट करने के हेतु राष्ट्रपति एक अन्तर्राज्य समिति की स्थापना भी कर सकता है।

(द) राज्य की आय से सम्बन्धित नियन्त्रण

राज्य की आय के सम्बन्ध में भी राष्ट्रपति को कुछ अधिकार प्रदान किए गए हैं। प्रथम नामावली के भाग 'अ' और 'ब' में उद्धृत राज्यों के कर सम्बन्धी आय तथा सहायक अनुदान के वितरण के सम्बन्ध में उसे अनेक अधिकार प्राप्त हैं। प्रथम, जिस प्रस्ताव द्वारा किसी ऐसे कर पर आघात होता हो, जिसमें राज्य भी रुचि रखते हों, उस प्रस्ताव को संसद में उपस्थित करने के लिए राष्ट्रपति के पूर्व अनुग्रह की आवश्यकता होती है। इस सम्बन्ध में सबसे प्रथम एक आर्थिक समिति का निर्माण किया जाता है। इस समिति की रिपोर्ट पर विचार करके राष्ट्रपति अपने आदेश द्वारा (१) राज्यों की कृषि सम्बन्धी आय के अतिरिक्त अन्य आय पर करों का विभाजन नियत कर सकता है, और (२) इस प्रकार के अनुदान नियत कर सकता है जो जूट और जूट से उत्पादित वस्तुओं पर लगाए गए निर्यात कर के बदले में हों और जो आसाम, बिहार, उड़ीसा और पश्चिमी बंगाल के राज्यों को देने हों। इस सम्बन्ध में जब तक संसद किसी कानून का निर्माण न कर दे, उस समय तक राष्ट्रपति (यदि आर्थिक समिति की स्थापना हो चुकी हो तो उससे परामर्श लेकर) कुछ राज्यों को प्रति वर्ष विशेष अनुदान प्रदान करने की व्यवस्था कर सकता है जो भारतवर्ष के संचित धन से लिए जाएँ। प्रथम नामावली के भाग 'ब' में उद्धृत राज्यों के साथ हुए आर्थिक विषयों से सम्बन्धित किसी समझौते को इस विधान के लागू होने के दिनांक से पाँच वर्ष पश्चात् किसी

समय परिवर्तित करने तथा समाप्त करने का अधिकार भी राष्ट्रपति को प्राप्त है। वह ऐसा उस समय करेगा जब आर्थिक समिति की रिपोर्ट पर विचार करने के पश्चात् उसे यह आवश्यक प्रतीत हो।

(ब) असाधारण परिस्थिति में राष्ट्रपति के अधिकार

उपर्युक्त पृष्ठों में राष्ट्रपति के उन अधिकारों का विवेचन किया गया है जो उसे सामान्य परिस्थितियों मे प्राप्त हैं। इनके अतिरिक्त असाधारण परिस्थितियों के सम्बन्ध में उसे अनेक व्यापक अधिकार प्रदान किए गए हैं। यह परिस्थितियाँ अथवा यह सकट कालीन अवस्था हमारे विधान के अन्तर्गत तीन शीर्षकों में विभाजित की गई है जो निम्न प्रकार हैं —

(१) युद्ध अथवा आक्रमण अथवा आंतरिक अशान्ति से सम्बन्धित सकटकालीन अवस्था

यदि राष्ट्रपति को यह अनुभव हो कि युद्ध अथवा बाह्य आक्रमण अथवा आंतरिक अशान्ति के कारण भारतवर्ष अथवा उसके किसी एक भाग की शान्ति और सुरक्षा के नष्ट होने का भय है तो इस प्रकार की परिस्थिति के यथार्थ रूप में प्रकट होने के पूर्व ही राष्ट्रपति सकटकालीन अवस्था की घोषणा कर सकता है। इस प्रकार की घोषणा ससद के दोनों भवनों के सन्मुख उपस्थिति की जाएगी और यदि उन भवनों के द्वारा यह स्वीकृत न हुई तो दो मास पश्चात् यह समाप्त हो जाएगी। इस घोषणा के लागू रहने के समय में राष्ट्रपति किसी राज्य की सरकार को उसके कार्यकारिणी सम्बन्धी कार्य के सचालन के हेतु आदेश प्रदान कर सकता है। इसके अतिरिक्त, इस अवधि के अन्तर्गत, राष्ट्रपति को निम्नलिखित को स्थगित करने का अधिकार होगा —

(अ) किसी मौलिक अधिकार को लागू करने के लिए किसी न्यायालय से प्रार्थना करने का अधिकार, और

(ब) उन धाराओं का प्रयोग जिनका सम्बन्ध केन्द्र और राज्यों में आय के वितरण से हो।

(२) राज्यों की वैधानिक प्रणाली के असफल होने से सम्बन्धित सकट-कालीन अवस्था

एक घोषणा द्वारा राष्ट्रपति किसी भी राज्य के एक अथवा समस्त कार्यों को अपने अधिकार में कर सकता है, यह घोषित कर सकता है कि राज्य की व्यवस्थापिका सभा के अधिकार ससद द्वारा प्रयोग किए जाएँगे और हाई कोर्ट के अतिरिक्त राज्य के अन्य समस्त पदाधिकारियों से सम्बन्धित विधान की किसी धारा को कुछ काल के लिए स्थगित कर सकता है। यह सब कुछ राष्ट्रपति उसी समय करेगा जब किसी राज्य का

राज्यपाल अथवा राजप्रमुख उसे यह सूचना देगा कि कुछ आकस्मिक एवं असाधारण परिस्थितियों के कारण उस राज्य की सरकार का सञ्चालन विधान की धाराओं के अनुसार नहीं किया जा सकता। राष्ट्रपति इस प्रकार की घोषणा उस समय भी लागू कर सकता है जब संघ की किसी धारा के अन्तर्गत अपनी कार्यकारिणी शक्ति के प्रयोग में संघ ने जो आदेश राज्य की कार्यकारिणी को दिए हों और वह उनका पालन न कर पाई हो। इस सम्बन्ध में भी यह घोषणा दो मास की अवधि के पश्चात् समाप्त हो जाएगी यदि इसे व्यवस्थापिका सभा के दोनों भवनों द्वारा स्वीकृत न किया गया। परन्तु यदि संसद इस घोषणा को स्वीकृत करदे तो यह घोषणा ६ मास के लिए और लागू रहेगी। संकटकालीन अवस्था की घोषणा प्रत्येक दशा में तीन वर्ष से अधिक स्थायी नहीं रहेगी।

(३) आर्थिक संकटकालीन अवस्था

यदि राष्ट्रपति को यह प्रतीत हो कि किसी आकस्मिक परिस्थिति के कारण भारतवर्ष की आर्थिक साख अथवा स्थायित्व के नष्ट होने का भय है तो वह इस आशय की घोषणा कर सकता है। इस घोषणा के अन्तर्गत भी राष्ट्रपति किसी भी राज्य की सरकार को संघ द्वारा प्रतिपादित आर्थिक व्यवस्था सम्बन्धी नियमों के पालन का आदेश दे सकता है। इन आदेशों के अन्तर्गत इस प्रकार के आदेश भी सम्मिलित हैं जैसे कि राज्य के कर्मचारियों के वेतन तथा भत्ते में कमी तथा यह व्यवस्था कि राज्य के समस्त आय प्रस्ताव तथा आर्थिक प्रस्ताव व्यवस्थापिका सभा के दोनों भवनो द्वारा स्वीकृत होने पर राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए अवश्य सुरक्षित रखे जाएँ। इस प्रकार की परिस्थिति में राष्ट्रपति संघ के कर्मचारियों तथा सर्वोच्च न्यायालय और हाईकोर्ट के न्यायाधीशों के वेतन तथा भत्ते में कमी कर सकता है। इस घोषणा की अवधि भी उपर्युक्त दोनों घोषणाओं के समान होगी।

संकटकालीन अवस्था सम्बन्धी अधिकारों की आलोचना

यहाँ यह ध्यान में रखना उचित है कि राष्ट्रपति के इन अधिकारों पर प्रहार भी हुए हैं और इनका पक्ष भी ग्रहण किया गया है।

इन अधिकारों के समर्थकों में श्री. आर० के० सिध्वा, श्री. अलादी स्वामी अय्यर और डाक्टर अम्बेदकर मुख्य हैं। इन अधिकारों का समर्थन करते हुए इन विद्वानों का कहना है कि दो महायुद्धों ने मनुष्य जाति को यह शिक्षा प्रदान की है कि जनता की स्वतन्त्रता और उसके अधिकारों के हित के लिए राज्य का अस्तित्व स्थापित रखना अत्यन्त आवश्यक है। राज्य जनता के अधिकार और उसकी स्वतन्त्रता का मुख्य संरक्षक है। इस कारण राज्य की स्वतन्त्रता और उसके जीवन की रक्षा करना अत्यन्त आवश्यक है भले ही इससे व्यक्तियों के अधिकार और स्वतन्त्रता पर अस्थायी आघात

पहुँचे अथवा उनमें कुछ साधारण ऊँच नीच हो जाए। अन्त मे नागरिकों को ही इससे लाभ की प्राप्ति होगी क्योंकि राज्य की सुरक्षा में ही नागरिकों के अधिकार और उनकी स्वतन्त्रता की सुरक्षा निहित है। उनका कथन है कि यदि एक अस्थायी काल के लिए व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को स्थगित कर दिया जाए, तो इसका अर्थ प्रजातन्त्रात्मक सिद्धान्त का पूर्ण एव स्थायी वहिष्कार नहीं लगा लेना चाहिए।

आलोचकों में प्रोफेसर के टी शाह और श्री एच वी कमठ का नाम लिया जा सकता है। श्री. कमठ ने एक स्थल पर लिखा है कि सकटकालीन अवस्था सम्बन्धी धारा द्वारा

"हम एक निरकुश राज्य एक पुलिस राज्य की नींव रखने का प्रयत्न कर रहे हैं—जो उन सिद्धान्तों का पूर्ण रूप से विरोध करता है जिन्हें हमने कुछ पिछले वर्षों में उठाए रखा है।" [1]

यदि इन दो विरोधी दृष्टिकोणों के मध्य का मार्ग भी ग्रहण किया जाए तो अमरनन्दी के इस कथन का समर्थन करना ही पडता है कि सकट कालीन अवस्था सम्वन्धी अधिकार राष्ट्रपति के "हाथों में एक इस प्रकार की भरी हुई गन है जिसका प्रयोग नागरिकों की स्वन्त्रता की रक्षा करने और उसे नष्ट करने दोनों के लिए ही किया जा सकता है।" [2]

इन अधिकारों के मुख्य दोषों का विवेचन निम्न प्रकार से किया जा सकता है —

प्रथम, विधान के अन्तर्गत कोई इस प्रकार की धारा प्रस्तावित नहीं की गई है कि मंत्रि परिषद् की सम्मति द्वारा ही राष्ट्रपति इन अधिकारों का प्रयोग करेगा। इस सम्बन्ध में उसे अपने विवेकाधिकार के अन्तर्गत कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होगी और इस सम्बन्ध में वह मन्त्रियों के नियन्त्रण से मुक्त होगा। यह कम से कम उस समय तक के लिए तो कहा ही जा सकता है जब तक ससद उसके इन अधिकारों को समाप्त न कर दे।

द्वितीय, जैसा कि कहा गया है, यदि राष्ट्रपति अपने मन्त्रियों की सम्मति से इन अधिकारों का प्रयोग करे तो निरकुश राज्य की सम्भावना और भी बढ जाती है।

---

1 We are seeking to lay the foundation of a totalitarian state—a police state— completely opposed to all principles that we have held aloft during the last few decades." —Sri H V Kamath

2. "The emergency powers leave in the hands of the President is a "loaded gun which can be used both to protect and destroy the liberty of citizens" —Amarnandi

इस दशा में यह निरकुश राज्य होगा बहुमत दल के आधीन और प्रधान मन्त्री इसका तानाशाह होगा। प्रधान मन्त्री, लोक सभा मे अपने बहुमत के कारण इस प्रकार की घोषणाओं को स्वीकृत करा सकता है और इस प्रकार जनता के अधिकारों और उसकी स्वतन्त्रता के साथ खिलवाड़ कर सकता है। इस प्रकार भारतवर्ष का प्रजातन्त्र निरकुश राज्य अथवा तानाशाही में परिवर्त्तित किया जा सकता है।

तृतीय, इन अधिकारों की व्यवस्था में एक अत्यन्त दोषपूर्ण बात यह है कि विधान द्वारा राष्ट्रपति को यह आदेश प्रदान नहीं किया गया है कि वह इन घोषणाओं को संसद के सन्मुख तुरन्त उपस्थित करे। और इस प्रकार इस बात से वह कुछ समय प्राप्त कर शक्ति को अपने हाथों मे इतना केन्द्रित कर ले कि उसे उससे वचित न किया जा सके। और इस दो मास के समय में वह अपने व्यक्तित्व के प्रभाव द्वारा निरंकुशता की सीमा तक पहुँच सकता है। इसके विपरीत यहाँ यह ध्यान में रखना उचित होगा कि इंग्लैंड के सन् १६२० के ब्रिटिश सकटकालीन अवस्था सम्बन्धी अधिकार एक्ट (British Emergency Powers' Act of 1920) के अन्तर्गत यह प्रस्तावित किया गया है कि इस प्रकार की घोषणा घोषित किए जाने के दिनांक से पाँच दिन के समय में पार्लियामेण्ट के सन्मुख उपस्थित की जाएगी, और यदि पार्लियामेण्ट ने इसे अस्वीकृत कर दिया तो पार्लियामेण्ट में उपस्थित करने के दिनांक से सात दिन के पश्चात् यह घोषणा समाप्त हो जायगी। इस एकार की घोषणा के लागू रहने के लिए पार्लियामेण्ट की स्वीकृति आवश्यक है। विमर गणतन्त्र (Weimer Republic) जैसे तानाशाह राज्य में भी यह कानून था कि इस प्रकार की घोषणा जर्मन पार्लियामेण्ट के सन्मुख तुरत उपस्थित होनी चाहिए।

चतुर्थ, विधान की सकटकालीन अवस्था सम्बन्धी धाराओं का एक अनौचित्य यह भी है कि मौलिक अधिकारों के स्थगित किए जाने के सम्बन्ध मे शान्ति काल और युद्ध काल में कोई अन्तर नहीं किया गया है। इस प्रकार की घोषणा बाह्य आक्रमण और आन्तरिक अशान्ति दोनों अवस्थाओं में की जा सकती है और वह भी उस परिस्थिति के जन्म लेने से पूर्व राष्ट्रपति की इच्छानुसार ही। इस सबध में राष्ट्रपति का निर्णय ही अन्तिम होगा।

अन्तिम, इन धाराओं का अत्यधिक दोष इस बात मे है कि इस प्रकार की परिस्थिति में अत्याचार अथवा अन्याय होने पर न्याय की किसी ऐसी संस्था का उल्लेख नहीं जिससे इस सम्बन्ध में प्रार्थना की जा सके। इस प्रकार की परिस्थिति मे मन्त्रि-मण्डल न्यायालय का स्वरूप भी ग्रहण कर लेगा क्योंकि न्यायालय को यह निरीक्षण करने का अधिकार नहीं होगा कि यह परिस्थितियाँ क्या वास्तव में इस प्रकार की हैं कि मौलिक अधिकारों को स्थगित कर दिया जाए। यह बड़ी विचित्र बात है, जैसा कि

एक आलोचक ने कहा है, इस प्रकार की अवस्था के अन्तर्गत केन्द्र का, जिसका नेता मन्त्रिमण्डल होगा—जो एक प्रकार से बहुतमतदल के नेताओं की समिति ही है—अर्थ केवल केन्द्रीय कार्यकारिणी नहीं होगा, केवल केन्द्रीय ससद नहीं होगा, वल्कि इसका अर्थ केन्द्रीय न्यायालय भी होगा। इसका अर्थ यह है कि मन्त्रिमण्डल एक निरंकुश राज्य का अध्यक्ष होगा, और इसी में राज्य की व्यवस्थापक, कार्यकारिणी तथा न्याय शक्ति निहित होगी। यदि हमारे विधान निर्माताओं ने यह व्यवस्था की होती कि इस प्रकार की सकटकालीन अवस्था में सर्वोच्च न्यायालय अपने विवेकाधिकार के अन्तर्गत कार्य करेगा और अमरीका के समान वही मौलिक अधिकारों का सरक्षक होगा, तो उत्तम होता। अमरीका में न्यायालय इस बात को स्वीकृत करता है कि सकटकालीन अवस्था में राज्य को पुलिस की अधिक शक्ति की आवश्यकता होती है। इसलिए शासन तथा व्यस्थापन सम्बन्धी ऐसे कार्यों का भी न्यायालय द्वारा समर्थन किया जाता है जो शान्ति काल में किसी प्रकार भी सम्पन्न नहीं हो सकते थे। उदाहरण स्वरूप सन् १९१७-१८ के एस्पियोनेज और सेडीशन एक्ट (Espionage and Sedition Acts of 1917-18), अथवा एक सेना के निर्माण के लिए व्यक्तियों को जबरदस्ती भरती करना, आदि। हमारे विधान निर्माताओं का वास्तविक दोष यही रहा कि सकटकालीन अवस्था के अन्तर्गत उन्होंने कार्यकरिणी को ही इस बात का निर्णायक भी बना दिया कि सकटकालीन अवस्था के अन्तर्गत पुलिस की शक्ति का प्रयोग किस स्थान पर तथा किन परिस्थितियों के अन्तर्गत किया जाए।

साराश रूप सन् १८६८ में अमरीका में मिलीगन के मुकदमे के निर्णय के निम्नलिखित शब्दों को उद्धृत किया जा सकता है —

"मानव की बुद्धि द्वारा इससे अधिक अपकारक परिणामों वाले सिद्धान्त का जन्म नहीं हुआ था कि सरकार की सकट कालीन अवस्था में इसकी (बिल ऑफ राइट्स की) धाराएँ भी स्थगित की जा सकें।" [1]

उपसहार

राष्ट्रपति और मन्त्रि-परिषद्

यदि राष्ट्रपति उपर्युक्त समस्त अधिकारों का प्रयोग वास्तविक रूप से करे तो कदाचित् उसके अधिकार इतने व्यापक और विस्तृत हो जाएँ कि देवता भी उससे ईर्षा

[1] "No doctrine involving more pervicious consequences was ever invented by the wit of man, than that any of its (Bill of Rights) provisions can be suspended during any of the grave exigencies of the government" —From ex-parte-Miligan

करें और कदाचित् इन महान अधिकारों का उपभोग करने के लिए वे भी इस पृथ्वी पर उतर आने के लिए लालायित हो उठें। परन्तु हमारे विधान निर्माताओं ने राष्ट्रपति को नाममात्र का अध्यक्ष रखा है, उसका कार्य सरकार की कार्यप्रणाली और देश की शोभा बढ़ाना ही है। विधान की धारा ७४ (१) के अन्तर्गत यह प्रस्तावित किया गया है कि मन्त्रि परिषद् राष्ट्रपति को उसके कार्यों के सम्बन्ध में सहायता और सम्मति प्रदान करेगी। परन्तु भारतवर्ष की सरकार की प्रजातंत्रात्मक प्रणाली में इस बात की सम्भवना अधिक है कि राष्ट्रपति मन्त्रि परिषद् को उसके कार्य मे सहायता और सम्मति प्रदान करेगा, और परिषद् राष्ट्रपति के अधिकारो का प्रयोग करेगी।

सैद्धान्तिक रूप में दोनो का सम्बन्ध

सैद्धान्तिक रूप से राष्ट्रपति मंत्रि-परिषद् की सम्मति को स्वीकार करने के लिए बाध्य नही है। वह उनकी आकांक्षाओं को ठुकरा सकता है। फ्रॉस के चतुर्थ गणतन्त्र के विधान के समान हमारे विधान में भी यह व्यवस्था नहीं रखी गई है कि राष्ट्रपति के प्रत्येक कार्य पर किसी मंत्री अथवा प्रधान मंत्री के हस्ताक्षर होंगे तथा इस प्रकार के हस्ताक्षर के पश्चात् ही वह लागू हो पाएँगे। इस प्रकार राष्ट्रपति मन्त्रि-परिषद की सहायता और सम्मति के बिना भी कार्य कर सकता है और क़ानून की कोई शक्ति उसे इससे नहीं रोक सकती। परन्तु राष्ट्रपति मंत्रि-परिषद् की उपेक्षा भी नही कर सकता क्योंकि मंत्रि-परिषद् की स्थापना विधान द्वारा हुई है।

हमारे विधान का एक अन्य दोष यह है कि आयरलैंड के विधान के समान इसमें यह प्रस्तावित नहीं किया गया है कि यदि एक मन्त्रि-मण्डल त्याग पत्र देता है, तो त्याग पत्र देने के पश्चात् भी वह उस समय तक कार्य करता रहेगा जब तक उसके उत्तराधिकारी अपना पद सँभाल न लें। इस धारा की अनुपस्थिति के कारण राष्ट्र-पति निरकुश हो सकता है। इस प्रकार इस धारा की अनुपस्थिति में कोई शक्ति ऐसी नहीं जो राष्ट्रपनि को अन्य मन्त्रि मण्डल की नियुक्ति में विलम्ब करने से रोक दे। इस मध्यान्तर मे उसके कार्य और कानूनों की वैधता का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि उसके कार्यों और कानूनों के सम्बन्ध में किसी मंत्री के हस्ताक्षर की आवश्यकता नहीं। इस समय में वह तानाशाह भी बन सकता है।

इसके अतिरिक्त प्रधान मन्त्री की नियुक्ति में भी राष्ट्रपति पर इसके अतिरिक्त और कोई अन्य बंधन नहीं कि प्रधान मंत्री वह व्यक्ति होना चाहिए जो लोक सभा के बहुमत का विश्वास प्राप्त कर सके। परन्तु एक ऐसा व्यक्ति भी ६ मास के लिए मंत्री पद पर रह सकता है जो किसी भवन का सदस्य न हो, और राष्ट्रपति को भी यह अधिकार है कि एक अधिवेशन की अन्तिम बैठक के दिनांक से ६ मास तक वह संसद् की बैठक आमन्त्रित न करे। इसलिए राष्ट्रपति चाहे तो एक ऐसे व्यक्ति को ६ मास.

के लिए प्रधान मन्त्री नियुक्त कर सकता है जो किसी भवन का सदस्य न हो तथा जो लोक सभा के बहुमत का विश्वास प्राप्त न करता हो।

इसके अतिरिक्त जब प्रधान मन्त्री चाहेगा तब लोक सभा को विसर्जित करने के लिए राष्ट्रपति मना कर सकता है क्योंकि वह इस सम्बन्ध में किसी प्रकार की धारा से बाध्य नहीं है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति किसी वैधानिक धारा द्वारा इस बात के लिए बाध्य नहीं है कि वह प्रत्येक कार्य के सम्बन्ध में मन्त्रि-परिषद् की सम्मति के अनुसार ही कार्य करेगा।

व्यावहारिक रूप में दोनो का सम्बन्ध

व्यावहारिक रूप में मन्त्रि-परिषद् पर राष्ट्रपति का निर्भर रहना वास्तविक होगा। जो राष्ट्रपति अपने मन्त्रियों की सम्मति को ठुकराता है वह वास्तविक रूप से लोक सभा के क्रोध की ज्वाला को ही प्रज्वलित करता है और इसका यह परिणाम हो सकता है कि लोक सभा उसे किसी अन्य मन्त्रि-मण्डल का निर्माण ही न करने दे। इसलिए अपने विवेकाधिकार के अन्तर्गत कार्य करने के पूर्व राष्ट्रपति इस बात को दस बार सोचेगा, यद्यपि विधान द्वारा वह मन्त्रियों की सम्मति को स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं है। इस प्रकार वास्तव में राष्ट्रपति के अधिकारों का प्रयोग मन्त्रि-परिषद् ही करेगी जो ससद के प्रति संयुक्त रूप से उत्तरदायी है। राष्ट्रपति के कार्यों के लिए मन्त्रि-परिषद् को ससद में उत्तरदायी जभी ठहराया जा सकता है यदि वह कार्य वास्तविक रूप से मंत्रि मण्डल द्वारा किए गए हों। इस प्रकार राष्ट्रपति के अधिकार व्यावहारिक रूप में मन्त्रि-परिषद् के ही अधिकार होंगे। राष्ट्रपति वही करेगा जो उसके मन्त्री चाहेंगे। वह एक ऐसा जीवित साधन है जिसके द्वारा मन्त्रि मण्डल की आकांक्षाएँ स्पष्ट की जाती हैं। इस प्रकार राष्ट्रपति केवल नाम मात्र का ही शासक होगा। वह राज्य का वास्तविक शासक न होगा। राजपद से रहित छाया रूप सम्राट के समान भारतीय राष्ट्रपति फ्रांस के राष्ट्रपति और इँगलैंड के सम्राट के मूल रूप है, यद्यपि वह इन दोनों से अधिक प्रभावशाली है। संकटकालीन अवस्थाओं में जो महत्व भारतीय राष्ट्रपति का है वह इँग्लैंड अथवा फ्राँस के शासनाध्यक्षों का नहीं। किसी को यह अनुमान नहीं लगा लेना चाहिए कि भारतवर्ष का राष्ट्रपति केवल "एक वैभवपूर्ण शून्य" के समान ही होगा। उसके आधारों का स्वरूप भले ही असत्य वास्तविकता हो, परन्तु उसका प्रभाव नगण्य नहीं होगा। "राष्ट्रपति-पद वही होगा जो राष्ट्रपति इसे बनाएँगे।"

यह सत्य है कि राष्ट्रपति अपने मन्त्रियों की सम्मति के विरुद्ध कार्य नहीं कर सकेगा। परन्तु इसके विपरीत यह भी सत्य है कि मन्त्रि-परिषद् भी राष्ट्रपति की स्वीकृति बिना कार्य नहीं कर सकेगी। विधान के अन्तर्गत राष्ट्रपति को मन्त्रि

परिषद् से पृथक व्यक्तित्व प्रदान किया गया है। उसका स्थान प्रथम है, मन्त्रि-परिषद् का स्थान उसके पश्चात् है और वह भी एक परामर्शदाता का। इसलिए मन्त्रि-परिषद् राष्ट्रपति को असहायावस्था अथवा आधीनता की दशा तक नहीं पहुँचा सकती। दोनों को एक वाहन के दो पहियों के समान कार्य करना होगा—एक की अनुपस्थिति में दूसरे का महत्त्व नहीं।

उपराष्ट्रपति

विधान की धारा ६३ द्वारा प्रस्तावित किया गया है कि भारतवर्ष के लिए एक उपराष्ट्रपति की नियुक्ति की जाएगी। राष्ट्रपति की अनुपस्थिति में उपराष्ट्रपति उसका पद संभालेगा तथा उस पद से सम्बन्धित कार्यों का सम्पादन करेगा। उपराष्ट्रपति राज्य परिषद् का पदाधिकृत सभापति होगा। उसका कार्यकाल पाँच वर्ष होगा। उपराष्ट्रपति का निर्वाचन ससद के दोनों भवनों के सदस्य अविभक्त हस्तान्तरित मत के आधार पर अनुरूप प्रतिनिधित्व प्रणाली द्वारा करेंगे। निर्वाचन के पश्चात् वह ससद अथवा किसी राज्य की व्यवस्थापिका सभा के किसी भवन का सदस्य नहीं रह सकेगा।

इस पद के सम्बन्ध में भी वही योग्यताएँ निर्धारित हैं जो राष्ट्रपति के पद के सम्बन्ध में हैं।

उपराष्ट्रपति अपने पद से त्यागपत्र भी दे सकता है। इसके अतिरिक्त उपराष्ट्रपति को अयोग्यता अथवा अविश्वास के आधार पर राज्य-परिषद् के एक प्रस्ताव द्वारा पदस्थ भी किया जा सकता है। इस प्रकार का प्रस्ताव बहुमत द्वारा स्वीकृत तथा लोक सभा द्वारा स्वीकृत होना चाहिए। परन्तु इस प्रकार के प्रस्ताव के लिए चौदह दिन पूर्व की सूचना आवश्यक है। अपनी अवधि की समाप्ति पर भी उपराष्ट्रपति उस समय तक अपने पद पर आसीन रहेगा जब तक उसका उत्तराधिकारी अपने पद को संभाल न ले। उसकी अवधि समाप्त होने के पूर्व ही नवीन उपराष्ट्रपति का निर्वाचन किया जाएगा। यदि मृत्यु, त्यागपत्र, पदस्थ करने आदि के कारण यह पद रिक्त होता है तो शीघ्रातिशीघ्र इस सम्बन्ध में निर्वाचन की व्यवस्था की जाएगी। इस निर्वाचन के सम्बन्ध मे स्थान रिक्त होने के दिनांक से ६ मास से अधिक समय नहीं लगना चाहिए। इस प्रकार निर्वाचित हुआ व्यक्ति पूरे पाँच वर्षों तक अपने पद पर आसीन रहेगा।

राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति को विधान के प्रति श्रद्धा की शपथ ग्रहण करनी होगी। शपथ के शब्द निम्न प्रकार से हैं :—

"कानून द्वारा स्थापित भारतवर्ष के विधान के प्रति मैं सत्य विश्वास और श्रद्धा का भाव रखूँगा, और जिस पद पर मैं आसीन होने वाला हूँ उस पद से सम्बन्धित कर्तव्यों को मैं पूर्ण निष्ठा के साथ निभाऊँगा।"

इस शपथ का उद्देश्य है राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के हृदय में विधान की धाराओं के प्रति एक मनोवैज्ञानिक श्रद्धा का विकास हो। परन्तु यहाँ यह ध्यान मे रखना चाहिए कि किसी अन्तर्हित भाव के अनुकरण के लिए न होकर वह शपथ केवल बाह्य रूप को सन्तुष्ट करने को ग्रहण की जाती है। हमारे विधान में सचिवतन्त्रात्मक सरकार अर्थात् मन्त्रि-परिषद् के प्रति राष्ट्रपति के निर्भर रहने के सिद्धान्त को अन्तर्हित किया गया है, अतएव यह शपथ इस दिशा में कुछ विशेष रूप से सहायक न हो पाएगी।

आठवाँ अध्याय

प्रधान मन्त्री और मन्त्रिमण्डल

"मन्त्रि-परिषद् की आत्मा और हमारी सम्पूर्ण कार्य प्रणाली का केन्द्र न्दु मन्त्रिमण्डल (केबिनेट) है। यह सर्वोच्च शासन सत्ताधारी है और जब n लोकसभा में इसे बहुमत की सहायता प्राप्त होती रहेगी, (तब तक) लगभग नुत्तरदायी अधिकार के साथ राष्ट्र की नीति का निर्देश यही करेगी।"[1]

—रैमजे म्योर

जो कुछ रैमज़े म्योर ने इंगलैंड के मन्त्रिमण्डल के सम्बन्ध मे लिखा है वही ारतवर्ष के मन्त्रिमण्डल के सम्बन्ध में भी सत्य है। एक सचिवतन्त्रात्मक सरकार मे न्द्रीय मन्त्रिमण्डल का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है। हमारे यहाँ यह यथार्थ प से कार्यों का सम्पादन करने वाली कार्यकारिणी है। केवल यही नहीं, मन्त्रिमण्डल क अधिक विशाल सस्था—जनता की प्रतिनिधात्मक समिति का शिशु मात्र है जिसके ति यह अन्तिम रूप से उत्तरदायी भी है। इस प्रकार मन्त्रिमण्डल आज्ञा पत्र में तिपादित राजनैतिक सर्वोच्च सत्ता अर्थात् जनता की आकांक्षाओं तथा कल्पनाओं ो साकार रूप प्रदान करने वाला साधन अथवा यन्त्र है। इसलिए सर जॉन मेरियट । उचित ही लिखा है कि यह "वह केन्द्र बिन्दु है जिस पर सम्पूर्ण राजनैतिक कार्य ाणाली घूमती है।"[2] हमारे विधान में प्रस्तावित मन्त्रि परिषद् की व्याख्या एव ारतीय ग्लैडस्टन ही इस प्रकार कर सकता है कि यह "सूर्य सम्बन्धी एक ऐसा चक्र ै जिसके चारों ओर अन्य जीव विचरते हैं।"[3] मन्त्रिमण्डल एक केन्द्रीय सस्थ

---

1 "The core of the Ministry and the pivot of our whole systen s the cabinet It is the supreme ruling body and so long it is sup ported by a majority in the house of Commons, it fixes the directio of national policy with practically irresponsible power."

—Ramsay Mui

2. "The pivot round which the whole political machiner revolves." —Sir John Marrio

3. "The cabinet is "the solar orb round which the other bodi revolve." —Gladston

होती है इस कारण एक ओर तो इसका कार्य व्यवस्थापन में सुविधा प्रदान करना है और दूसरी ओर इसका कार्य सरकार के शासन प्रबन्ध से सम्बन्धित कार्यों का सुविधा पूर्ण सचालन है। "यह", जैसा कि बेगहोट ने लिखा है, "वह कडी है जो दो भागों को जोडती है, जो कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका सभा (इन दो) विभागों का गठ बन्धन करती है।"[1] यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि यदि मन्त्रिमण्डल राज्य रूपी जहाज़ का चालक यन्त्र है तो प्रधान मन्त्री उसका चालक है। हमारे विधान की शब्दावली से एक सामान्य मनुष्य को एक यथार्थ एव वास्तविक कार्यकारिणी के रूप में मन्त्रिमण्डल के महत्व को समझना तथा हमारी सचिवतन्त्रात्मक व्यवस्था को चलायमान एव गतिमान करने वाले सचालक के रूप में प्रधान मन्त्री के महत्त्व को समझना कठिन होगा। अँगरेज़ी विधान के समान हमारे विधान में भी एक बडी विचित्र एवं अद्भुत विशेषता के दर्शन होते हैं—और वह यह है कि यथार्थ एव वास्तविक कार्यकारिणी अपने कार्यों का प्रदर्शन करने वाले घोषणा पत्र अथवा विज्ञापन को लेकर नहीं चलती। परन्तु यह सत्य तो सब पर ज्ञात है कि सैद्धान्तिक शब्दावली में तो राज्य का प्रधान अध्यक्ष राष्ट्रपति ही है जो सर्वोच्च सत्ताधारी तथा सर्व शक्तिमान है, परन्तु व्यावहारिक रूप में शासन सम्बन्धी अधिकारों का मुख्य सरक्षक तथा शासन सम्बन्धी कार्य का महान सचालक मन्त्रिमण्डल ही है।

विधान के अन्तर्गत यह प्रस्तावित किया गया है कि "राष्ट्रपति को उसके कार्यों के सम्पादन में सहायता तथा सम्मति प्रदान करने के हेतु "एक प्रधान मन्त्री और एक मन्त्रि-परिषद् होगी।"[2] प्रधान मन्त्री की नियुक्ति राष्ट्रपति करेंगे। प्रधान मन्त्री प्रथम भवन अर्थात् लोकसभा के बहुमत दल में से अपने मन्त्रिमण्डल का निर्माण करेगा। समस्त मन्त्री राष्ट्रपति के प्रति विश्वासी रह कर ही अपने पद पर आसीन रह सकेंगे। समस्त मन्त्री सयुक्त रूप से लोक सभा के प्रति उत्तरदायी होंगे। यदि कोई मन्त्री ससद के किसी भवन का सदस्य नहीं है तो अपना प्रद ग्रहण करने के दिनाक से ६ मास के समय में उसे किसी एक भवन की सदस्यता प्राप्त कर लेनी चाहिए, यदि इसमें वह असफल सिद्ध होता है तो उसे अपना पद त्यागना पड़ेगा। मन्त्रियों का वेतन तथा भत्ता ससद द्वारा निश्चित किया जाएगा। प्रधान मन्त्री का यह कर्त्तव्य होगा सघ के कार्य तथा व्यवस्थापन के प्रस्तावों के सम्बन्ध में वह राष्ट्रपति को प्रत्येक प्रकार की सूचना देता रहे। राष्ट्रपति भी प्रधान मन्त्री से इस प्रकार की सूचना के सम्बन्ध में पूछ सकता है। यदि किसी एक विषय के सम्बन्ध में कोई मन्त्री

---

1. "It is the hyphen that joins the buckle, that binds the executive and legislative departments together"

—Bagehot.

2. धारा ७४

कुछ निर्णय कर लेता है और वह निर्णय मन्त्रि-परिषद् के सन्मुख विचारार्थ नहीं उपस्थित किया जाता तो राष्ट्रपति प्रधान मन्त्री द्वारा इस प्रकार के निर्णय को मन्त्रि-परिषद के सन्मुख उपस्थित करवा सकता है।

मन्त्रि-परिषद् के कार्य

भारतवर्ष मे प्रचलित सचिवतन्त्रात्मक सरकार के इस स्वरूप में वास्तव मे राष्ट्रपति मन्त्रिमण्डल को सहायता और सम्मति प्रदान करेगा क्योंकि मन्त्रिमण्डल एक ऐसा प्रधान साधन है जिसके द्वारा राष्ट्रपति के अधिकार प्रयोग में लाए जा सकते हैं तथा राष्ट्रपति की नीति निर्धारित की जा सकती तथा उसका अनुसरण किया जा सकता है। इस प्रकार यह स्पष्ट ही है कि मन्त्रि-परिषद् को अपने कधो पर महान उत्तरदायित्व का भार लेकर चलना होगा। इसके हाथो मे अधिकारों का अथाह सागर होगा।

इगलैंड की केबिनेट के सम्बन्ध में किसी ने यह उचित ही कहा है कि वर्त्तमान काल में केबिनेट पार्लियामेण्ट की सहायता तथा स्वीकृति से कानून-निर्माण करती है। व्यवस्थापक प्रस्तावों के सम्बन्ध मे केबिनेट पार्लियामेण्ट पर अपना अधिकार रखती है। समस्त प्रकार के विषयो से सम्बन्धित प्रस्तावों को मन्त्रीगण उपस्थित करते है, उनकी व्याख्या करके उन्हे स्पष्ट करते हैं और उन प्रस्तावो के पास करने की आवश्यकता और अनिवार्यता पर बल देते है। "इंगलैंड की पार्लियामेण्ट" जैसा कि ऑग और जिंक ने लिखा है, "आलोचना में दृढ परन्तु प्राथमिकता एवं मौलिकता मे अशक्त एवं निस्तेज है।" [1]

यही भारतवर्ष की मन्त्रि-परिषद् के सम्बध में भी कहा जा सकता है, क्योंकि यहाँ भी मन्त्रि-परिषद् ही नीति निर्धारित करेगी तथा समस्त विभागों के कार्य का संचालन करेगी। समस्त महत्त्वपूर्ण व्यवस्थापक प्रस्ताव इसीके द्वारा उपस्थित किए जाएँगे और यही उनको पास कराने का प्रयत्न करेगी। जो प्रस्ताव सरकार की ओर से उपस्थित नहीं किया जाएगा उसका जीवित रहना कठिन ही नहीं असम्भव होगा। आय प्रस्तावों को उपस्थित करने के लिए भी राष्ट्रपति की स्वीकृति की आवश्यकता होती है, इसलिए जितने भी आय प्रस्ताव उपस्थित होंगे अधिकतर इसी ओर से होंगे। इस प्रकार आय-व्यय का वार्षिक ब्योरा भी मन्त्रि-मण्डल ही तैयार करेगा। भारतवर्ष की विदेशी नीति का निर्धारण भी मन्त्रि-परिषद् द्वारा होगा। साराश यह कि हमारी शासन-प्रणाली मे मन्त्रि मण्डल प्रेरित तथा उत्साहित करने वाली शक्ति के समान होगा।

---

[1] "Parliament in England is strong in criticism but in initiative it is weak"
—Ogg and Zinc.

सँयुक्त उत्तरदायित्व

जैसा विधान के अन्तर्गत प्रस्तावित किया गया है मन्त्रि-परिषद् लोक सभा के प्रति सयुक्त रूप से उत्तरदायी होगा। यह सिद्धात प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था का, विशेप रूप से जहाँ इसका सचिवतन्त्रात्मक स्वरूप हो, मूल आधार होता है। 'संयुक्त उत्तर-दायित्व' का अर्थ यही लिया जाता है कि एक मन्त्री की पराजय समस्त मन्त्रिमण्डल की पराजय मानी जाती है। केबिनेट प्रणाली में मन्त्रियों के सगठन की भावना निहित होती है। अपनी नीति तथा कार्यों के विरुद्ध यह एक 'सयुक्त मोर्चा' बाँध कर कार्य करता है। सक्षेप में "सयुक्त उत्तरदायित्व" का तात्पर्य है कि यदि मन्त्रि मण्डल के एक मंत्री द्वारा कोई प्रस्ताव उपस्थित किया गया हो तो समस्त मन्त्रि मण्डल एक होकर उसका समर्थन करेगा भले ही अन्य मंत्री उस प्रस्ताव से सहमत न हों। जब मन्त्रि-मण्डल द्वारा कोई निर्णय दिया जाता है तो या तो उस निर्णय की रक्षा करने तथा उसका पक्ष ग्रहण करने के लिए मन्त्रिमण्डल को तत्पर रहना चाहिए अथवा उसे त्याग-पत्र देने को प्रस्तुत रहना चाहिए। इस प्रकार मन्त्रिमण्डल एक इकाई के रूप में डूबता-उतराता है। इस प्रणाली के अन्तर्गत कोई मन्त्री सरकार की नीति अथवा कार्यक्रम के विरुद्ध अपनी सम्मति प्रकट नहीं कर सकता, और मन्त्रि-मण्डल मे अपने सहयोगियों के साथ परामर्श करते हुए न वह किसी प्रकार का आश्वासन ही प्रदान कर सकता है। एक रीति अथवा प्रथा के रूप में यह लक्षित किया गया है कि मन्त्रि-मण्डल के समस्त सदस्य अपने सहयोगियों के कार्य अथवा पारस्परिक उत्तरदायित्व की रक्षा के हेतु एक आधार अथवा एक सुगठित एव दृढ मोर्चा स्थापित करते हैं,चाहे इस कार्य में कितना ही भय अथवा संकट क्यों न हो। अपने सहयोगियों से लॉर्ड मेलबोर्न ने एक बार कदाचित छिद्रान्वेषी के समान कहा था कि, "इस बात का कोई विशेप महत्त्व नहीं कि हम क्या कहते हैं, हमें कहनी चाहिए परन्तु हमें एक ही बात कहनी चाहिए।"[1]

सयुक्त उत्तरदायित्व के सिद्धांत का तात्पर्य यह कदापि नहीं कि कोई मन्त्री अपने पद का त्याग केवल इसीलिए नहीं करेगा कि उसने व्यक्तिगत रूप से कोई अप-राध कर दिया है। अथवा इसका यह अर्थ नहीं कि मन्त्रिमण्डल किसी निर्णय सम्बन्धी दोप, कुशासन अथवा किसी मन्त्री द्वारा किए गए इसी प्रकार के कार्य का पक्ष लेगा। यदि एक अथवा एक से अधिक मन्त्रीगण व्यभिचार के दोपी पाए जाते हैं तो उनके कारण पूर्ण मन्त्रिमण्डल हानि अथवा दण्ड का भागी नहीं हो सकता। इस प्रकार की परिस्थिति में उसी मन्त्री को पद त्यागना पडेगा न कि समस्त मन्त्रिमण्डल को। अविवेक और कुआचरण गम्भीर दोप माने गए हैं, और इन दोपों से दूपित मन्त्री को अपना पद त्यागना पडेगा।

---

[1] "It does not much matter what we say, we must say, but we must say the same thing"

—Lord Melbourne

प्रधान मन्त्री

भारतवर्ष का प्रधान मन्त्री इंगलैंड के प्रधान मन्त्री के पद का उत्कृष्टतम समरूप प्रदान करता है। भारतवर्ष की केबिनेट प्रणाली की सरकार के संतुलन मे भारतवर्ष का प्रधान मन्त्री यदि इंगलैंड के प्रधान मन्त्री से भारी नहीं बैठता तो कम से कम सम तो अवश्य रहता है। उसके सम्बन्ध मे प्रोफेसर के० टी० शाह ने लिखा है कि :—

"यह विधान प्रधान मन्त्री को एक प्रबल एव प्रभाव-युक्त तानाशाह बना देगा।"[1]

परन्तु इस शक्तिशाली अधिकारी की विचित्रता इंगलैंड के प्रधान मन्त्री के समान इसमें है जैसा कि एक बार ग्लेडस्टन ने लिखा था :

"इस व्यापक विश्व में कहो भी ऐसा नहीं होता कि इतने महान् सत्व एव वस्तु का प्रतिबिम्ब इतना तुच्छ एवं हीन हो, ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जिसके पास इतने अधिक अधिकार हों, और नाम मात्र की पदवी और अधिकार के रूप में उन अधिकारों के प्रदर्शन के लिए नहीं के बराबर हो।"[2]

यहाँ यह ध्यान मे रखना चाहिए कि भारतवर्ष के प्रधान मन्त्री और इंगलैंड के प्रधान मन्त्री मे यह समानताएँ होते हुए भी कुछ असमानताएँ भी हैं। इंगलैंड में प्रधान मन्त्री के पद का विकास हुआ है, भारतवर्ष मे इस पद का निर्माण किया गया है। हमारे विधान मे यह प्रस्तावित किया गया है कि "एक मन्त्रि-परिषद् की स्थापना होगी जिसका अध्यक्ष प्रधान मन्त्री होगा।" इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हमारे विधान के अन्तर्गत प्रधान मन्त्री को शासन प्रणाली में केवल एक क़ानूनी एव वैध स्तर ही प्रदान नहीं किया गया, बल्कि मन्त्रि-परिषद का अध्यक्ष कह कर इस पद के महत्त्व को और भी दिग्दर्शित कराया गया है।

नियुक्ति

विधान की धाराओ के अनुसार प्रधान मन्त्री की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होगी। प्रधान मन्त्री और मन्त्रिमण्डल को ससद् के प्रथम भवन के प्रति सयुक्त रूप से उत्तरदायी रहना है। इसलिए यह स्वाभाविक है कि राष्ट्रपति प्रधान मन्त्री के

---

1. "The constitution would make the Prime Minister a potential dictator. —Prof K T. Shah.

2. "Nowhere in the wide world does so great a substance cast so small a shadow, nowhere is there a man who has so much power with so little to show for it in the way of formal title or prerogative" —Gladstone.

पद को उस व्यक्ति को सौंपेगा जो अपने भवन अर्थात् लोक सभा में बहुमत दल का नेता होगा।

अधिकार और कर्त्तव्य

प्रधान मन्त्री के अधिकार और कार्यों की विवेचना निम्नलिखित रूप से की जा सकती है —

(१) मन्त्रि-परिषद् के जीवन-मरण के मूल के रूप में

अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति के सम्बन्ध मे प्रधान मन्त्री राष्ट्रपति को सम्मति प्रदान करेगा। सत्य तो यह है कि इस प्रकार वह अपने सहयोगियों को ही चुन लेगा। कानून के अनुसार मन्त्रियों में विभाग वितरण करने का अधिकार राष्ट्रपति का है, परन्तु व्यावहारिक रूप में प्रधान मन्त्री ही इस कार्य का सम्पादन करेगा। प्रधान मन्त्री के पद में ही मन्त्रिमण्डल का संयुक्त उत्तरदायित्व निहित होता है। यदि प्रधान मन्त्री त्याग पत्र दे देता है, अथवा यदि उसके विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास कर दिया जाता है, तो समस्त मन्त्रि मण्डल तिनकों के महल के समान समाप्त हो जाता है। इस प्रकार मन्त्रि-परिषद् के जीवन और मरण के मूल तत्व प्रधान मन्त्री के व्यक्तित्व में ही निहित होते हैं।

(२) व्यवस्थापक कार्य

राष्ट्रपति के सन्मुख प्रधान मन्त्री समस्त मन्त्रि मण्डल का प्रतिनिधित्व करेगा। संघ के शासन प्रबन्ध तथा व्यवस्थापक प्रस्तावों से सम्बन्धित मन्त्रि मण्डल के प्रत्येक निर्णय की सूचना राष्ट्रपति को देना प्रधान मन्त्री का ही कर्त्तव्य है। शासन प्रबन्ध और व्यवस्थापन के सम्बन्ध में राष्ट्रपति द्वारा माँगी गई सूचना को उस तक पहुँचाना भी प्रधान मन्त्री का ही कार्य है। यदि किसी विषय के सम्बन्ध में किसी मन्त्री ने कोई निर्णय दे दिया हो और यदि मन्त्रि-परिषद् में उस निर्णय पर विचार न हुआ हो तो राष्ट्रपति प्रधान मन्त्री द्वारा उस निर्णय को मन्त्रि-परिषद् के समक्ष उसके हेतु उपस्थित करवा सकता है।

(३) अन्य कार्य

इन कार्यों के अतिरिक्त प्रधान मन्त्री कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण कार्यों का सम्पादन भी करेगा। इन कार्यों का सम्बन्ध निम्नलिखित से होगा

(अ) विदेशी नीति, लोकसभा के विसर्जन और संकट कालीन अवस्था सम्बन्धी अधिकार के सम्बन्ध में

इँगलैंड तथा अन्य देशों के समान प्रधान मन्त्री विदेशी विभाग के सम्बन्ध में विशेष ध्यान से काम लेगा। इस तथ्य का दिग्दर्शन भारतवर्ष के प्रथम प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने विदेशी राजनीति में रुचि पूर्ण भाग लेकर किया है। लोक

सभा को विसर्जित करने का अधिकार कानूनी रूप से राष्ट्रपति को प्राप्त है, परन्तु सचिवतन्त्रात्मक सरकार की प्रथा के अनुसार व्यावहारिक रूप में यह अधिकार प्रधान मन्त्री को ही प्राप्त होगा। इसी प्रकार कानून के अन्तर्गत संकट कालीन अवस्था सम्बन्धी अधिकार पूर्णरूप से राष्ट्रपति को प्रदान किए गए हैं, परन्तु व्यावहारिक रूप में इनका प्रयोग भी प्रधान मन्त्री ही करेगा। इन अधिकारों के यथार्थ एवं वास्तविक प्रयोग के कारण ही हमारा प्रधान मन्त्री अपने प्रकार का एक ही होगा-कदाचित् विश्व के उन किन्हीं पदाधिकारियों से अधिक प्रभावयुक्त होगा जो प्रथम भवन में बहुमत प्राप्त कर राष्ट्र के भाग्य को अपनी अँगुली पर नचाया करते हैं।

(ब) प्रधान मन्त्री और संसद्

लोकसभा में प्रधान मन्त्री समस्त मन्त्रि मण्डल का प्रतिनिधित्व करता है। सरकार की नीति के सम्बन्ध में अधिकृत रूप से कुछ जानने के लिए जनता की आँखें प्रधान मन्त्री की ओर ही लगी रहती है। वह समस्त महत्त्वपूर्ण प्रस्तावों के सम्बन्ध में बोलता है और छिद्रान्वेषी परिस्थितियों में भाषण का भार तथा उत्तरदायित्व वह अपने पर ही ले लेता है। कुछ अत्यन्त महत्वपूर्ण व्यवस्थापक विषयों के सम्बन्ध में तो वह अपनी प्रतिष्ठा और पद को सकट मे डालकर अग्रसर होता है। सारांश यह है कि वह केवल मन्त्रि मण्डल का ही नेता नही होता वरन् भवन का नेता भी होता है। ससद का पुलपिट ही इस बात का निर्णायक होता है कि प्रधान मन्त्री और उसके सहयोगियों को हटा दिया जाए अथवा दुगुना विश्वास निहित कर उन्हें उनके पद पर फिर से प्रतिष्ठित किया जाए।

(स) प्रधान मन्त्री और उसके सहयोगी

मन्त्रि-परिषद् मे स्वयं उसकी स्थिति ही सर्वोच्च उत्तरदायित्व और आदेशकर्त्ता का निर्देशन करती है। अन्य मन्त्रियों को वह ज्यों का त्यों रहने देता है। उनकी योजनाओं और कार्यों के सम्बन्ध मे वह समान प्रभाव और निरीक्षण का प्रयोग करता है। मन्त्रि मण्डल की बैठकों में वह सभापति का पद ग्रहण करता है। वह अपने सहयोगियों के साथ परामर्श करता है—कभी उन्हें उत्साह प्रदान करता है, अध्यक्ष के नाते कभी उन पर शासन भी करता है, कभी उन्हे सम्मति प्रदान करता है और कभी उनका पथ प्रदर्शन भी करता है। वह अपने दल की समस्त आपत्तियों में भाग लेता है और एक वीर कर्णधार के समान वह अपनी राज्य रूपी नौका को खेता रहता है। यदि उसके सहयोगियों में कोई पारस्परिक मतभेद होता है तो वह उनके मभेतद को नष्ट करने की चेष्टा करता है। आवश्यकता पडने पर विभिन्न सम्मति वाले मन्त्रियों पर वह अपने विचार लाद सकता है। इस प्रकार की परिस्थितियों में मन्त्री अथवा मन्त्रियों को त्यागपत्र के अतिरिक्त अन्य कोई चारा नहीं। गुप्त रूप से मन्त्रीगण

कितने ही असहमत एवं असन्तुष्ट क्यों नहीं हों परन्तु बाह्य रूप से जनता के सन्मुख मंत्रि मंडल अविभाजित पूर्णता के रूप में ही उपस्थित होना चाहिए, और मंत्रि मंडल की सम्मति युक्त प्रधान मन्त्री द्वारा प्रस्तुत कार्यक्रम और नीति का समर्थन प्रत्येक मंत्री द्वारा होना चाहिए। अविवेक अथवा कुव्यवहार के आचरण में प्रधान मंत्री किसी भी मंत्री को त्यागपत्र उपस्थित करने के लिए विवश कर सकता है। इस प्रकार प्रधान मन्त्री अपने सहयोगियों में प्रथम अथवा प्रधान[1] पद का उपभोग करने वाला होगा, परन्तु कुछ ऐसी परिस्थितियाँ भी हैं जिनमें वह इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकता है—अर्थात् नक्षत्र मण्डल में चन्द्र के समान[2] हो सकता है—वह इस प्रकार की शक्ति का धारण करने वाला पदाधिकारी है कि तानाशाह भी बन सकता है यदि उसका व्यक्तित्व उसका साथ दे।

---

1 'Primus inter pares' (first among his equals.)

2 'Inter stellas lumo minores' (the moon among the lesser stars)

नवाँ अध्याय

सर्वोच्च न्यायालय

"वर्तमान काल में जबकि स्वतन्त्रता की अग्नि शिखा भाग्य के थपेड़ो से झिलमिला रही है, और अन्तर्देशीय अव्यवस्था और बाह्य सकट के कारण, सरकार देश की शान्ति को सुरक्षित रखने की आकाँक्षा से, प्रजा की स्वतन्त्रता पर आघात कर विधान के अन्तर्गत प्रतिपादित मौलिक अधिकारों के आश्वासन को भ्रष्ट एवं अपवित्र कर रही हैं, एक ऐसी संस्था का होना अत्यन्त ही उचित और आवश्यक है जो विधान की सीमा रूप हो, और जो उत्साह के साथ इस बात का ध्यान रखे कि कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका सभा का बहुमत दल कहीं अपने अधिकारों पर आरोपित प्रतिबन्धों का उल्लघन न करे। इसी प्रकार की संस्था का स्वरूप विधान द्वारा स्थापित सर्वोच्च न्यायालय का है।"[1]

—श्री एन. आर. राघवाचारी

व्यवस्थापन के नैयायिक निरीक्षण, विधान की व्याख्या, तथा अधिकारों से सम्बन्धित उठ खड़े हुए संघ और राज्यों, तथा स्वय राज्यों के झगड़ों का निर्णय करने के हेतु विधान द्वारा एक सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना की गई है। सघ प्रणाली पर आधारित राज्य में इस प्रकार की न्याय-व्यवस्था होना अत्यन्त आवश्यक है, विशेष रूप से केन्द्र और अन्य राज्यों के अधिकार क्षेत्र की सीमा को निश्चित करने के हेतु जिससे कि कोई एक दूसरे के क्षेत्र का अपहरण न करले।

---

1 "In these days when the flame of freedom is flickering in the winds of destiny and, in view of internal chaos and external menace, the Government in its anxiety to preserve the peace of the land sometimes trenches on the liberty of the subject violating the fundamental guarantees of the Constitution, it is but proper and necessary that there should be a body, which will be the bulwark of the Constitution and jealously guard against the executive or the legislative majority transgressing the limitations on their powers. It is this body that one finds in the Supreme Court established by the Constitution"

—Sri N R. Raghavachari.

सर्वोच्च न्यायालय का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है —

(१) संगठन की रूपरेखा

(अ) निर्माण

सर्वोच्च न्यायालय में एक प्रधान न्यायाधीश होगा तथा सात से अधिक अन्य न्यायाधीश न हो सकेंगे। संसद अपने एक कानून द्वारा इस संख्या मे वृद्धि कर सकती है। सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय के तथा राज्यों के हाईकोर्ट के न्यायाधीशों से परामर्श लेकर करेगा। प्रधान न्यायाधीश के अतिरिक्त अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति के समय राष्ट्रपति प्रधान न्यायाधीश से परामर्श लेगा।

(ब) न्यायाधीशो की योग्यताएँ

सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश पद के लिए किसी व्यक्ति को भारतवर्ष का नागरिक होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि (१) वह पाँच वर्ष तक किसी हाईकोर्ट का न्यायाधीश रह चुका हो, अथवा (२) दस वर्ष तक किसी हाईकोर्ट का एडवोकेट रह चुका हो, अथवा (३) जो राष्ट्रपति की सम्मति में एक प्रसिद्ध धर्मज्ञ हो।

(स) कार्यकाल

सामान्य रूप से एक न्यायाधीश ६५ वर्ष की आयु प्राप्त करने पर अवकाश ग्रहण करेगा। वह इसके पूर्व भी अपने पद से त्याग पत्र दे सकता है। इस प्रकार का त्याग पत्र राष्ट्रपति को देना होगा। इसके अतिरिक्त विधान के अन्तर्गत प्रतिपादित प्रणाली द्वारा उसे पदच्युत भी किया जा सकता है। किसी न्यायाधीश को उस समय तक उसके पद से पदच्युत नहीं किया जा सकेगा जब तक कि संसद के दोनों भवन अपने सदस्यों की कुल संख्या के बहुमत द्वारा तथा उपस्थित सदस्यों के $\frac{2}{3}$ बहुमत से एक प्रस्ताव पास कर राष्ट्रपति के पास न भेज दे। यह प्रस्ताव उसी अधिवेशन में भेजा जाना चाहिए, और इस प्रस्ताव के पास करने का कारण न्यायाधीश का कुव्यवहार अथवा उसकी अयोग्यता होना चाहिए। इसके पश्चात् राष्ट्रपति के आदेश से उसे पदच्युत किया जा सकेगा। इस सम्बन्ध में संसद को इस प्रकार के प्रस्ताव के उपस्थित करने की प्रणाली निश्चित करने तथा न्यायाधीश के कुव्यवहार तथा उसकी अयोग्यता के सम्बन्ध में छानबीन करने का अधिकार होगा। न्यायाधीशों को पदच्युत करने की यह विशेष विधि उनकी न्याय सम्बन्धी स्वतन्त्रता और निष्पक्षता को सुरक्षित रखने के हेतु प्रदान की गई है।

(द) वेतन, सुविधा तथा प्रतिबन्ध

प्रधान न्यायाधीश का मासिक वेतन ५०००) रुपए और अन्य न्यायाधीशों

का वेतन ४०००) रुपए मासिक निश्चित किया गया है। न्यायाधीशों की सुविधाएँ, भत्ते, छुट्टी और वृत्ति के उनके अधिकार संसद अपने एक कानून द्वारा निश्चित करेगी, परंतु एक न्यायाधीश की नियुक्ति के पश्चात् उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो सकेगा। यह धारा न्यायालय की स्वतंत्रता तथा निष्पक्षता को स्थाई बनाए रखने के हेतु प्रस्तुत की गई है। इसी लक्ष्य को दृष्टिगत रखते हुए सर्वोच्च न्यायालय का व्यय भारतवर्ष के संचित धन में से लिया जाएगा। इसके अतिरिक्त न्यायाधीशों के निवास के लिए उन्हे भवन प्रदान किए जाएँगे।

विधान के अंतर्गत यह निश्चित कर दिया गया है कि जो व्यक्ति सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश रह चुका होगा, वह भारतवर्ष की सीमा में स्थित किसी न्यायालय मे पैरवी के लिए नहीं जायगा।

(२) सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधिकार

सर्वोच्च न्यायालय तीन प्रकार के न्यायाधिकार का प्रयोग करेगा, जो निम्न प्रकार है :—

(१) मौलिक न्यायाधिकार[1]

इस अधिकार का प्रयोग सर्वोच्च न्यायालय इसी आधार पर करना है कि विभिन्न सरकारों को प्रदान किए गए कार्यक्षेत्रों को स्थित रखना इसी का कर्तव्य है, अर्थात् देश की संघीय व्यवस्था को स्थायी रखने का भार इसी पर है। इसलिए यह न्यायालय अपने इस मौलिक न्यायाधिकार का प्रयोग निम्नलिखित तीन स्थलो पर करता है :—

(अ) केन्द्रीय सरकार और एक अथवा एक से अधिक राज्य की सरकारो के मध्य उठ खडे हुए झगड़े के निर्णय के हेतु,

(ब) केन्द्रीय सरकार और एक राज्य तथा एक अथवा एक से अधिक राज्यों की सरकारों के मध्य उठ खड़े हुए झगडे के निर्णय के हेतु; और

(स) दो अथवा दो से अधिक राज्यों में उठ खड़े हुए झगडे के निर्णय के हेतु।

इन झगडों का स्वरूप इस प्रकार का होना चाहिए कि इन पर किसी दल के कानूनी अथवा वैध अधिकारों का प्रश्न निर्भर करता हो।

(२) अपील सम्बन्धी न्यायाधिकार[2]

अपील सम्बन्धी न्यायाधिकार का प्रयोग करते समय सर्वोच्च न्यायालय निम्नलिखित कार्यों का सम्पादन करेगा :—

---

1. Original Jurisdiction
2. Appellate Jurisdiction.

सर्वोच्च न्यायालय का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है —

(१) संगठन की रूपरेखा

(अ) निर्माण

सर्वोच्च न्यायालय मे एक प्रधान न्यायाधीश होगा तथा सात से अधिक अन्य न्यायाधीश न हो सकेंगे। संसद अपने एक कानून द्वारा इस संख्या में वृद्धि कर सकती है। सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय के तथा राज्यों के हाईकोर्ट के न्यायाधीशों से परामर्श लेकर करेगा। प्रधान न्यायाधीश के अतिरिक्त अन्य न्यायाधीशो की नियुक्ति के समय राष्ट्रपति प्रधान न्यायाधीश से परामर्श लेगा।

(ब) न्यायाधीशो की योग्यताएँ

सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश पद के लिए किसी व्यक्ति को भारतवर्ष का नागरिक होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि (१) वह पाँच वर्ष तक किसी हाईकोर्ट का न्यायाधीश रह चुका हो, अथवा (२) दस वर्ष तक किसी हाईकोर्ट का एडवोकेट रह चुका हो, अथवा (३) जो राष्ट्रपति की सम्मति में एक प्रसिद्ध धर्मज्ञ हो।

(स) कार्यकाल

सामान्य रूप से एक न्यायाधीश ६५ वर्ष की आयु प्राप्त करने पर अवकाश ग्रहण करेगा। वह इसके पूर्व भी अपने पद से त्याग पत्र दे सकता है। इस प्रकार का त्याग पत्र राष्ट्रपति को देना होगा। इसके अतिरिक्त विधान के अन्तर्गत प्रतिपादित प्रणाली द्वारा उसे पदस्थ भी किया जा सकता है। किसी न्यायाधीश को उस समय तक उसके पद से पदस्थ नहीं किया जा सकेगा जब तक कि संसद के दोनों भवन अपने सदस्यों की कुल संख्या के बहुमत द्वारा तथा उपस्थित सदस्यों के $\frac{2}{3}$ बहुमत से एक प्रस्ताव पास कर राष्ट्रपति के पास न भेज दे। यह प्रस्ताव उसी अधिवेशन में भेजा जाना चाहिए, और इस प्रस्ताव के पास करने का कारण न्यायाधीश का कुव्यवहार अथवा उसकी अयोग्यता होना चाहिए। इसके पश्चात् राष्ट्रपति के आदेश से उसे पदस्थ किया जा सकेगा। इस सम्बन्ध में संसद को इस प्रकार के प्रस्ताव के उपस्थित करने की प्रणाली निश्चित करने तथा न्यायाधीश के कुव्यवहार तथा उसकी अयोग्यता के सम्बन्ध मे छानबीन करने का अधिकार होगा। न्यायाधीशों को पदस्थ करने की यह विशेष विधि उनकी न्याय सम्बन्धी स्वतन्त्रता और निष्पक्षता को सुरक्षित रखने के हेतु प्रदान की गई है।

(द) वेतन, सुविधा तथा प्रतिबन्ध

प्रधान न्यायाधीश का मासिक वेतन ५०००) रुपए और अन्य न्यायाधीशों

किसी मुकदमे अथवा निर्णय—चाहे उसका स्वरूप कैसा भी हो—की अपील उसके सन्मुख रखी जा सकती है। इस सीमा से कोर्ट मार्शल वहिष्कृत कर दिए गए है। इस प्रकार भारतवर्ष के समस्त न्यायालयो के सम्बन्ध मे इस अधिकार का प्रयोग किया जा सकता है।

(३) सर्वोच्च न्यायालय के अन्य कार्य

इसके अतिरिक्त सर्वोच्च न्यायालय को कुछ अन्य कार्यों के सम्पादन का भार भी सौंपा गया है। वे कार्य निम्नलिखित है :—

(अ) मौलिक अधिकारो की रक्षा सम्बन्धी कार्य

विधान के अन्तर्गत भारतीय नागरिको को कुछ मौलिक अधिकार प्रदान किए गए है और सर्वोच्च न्यायालय का यह कर्तव्य है कि वह राज्य द्वारा अपहरण किए जाने से इन अधिकारों की रक्षा करे।

(ब) परामर्श सम्बन्धी कार्य

राष्ट्रपति कुछ विषयों के प्रति सर्वोच्च न्यायालय की सम्मति माँग सकता है, और सर्वोच्च न्यायालय का यह कर्तव्य होगा कि उन विषयो के सम्बन्ध में वह राष्ट्रपति की सम्मति प्रदान करे। राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय की सम्मति दो प्रकार के विषयों के सम्बन्ध में माँग सकता है . (१) राष्ट्रपति सार्वजनिक महत्त्व के किसी प्रश्न के प्रति सर्वोच्च न्यायालय की सम्मति माँग सकता है; और (२) देशी राज्योंके साथ हुई सन्धि अथवा समझौते के प्रति उठ खडे हुए किसी झगडे के प्रति वह सर्वोच्च न्यायालय की सम्मति माँग सकता है।

(स) विधान की रक्षा एव व्याख्या सम्बन्धी कार्य

सर्वोच्च न्यायालय को विधान की सुरक्षा का भी कार्य सौंपा गया है। उसका यह कर्तव्य है कि वह इस बात का ध्यान रखे कि संघीय अथवा राज्यों की व्यवस्थापिका सभा अथवा कार्यकारिणी कहीं विधान द्वारा निश्चित अपनी सीमा का उल्लघन तो नही कर रही। यदि किसी भी व्यवस्थापिका सभा का कानून विधान के मूल के विरुद्ध हो तो सर्वोच्च न्यायालय उसे अवैध घोषित कर सकता है। इसके अतिरिक्त झगड़ों का निर्णय करते समय, अथवा कानून और विधान की व्याख्या करते समय, सर्वोच्च न्यायालय अपने व्याख्या सम्बन्धी निर्णय की घोषणा कर सकता है, और इस प्रकार का निर्णय भारतवर्ष की सीमा में स्थित प्रत्येक न्यायालय पर लागू होगा।

(४) सर्वोच्च न्यायालय की कार्य प्रणाली

हमारे विधान के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय की कार्य प्रणाली से सम्बन्धित कुछ धाराएँ प्रस्तावित की गई है। यह निम्नलिखित विवेचन से स्पष्ट हो जायगा।

विशेष विषयों के सम्बन्ध मे उपस्थित रहने के लिए न्यायाधीशों की सख्या

(अ) निम्न न्यायालयों द्वारा ऐसे मुकदमों के निर्णय में किए गए दोषों को सुधारना जिसमें अन्य मुकदमों के अनुपात में अधिक महत्वपूर्ण हों, और

(ब) समान धर्म संहिताओं (कानून की पुस्तकों) का विकास।

हाई कोर्ट के सम्बन्ध में भी यह न्यायालय तीन प्रकार से इस न्यायाधिकार का प्रयोग करेगा :—

(अ) दीवानी के मुकदमों में जिनमें सम्पत्ति का मूल्य अथवा धन २०,००० रुपये से कम न हो। हाई कोर्ट द्वारा यह प्रमाणित कराना होगा। अन्य मुकदमों के सम्बन्ध में यदि हाई कोर्ट यह प्रमाणित करे कि इस मुकदमे की अपील सर्वोच्च-न्यायालय में हो सकती है तो सर्वोच्च न्यायालय इस प्रकार की अपील को सुनेगा।

(ब) फौजदारी मुकदमों में जब किसी निम्न न्यायालय ने किसी व्यक्ति को निरपराध घोषित कर दिया हो, परन्तु हाई कोर्ट ने उसे मृत्यु दण्ड प्रदान किया हो तो इस प्रकार की अपील सर्वोच्च न्यायालय में की जा सकती है। फौजदारी के इस प्रकार के मुकदमों में भी सर्वोच्च न्यायालय से अपील की जा सकती है जब कि किसी हाई कोर्ट ने अपने से निम्न न्यायालय से कोई मुकदमा लौटाकर अपराधी को मृत्यु दण्ड प्रदान किया हो। अन्य फौजदारी मुकदमों की अपील भी सर्वोच्च न्यायालय में की जा सकती है यदि हाई कोर्ट यह प्रमाणित करे कि वह मुकदमा इस योग्य है कि उसकी अपील सर्वोच्च न्यायालय से की जा सके। संसद अपने एक कानून द्वारा सर्वोच्च न्यायालय को यह अधिकार प्रदान कर सकती है कि वह अन्य प्रकार के फौजदारी मुकदमों की अपील भी ग्रहण करे।

(स) मुकदमे का स्वरूप दीवानी हो या फौजदारी, हाई कोर्ट के निर्णय के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय में अपील की जा सकेगी यदि उस मुकदमे में कानून का कोई गम्भीर प्रश्न निहित हो जिसमे विधान की व्याख्या करनी पडे। इस प्रकार की अपील के लिए भी हाई कोर्ट का प्रमाणित करना आवश्यक है। यदि हाई कोर्ट इस प्रकार का प्रमाण प्रत्र देने से मना कर दे, तो स्वयं सर्वोच्च न्यायालय इस प्रकार की अपील की आज्ञा प्रदान कर सकता है।

(३) पुनर्विचार सम्बन्धी न्यायाधिकार [1]

सर्वोच्च न्यायालय जितना व्यापक सम्भव हो सके, उतना पुनर्विचार सम्बन्धी न्यायाधिकार का प्रयोग कर सकता हो। [2] सर्वोच्च न्यायालय अपने विवेकाधिकार के अन्तर्गत इस बात की आज्ञा प्रदान कर सकता है कि भारतवर्ष के किसी न्यायालय के

---

[1] Revisory Jurisdiction

[2] धारा १३६

किसी मुकदमे अथवा निर्णय—चाहे उसका स्वरूप कैसा भी हो—की अपील उसके सन्मुख रखी जा सकती है। इस सीमा से कोर्ट मार्शल बहिष्कृत कर दिए गए हैं। इस प्रकार भारतवर्ष के समस्त न्यायालयों के सम्बन्ध में इस अधिकार का प्रयोग किया जा सकता है।

(३) सर्वोच्च न्यायालय के अन्य कार्य

इसके अतिरिक्त सर्वोच्च न्यायालय को कुछ अन्य कार्यों के सम्पादन का भार भी सौंपा गया है। वे कार्य निम्नलिखित हैं :—

(अ) मौलिक अधिकारों की रक्षा सम्बन्धी कार्य

विधान के अन्तर्गत भारतीय नागरिकों को कुछ मौलिक अधिकार प्रदान किए गए हैं और सर्वोच्च न्यायालय का यह कर्तव्य है कि वह राज्य द्वारा अपहरण किए जाने से इन अधिकारों की रक्षा करे।

(ब) परामर्श सम्बन्धी कार्य

राष्ट्रपति कुछ विषयों के प्रति सर्वोच्च न्यायालय की सम्मति माँग सकता है, और सर्वोच्च न्यायालय का यह कर्तव्य होगा कि उन विषयों के सम्बन्ध में वह राष्ट्रपति की सम्मति प्रदान करे। राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय की सम्मति दो प्रकार के विषयों के सम्बन्ध में माँग सकता है. (१) राष्ट्रपति सार्वजनिक महत्त्व के किसी प्रश्न के प्रति सर्वोच्च न्यायालय की सम्मति माँग सकता है; और (२) देशी राज्योके साथ हुई सन्धि अथवा समझौते के प्रति उठ खडे हुए किसी झगडे के प्रति वह सर्वोच्च न्यायालय की सम्मति माँग सकता है।

(स) विधान की रक्षा एव व्याख्या सम्बन्धी कार्य

सर्वोच्च न्यायालय को विधान की सुरक्षा का भी कार्य सौंपा गया है। उसका यह कर्तव्य है कि वह इस बात का ध्यान रखे कि संघीय अथवा राज्यो की व्यवस्थापिका सभा अथवा कार्यकारिणी कहीं विधान द्वारा निश्चित अपनी सीमा का उल्लंघन तो नही कर रही। यदि किसी भी व्यवस्थापिका सभा का कानून विधान के मूल के विरुद्ध हो तो सर्वोच्च न्यायालय उसे अवैध घोषित कर सकता है। इसके अतिरिक्त झगडों का निर्णय करते समय, अथवा कानून और विधान की व्याख्या करते समय, सर्वोच्च न्यायालय अपने व्याख्या सम्बन्धी निर्णय की घोषणा कर सकता है, और इस प्रकार का निर्णय भारतवर्ष की सीमा में स्थित प्रत्येक न्यायालय पर लागू होगा।

(४) सर्वोच्च न्यायालय की कार्य प्रणाली

हमारे विधान के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय की कार्य प्रणाली से सम्बन्धित कुछ धाराएँ प्रस्तावित की गई है। यह निम्नलिखित विवेचन से स्पष्ट हो जायगा।

विशेष विषयों के सम्बन्ध में उपस्थित रहने के लिए न्यायाधीशों की सख्या

निश्चित करदी गई है। कानून से सम्बन्धित किसी महत्त्वपूर्ण प्रश्न अथवा विधान की व्याख्या और राष्ट्रपति द्वारा भेजे गए किसी प्रश्न के सम्बन्ध में जिस पर राष्ट्रपति ने सर्वोच्च न्यायालय की सम्मति मॉगी हो, उपस्थित रहने वाले न्यायाधीशों की सख्या कम से कम पॉच होनी चाहिए। अन्य कार्यों के सम्बन्ध मे न्यायाधीशो की सख्या सर्वोच्च न्यायालय द्वारा निर्मित नियमों के अन्तर्गत निश्चित की जाएगी।

यदि किसी विशेष अवसर पर यह निर्दिष्ट सख्या पूर्ण नही हो पाती तो प्रधान न्यायाधीश राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति के साथ कुछ अस्थायी न्यायाधीशो की नियुक्ति कर सकेगा। इन अस्थायी न्यायाधीशों की नियुक्ति हाई कोर्ट के उन न्यायाधीशों में से की जाएगी जो सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश बनने के योग्य होंगे। अस्थायी न्यायाधीशो के अतिरिक्त, जिनकी नियुक्ति केवल निर्दिष्ट सख्या को पूरा करने के लिए होती है, सर्वोच्च न्यायालय की बैठक के अवसर पर अवकाश प्राप्त न्यायाधीशों की उपस्थित की भी व्यवस्था की गई है।

सर्वोच्च न्यायालय की कार्य प्रणाली के सम्बन्ध में सर्वोच्च न्यायालय राष्ट्रपति की स्वीकृति के साथ नियम बना सकता है। इसके समस्त निर्णय और सम्मतियॉ स्पष्ट रूप से न्यायालय में प्रदान की जाएँगी, इस प्रकार के निर्णय अथवा सम्मति न्यायाधीशों के बहुमत से ही घोषित की जाएँगी, यद्यपि इनसे असहमत होने वाला न्यायाधीश अपना मत पृथक रूप से प्रकट कर सकता है। सर्वोच्च न्यायालय के समस्त आदेश और डिग्री समस्त भारतवर्ष में लागू हो सकेंगे और यह न्यायालय किसी व्यक्ति को उपस्थित होने अथवा कोई लेख उपस्थित करने की आज्ञा प्रदान कर सकता है। सर्वोच्च न्यायालय के अनादर के लिए वह दण्ड भी प्रदान कर सकता है। भारतवर्ष के शासन तथा न्याय व्यवस्था से सम्बन्धित समस्त पदाधिकारी सर्वोच्च न्यायालय के कार्य में सहायता प्रदान करेंगे।

आलोचनात्मक निरीक्षण

सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधिकार क्षेत्र अथवा अन्य कार्यों की विवेचना से भारतवर्ष के एटोरनी जनरल (Attorney General) श्री एम सी सिटालवेड के निम्नलिखित कथन की पुष्टि होती है .

"इस न्यायालय के न्यायक्षेत्र और अधिकार कॉमनवैल्थ के किसी देश के सर्वोच्च न्यायालय अथवा सयुक्त राज्य (अमरीका) के सर्वोच्च न्यायालय द्वारा प्रयोग किए जाने अधिकारों से कहीं अधिक व्यापक है।" [1]

---

1 "The jurisdiction and powers of the court are wider than those exercised by the highest court of any country in the Commonwealth or by the Supreme Court of the United States"

—From Mr M C Setalvad's inaugural address of January 28, 1950.

हमारे सर्वोच्च न्यायालय के परामर्श सम्बन्धी कार्यों की युक्ति पूर्ण एवं बुद्धि सगत आलोचना की गई है। हमारे सर्वोच्च न्यायालय के इस कार्य की कोई विशेष आवश्यकता इसलिए नहीं थी क्योंकि समस्त कानूनी विषयों मे सरकार को सम्मति प्रदान करने के लिए एक एटोरनी जनरल रहता है, जिसकी योग्यताएँ वही हैं जो सर्वोच्च न्यायालय के एक न्यायाधीश के लिए नियत की गई है।

सर्वोच्च न्यायालय का यह परामर्श का कार्य सर्वोच्च न्यायालय को उसके उस स्थान से नीचे की ओर ढकेल देगा, जो स्थान उसे अपील के न्यायालय और राज्यों के झगड़ों का निर्णय करने वाले के रूप में प्राप्त हुआ है। जब किसी विषय के सम्बन्ध मे सर्वोच्च न्यायालय राष्ट्रपति को सम्मति प्रदान कर देगा, तब यदि वही विषय उसके सन्मुख फिर से आएगा, तो नि सन्देह सर्वोच्च न्यायालय की स्थिति अत्यन्त व्यग्रता-पूर्ण हो जाएगी। इस प्रकार की परिस्थिति से उत्पन्न होने वाली अन्य परिस्थितियों का दिग्दर्शन कराते हुए श्री एन. आर. राघवाचारी ने लिखा है कि :

"क्या न्यायालय अब भी स्वय को उसी मत से बाध्य समझेगा जो उसने दूसरे दल की तर्कों को सुने बिना राष्ट्रपति के सन्मुख प्रकट कर दिया था ? अथवा क्या पूर्व समय में प्रदान किए गए परामर्श से प्रभावित हुए बिना इस दल के तर्क को सुन सकेगा ? क्या उस दल की यह शंका विवेक पूर्ण एव न्याय सगत नहीं होगी कि उसे इस प्रकार के न्यायालय के सन्मुख अपना दृष्टिकोण प्रकट करने का निष्पक्ष अवसर प्राप्त नहीं हो रहा ? तब क्या यही उत्तम नहीं होता कि विधान में इस प्रकार की किसी धारा को स्थान ही प्रदान न किया जाता ?

दसवाँ अध्याय

राज्य की व्यवस्थापिका सभाएँ

"राज्य के व्यवस्थापन के सम्बन्ध में राष्ट्रपति को निरीक्षण और अस्वीकृत करने के अधिकार प्रदान किए गए हैं, समस्त सघ की समान नीति के हित में, अथवा जब वह किसी प्रस्ताव के सम्बन्ध में यह विचार करे कि उससे जनता के अधिकारों और स्वतत्रता का उस सीमा तक अपहरण हो रहा है जिस सीमा तक समस्त परिस्थितियों में न्याय्य नहीं है, तब वह कभी भी इस अधिकार के प्रयोग को आवश्यक समझ सकता है। यद्यपि यह अधिकार निरकुश प्रतीत होता है, यह स्मरण रखना चाहिए कि इस प्रकार के विषयों के सम्बन्ध में राष्ट्रपति अपने मन्त्रियों की सम्मति से कार्य करता है, और उससे यही आशा भी की जाती है। यह अत्यन्त ही अनुचित प्रतीत होगा कि इस प्रकार के महत्वपूर्ण विषय के सम्बन्ध में कि राज्य की व्यवस्थापिका सभा को स्वय का मार्ग ग्रहण करने से वचित कर दिया जाए, वह अपने मन्त्रियों की उत्तरदायी सम्मति बिना कुछ कार्य करने का साहस करेगा।"[1]

—श्री एन आर राघवाचारी

नवीन विधान के अनुसार भारतीय सघ की इकाइयाँ चार शीर्षकों के अन्तर्गत विभाजित की गई हैं भाग 'अ' और 'ब' और भाग 'स' और 'द'। भाग 'अ' में वह

---

1. "President is given a supervisory and overriding power over State legislation whenever he thinks it necessary to exercise it in the interest of the general policy of the Union as a whole, or when he considers the Bill as encroaching upon the rights or liberties of the subject to an extent and in a degree not justified in all the circumstances Though the power appears to be absolute, it should be remembered that the president acts, and is expected to act in such matters only on the advice of the Cabinet, and it will be extremely unlikely that in such an important matter as preventing the State legislature to have its own way he will venture on the action without the responsible advice of his Ministers —Sri N R Raghavachari

राज्य हैं, जो पूर्व समय में गवर्नरों के प्रांत कहलाते थे और अब भी जिनमे राज्य का अध्यक्ष राज्यपाल (गवर्नर) ही होगा। भाग 'ब' में वे राज्य सम्मिलित किए गए हैं जो पूर्व समय में देशी राज्य के नाम से प्रसिद्ध थे। अब क्योंकि यह राज्य भी संघ मे सम्मलित हो गए हैं इनमें शासन का अध्यक्ष राजप्रमुख होगा। जो राज्य भाग 'अ' और 'ब' में उद्धृत हैं उन्हे उनके स्वतंत्र होने के कारण एक ही तथा समान शीर्षक के अन्तर्गत रखा जा सकता है। भाग 'स' और 'द' मे वे क्षेत्र अथवा राज्य हैं जिनका शासन प्रबन्ध राष्ट्रपति चीफ कमिश्नर अथवा उपराज्यपाल (Lieutenant Governor) द्वारा करेंगे। इनकी नियुक्ति भी राष्ट्रपति द्वारा ही होगी। भाग 'स' और 'द' में उल्लिखित राज्य केन्द्र द्वारा शासित होते हैं, इस कारण उन्हे "केन्द्र द्वारा शासित राज्य" के शीर्षक के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं।

अब राज्य की व्यवस्थापिका सभा का विवेचन निम्नलिखित दो शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है।

(१) स्वतन्त्र राज्य; और

(२) केन्द्र द्वारा शासित राज्य।

(१) स्वतन्त्र राज्य

प्रत्येक स्वतन्त्र राज्य की व्यवस्थापिका सभा में राज्यपाल अथवा राजप्रमुख और एक अथवा दो भवन होंगे। केवल मदरास, बम्बई, बिहार, पंजाब, उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बंगाल में दो भवन होंगे। दूसरे शब्दों में इन राज्यों में द्विआगारिक व्यवस्थापिका सभा होगी। यह सब राज्य भाग 'अ' में सम्मिलित हैं। भाग 'ब' में उल्लिखित राज्यों मे से केवल मैसूर की व्यवस्थापिका सभा मे दो भवन होंगे, अन्य राज्यों में एकागारिक व्यवस्थापिका सभा होगी। जहाँ दो भवन है वहाँ द्वितीय भवन का नाम व्यवस्थापक परिषद् (Legislative Council) होगा। जहाँ केवल एक भवन है वहाँ तथा दो भवन है वहाँ के प्रथम भवन का नाम व्यवस्थापक समिति (Legislative Assembly) होगा। इस सम्बन्ध में राज्यों में द्वितीय भवन के जन्म और समाप्ति से सम्बन्धित प्रणाली विधान में प्रस्तुत की गई है। यदि किसी राज्य की व्यवस्थापक समिति उपस्थित सदस्यों के $\frac{2}{3}$ बहुमत से द्वितीय भवन के जन्म अथवा समाप्ति से सम्बन्धित प्रस्ताव पास करके संसद के पास भेज दे, तो संसद इस प्रस्ताव के अनुसार कार्य कर सकती है, और इस प्रकार के क़ानून निर्माण के लिए संसद में सामान्य बहुमत यथेष्ट होगा।

सदस्यता सम्बन्धी योग्यताएँ, अयोग्यताएँ, आदि

किसी राज्य की व्यवस्थापिका सभा की सदस्यता के लिए यह आवश्यक है कि वह व्यक्ति (१) भारतवर्ष का नागरिक हो; (२) व्यवस्थापक समिति के सम्बन्ध

मे उसकी आयु २५ वर्ष से कम तथा व्यवस्थापक परिषद् के सम्बन्ध मे उसकी आयु ३० वर्ष से कम न हो, और (३) संसद के किसी क़ानून द्वारा निर्धारित अन्य योग्यताएँ भी रखता हो। इसके विपरीत इस प्रकार का कोई व्यक्ति किसी राज्य की व्यवस्थापिका सभा की सदस्यता ग्रहण नहीं कर सकता जो (१) भारत सरकार अथवा किसी राज्य की सरकार के अन्तर्गत ऐसा पद प्राप्त न किए हुए हो जो उसे लाभ प्रदान करने वाला हो, (२) पागल हो तथा किसी अधिकृत न्यायालय ने यह घोषित भी कर दिया हो, (३) दिवालिया हो, (४) भारतवर्ष का नागरिक न हो, अथवा जिसने स्वेच्छा से किसी अन्य देश की नागरिकता ग्रहण कर ली हो अथवा जो किसी अन्य देश से सन्धि किए हुए हो, अथवा (५) संसद द्वारा निर्मित किसी कानून के अन्तर्गत वह अयोग्य सिद्ध हो जाए। यहाँ यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि भारत सरकार अथवा किसी राज्य की सरकार में मन्त्री का पद ग्रहण करना उन सरकारों के अन्तर्गत लाभ प्रदान करने वाला पद न समझा जाएगा। कोई व्यक्ति एक साथ ही किसी राज्य की व्यवस्थापिका सभा के दोनों भवनों का सदस्य नहीं हो सकेगा। व्यवस्थापिका सभा इस सम्बन्ध में कुछ क़ानूनों का निर्माण करेगी कि इस प्रकार की परिस्थिति में किसी एक भवन का स्थान रिक्त कर दिया जाए। इसी प्रकार कोई व्यक्ति एक साथ ही दो अथवा दो से अधिक व्यवस्थापिका सभाओं का सदस्य नहीं हो सकेगा, ऐसी परिस्थिति में एक व्यवस्थापिका सभा में से स्थान रिक्त करने के सम्बन्ध में राष्ट्रपति कोई प्रणाली निश्चित करेंगे। किसी सदस्य का पद उस समय भी रिक्त हो जाएगा जिस समय वह स्वयं अध्यक्ष (Speaker) अथवा सभापति को अपना त्याग पत्र दे देगा। यदि कोई सदस्य लगातार ६० दिन तक भवन की समस्त बैठकों से बिना किसी सूचना के अनुपस्थित रहता है तो उस सदस्य का स्थान रिक्त घोषित कर दिया जाता है। इसके अतिरिक्त यदि कोई सदस्य चुने जाने के सम्बन्ध में अयोग्य सिद्ध हो जाता है तो उसका स्थान भी रिक्त हो जाएगा। यदि किसी व्यक्ति की सदस्यता के सम्बन्ध में अयोग्यता का प्रश्न उठता है तो निर्वाचन समिति की सम्मति द्वारा प्रदान किया गया राज्यपाल का निर्णय मान्य होगा। हर परिस्थिति में राज्य की व्यवस्थापिका सभा के प्रत्येक सदस्य को अपना स्थान ग्रहण करने से पूर्व राज्यपाल अथवा राजप्रमुख अथवा उनके द्वारा नियुक्त किए गए किसी अन्य व्यक्ति के सम्मुख विधान के अन्तर्गत प्रस्तावित शपथ ग्रहण करनी पड़ती है। यदि कोई सदस्य किसी राज्य की व्यवस्थापिका सभा में बिना शपथ ग्रहण किए बैठ जाए, अथवा वह इसके योग्य न हो, अथवा जिसकी सदस्यता को रद्द कर दिया गया हो, तो इस प्रकार बैठने वाले व्यक्ति पर पाँच सौ रुपया प्रतिदिन की गणना से जुर्माना किया जायगा। किसी राज्य की व्यवस्थापिका सभा के दोनों भवनों के सदस्यों का वेतन उस राज्य की व्यवस्थापिका सभा अपने क़ानून द्वारा समय-समय पर निश्चित किया करेगी। इस सम्बन्ध में जब तक कोई क़ानून नहीं बन जाता, इन सदस्यों को वही वेतन तथा भत्ता मिलेगा

जो इस विधान के लागू होने से पूर्व प्रान्त की व्यवस्थापक समिति के सदस्यों को दिया जाता था।

सदस्यो के अधिकार तथा सुविधाएँ

प्रत्येक राज्य की व्यवस्थापिका सभा मे भाषण की स्वतन्त्रता प्रदान की गई है जो व्यवस्थापिका सभा के स्थायी नियमो और आदेशों के आधीन होगी। किसी राज्य की व्यवस्थापिका सभा में कुछ भाषण तथा मत देने के सम्बन्ध में सभा के किसी सदस्य को न्यायलय के सम्मुख उपस्थित नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार किसी भवन द्वारा प्रदान किए गए आदेश से यदि कोई व्यक्ति कुछ प्रकाशन करवाता है तो उसे उन प्रकाशनों के उत्तरदायित्व के हेतु किसी न्यायालय में उपस्थित नहीं किया जा सकता। अन्य विषयों के सम्बन्ध में किसी राज्य की व्यवस्थापिका सभा के किसी भवन के अधिकार और सुविधाएँ तथा इस प्रकार की व्यवस्थापिका सभा के सदस्यों और समितियों के अधिकार और सुविधाएँ ब्रिटिश पार्लियामेण्ट की लोक सभा (House of Commons) और उसके सदस्यों और समितियों के अधिकार और सुविधाओं के समान होंगे। विधान में यह प्रस्तावित किया गया है कि हाईकोर्ट अथवा सर्वोच्च न्यायालय के न्यायधीशों के आचरण के सम्बन्ध में किसी राज्य की व्यवस्थापिका सभा में कोई वाद-विवाद नहीं हो सकेगा। यह भी उसी समय सम्भव है जब यह न्यायाधीश सरकारी रूप से कार्य कर रहे हों।

व्यवस्थापक समिति का निर्माण और अवधि

किसी राज्य की व्यवस्थापक समिति में अधिक से अधिक पाँच सौ और कम से कम ६० सदस्य हो सकते हैं। इन सदस्यों का निर्वाचन प्रत्यक्ष रूप से वयस्क मताधिकार के सिद्धान्त के आधार पर होगा। २१ वर्ष तथा इससे अधिक आयु वाला व्यक्ति मतदान कर सकता है यदि वह यहाँ का नागरिक हो, पागल न हो, दिवालिया न हो, किसी अभियोग अथवा क़ानून विरुद्ध व्यवहार के कारण दण्डित न हुआ हो। आसाम के स्वतन्त्र ज़िलों और शिलॉग की छावनी और म्युनिसिपैलिटी के अतिरिक्त प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र में प्रतिनिधित्व का अनुपात ७५००० जनता के लिए एक प्रतिनिधि होगा। इस जनता की गणना का आधार यह अन्तिम गणना होगी। सदस्य और जनता की संख्या में जहाँ तक सम्भव हो सके राज्य भर में एक ही अनुपात होना चाहिए, और अनेक निर्वाचन क्षेत्रो मे से प्रत्येक का प्रतिनिधित्व जन गणना के आधार पर फिर से व्यवस्थित की जाएगी। इस विधान के लागू होने के दिनांक से दस वर्ष तक के लिए व्यवस्थापक समिति मे निम्नलिखित के सम्बन्ध मे कुछ सीटें सुरक्षित कर दी गई हैं—(१) दलितवर्ग; (२) जनता के अनुपात के आधार पर आसाम के पिछड़े हुए वर्गों के अतिरिक्त अन्य पिछड़े हुए वर्ग; (३) जनता के अनुपात के

आधार पर आसाम के स्वतन्त्र ज़िलों में से कुछ ज़िले (सदस्यता के निर्वाचन के योग्यता के सम्बन्ध में वह व्यक्ति स्वतन्त्र ज़िले के पिछड़े हुए वर्ग का सदस्य होना चाहिए)। यदि राज्यपाल अथवा राजप्रमुख को यह प्रतीत हो कि व्यवस्थापक समिति में ऐंग्लो-इण्डियन जाति को पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं हुआ है तो वह इस विधान के लागू होने के दिनांक से दस वर्ष तक के लिए ऐंग्लो-इण्डियन जाति के कुछ प्रतिनिधियों की नियुक्ति कर सकता है। इस प्रकार निर्वाचित व्यवस्थापक समिति अपने में से दो सदस्यों का निर्वाचन करेगी जो अध्यक्ष (Speaker) और उपाध्यक्ष (Deputy Speaker) कहलाएंगे। यदि इस समिति को अवधि से पूर्व विसर्जित नहीं कर दिया गया तो पाँच वर्ष की पूरी अवधि समाप्त होने पर वह स्वयं विसर्जित हो जायगी। संकट कालीन अवस्था अथवा असाधारण परिस्थिति की घोषणा के समय में व्यवस्थापक समिति की अवधि एक बार में एक वर्ष के रूप में संसद के एक कानून द्वारा बढ़ाई जा सकती है। परन्तु इस प्रकार की घोषणा की समाप्ति के पश्चात् ६ मास के समय में यह अवश्य विसर्जित हो जानी चाहिए।

व्यवस्थापक परिषद् का निर्माण और अवधि

राज्य की व्यवस्थापक परिषद् एक स्थायी संस्था होगी। इसके एक तिहाई सदस्य प्रति दूसरे वर्ष अवकाश ग्रहण कर लिया करेंगे। किसी राज्य की व्यवस्थापक परिषद् के सदस्यों की संख्या उसकी व्यवस्थापक समिति के सदस्यों की संख्या के $\frac{१}{४}$ भाग से अधिक और चालीस से कम न हो सकेगी। व्यवस्थापक परिषद् के कुल सदस्यों की संख्या का वितरण इस प्रकार से होगा —(१) इसके $\frac{१}{३}$ सदस्य अविभक्त हस्तान्तरित मत के आधार पर अनुरूप प्रतिनिधित्व की प्रणाली द्वारा विभिन्न निर्वाचन क्षेत्रों से निर्वाचित किए जाएँगे, इस सम्बन्ध में निर्वाचक होंगे म्युनिसिपैलिटी, जिला बोर्ड आदि स्थानीय संस्थाओं के सदस्य तथा अन्य ऐसे सदस्य जो संसद ने एक कानून द्वारा निश्चित किए हो, (२) इसके $\frac{१}{१२}$ सदस्य अविभक्त हस्तान्तरित मत के आधार पर अनुरूप प्रतिनिधित्व की प्रणाली द्वारा विभिन्न निर्वाचन-क्षेत्रों से निर्वाचित किए जाएँगे, इस सम्बन्ध में निर्वाचक गण होंगे वे व्यक्ति जिन्हें भारतवर्ष के किसी विश्वविद्यालय के स्नातक (बी ए) का प्रमाण पत्र मिले तीन वर्ष से अधिक हो गए हों, अथवा वे व्यक्ति जिनके पास कुछ ऐसी योग्यता हो जो संसद के एक कानून द्वारा स्नातक के समान निश्चित कर दी गई हो—यहाँ भी तीन वर्ष की अवधि अनिवार्य है, (३) इसके $\frac{१}{१२}$ सदस्य अविभक्त हस्तान्तरित मत के आधार पर अनुरूप प्रतिनिधित्व की प्रणाली द्वारा विभिन्न निर्वाचन क्षेत्रों से निर्वाचित किए जाएँगे। इस सम्बन्ध में निर्वाचक गण होंगे वे व्यक्ति जो तीन वर्ष तक किसी ऐसी शैक्षिक संस्था में अध्यापन का कार्य सम्पादन कर चुके हों जिसका स्तर एक सहकारी पाठशाला (Secondary School) से निम्न न हो; (४) इसके $\frac{१}{३}$ सदस्य अविभक्त हस्तान्तरित

मत के आधार पर अनुरूप प्रतिनिधित्व की प्रणाली द्वारा विभिन्न निर्वाचन-क्षेत्रों से निर्वाचित किए जाएँगे; इस सम्बन्ध मे व्यवस्थापक समिति के सदस्य उन व्यक्तियों में से इनका निर्वाचन करेंगे जो व्यवस्थापक समिति के सदस्य न होंगे; और (५) इसके शेष सदस्य (लगभग $\frac{1}{6}$) राज्यपाल अथवा राजप्रमुख नियुक्त करेंगे; नियुक्त किए जाने वाले व्यक्ति वे होंगे जो साहित्य, विज्ञान, कला, सहकारी आन्दोलन और समाज सेवा सम्बन्धी विशेष ज्ञान और व्यावहारिक अनुभव रखते हों। इस प्रकार निर्मित व्यवस्थापक परिषद् अपने में से दो सदस्यों का निर्वाचन करेगी जो सभापति (Chairman) और उप-सभापति (Deputy Chairman) कहलाएगे।

कार्य-प्रणाली

राज्य की व्यवस्थापिका सभा का भवन अथवा दोनों भवन एक वर्ष मे कम से कम दो वार अवश्य सम्मिलित होंगे और प्रथम अधिवेशन की अन्तिम बैठक और आगामी अधिवेशन की प्रथम बैठक के मध्य का समय ६ मास से अधिक नहीं होना चाहिए। राज्यपाल अथवा राजप्रमुख भी समय-समय पर भवन अथवा भवनों को आमन्त्रित तथा उनकी बैठक को स्थगित कर सकता है, इसके अतिरिक्त वह व्यवस्थापक समिति को विसर्जित भी कर सकता है। किसी राज्य की व्यवस्थापिका सभा के किसी भवन मे उपस्थित सदस्य अपने बहुमत द्वारा प्रत्येक प्रश्न का निर्णय करेंगे। अध्यक्ष अथवा सभापति को मतदान का अधिकार नहीं होगा, परन्तु दोनों पक्षों में समान मत होने पर वह निजीमत अथवा निर्णयात्मक मत का प्रयोग कर सकेगा। भवन की निर्दिष्ट सख्या (कोरम) दस अथवा भवन के सदस्यों की कुल सख्या का $\frac{1}{10}$ भाग होगी। व्यवस्थापिका सभा इस सम्बन्ध में कोई अन्य कानून भी निर्मित कर सकती है। निर्दिष्ट सख्या उपस्थित न होने पर अध्यक्ष अथवा सभापति को यह अधिकार होगा कि वह भवन की बैठक को उस समय तक के लिए स्थगित कर दे जब तक कि निर्दिष्ट सख्या पूर्ण न हो जाए। किसी राज्य की व्यवस्थापिका सभा का कार्यक्रम उस राज्य की सरकारी भाषा अथवा हिन्दी अथवा अगरेज़ी में सम्पादित होगा। इस विधान के लागू होने के दिनांक से पन्द्रह वर्ष की समाप्ति पर अगरेज़ी भाषा समाप्त कर दी जाएगी। राज्य की व्यवस्थापिका सभा इस सम्बन्ध में कुछ अन्य नियम निर्धारित कर सकती है। आय प्रस्ताव तथा आर्थिक प्रस्तावों के अतिरिक्त अन्य प्रस्ताव दोनों भवनों में से किसी भी भवन में प्रथम बार उपस्थित किए जा सकेंगे। एक प्रस्ताव उसी समय एक्ट का स्वरूप ग्रहण कर सकेगा जब उस पर दोनों भवनों की स्वीकृति प्राप्त हो जाए। इस सम्बन्ध में व्यवस्थापक परिषद् के अधिकारों पर विधान द्वारा कुछ प्रतिबन्ध उपस्थित किए गए हैं। प्रस्ताव के सम्बन्ध में हुए संशोधन पर भी दोनों भवन सहमत होने चाहिए। यदि व्यवस्थापिका सभा में किसी प्रस्ताव पर विचार हो रहा हो और यदि व्यवस्थापिका सभा को कुछ काल के लिए स्थगित कर दिया जाय तो वह प्रस्ताव

आर्थिक कार्य-प्रणाली

प्रत्येक वर्ष के आरम्भ में व्यवस्थापिका सभा के सन्मुख राज्य के अनुमानित आय व्यय का व्योरा उपस्थित किया जाता है। आय की जो प्राप्ति होती है वह करों द्वारा होती है। कर लगाने का प्रस्ताव सरकार उपस्थित करेगी और उस पर व्यवस्थापिका सभा की स्वीकृति आवश्यक होगी। जिन करों को राज्य की सरकार लेने के लिए अधिकृत है उन करो के सम्बन्ध मे भी राज्य की व्यवस्थापिका सभा की स्वीकृति आवश्यक होगी। कर लगाने का प्रस्ताव राज्यपाल अथवा राजप्रमुख की स्वीकृति बिना उपस्थित नहीं किए जा सकेंगे। परन्तु किसी कर को कम करने अथवा समाप्त करने के सम्बन्ध में सशोधन उपस्थित करने का पूर्ण अधिकार राज्य की व्यवस्थापिका सभा को होगा।

व्यय के अन्तर्गत कुछ शीर्षक इस प्रकार के होंगे जो राज्य के सचित धन से लिए जाएँगे। इस प्रकार के व्यय के शीर्षकों के सम्बन्ध में राज्य की व्यवस्थापिका सभा को मतदान का अधिकार नहीं होगा। यद्यपि इन व्ययों के सम्बन्ध में राज्य की व्यवथापिका सभा की स्वीकृति नहीं ली जा सकेगी परन्तु व्यवस्थापिका सभा इन व्ययों पर वाद विवाद तथा विचार कर सकेगी। यह व्यय है—राज्यपाल, प्रथम भवन के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष, द्वितीय भवन (जहाँ दो भवन हैं) के सभापति और उप सभापति तथा हाई कोर्ट के न्यायाधीशों का वेतन और भत्ता, ऋण सम्बन्धी व्यय जिसके लिए राज्य उत्तरदायी हो, और किसी न्यायालय द्वारा घोषित किसी पारितोषिक अथवा डिग्री की पूर्णता के लिए। व्यय के अन्य समस्त व्योरों पर व्यवस्थापिका सभा की स्वीकृति आवश्यक होगी। यह समस्त व्यय अनुदान के रूप में व्यवस्थापिका सभा के सन्मुख माँग के रूप में उपस्थित किए जाएँगे। राज्यपाल अथवा राजप्रमुख की स्वीकृति बिना कोई माँग उपस्थि नहीं की जा सकेगी। इसका यही तात्पर्य हुआ कि व्यय का धन सरकार द्वारा ही माँगा जा सकता है। इन प्रस्तावों पर स्वीकृति प्रदान करना अथवा न करना यह व्यवस्थापिका सभा का कार्य है।

प्रस्ताव से सम्बन्धित स्वीकृति और निषेधाधिकार

जब कोई प्रस्ताव किसी राज्य के भवन अथवा भवनों द्वारा पास हो जाएगा तो उसे राज्यपाल अथवा राजप्रमुख की स्वीकृति के लिए भेजा जाएगा। राज्यपाल अथवा राजप्रमुख को उस प्रस्ताव को स्वीकृत-अस्वीकृत करने अथवा उसे राष्ट्रपति की स्वीकृति के हेतु सुरक्षित रखने का अधिकार होगा। यदि वह प्रस्ताव आय प्रस्ताव नहीं होगा तो राज्यपाल अथवा राजप्रमुख शीघ्रातिशीघ्र उस प्रस्ताव को व्यवस्थापिका सभा को पुनर्विचार के हेतु लौटा देगा। भवन उस प्रस्ताव को सशोधन सहित अथवा रहित पास करके जब राज्यपाल अथवा राजप्रमुख के पास भेजेंगे तो वह उस पत्र

पहला अध्याय

देशी राज्यों का एकीकरण

"एक इतिहासकार जो पिछले पृष्ठों का अवलोकन करता है निःसन्देह यही विचारेगा कि भारतवर्ष के इतिहास की वर्तमान प्रधान एवं अति प्रभावशाली परिवर्तित घटना है देशी राज्यों का भारतवर्ष में सम्मिलन। यह बाह्य एकीकरण उतना अधिक महत्वपूर्ण नहीं जितना कि आन्तरिक एकीकरण, अर्थात इन राज्यों में प्रजातन्त्रात्मक संस्थाओं और उत्तरदायी शासन का विकास।"[1]

—पंडित जवाहरलाल नेहरू

इस अद्भुत एकीकरण की कथा का वर्णन करने से पूर्व सन् १९३५ के एक्ट के अन्तर्गत देशी राज्यों की स्थिति पर एक विहगम दृष्टि डालना असंगत न होगा।

सन् १९३५ के एक्ट के अन्तर्गत अँगरेज़ों का उद्देश्य जैसा कि तत्कालीन भारत सचिव सर सेमुअल होर ने लिखा था, प्रजातन्त्र को कुलीनतन्त्र के आवरण में ढँक लेना था। इस लक्ष्य को दृष्टिगत रखते हुए देशी राज्यों का संघ में सम्मिलित हो उन्हीं की इच्छा पर छोड़ दिया गया। स्वयं एक्ट द्वारा किसी देशी राज्य को भारत संघ का सदस्य नहीं बनाया गया था। 'प्रवेश पत्र' (Instrument of Accession) पर हस्ताक्षर कर शासक को सम्राट (Crown) के सन्मुख यह इच्छा प्रकट करनी होती थी कि वह भी संघ में सम्मिलित होने के लिए इच्छुक है। सम्राट (His Majesty) द्वारा इस प्रवेश पत्र को स्वीकार करने पर ही वह देशी राज्य संघ में सम्मिलित हो सकता था। सम्राट (King) को यह अधिकार था कि वह इस प्रकार के प्रवेश पत्र को अस्वीकृत भी कर दे। प्रवेश पत्र द्वारा शासक को संघ के

---

[1] "A historian who looks back will no doubt consider that one of the dominent phases of India's history today is this integration of States into India. What is more important is not this integration externally but an inner integration, that is, the growth of democratic institutions and responsible government in the States."

—Pt. Jawahar Lal Nehru.

कुछ विषय सौंपने पड़ते थे। उसे अपनी तथा अपने उत्तराधिकारियों की ओर से यह आश्वासन देना पड़ता था कि समर्पित अथवा सौंपे गए क्षेत्र के सम्बन्ध में गवर्नर-जनरल, संघीय व्यवस्थापिका सभा, संघीय न्यायालय और संघीय रेलवे को पूरा-पूरा अधिकार होगा। इस समर्पित क्षेत्र के बाहर देशी राज्य पूर्व के समान स्वतंत्र थे।

इस प्रवेश-प्रणाली के बारे में निम्नलिखित विशेषताओं का ध्यान में रखना आवश्यक है —

(१) प्रवेश पत्र की शर्तों के अनुसार जिस क्षेत्र को राजा संघ को सौंप देता था उस क्षेत्र के सम्बन्ध में उसकी सत्ता सदैव के लिए सीमित हो जाती थी।

(२) जिन विषयों को राजा संघ को सौंप देता था उन विषयों में कोई कमी नहीं की जा सकती थी, यद्यपि उनमें वृद्धि की जा सकती थी।

(३) सम्राट (King) द्वारा प्रवेश पत्र को एक बार स्वीकृत कर लेने पर उसकी वैधता एवं अवैधता के सम्बन्ध में कोई प्रश्न नहीं उठाया जा सकता था।

(४) देशी राज्यों के प्रवेश ने संघ को सम्राट (Crown) और भारतीय नरेशों की एक सन्धि के रूप में परिवर्तित कर दिया। परिणामस्वरूप, क़ानून के अनुसार रक्षा, विदेशी नीति और केन्द्र में पूर्ण उत्तरदायी सरकार प्रदान करने की धाराओं में उस समय तक किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो सकता था जब तक कि संघ में सम्मिलित होने वाले समस्त राज्य इससे सहमत न हों। इस धारा की व्यवस्था देश में प्रजातन्त्रात्मक परमाणुओं की बढ़ती को रोकने के लिए ही की गई थी।

(५) सम्राट (Crown) का प्रतिनिधि देशी राज्यों में शान्ति और सुरक्षा के लिए सेनाएं तक भेज सकता था। अब प्रधान सेनापति केवल ब्रिटिश [illegible] लिए ही नहीं था, बल्कि समस्त भारतवर्ष के लिए था।

(६) जो विषय देशी राज्यों ने संघ को प्रदान नहीं किए थे उन विषयों से सम्बन्धित में सम्राट (Crown) के अधिकारों पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ा, और वह सम्राट की सर्वोच्च सत्ता के अन्तर्गत ही रहे। इस प्रकार सर्वोच्च सत्ता (Paramountcy) का अन्त नहीं किया गया था। देशी राज्यों पर सम्राट (Crown) का नियन्त्रण दोहरा हो सकता था :—(१) जिस सीमा तक वे संघ में प्रवेश कर चुके थे उस सीमा तक गवर्नर जनरल द्वारा, और (२) जिस सीमा तक वे संघ से परे थे उस सीमा तक सम्राट के प्रतिनिधि (Crown Representative) द्वारा।

सन् १९४७ के भारत स्वातन्त्र्य एक्ट के शुभागमन के साथ ही 'सर्वोच्च सत्ता' का सुप्रस्थान भी हुआ। देशी राज्यों को उनकी इच्छा पर छोड़ दिया गया। उस

समय भविष्य अत्यन्त धुँधला था। विभाजित भारतवर्ष के और भी टुकड़े होते दिखाई दे रहे थे।

२७ जून सन् १९४७ को भारत सरकार के राज्य-विभाग के अन्तर्गत राजनैतिक विभाग का कार्य भी सम्मिलित कर दिया गया। इस विभाग के अध्यक्ष का पद सरदार वल्लभ भाई पटेल ने ग्रहण किया। ५ जुलाई सन् १९४७ को देशी नरेशों को अपने पक्ष में करने के लिए उन्होंने एक सारगर्भित भाषण दिया। इस भाषण की मुख्य बातें निम्नलिखित थीं :—

(१) "'सर्वोच्च सत्ता' के बन्धन से नरेशों के मुक्त होने की आकांक्षा के साथ उन्हें इतनी ही सहानुभूति थी कि इसमें एक विदेशी शासक के सन्मुख झुकने की प्रवृत्ति निहित थी।

(२) परन्तु बन्धन की इस स्वतन्त्रता का तात्पर्य यह कभी भी नहीं हो सकता कि इसका (इस स्वतन्त्रता का) प्रयोग भारतवर्ष के समान हित के विरुद्ध अथवा 'लोक कल्याण की सर्वोच्च तथा अन्तिम सत्ता के विरुद्ध' किया जाय। राज्यों की व्यवस्था अथवा निर्माण मे राष्ट्रीय एकता तथा जनता की सर्वोच्च सत्ता ही दो मुख्य विचार पूर्ण वस्तुएँ हैं।

(३) उन्होंने देशी नरेशों को यह आश्वासन दिया कि राज्यों पर किसी प्रकार का प्रभुत्व स्थापित नहीं किया जायगा और रक्षा, विदेशी विभाग तथा यातायात के साधनों के प्रदान किए गए अधिकार के अतिरिक्त उनकी स्वतन्त्रता को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया जायगा।"

२५ जुलाई सन् १९४७ को नरेश-परिषद् ने एक सन्धि समिति का निर्माण किया। इस समिति के निर्माण में लॉर्ड माउन्टबेटन का भी पर्याप्त हाथ था। इन प्रयत्नों के परिणाम स्वरूप सब देशी राज्यों ने प्रवेश पत्र और स्थायी समझौते पर हस्ताक्षर कर दिए। इन राज्यों द्वारा जो विषय संघ को प्रदान किए गए हैं वे "अत्यन्त सीमित हैं और प्रवेश पत्र की धाराओं द्वारा उन्हें स्पष्ट किया गया है।" नरेशों को यह आश्वासन प्रदान किया गया था कि प्रवेश करने वाले राज्य की स्वीकृति बिना प्रवेश पत्र की धारा अथवा शर्तों में किसी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं किया जायगा।

प्रवेश पत्र में एक स्थल पर प्रतिपादित किया गया है कि "इस प्रवेश पत्र की कोई धारा इस राज्य में और राज्य पर मेरी (नरेश की) सर्वोच्च सत्ता को भंग नहीं कर सकती, अथवा इस प्रवेश पत्र द्वारा अथवा इसके अन्तर्गत प्रतिपादित धाराओं के अतिरिक्त इस राज्य के शासक के नाते अधिकार और शक्ति के मेरे प्रयोग अथवा वर्त्तमान समय में इस राज्य में लागू किसी कानून की वैधता को भी भंग नहीं कर

सकती।"[1] एक परिशिष्ट प्रवेश पत्र की व्यवस्था और की गई है जिसके द्वारा देशी नरेशों ने अपने राज्यों के लिए उस सीमा तक प्रान्त का स्तर स्वीकार कर लिया है जिस सीमा तक "सघीय सरकार का अधिकृत क्षेत्र स्वीकृत हुआ है।"

देशी राज्यों का एकीकरण तीन रीतियों द्वारा पूर्ण किया गया है। यह रीतियाँ और इनकी व्यावहारिकता की गाथा को सक्षेप में निम्नलिखित रूप से रखा जा सकता है :—

(१) प्रान्तो के साथ सम्मिलन

प्रथम, कुछ छोटे देशी राज्यों को प्रान्त के साथ मिला दिया गया। यह रीति दिसम्बर सन् १९४७ में सरदार पटेल के आगे बढने पर उडीसा में प्रारम्भ हुई। उन्होंने उड़ीसा के पूर्वी राज्यों के २३ राज्यों के शासकों को इस बात के लिए उकसाया कि वे उड़ीसा प्रान्त में सम्मिलित हो जाएँ। इन राज्यों में "पटना (६,३२,२२० जन सख्या), सोनपुर (२,४८,८७३ जन सख्या), नयागढ़ (१,६१,४०९ जन सख्या), अथगढ़, अथमलिक, बरम्बा, दसपल्ला, हिंडोल, खॉडपाड़ा, नरसिंघपुर, नीलगिरि, पलहाड़ा, रैराखोल, रामपुर, तलचर और तिगीरिया राज्य सम्मिलित हैं, तथा जिनका क्षेत्रफल २४००० वर्गमील, जनसख्या ४० लाख से अधिक तथा वार्षिक आय ९१ लाख के लगभग है।" इसी प्रकार कुछ समय पश्चात् उड़ीसा के सबसे बड़े राज्य मयूर-भज ने भी उड़ीसा में सम्मिलित होने की स्वीकृति प्रदान कर दी।

इस के पश्चात् शीघ्र ही अन्य राज्यों को भी इस मार्ग का अनुसरण कराया गया। खड्सवान और सराय किला के राज्य बिहार प्रान्त में सम्मिलित हो गए। [illegible] राज्य जिनमें बस्तर, सुरेंजा, नन्दगांव, खेरागढ़, सरनगढ़, आदि राज्य भी [illegible] थे, मध्य प्रदेश में मिल गए। दक्षिण के १०७ राज्य तथा २८९ गुजराती [illegible] म्बई में मिलने के लिए सहमत होगए। कुछ समय पश्चात् कोल्हापुर ने भी [illegible] में मिलने की स्वीकृति दे दी। भारतवर्ष के एक अत्यन्त विशाल राज्य बड़ौदा ने, [illegible] का क्षेत्रफल ८१७६ वर्ग मील, जनसंख्या २८,५५,०१० तथा आय २,३८,३७,००० रुपए है, बम्बई में सम्मिलित होने की स्वीकृति प्रदान करदी। पुडूकोटाइ और बनगनपेल के राज्य मदरास प्रान्त में और लोहरण, पटौदी और दुजाना के राज्य पूर्वी पजाब में सम्मिलित हो गए।

(२) केन्द्र द्वारा शासित राज्य

द्वितीय, केन्द्र ने भी राज्य अथवा राज्यों के एक समूह को शासन के संचालन के हेतु अपनी रक्षा में ले लिया है। एकीकरण की यह द्वितीय रीति 'उनके शासकों की

[1] धारा ८

अपनी अस्वीकृति प्रदान न कर स्वीकृति ही प्रदान करेगा। इसके विपरीत विधान के अन्तर्गत यह प्रतिपादित किया गया है कि राज्यपाल अथवा राजप्रमुख को किसी प्रस्ताव को राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित रख लेना चाहिए यदि :—

(१) उस प्रस्ताव का सम्बन्ध किसी ऐसी सम्पत्ति से हो जो राज्य को प्राप्त होने वाली हो,

(२) उस प्रस्ताव का सम्बन्ध एकीभूत तालिका उद्धृत विषयों से हो और राज्यपाल अथवा राजप्रमुख को यह अनुभव हो कि इस प्रकार के कानून से संघीय कानून का विरोध होगा;

(३) उस प्रस्ताव का विषय किन्हीं ऐसी वस्तुओं के क्रय-विक्रय पर कर लगाना हो जिन्हें संसद ने जनता के जीवन के लिए अनिवार्य घोषित किया हो; अथवा

(४) उस प्रस्ताव का विषय ऐसा हो जिससे कि हाई कोर्ट के अधिकार अथवा स्थिति को हानि पहुँचने की सम्भावना हो। प्रथम तीन बातों में राष्ट्रपति की स्वीकृति बिना वह प्रस्ताव कानून नहीं बन सकता। जो प्रस्ताव राष्ट्रपति की स्वीकृति के हेतु सुरक्षित रखे जाते हैं, उन प्रस्तावों के सम्बन्ध में राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि वह स्वीकृति-अस्वीकृति प्रदान करे। अस्वीकृति के सम्बन्ध में, यदि वह आय प्रस्ताव नहीं है—तो राष्ट्रपति उस प्रस्ताव को कुछ संशोधन अथवा पुनर्विचार के हेतु राज्यपाल अथवा राजप्रमुख द्वारा राज्य की व्यवस्थापिका सभा के पास भेज सकता है। इस प्रकार लौटाए गए प्रस्ताव पर व्यवस्थापिका सभा विचार करेगी और संशोधन सहित अथवा रहित रूप से उसकी प्राप्ति के दिनांक से ६ मास के समय में उसे पास करके फिर राष्ट्रपति के विचारार्थ भेज देगी। राष्ट्रपति की स्वीकृति से सम्बन्धित धाराएँ यह स्पष्ट नहीं करतीं कि व्यवस्थापिका सभा राष्ट्रपति के निषेधाधिकार को ठुकरा सकती है या नहीं।

व्यवस्थापक शक्ति

सम्पूर्ण राज्य अथवा उसके किसी भी भाग के सम्बन्ध में व्यवस्थापिका सभा को कानून बनाने का अधिकार है। राजकीय तालिका में उल्लिखित विषयों के सम्बन्ध में उसे कानून-निर्माण का पूर्ण अधिकार है। इसके अतिरिक्त एकीभूत तालिका में उद्धृत विषयों के सम्बन्ध में भी व्यवस्थापिका सभा कानूनों का निर्माण कर सकती है, परन्तु इस सम्बन्ध में संसद भी कानून-निर्माण करती है। यदि एकीभूत तालिका में उद्धृत किसी एक विषय के सम्बन्ध में राज्य और संसद दोनों की व्यवस्थापिका सभाएँ कानून का निर्माण करें तो राज्य की व्यवस्थापिका सभा का कानून जिस सीमा तक संसद के कानून का विरोध कर रहा होगा, उसी सीमा तक वह अवैध घोषित किया जाएगा।

(२) केन्द्र द्वारा शासित राज्य

विधान के अन्तर्गत यह स्पष्ट कर दिया गया है कि प्रथम नामावली के भाग 'स' और 'द' में जो राज्य उल्लिखित हैं उनके सम्बन्ध में संसद को केवल व्यवस्थापक अधिकार ही नहीं वरन् आर्थिक अधिकार भी प्राप्त हैं। यह राज्य केन्द्र द्वारा शासित राज्य कहलाते हैं। परन्तु यह अधिकार प्रत्येक स्थान पर लागू नहीं हो सकते। भाग 'स' मे उद्धृत राज्यों में कुर्ग भी है जिसमें एक व्यवस्थापक परिषद् पूर्व के समान कार्य करती रहेगी जब तक कि संसद इस सम्बन्ध में कोई कानून न बनाए। इस सम्बन्ध में संसद को यह अधिकार प्रदान किया गया है कि विधान की धाराओं में संशोधन कर सके और इस भाग के किसी राज्य अथवा वर्ग के लिए एक ऐसी संस्था की नियुक्ति करे अथवा उसके निर्वाचन का प्रबन्ध करे अथवा उसमें कुछ निर्वाचित सदस्य रखे और कुछ सदस्यों की नियुक्ति करे, जो किसी राज्य के सम्बन्ध में व्यवस्थापिका सभा का कार्य कर सके। इस प्रकार की संस्था को संसद के कानून द्वारा ही अधिकार और कार्य भी सौंपे जाएँगे। इस सम्बन्ध में संसद के इस प्रकार के कार्यों के सम्पादन के लिए ⅔ बहुमत की आवश्यकता नहीं होगी जिस प्रकार कि अन्य संशोधनों के लिए होती है।

इसके अतिरिक्त भाग 'द' में उद्धृत राज्यों के सम्बन्ध में संसद का कानून बनाने का अधिकार राष्ट्रपति के एक अधिकार से प्रतिबन्धित होता है क्योंकि राष्ट्रपति भी इस प्रकार के राज्यों की शान्ति और सुरक्षा के हेतु नियम बना सकता है। इस प्रकार के राज्य में लागू किसी अन्य कानून अथवा संसद के कानून को राष्ट्रपति द्वारा निर्मित नियम खण्डित एवं संशोधित कर सकता है। इस प्रकार निर्मित राष्ट्रपति के नियमों का प्रभाव संसद के एक्ट के समान होगा और यह उसी प्रकार लागू भी किए जाएँगे। इस सम्बन्ध में राष्ट्रपति के अधिकारों में आर्थिक अधिकार सम्मिलित नहीं। आर्थिक अधिकारों के सम्बन्ध में संसद की सत्ता सर्वोच्च होगी।

ग्यारहवाँ अध्याय

राज्य की कार्यकारिणी

"एक स्वतन्त्र और पृथक अध्यक्ष, जो दल बन्दी और स्थानीय राजनीति से प्रभावित न होता हो, शासन की सुविधापूर्ण कार्य प्रणाली मे प्रायः एक महत्त्व-पूर्ण भाग ले सकता है। मन्त्रीगण आते हैं, और चले जाते हैं और यह सम्भव है कि कुछ दलो के हाथों में सदैव शक्ति न रहे। शीघ्रता से परिवर्त्तित होने वाली राजनीति में राज्यपाल, जिसकी स्थिति नियुक्त करने वाले पदाधिकारी अर्थात् राष्ट्र-पति की अप्रसन्नता के अतिरिक्त अत्यन्त दृढ होती है, राज्य सरकार की शक्ति को हथियाने के लिए पारस्परिक वैमनस्य से परिपूर्ण दलों पर पूर्ण एवं प्रभावपूर्ण अधिकार जमा सकता है।"[1]

—श्री एन. आर. राघवाचारी.

राज्यों की कार्यकारिणी का अध्ययन भी राज्यों की व्यवस्थापिका सभाओं के अध्ययन के अनुसार निम्नलिखित दो शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है :—

(१) स्वतन्त्र राज्यों की कार्यकारिणी।

(२) केन्द्र द्वारा शासित क्षेत्रों की कायकारिणी। इन दोनों शीर्षकों का विस्तृत विवेचन निम्न प्रकार से किया जा सकता है।

---

[1] "An independent and detached head, who is not influenced by party passions or local politics, can often play a very useful role in the smooth working of the governmental machinery. Ministers may come and ministers may go, and the same parties may not always be in power In times of quick-changing politics, a Governor, whose position is unshakable except by the displeasure of the appointing authority, namely, the President, can bring to bear a wholesome and effective influence upon what may be warring elements contending for power in the State Government"

—Sri N. R. Raghavachari

(१) स्वतन्त्र राज्यों की कार्यकारिणी

प्रथम नामावली के भाग 'अ' और 'ब' में उल्लिखित राज्य स्वतंत्र हैं, तथा भारतवर्ष के शेष राज्य और स्थान केन्द्रीय सरकार द्वारा शासित हैं। विधान के अन्तर्गत स्वतंत्र राज्यों की सरकार के विभिन्न अंगों के स्वरूप और अधिकारों का प्रतिपादन कर दिया गया है, और शेष को भविष्य में होने वाले विधान के संशोधनों के आश्रय में छोड़ दिया गया है।

(अ) राज्यपाल अथवा राजप्रमुख

नियुक्ति, अवधि, आदि—

प्रथम नामावली के भाग 'अ' में उद्धृत प्रत्येक राज्य के लिए एक राज्यपाल और प्रथम नामावली के भाग 'ब' में उद्धृत प्रत्येक राज्य के लिए एक राजप्रमुख की नियुक्ति की जाएगी, जो अपने-अपने राज्य के शासन प्रबन्ध के संचालन के अधिकारी होंगे। यद्यपि राज्यपाल और राजप्रमुख के अधिकारों में कोई विशेष अन्तर नहीं परन्तु उनकी नियुक्ति और उनकी प्रणाली तथा उनके पद से सम्बन्धित अन्य नियमों में यथेष्ट अन्तर है। इसके अतिरिक्त राजप्रमुख के अधिकारों पर अस्थायी समय के लिए कुछ प्रतिबन्ध भी प्रस्तावित किए गए हैं।

राज्यपाल

राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति करेंगे और उन्हीं के प्रति विश्वासी रह कर वह अपने पद पर आसीन रह सकेगा। इसके अतिरिक्त राज्यपाल अपने पद से त्याग पत्र भी दे सकता है। सामान्य रूप से राज्यपाल का कार्य-काल पाँच वर्ष होगा, और अपनी अवधि समाप्त होने के पश्चात् भी वह उस समय तक अपने पद पर आसीन रहेगा जब तक कि उसका उत्तराधिकारी उस पद को ग्रहण न कर ले। राज्यपाल का पद ग्रहण करने के लिए एक व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह भारतवर्ष का नागरिक हो और उसकी आयु ३५ वर्ष अथवा इससे अधिक हो। राज्यपाल संसद अथवा किसी राज्य की व्यवस्थापिका सभा के किसी भवन का सदस्य नहीं होना चाहिए, और यदि वह होगा भी तो जिस दिन वह राज्यपाल का पद ग्रहण करेगा उस दिन से उस भवन का वह स्थान रिक्त माना जाएगा। इसके अतिरिक्त वह अन्य किसी ऐसे पद को ग्रहण नहीं कर सकेगा, जिससे उसे लाभ की प्राप्ति होती हो। राज्यपाल को सरकारी रूप से निवास के हेतु भवन प्रदान किया जाएगा तथा इसके अतिरिक्त उसका वेतन, भत्ता तथा अन्य सुविधाएँ संसद के एक कानून द्वारा निश्चित की जाएँगी। जब तक संसद इस सम्बन्ध में किसी कानून का निर्माण करे, उस समय तक राज्यपाल को ५५००) मासिक वेतन तथा वह भत्ता और अन्य सुविधाएँ प्रदान की जाएँगी जो इस

विधान के लागू होने के पूर्व प्रान्तीय गवर्नरों को मिलती थी। राज्यपाल का वेतन तथा अन्य सुविधाएँ उसके कार्य-काल में कम नहीं की जा सकेंगी।

राजप्रमुख

विधान के अन्तर्गत 'राजप्रमुख' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा गया है कि राजप्रमुख वह पदाधिकारी होगा जिसे राष्ट्रपति प्रथम नामावली के भाग 'ब' में उल्लिखित राज्यों के राजप्रमुख के रूप में स्वीकार करेगा।[1] इसके विपरीत हैदराबाद तथा जम्मू और काश्मीर अथवा मैसूर के सम्बन्ध मे राजप्रमुख वह व्यक्ति होगा जिसे राष्ट्रपति कुछ समय के लिए हैदराबाद के निजाम अथवा उन दो राज्यों के महाराजा के रूप में स्वीकार करले। हैदराबाद, जम्मू और काश्मीर और मैसूर में राजप्रमुख की नियुक्ति उत्तराधिकार के नियमो के अन्तर्गत की जाएगी। इस प्रकार नियुक्त किए गए राजप्रमुख का भी राष्ट्रपति द्वारा स्वीकृत होना आवश्यक है। प्रथम नामावली में उद्धृत अन्य राज्यों के राजप्रमुखों की नियुक्ति तथा राष्ट्रपति की स्वीकृति उस समझौते के आधार पर होगी जो इस विधान के लागू होने से पूर्व देशी राज्यों के शासकों ने किया था। उपर्युक्त तीन राज्यों के अतिरिक्त अन्य राज्यों के राजप्रमुखों का कार्य काल पाँच वर्ष होगा, तथा इस अवधि से पूर्व भी राजप्रमुख समझौते में प्रतिपादित रीति के अनुसार अपने पद को त्याग सकेगा। राज्यपाल के समान राजप्रमुख भी संसद अथवा किसी राज्य की व्यवस्थापिका सभा के किसी भवन का सदस्य नहीं होना चाहिए और यदि वह होगा भी तो जिस दिन से वह राजप्रमुख का पद ग्रहण करेगा उसी दिन से उस भवन की वह सीट रिक्त मानी जाएगी। इसी प्रकार राजप्रमुख भी अन्य कोई ऐसा पद ग्रहण नहीं कर सकेगा जिससे उसे लाभ की प्राप्ति होती हो। इसके विपरीत राजप्रमुख का वेतन समझौते में पूर्व से ही निश्चित कर दिया गया है, और उसका भत्ता तथा अन्य सुविधाएँ राष्ट्रपति एक सामान्य अथवा विशेष आदेश द्वारा निश्चित करेगा तथा उसके कार्य-काल में उसके वेतन आदि में कमी नहीं की जा सकेगी। सरकारी रूप से राजप्रमुख को भवन उसी समय प्रदान किया जाएगा जब कि राज्य की सरकार के विशेष निवास स्थान मे उसका स्वयं का भवन न हो।

राज्यपाल अथवा राजप्रमुख के अधिकार

किसी राज्य के शासन प्रबन्ध के संचालन का अधिकार राज्यपाल अथवा राजप्रमुख को होगा। विधान की धाराओं के अन्तर्गत राज्य के शासन प्रबन्ध का अधिकार उन विषयों से सम्बन्धित है जिनके सम्बन्ध में व्यवस्थापिका सभा को कानून-निर्माण का अधिकार है। राज्यपाल अपने इस अधिकार का प्रयोग स्वयं प्रत्यक्ष रूप से अथवा अपने आधीन पदाधिकारियों द्वारा करेगा। विधान के अन्तर्गत यह प्रस्तावित

---

[1] धारा ३६६

किया गया है कि राज्यपाल अथवा राजप्रमुख को उसके कार्य में सहायता तथा सम्मति प्रदान करने के लिए एक मन्त्रि-परिषद् होगा जिसका नेता मुख्य मन्त्री कहलाएगा। यह मन्त्रि-परिषद् राज्यपाल अथवा राजप्रमुख को उन्हीं विषयों के सम्बन्ध में सहायता एवं सम्मति प्रदान करेगी जिन विषयों के सचालन का अधिकार इन्हें विधान द्वारा प्राप्त है। जिन विषयों के सम्बन्ध में राज्यपाल अथवा राजप्रमुख को विवेकाधिकार के अन्तर्गत कार्य करने का अधिकार है, उन विषयों के सम्बन्ध में भी मन्त्रि-परिषद् इन्हें सहायता एव सम्मति प्रदान कर सकेगी। राज्यपाल अथवा राजप्रमुख के विवेकाधिकारों की सख्या अत्यन्त न्यून है। आसाम के राज्यपाल के विवेकाधिकार अधिक विस्तृत हैं क्योंकि उस पर सीमान्त प्रदेश तथा पिछड़े हुए वर्ग के शासन का भार भी है। जिन विषयों के सम्बन्ध में राज्यपाल अथवा राजप्रमुख को विशेष रूप से विवेकाधिकार प्रयोग करने का अधिकार प्रदान किया गया है, उन विषयों के अतिरिक्त अन्य विषयों के सम्बन्ध में यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि राज्यपाल अथवा राजप्रमुख अपनी मन्त्रि-परिषद् की सम्मति को स्वीकार करने के लिए बाध्य है अथवा नहीं। परन्तु इस सम्बन्ध में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि भाग 'अ' और 'ब' में उल्लिखित राज्यों की सरकारें अधिक उत्तरदायी होंगी क्योंकि राज्यपाल अथवा राजप्रमुख के विवेकाधिकार अत्यन्त सीमित हैं। उनके यह विवेकाधिकार व्यवस्थापक समिति (Legislative Assembly) को विसर्जित करने, व्यवस्थापक समिति में किसी एक दल का स्पष्ट बहुमत न होने पर मुख्य मन्त्री की नियुक्ति करने व्यवस्थापिका सभा द्वारा स्वीकृत किसी प्रस्ताव के सम्बन्ध में अपनी स्वीकृति प्रदान न करने तथा किसी प्रस्ताव को राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित रखने, इत्यादि तक ही सीमित हैं। राष्ट्रपति के समान राज्यपाल अथवा राजप्रमुख को भी इस बात की शपथ लेनी पड़ती है कि वह 'विधान और कानून की रक्षा करेगा और उन्हें सुरक्षित रखेगा' और स्वयं को राज्य की 'जनता की सेवा और हित के लिए' अर्पित कर देगा। शपथ लेने से वास्तव में उसके पद के उत्तरदायित्व में वृद्धि ही होती है। परन्तु वह जनता का निर्वाचित प्रतिनिधि न होने के कारण मन्त्रि-परिषद् का, जिन्हें जनता की सहायता प्राप्त होती है, प्रतियोगी नहीं बन सकता। यह उत्तम ही है कि कनाडा के समान यहाँ भी प्रथम नामावली के भाग 'अ' में उद्धृत राज्यों के लिए राज्यपाल की नियुक्ति के लिए उस राज्य की मन्त्रि परिषद् से विचार विमर्ष किया जाने लगे। इस प्रकार राज्यपाल जनता की आकाक्षाओं का अनादर कठिनाई से कर सकेगा क्योंकि उसके कार्यों का सम्पादन अधिकतर मंत्रि-परिषद् ही करेगी, यहाँ तक कि जिन विषयों के सम्बन्ध में उसे व्यक्तिगत निर्णय का अधिकार होगा, उन विषयों के सम्बन्ध में भी मन्त्रि-परिषद् सर्वे-सर्वा होगी। इस प्रकार यही आशा की जाती है कि अपने समस्त अधिकारों—शासन सम्बन्धी, व्यवस्थापक, आर्थिक अथवा न्याय व्यवस्था सम्बन्धी—के प्रयोग में उसका पथ-प्रदर्शन मन्त्रि-मण्डल

ही करेगा। सारांश में यही कहा जा सकता है कि राज्य के शासन प्रबध में राज्यपाल का प्रभाव और उसके अधिकार उसके व्यक्तित्व और उसकी प्रतिष्ठा पर निर्भर होंगे।

शासन-प्रबन्ध सम्बन्धी अधिकार

जैसा कि अन्यत्र लिखा जा चुका है राज्य के शासन प्रबन्ध के अधिकार का प्रयोग राज्यपाल अथवा राजप्रमुख स्वयं प्रत्यक्ष रूप से अथवा अपने आधीन पदाधिकारियों द्वारा करेगा। किसी राज्य की कार्यकारिणी शक्ति उन विषयों की सीमा तक सर्वोच्च रहेगी जिन विषयों के सम्बन्ध में वहाँ की व्यवस्थापिका सभा कानून निर्माण के लिए पूर्णरूप से अधिकृत होगी। परन्तु एकीभूत तालिका में उद्धृत विषयों तथा सघ द्वारा प्रदान किए गए अधिकारों के सम्बन्ध में राज्य की कार्यकारिणी शक्ति सघ के आधीन होगी। किसी राज्य की सरकार के सुविधाजनक सचालन के सम्बन्ध मे वहाँ के राज्यपाल अथवा राजप्रमुख भी कुछ नियमों का निर्माण करेंगे, तथा मुख्य मन्त्री की नियुक्ति और उसकी सम्मति से अन्य मत्रियों के सुविधापूर्ण कार्य-सम्पादन के सम्बन्ध में भी वे कुछ नियमों का निर्माण करेंगे। इसके अतिरिक्त राज्य के एडवोकेट जनरल, पब्लिक सर्विस कमीशन के सदस्य तथा अध्यक्ष, और हाई कोर्ट की सम्मति से राज्य के अन्य न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति भी राज्यपाल अथवा राज प्रमुख ही करेंगे। किसी राज्य के शासन प्रबन्ध से सम्बन्धित प्रत्येक पदाधिकारी राज्यपाल अथवा राजप्रमुख के प्रति विश्वासी रह कर ही अपने पद पर आसीन रह सकेगा। संकटकालीन अवस्था अथवा कुछ असाधारण परिस्थितियाँ उत्पन्न होने पर राष्ट्रपति को इस प्रकार की सूचना देना राज्यपाल अथवा राजप्रमुख का ही कर्त्तव्य है कि उस प्रकार की परिस्थितियों में विधान की धाराओं के अनुसार राज्य का शासन प्रबन्ध नहीं किया जा सकता।

व्यवस्थापक अधिकार

राज्यपाल अथवा राजप्रमुख व्यवस्थापिका सभा का एक अग होता है, तथा जिन राज्यों में व्यवस्थापक परिषद् (Legislative Council) की व्यवस्था की गई है वहाँ इसे व्यवस्थापक परिषद् के $\frac{1}{6}$ सदस्यों की नियुक्ति करने का अधिकार प्राप्त है। इसके अतिरिक्त यदि राज्यपाल अथवा राजप्रमुख को यह अनुभव हो कि व्यवस्थापक समिति में एंग्लो-इण्डियन जाति को पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं हुआ है तो इस विधान के लागू होने के दिनांक से दस वर्षों तक के लिए वह व्यवस्थापक परिषद् में इस जाति के दो प्रतिनिधि नियुक्त कर सकता है। राज्यपाल अथवा राजप्रमुख व्यवस्थापिका सभा के भवन अथवा भवनों को आमन्त्रित कर सकता है, उन्हें कुछ काल के लिए स्थगित कर सकता है तथा व्यवस्थापक समिति को विसर्जित कर सकता है। अधिवेशन के हेतु एकत्रित भवन अथवा भवनों में राज्यपाल अथवा राजप्रमुख अधिवेशन के प्रारम्भ होने पर भाषण दे सकता है। इसके अतिरिक्त किसी भी समय

वह इन भवनों में भाषण दे सकता है तथा अपनी सूचना इनके पास भिजवा सकता है। किसी प्रस्ताव के भवन अथवा भवनों द्वारा स्वीकृत हो जाने पर वह प्रस्ताव राज्यपाल अथवा राजप्रमुख की स्वीकृत के हेतु उसके सम्मुख उपस्थित किया जाता है। इस प्रकार के प्रस्तावों पर वह अपनी स्वीकृति-अस्वीकृति प्रदान कर सकता है अथवा उसे राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित रख सकता है। आर्थिक प्रस्तावों के अतिरिक्त अन्य प्रस्तावों को वह पुनर्विचार के लिए भवन अथवा भवनों के पास भेज सकता है, परन्तु यदि वह प्रस्ताव संशोधन सहित अथवा रहित, फिर से पास कर दिया जाता है तो वह उसे अस्वीकृत नहीं करेगा। राज्यपाल अथवा राजप्रमुख के अनुग्रह बिना आय प्रस्ताव अथवा कोई अन्य आर्थिक प्रस्ताव अथवा कोई माँग व्यवस्थापक समिति में उपस्थित नहीं की जा सकेगी। किसी कर को घटाने अथवा समाप्त करने से सम्बन्धित धाराओं का निर्माण करने के अतिरिक्त आर्थिक प्रस्तावों के सम्बन्ध में किसी प्रकार का संशोधन राज्यपाल अथवा राजप्रमुख के अनुग्रह बिना उपस्थित नहीं किया जा सकेगा। इसके अतिरिक्त जब व्यवस्थापिका सभा का अधिवेशन न हो रहा हो तो राज्यपाल अथवा राजप्रमुख आर्डिनेन्स लागू कर सकता है। इस प्रकार के आर्डिनेन्स, यदि राज्यपाल अथवा राजप्रमुख ने न लौटाए तो, व्यवस्थापिका सभा के अधिवेशन के आरम्भ होने के दिनांक से ६ सप्ताह पश्चात् समाप्त हो जाएँगे। इस अवधि से पूर्व यदि व्यवस्थापक समिति आर्डिनेन्स को समाप्त करने का प्रस्ताव पास कर दे और व्यवस्थापक परिषद् (जहाँ यह भवन स्थापित हो) भी इस प्रकार के प्रस्ताव पर अपनी स्वीकृति प्रदान कर दे तो यह आर्डिनेन्स अवधि से पूर्व ही समाप्त हो जाएगा। राज्यपाल अथवा राजप्रमुख का आर्डिनेन्स लागू करने का अधिकार राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति के कारण और भी अधिक सीमित हो गया है (१) यदि विधान के अन्तर्गत उन्हीं धाराओं के एक प्रस्ताव को व्यवस्थापिका सभा में उपस्थित करने के लिए राष्ट्रपति की पूर्वस्वीकृति की आवश्यकता होती, अथवा (२) उन्हीं धाराओं के किसी प्रस्ताव को यदि राज्यपाल अथवा राजप्रमुख राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित रखना उचित समझते, अथवा (३) यदि किसी राज्य की व्यवस्थापिका सभा का कोई ऐसा एक्ट जिसमें यही धाराएँ होतीं, विधान के अन्तर्गत अवैध होता जब तक कि उसे राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित न रखा जाता और उसे राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त न हो जाती।

आर्थिक अधिकार

किसी राज्य की व्यवस्थापिका सभा के भवन अथवा भवनों के सम्मुख अनुमानित आय-व्यय के वार्षिक ब्योरे को उपस्थित करना राज्यपाल अथवा राजप्रमुख का कर्तव्य है। यह अन्यत्र भी लिखा जा चुका है कि कोई आय प्रस्ताव अथवा कोई अन्य आर्थिक प्रस्ताव अथवा कोई माँग राज्यपाल अथवा राजप्रमुख के अनुग्रह बिना किसी राज्य की व्यवस्थापिका सभा के सम्मुख उपस्थित नहीं किया जा सकेगा। किसी प्रकार

के अन्य व्यय से सम्बन्धित सहायक अनुदान की माँग भी राज्यपाल अथवा राजप्रमुख ही व्यवस्थापक समिति के सन्मुख उपस्थित करेगा। राज्य के "आकस्मिक घटना सम्बन्धी धन"[1] को जो उस राज्य की व्यवस्थापिका सभा के कानून द्वारा स्थापित होता है, राज्यपाल अथवा राजप्रमुख को पूर्ण रूप से सौंप दिया जाएगा जिससे कि वह अलक्षित एवं आकस्मिक व्यय को पूर्ण कर सके।

न्याय-व्यवस्था सम्बन्धी अधिकार

किसी राज्य के राज्यपाल को ऐसे विषयों से सम्बन्धित कानून के विरुद्ध अपराधी घोषित किए गए व्यक्ति को क्षमा प्रदान करने, प्राणदण्ड को कुछ काल के लिए स्थगित करने, अथवा दण्ड में कुछ विलम्ब करने अथवा दण्ड की आज्ञा को स्थगित करने, दण्ड कम करने, तथा बदलने का अधिकार होगा, जो राज्य की कार्यकारिणी शक्ति के क्षेत्र के अन्तर्गत है।

(ब) मन्त्रि-परिषद्

नियुक्ति, वेतन आदि :—

संघ के समान, विधान की प्रथम नामावली के भाग 'अ' और 'ब' में उद्धृत प्रत्येक राज्य में एक मन्त्रि-परिषद् की व्यवस्था की गई है जिसका नेता मुख्य मंत्री कहलाएगा और जिसका कार्य राज्यपाल अथवा राजप्रमुख को उसके कार्यों के सम्पादन के हेतु सहायता और सम्मति प्रदान करना होगा। बिहार, मध्यप्रदेश, उड़ीसा और मध्य भारत में एक मन्त्री पिछड़े हुए तथा दलित वर्गों के हित की सुरक्षा के लिए रखा जाएगा। मुख्य मन्त्री की नियुक्ति राज्यपाल अथवा राजप्रमुख करेगा और अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति भी मुख्य मन्त्री की सम्मति से वही करेगा। व्यक्तिगत रूप से मंत्रीगण राज्यपाल अथवा राजप्रमुख के प्रति विश्वासी रह कर ही अपने पद पर आसीन रह सकेंगे, परन्तु संयुक्त रूप से मन्त्री-परिषद् राज्य की व्यवस्थापक समिति के प्रति उत्तरदायी होगी। यदि कोई मन्त्री ६ मास तक राज्य की व्यवस्थापिका सभा के किसी भवन की सदस्यता ग्रहण करने में असफल सिद्ध होगा तो उस अवधि की समाप्ति पर उससे मन्त्री का पद छीन लिया जाएगा। विधान के नियमों के अनुसार राज्यपाल अथवा राजप्रमुख प्रत्येक मंत्री को उसे उसके पद ग्रहण करने से पूर्व ही गुप्तता की शपथ ग्रहण कराएगा। मंत्रियों का वेतन राज्य की व्यवस्थापिका सभा द्वारा समय-समय पर निश्चित किया जाएगा।

मन्त्रिपरिषद् के अधिकार

यद्यपि राज्य की कार्यकारिणी शक्ति का अधिकारी राज्यपाल अथवा राजप्रमुख होता है परन्तु वह अपने इस अधिकार का प्रयोग केवल मन्त्रि परिषद् द्वारा ही करता

---

1. Contingency Fund.

है। मन्त्रि परिषद् राज्यपाल अथवा राजप्रमुख के नाम में ही इस कार्य का सम्पादन करती है। वैधानिक रूप से किसी राज्य के शासन प्रबन्ध के सुविधापूर्ण सचालन तथा मन्त्रियों के कार्यक्रम को सरल एव सुबोध गति के हेतु नियम निर्माण राज्यपाल अथवा राजप्रमुख ही करेगा। यह नियम केवल उन विषयों से सम्बन्धित होंगे जिनके सम्बन्ध में वह अपने विवेकाधिकार के अन्तर्गत कार्य नहीं करेगा। विधान के अनुसार राज्यपाल अथवा राजप्रमुख के विवेकाधिकार के अन्तर्गत आनेवाले विषयों के अतिरिक्त अन्य विषयों के सम्पादन के हेतु मन्त्रिपरिषद् उसे सहायता तथा सम्मति प्रदान करेगी। परन्तु व्यावहारिक रूप में मन्त्रिपरिषद् ही शासन प्रबन्ध का सचालन करेगी। यह बात आसाम राज्य के सीमान्त तथा पिछड़े हुए क्षेत्रों के शासन प्रबन्ध के सम्बन्ध में लागू नहीं होती। राज्यपाल अथवा राजप्रमुख से यही आशा की जाती है कि वह मन्त्रि-परिषद की सम्मति को नही ठुकराएगा तथा शासन प्रबन्ध मे किसी प्रकार का अनुचित हस्तक्षेप नही करेगा। यदि वह ऐसा करता है तो निं सन्देह रूप से उसे एक कठिन कार्य का भार अपने पर और लेना पड़ेगा—और वह कार्य होगा नवीन मन्त्रि परिषद् की खोज, क्योंकि बहुमत का भोग करने वाले मन्त्रिमण्डल से वह सहमत नहीं था। इस हेतु राज्यपाल अथवा राजप्रमुख के समस्त अधिकारों का प्रयोग मन्त्रि परिषद् करती है। विशेष अथवा असाधारण परिस्थितियों तथा विवेकाधिकार के अन्तर्गत आने वाले कार्यों के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त लागू नहीं होगा। व्यक्तिगत निर्णय द्वारा कार्य करते समय भी राज्यपाल अथवा राजप्रमुख अपने मन्त्रिमण्डल से सम्मति लेगा। शासन सम्बन्धी अधिकारों के अतिरिक्त अपने बहुमत के कारण मन्त्रिपरिषद् का कानून निर्माण पर भी यथेष्ट प्रभाव होगा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि राज्य का व्यवस्थापक कार्यक्रम एक प्रकार से सरकारी ही होगा और इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण कदम सबसे प्रथम मंत्रि-परिषद् द्वारा ही उठाए जाएँगे। व्यवस्थापिका सभा की समितियों के निर्माण पर भी मन्त्रिपरिषद् का निरीक्षण होगा। यह समितियाँ व्यवस्थापिका सभा की स्वीकृति के लिए प्रस्तावों के सम्बन्ध में अनुग्रह प्रदान करेंगी। राज्यपाल अथवा राजप्रमुख के आर्थिक अधिकारों का प्रयोगकर्त्ता मंत्रिमण्डल ही होगा, और क्योंकि व्यवस्थापिका सभा के आर्थिक अधिकार विधान द्वारा अत्यन्त संकुचित एव सीमिति कर दिए गए हैं, इसलिए उनका तात्पर्य भी मंत्रिमण्डल के अधिकार से ही होगा। राज्य की आय को व्यय के विभिन्न शार्षकों मे वितरित करने और आवश्यकता तथा परिस्थिति के अनुसार कर लगाने का कार्य मन्त्रि परिषद् का ही है। परन्तु अंतिम सीढी पर मन्त्रि-परिषद् के अधिकारों को व्यर्थ बनाने वाली एव उन्हें जकड देने वाली एक अत्यन्त दृढ़ शृंखला भी है, और वह शृंखला है राज्य की व्यवस्थापक समिति के बहुमत की सहायता।

इस प्रकार विधान द्वारा राज्यों में उत्तरदायी शासन की व्यवस्था की गई है। विधान के अंतर्गत यह प्रतिपादित किया गया है कि यदि मन्त्रिमण्डल व्यवस्थापक

समिति के बहुमत के विश्वास को खो देता है तो उसे तुरन्त ही त्यागपत्र उपस्थित कर देना चाहिए। व्यवस्थापिका सभा के प्रति मन्त्रिमण्डल का यह उत्तरदायित्व संयुक्त होगा, अर्थात् एक मंत्री की पराजय अथवा एक मंत्री की नीति के प्रति अविश्वास का तात्पर्य पूरी मंत्रिपरिषद् की नीति के प्रति अविश्वास होगा। इस प्रकार पूरा मंत्रिमण्डल एक सूत्र में बँधा हुआ है। मंत्रिमण्डल का निर्णय सयुक्त होगा और उसी के अनुसार वह कार्य भी करेगा। किसी मंत्री के व्यक्तिगत अतिक्रम अथवा पतन के कारण समस्त मंत्रिमण्डल उस का पक्ष ग्रहण नहीं करेगा। इस प्रकार की परिस्थिति में मुख्य मंत्री उस मंत्री से त्यागपत्र उपस्थित करने के लिए कह सकता है। इस कार्य को विधान की निम्न धारा द्वारा व्यावहारिक रूप प्रदान किया जाएगा कि व्यक्तिगत रूप से मन्त्रीगण उसी समय तक अपने पद पर आसीन रह सकते हैं जिस समय तक वे राज्यपाल अथवा राजप्रमुख के प्रति विश्वासी रहें। यद्यपि इस सम्बन्ध में मुख्य मंत्री अपने सहयोगियों के मध्य में प्रधान के रूप में कार्य करेगा, परन्तु राज्य के अध्यक्ष द्वारा मन्त्रिमण्डल से सम्बन्धित प्रत्येक बात की सूचना भी उसी को प्रदान की जा सकती है। विधान के अन्तर्गत यह विशेष रूप से प्रतिपादित कर दिया गया है कि राज्य के शासन प्रबन्ध तथा व्यवस्थापन के प्रस्तावों के सम्बन्ध में मन्त्रि-परिषद् के समस्त निर्णयों की सूचना मुख्य मन्त्री, राज्यपाल अथवा राजप्रमुख को प्रदान करेगा। इसके अतिरिक्त राज्य के शासन प्रबन्ध तथा व्यवस्थापन के प्रस्तावों से सम्बन्धित कोई प्रश्न राज्यपाल अथवा राजप्रमुख पूछता है तो उस प्रश्न से सम्बन्धित समस्त सूचना उन्हें मुख्य मन्त्री द्वारा प्राप्त होनी चाहिए। यदि किसी विषय के सम्बन्ध में किसी मन्त्री द्वारा दिए गए निर्णय पर मन्त्रि परिषद् ने विचार न किया हो तो राज्यपाल अथवा राजप्रमुख मुख्य मन्त्री को यह आदेश प्रदान कर सकता है कि उस विषय को मन्त्रि-परिषद् के विचारार्थ उपस्थित किया जाए। मुख्य मंत्री इस आदेश के अनुसार ही कार्य करेगा। विचार विमर्ष के पश्चात् यदि परिषद् उस निर्णय को अस्वीकृत करदे तो यह सम्भव है कि उस मन्त्री को अपने पद से त्याग पत्र देना पड़े।

(२) केन्द्र द्वारा शासित राज्य और क्षेत्र

विधान के अन्तर्गत इस प्रकार के क्षेत्र दो वर्गों में प्रस्तावित किए गए हैं—प्रथम नामावली के भाग 'स' में उद्धृत राज्य, और प्रथम नामावली के भाग 'द' में उल्लिखित क्षेत्र। यद्यपि इन दोनों वर्गों का शासन संघ द्वारा होगा और दोनों का शासन सम्बन्धी उच्चतम पदाधिकारी राष्ट्रपति ही होगा, परन्तु इन दोनों वर्गों के शासन से सम्बन्धित विधान की धाराओं में अन्तर है।

(अ) भाग 'स' में उद्धृत राज्य

इस भाग में उद्धृत राज्यों का शासन प्रबन्ध राष्ट्रपति द्वारा संचालित होगा। इस सम्बंध में राष्ट्रपति चीफ़ कमिश्नर अथवा उप-राज्यपाल (Lieutenant-Gov-

ernor) द्वारा कार्य करेगा। इसकी नियुक्ति राष्ट्रपति स्वय करेगा अथवा किसी विशेष परिस्थिति में पड़ोसी राज्य की सरकार द्वारा। अन्तिम ढंग के सम्बन्ध में इस ढंग अथवा प्रणाली के राष्ट्रपति के विवेकाधिकार द्वारा निश्चित करने पर भी विधान द्वारा कुछ प्रतिबन्ध प्रस्तावित किए गए हैं। इस सम्बन्ध में विधान मे प्रस्तावित किया गया है कि किसी पड़ोसी राज्य की सरकार द्वारा राष्ट्रपति उस समय तक यह कार्य न करेगा जब तक (१) उस सरकार से परामर्श न करले, और (२) इस प्रकार शासित होने वाली जनता के दृष्टिकोण तथा मत से भी परिचित होले। इस विधान के लागू होने के समय इन राज्यों के शासन प्रबन्ध के हेतु राष्ट्रपति के प्रतिनिधि की सहायता एव सम्मति प्रदान करने के लिए मन्त्रियों अथवा परामर्शदाताओं की कोई परिषद् नहीं होगी। जहाँ कहीं इस प्रकार की परिषद् हैं वहाँ उन्हीं को स्थायी रखने इस प्रकार की नवीन परिषद् को जन्म प्रदान करने तथा मन्त्रि परिषद् अथवा परामर्श-दात्री सस्था के निर्माण, अधिकार और कार्यों की स्पष्ट रूप से व्याख्या करने का अधिकार ससद को प्रदान किया गया है।

(ब) भाग 'द' में उल्लिखित क्षेत्र

भाग 'द' में दिए गए क्षेत्र तथा इस प्रकार के अन्य क्षेत्रों के शासन प्रबन्ध का सचालन, जो नामावली में उद्धृत नहीं है, विधान के अन्तर्गत प्रस्तावित किए जाने के अनुसार, राष्ट्रपति चीफ़ कमिश्नर अथवा किसी अन्य पदाधिकारी द्वारा करेगा। इस प्रकार के पदाधिकारी की नियुक्ति राष्ट्रपति स्वयं करेंगे। इन क्षेत्रों के सम्बन्ध में राष्ट्रपति के अधिकार भाग 'स' में उद्धृत राज्यों से सम्बन्धित अधिकारों से कहीं अधिक हैं, क्योंकि इनके सम्बन्ध में वह व्यवस्थापन का कार्य भी करेगा। इन क्षेत्रों की शान्ति और सुरक्षा के हेतु राष्ट्रपति नियमों का निर्माण कर सकेगा। इस प्रकार निर्मित नियम ससद के किसी कानून अथवा वहाँ अस्थायी रूप से प्रचलित किसी अन्य कानून को सशोधित एव खण्डित कर सकते हैं। इस प्रकार के नियम राष्ट्रपति द्वारा घोषित किए जाने पर ससद के एक्ट के समान ही लागू किए जाएँगे, परन्तु केवल उसी क्षेत्र में।

बारहवाँ अध्याय

राज्य के न्यायालय

"हाईकोर्ट के न्यायाधिकार वही होंगे, जिनका प्रयोग वह इस विधान के लागू होने से पूर्व करती थी, इसके साथ-साथ वह आय सम्बन्धी विषयों के सम्बन्ध में भी न्यायाधिकार का प्रयोग करेगी जिनके सम्बन्ध में विधान निर्माण से पूर्व की हाईकोर्ट मौलिक न्यायाधिकार का प्रयोग नहीं कर सकती थी। आज्ञा पत्र तथा अन्य आदेश प्रदान करने के हाईकोर्ट के अधिकार सर्वोच्च न्यायालय को प्रदान किए गए अधिकारों से कहीं अधिक विस्तृत एवं उदार हैं, और राज्य अथवा किसी जनसंस्था अथवा किसी पदाधिकारी द्वारा अपहरण किए जाने पर मौलिक अथवा अन्य अधिकारों की रक्षा के लिए इन्हें जाग्रत किया जा सकता है।"[1]

—श्री एन. आर. राघवाचारी

(१) हाईकोर्ट

हाईकोर्ट का निर्माण

विधान के अन्तर्गत, प्रथम नामावली के भाग 'अ' और 'ब' में उद्धृत राज्यों के लिए एक एक हाईकोर्ट की व्यवस्था की गई है। इस विधान के लागू होने के पूर्व जो हाईकोर्ट जिस प्रान्त अथवा देशी राज्य में कार्य कर रही थी, इस विधान के लागू हो जाने के पश्चात वही उस राज्य की हाईकोर्ट का स्वरूप धारण कर लेगी। इसके

1. "The jurisdiction of the High Court will be the same as that which it exercised before the commencement of the Constitution with the additional jurisdiction even in respect of matters of revenue with reference to which the pre-Constitution High Court could not exercise original jurisdiction. The powers of the High Court with reference to issue of writs and other orders are more comprehensive and liberal than those given to Supreme Court, and can be invoked for the enforcement of any of the rights whether fundamental or other wise which have been infringed by the state or public body or officer."

—Sri N. R. Raghavachari.

अतिरिक्त प्रथम नामावली के भाग 'स' में उद्धृत राज्यों के सम्बन्ध में संसद को यह अधिकार है कि वह वहाँ एक हाईकोर्ट की स्थापना कर दे, अथवा वहाँ के किसी न्यायालय को हाईकोर्ट का स्वरूप प्रदान कर दे। इस विधान के लागू होने से कुछ समय पूर्व तक जो हाईकोर्ट जिस क्षेत्र पर अपने न्यायाधिकार का प्रयोग करती थीं, इस विधान के लागू हो जाने के पश्चात भी वे उसी क्षेत्र के सम्बन्ध में अपने न्यायाधिकार का प्रयोग करती रहेंगी। यह विधान की धाराओं तथा विधान द्वारा प्रदान किए गए कानून निर्माण के अधिकार द्वारा किसी व्यवस्थापिका सभा के बनाए गए कानून के अनुसार होगा। परन्तु प्रथम नामावली के भाग 'अ' और 'ब' में उद्धृत राज्यों की हाईकोर्ट के न्यायाधिकार अथवा अधिकार क्षेत्र को व्यापक करने अथवा बहिष्कृत करने का अधिकार केवल संसद को होगा। प्रथम नामावली के भाग 'अ' और 'ब' में उद्धृत राज्यों के हाईकोर्ट के अधिकार और कर्त्तव्य समान होंगे। इनसे सम्बन्धित धाराएं भाग 'स' में उद्धृत राज्यों के सम्बन्ध में भी लागू होंगी, परन्तु इस सम्बन्ध में संसद अपने कानून द्वारा कुछ संशोधन उपस्थित करेगी। परन्तु भाग 'द' में न्याय-व्यवस्था के लिए विधान में कोई धारा प्रस्तुत नहीं की गई है, इसका भार राष्ट्रपति पर छोड़ दिया गया है।

हाई कोर्ट के न्यायाधीशों का वेतन और पद सम्बन्धी शर्तें

प्रत्येक हाई कोर्ट में एक प्रधान न्यायाधीश होगा, और अन्य न्यायाधीशों की संख्या राष्ट्रपति समय समय पर उस न्यायालय की स्थिति देखकर निश्चित करेगा। हाई कोर्ट के प्रत्येक न्यायाधीश की नियुक्ति राष्ट्रपति भारतवर्ष के प्रमुख न्यायाधीश और राज्यपाल अथवा राजप्रमुख से परामर्श लेकर करेगा, तथा प्रमुख न्यायाधीश के अतिरिक्त अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति के अवसर पर हाईकोर्ट के प्रमुख न्यायाधीश से सम्मति ली जाएगी। हाई कोर्ट का न्यायाधीश होने के लिए किसी व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह भारतवर्ष का नागरिक हो। इसके अतिरिक्त कुछ और भी आवश्यकताएँ हैं जो निम्न प्रकार से हैं —(१) भारतवर्ष में उसने दस वर्ष तक कोई न्याय सम्बन्धी पद ग्रहण किया हो, अथवा (२) प्रथम नामावली में उद्धृत राज्यों की किसी हाई कोर्ट मे दस वर्ष तक एडवोकेट रह चुका हो, अथवा एक के पश्चात् एक, दो अथवा दो से अधिक न्यायालयों का एडवोकेट रह चुका हो।

हाई कोर्ट का न्यायाधीश ६० वर्ष की आयु प्राप्त करने तक अपने पद पर रहेगा, यदि इसके पूर्व ही वह राष्ट्रपति को अपना त्याग-पत्र न सौंप दे, अथवा उसे पदस्थ कर दिया जाए, अथवा उसकी नियुक्ति सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश के स्थान पर कर दी जाए, अथवा किसी अन्य हाई कोर्ट में उसका स्थान परिवर्तन कर दिया गया हो। यदि संसद के दोनों भवन किसी न्यायधीश के कुव्यवहार अथवा उसकी अयोग्यता के कारण एक प्रस्ताव पास करके राष्ट्रपति से इस बात की प्रार्थना करते हैं कि उस न्याया-

धीश को पदस्थ कर दिया जाए। इस प्रकार का प्रस्ताव भवन के सदस्यों की कुल संख्या के बहुमत द्वारा, और उपस्थित सदस्यों के $\frac{2}{3}$ बहुमत द्वारा पास होना चाहिए। जो व्यक्ति हाई कोर्ट का न्यायाधीश हो अथवा रह चुका हो, तो इस विधान के लागू होने के दिवस से वह भारतवर्ष की सीमा में स्थित किसी न्यायालय के सन्मुख पैरवी नहीं कर सकेगा।

प्रथम नामावली के भाग 'अ' में उद्धृत राज्यों की हाई कोर्ट के प्रमुख न्यायाधीश को ४०००) मासिक वेतन तथा अन्य न्यायाधीशों को ३५००) मासिक वेतन मिलेगा। भाग 'ब' में उद्धृत राज्यों की हाईकोर्ट के न्यायाधीशों के वेतन का निश्चय राष्ट्रपति राजप्रमुख से परामर्श करने के पश्चात् करेगा। इसके अतिरिक्त प्रत्येक न्यायाधीश के भत्ते और अधिकार आदि संसद के एक कानून द्वारा प्रदान किए जाएँगे। परन्तु न्यायाधीश की नियुक्ति के पश्चात् यह परिवर्त्तित नहीं किए जा सकेंगे। हाई कोर्ट के विधान के अन्तर्गत राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि वह एक न्यायाधीश को स्थान परिवर्त्तन करा दे, अस्थायी प्रमुख न्यायाधीश नियुक्ति कर दे, और हाई कोर्ट की बैठकों के समय अवकाश प्राप्त न्यायाधीशों की उपस्थिति का प्रबन्ध कर दे।

हाई कोर्ट के अधिकार-क्षेत्र तथा अधिकार

हाई कोर्ट का अधिकार क्षेत्र वही होगा जो इस विधान के लागू होने से पूर्व था। इस प्रकार दीवानी तथा फ़ौजदारी दोनों विषयों का एक राज्य में सबसे अधिक उच्च न्यायालय हाई कोर्ट होगा। विधान द्वारा प्रस्तावित धारा के अनुसार कुछ विशेष शर्तों के अनुसार हाई कोर्ट से अपील केवल सर्वोच्च न्यायालय में जा सकेगी। कलकत्ता, बम्बई और मदरास के हाई कोर्ट को इस प्रकार मौलिक और अपील सम्बन्धी न्यायाधिकार प्रदान किया गया है। परन्तु आय के सम्बन्ध में भी हाई कोर्ट का निर्णय किसी अन्य के आधीन नहीं होगा, जैसा कि पूर्व समय मे हुआ करता था।

प्रत्येक हाई कोर्ट को आदेश प्रदान करने, वन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, निषेध-आदि के आज्ञा पत्र प्रदान करने का अधिकार होगा। यह आज्ञा-पत्र मौलिक अधिकारों को लागू करने के लिए अपने क्षेत्र की किसी सरकार को प्रदान किए जा सकते हैं।

सैनिक शक्ति द्वारा स्थापित किसी न्यायालय के अतिरिक्त अपने अपने क्षेत्र के समस्त न्यायालयों पर हाई कोर्ट को निरीक्षण का अधिकार होगा। इस कार्य के सम्पादन में हाई कोर्ट (१) अन्य न्यायालयों के मुकदमे माँग सकती है, (२) इन न्यायालयों की कार्यप्रणाली के हेतु नियम प्रतिपादित कर सकती है, (३) इन न्यायालयों के पदाधिकारियों द्वारा पुस्तकें, हिसाब, आदि रखने के नियम प्रतिपादित कर सकती है, और (४) राजप्रमुख अथवा राज्यपाल की पूर्व स्वीकृति के साथ न्यायालय के पदाधि-

कारियों तथा वहाँ पैरवी करने वाले एडवोकेट, एटोरनी और प्लीडरों का शुल्क भी निश्चित कर सकती है।

इसके अतिरिक्त यदि किसी निम्न न्यायालय में यदि कोई ऐसा मुकदमा चल रहा हो, जिसमें कानून का कोई ऐसा महत्त्वपूर्ण प्रश्न फँसा हो जिसके कारण विधान की व्याख्या की आवश्यकता आ पड़े, तो इस प्रकार के मुकदमे को हाई कोर्ट अपने यहाँ ले लेगी। इसके पश्चात् हाई कोर्ट स्वय उस मुकदमे का निर्णय कर उस मुकदमे को समाप्त कर सकती है, अथवा कानून के प्रश्न को सुलझा कर उसे उसी न्यायालय को प्रदान कर सकती है।

जिस राज्य अथवा क्षेत्र में हाई कोर्ट का मुख्य पद स्थित हो, उसके अतिरिक्त संसद हाई कोर्ट के अधिकार क्षेत्र को अपने कानून द्वारा व्यापक एव बहिष्कृत कर सकती है।

(२) अन्य आधीन न्यायालय

ज़िला न्यायाधीश की नियुक्ति और योग्यताएँ

प्रथम नामावली के भाग 'अ' और 'ब' में उद्धृत राज्यों में ज़िला न्यायाधीशों की नियुक्ति तथा उनकी उन्नति राज्यपाल अथवा राजप्रमुख उस विशेष राज्य की हाई कोर्ट से परामर्श लेकर करेगा। ज़िला न्यायाधीश के पद को ग्रहण करने के लिए यह आवश्यक है कि कोई व्यक्ति राज्य अथवा सघ के किसी पद को ग्रहण न किए हुए हो, अथवा सात वर्ष के अनुभव का एडवोकेट अथवा प्लीडर रह चुका हो, अथवा हाई कोर्ट ने जिसकी नियुक्ति के लिए सिफ़ारिश की हो। इस सम्बन्ध में यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि इस 'ज़िला न्यायाधीश' शब्दावली में निम्नलिखित भी सम्मिलित हैं; एक दीवानी का न्यायाधीश, सहायक ज़िला न्यायाधीश, उप ज़िला न्यायाधीश, सहकारी ज़िला न्यायाधीश, स्मॉल कॉज़ न्यायालय के प्रधान न्यायधीश, प्रधान प्रादेशिक मजिस्ट्रेट, सहायक प्रधान प्रादेशिक मजिस्ट्रेट, सेशन्स न्यायाधीश, सहायक सेशन्स न्यायाधीश और सहकारी सेशन्स न्यायाधीश।

'न्याय व्यवस्था सम्बन्धी पद' इस शब्दावली का यद्यपि विधान के अन्तर्गत यही अर्थ लिया गया है कि इसमें वे व्यक्ति सम्मलित हैं जो ज़िला न्यायाधीश तथा उससे निम्न पदों के लिए प्रार्थी थे, फिर भी ज़िला न्यायाधीशों के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों की भरती के सम्बन्ध में विधान के अन्तर्गत कुछ विभिन्न धाराएँ प्रस्तुत की गई हैं। इस प्रकार की समस्त नियुक्तियाँ राज्यपाल अथवा राजप्रमुख स्वय द्वारा निर्मित नियमों के अनुसार, राज्य के पब्लिक सर्विस कमीशन और हाई कोर्ट से

ज़िला न्यायालय और अन्य न्यायालय के निरीक्षण तथा उन व्यक्तियों की उन्नति और छुट्टी के सम्बन्ध में जो किसी राज्य की न्याय व्यवस्था में ज़िला न्यायाधीश से निम्न पद ग्रहण किए हुए हैं, का अधिकार हाई कोर्ट को होगा।

राज्यपाल अथवा राजप्रमुख को विधान द्वारा यह अधिकार प्रदान किया गया है कि वह जनता को यह सूचित करे कि आधीन न्यायालयों और न्याय व्यवस्था सम्बन्धी पद तथा उसके अन्तर्गत निर्मित किए गए समस्त नियम, स्वय द्वारा निश्चित दिनांक से मजिस्ट्रेट के निर्देशित वर्ग के प्रति लागू हो जाएँगे, इनमें कुछ संशोधन भी होंगे जिनका निर्देशन उस सूचना में ही कर दिया गया है।

कारियों तथा वहाँ पैरवी करने वाले एडवोकेट, एटोरनी और प्लीडरों का शुल्क भी निश्चित कर सकती है।

इसके अतिरिक्त यदि किसी निम्न न्यायालय में यदि कोई ऐसा मुकदमा चल रहा हो, जिसमें कानून का कोई ऐसा महत्त्वपूर्ण प्रश्न फँसा हो जिसके कारण विधान की व्याख्या की आवश्यकता आ पड़े, तो इस प्रकार के मुकदमे को हाई कोर्ट अपने यहाँ ले लेगी। इसके पश्चात् हाई कोर्ट स्वय उस मुकदमे का निर्णय कर उस मुकदमे को समाप्त कर सकती है, अथवा कानून के प्रश्न को सुलझा कर उसे उसी न्यायालय को प्रदान कर सकती है।

जिस राज्य अथवा क्षेत्र में हाई कोर्ट का मुख्य पद स्थित हो, उसके अतिरिक्त ससद हाई कोर्ट के अधिकार क्षेत्र को अपने कानून द्वारा व्यापक एव बहिष्कृत कर सकती है।

(२) अन्य आधीन न्यायालय

ज़िला न्यायाधीश की नियुक्ति और योग्यताएँ

प्रथम नामावली के भाग 'अ' और 'ब' में उद्धृत राज्यों में ज़िला न्यायाधीशों की नियुक्ति तथा उनकी उन्नति राज्यपाल अथवा राजप्रमुख उस विशेष राज्य की हाई कोर्ट से परामर्श लेकर करेगा। ज़िला न्यायाधीश के पद को ग्रहण करने के लिए यह आवश्यक है कि कोई व्यक्ति राज्य अथवा सघ के किसी पद को ग्रहण न किए हुए हो, अथवा सात वर्ष के अनुभव का एडवोकेट अथवा प्लीडर रह चुका हो, अथवा हाई कोर्ट ने जिसकी नियुक्ति के लिए सिफ़ारिश की हो। इस सम्बन्ध में यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि इस 'ज़िला न्यायाधीश' शब्दावली में निम्नलिखित भी सम्मिलित हैं; एक दीवानी का न्यायाधीश, सहायक ज़िला न्यायाधीश, उप ज़िला न्यायाधीश, सहकारी ज़िला न्यायाधीश, स्मॉल कॉज़ न्यायालय के प्रधान न्यायधीश, प्रधान प्रादेशिक मजिस्ट्रेट, सहायक प्रधान प्रादेशिक मजिस्ट्रेट, सेशन्स न्यायाधीश, सहायक सेशन्स न्यायाधीश और सहकारी सेशन्स न्यायाधीश।

'न्याय व्यवस्था सम्बन्धी पद' इस शब्दावली का यद्यपि विधान के अन्तर्गत यही अर्थ लिया गया है कि इसमें वे व्यक्ति सम्मलित हैं जो ज़िला न्यायाधीश तथा उससे निम्न पदों के लिए प्रार्थी थे, फिर भी ज़िला न्यायाधीशों के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों की भरती के सम्बन्ध में विधान के अन्तर्गत कुछ विभिन्न धाराएँ प्रस्तुत की गई हैं। इस प्रकार की समस्त नियुक्तियाँ राज्यपाल अथवा राजप्रमुख स्वयं द्वारा निर्मित नियमों के अनुसार, राज्य के पब्लिक सर्विस कमीशन और हाई कोर्ट से परामर्श लेकर करेगा।

ज़िला न्यायालय और अन्य न्यायालय के निरीक्षण तथा उन व्यक्तियों की उन्नति और छुट्टी के सम्बन्ध में जो किसी राज्य की न्याय व्यवस्था में ज़िला न्यायाधीश से निम्न पद ग्रहण किए हुए हैं, का अधिकार हाई कोर्ट को होगा।

राज्यपाल अथवा राजप्रमुख को विधान द्वारा यह अधिकार प्रदान किया गया है कि वह जनता को यह सूचित करे कि आधीन न्यायालयों और न्याय व्यवस्था सम्बन्धी पद तथा उसके अन्तर्गत निर्मित किए गए समस्त नियम, स्वयं द्वारा निश्चित दिनांक से मजिस्ट्रेट के निर्देशित वर्ग के प्रति लागू हो जाएँगे, इनमें कुछ संशोधन भी होंगे जिनका निर्देशन उस सूचना में ही कर दिया गया है।

तेरहवाँ अध्याय

शक्ति वितरण

"इस आधार पर बडा गम्भीर दोषारोपण किया गया है कि केन्द्रीकरण की मात्रा अत्यन्त अधिक हो गई है और राज्यों को म्युनिसिपैलिटियों के समान कर दिया गया है।"[1]

—डाक्टर अम्बेदकर

प्रत्येक संघ राज्य में केन्द्र और संघीय इकाइयों मे स्पष्ट शक्ति वितरण किया जाता है, क्योंकि, जैसा कि डाइसी ने लिखा है, "सघ का तात्पर्य ही राज्य की शक्ति को उन अनेक आधीन सस्थाओ में वितरित करना है जिनका मूल और जिनका नियंत्रणकर्त्ता विधान है।" अन्य स्थानों के समान भारतवर्ष में भी केन्द्र और इकाइयों के व्यवस्थापक कार्यों को विधान में विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत स्थान प्रदान किया गया है।

नवीन विधान के अन्तर्गत शक्ति वितरण की जो प्रणाली अपनाई गई है वह अपने सार रूप में सन् १६३५ के एक्ट के अन्तर्गत प्रदान की गई प्रणाली के समान है। शक्ति वितरण का सिद्धान्त भी वही रखा गया है, अर्थात् तालिकाओं द्वारा अधिकारों का व्यवस्थित वितरण। अब इन तीन तालिकाओं के नाम इस प्रकार रखे गए हैं—'सघीय तालिका', 'राजकीय तालिका' और 'एकीभूत तालिका'। इन तालिकाओं में शक्ति वितरण का सिद्धान्त वही है जो सन् १६३५ के एक्ट के अन्तर्गत था। अवशेष अधिकार केन्द्रीय सरकार को प्रदान किए गए हैं।

केन्द्रीय सर्वोच्च सत्ता

यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित कर दिया गया है कि राज्य अथवा सघ की व्यवस्थापिका सभाएँ एक दूसरे के अधिकारों का अपहरण नहीं कर सकेंगी। एकीभूत तालिका में उल्लिखित विषयों के सम्बन्ध में केन्द्र को निश्चित सर्वोच्च सत्ता प्रदान

---

1. "A serious complaint is made on the ground that there is too much of centralisation and that the States have been reduced to municipalities"

—Dr. Ambedkar.

की गई है। इसके अतिरिक्त विधान में यह प्रस्तावित किया गया है कि राजकीय तालिका में दिए गए किसी विशेष विषय का स्वरूप अथवा महत्त्व यदि राष्ट्रीय होगा तो उस विषय के सम्बन्ध में संसद को कानून निर्माण का अधिकार होगा। यदि एक अथवा एक से अधिक राज्य मिल कर स्वेच्छापूर्वक संघ से यह प्रार्थना करें कि उनके कुछ विषयों के सम्बन्ध में केन्द्र ही कानून निर्माण करे, तो केन्द्र इस प्रकार का कानून निर्माण कर सकता है। इसके अतिरिक्त विधान में यह भी प्रतिपादित किया गया है कि यदि राज्य परिषद् उपस्थित सदस्यों के ⅔ बहुमत से यह प्रस्ताव पास करदे कि राष्ट्रीय हित के लिए यह आवश्यक है कि राजकीय तालिका के कुछ विशेष विषयों के सम्बन्ध में संसद कानून बनाए, तो संसद उस समय तक इन विषयों के सम्बन्ध में कानून निर्माण करती रहेगी जब तक कि वह प्रस्ताव लागू रहेगा। इस प्रकार के प्रस्ताव की अवधि एक वर्ष होगी, परन्तु आवश्यकता पड़ने पर एक बार में एक वर्ष की गणना से प्रस्ताव पास करके इसकी अवधि में और भी वृद्धि की जा सकती है। इस प्रकार के प्रस्ताव समाप्त होने के दिनांक से ६ मास पश्चात् इस सम्बन्ध में बनाए गए संसद के कानून भी समाप्त हो जाएँगे। परन्तु यहाँ इतना ध्यान में रखना चाहिए कि राजकीय तालिका के विषयों के सम्बन्ध में संसद के कानून निर्माण के अधिकार के होते हुए भी राज्यों को भी उन विषयों के सम्बन्ध में कानून बनाने का अधिकार होगा। यदि राजकीय और केन्द्रीय कानून में विरोध होता है तो राजकीय कानून उस सीमा तक अवैध घोषित किया जाएगा जिस सीमा तक वह केन्द्रीय कानून का विरोध कर रहा होगा। राजकीय तालिका के किसी विषय के सम्बन्ध में संसद कानून बना सकती है यदि दो अथवा दो से अधिक राज्य इसे आवश्यक समझें और इस सम्बन्ध में उन समस्त राज्यों की व्यवस्थापिका सभाओं के समस्त भवन एक प्रस्ताव पास कर दें। इस प्रकार संसद द्वारा पास किया, प्रत्येक एक्ट उन राज्यों में लागू होगा। कोई अन्य राज्य भी इस प्रकार के कानून को अपने यहाँ लागू कर सकता है यदि उसकी व्यवस्थापिका सभा के समस्त भवन इस सम्बन्ध में एक प्रस्ताव पास कर दें। इस प्रकार निर्मित एक्ट को खण्डित करने अथवा संशोधित करने का अधिकार केवल संसद को ही होगा। किसी अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि, समझौता, आदि के सम्बन्ध में संसद भारतवर्ष अथवा उसके किसी भाग के लिए कानून बना सकती है। संकट कालीन अवस्था अथवा असाधारण परिस्थितियों में संसद को यह अधिकार होगा कि वह राजकीय तालिका के एक अथवा समस्त विषयों के सम्बन्ध में कानून-निर्माण करे। परन्तु संकटकालीन अवस्था की घोषणा की समाप्ति के दिनांक से ६ मास के पश्चात् इस प्रकार निर्मित किए गए कानून समाप्त हो जाएँगे। इस सम्बन्ध में भी यह न समझ लेना चाहिए कि राज्यों को कानून निर्माण का अधिकार नहीं, परन्तु दोनों कानूनों में विरोध के अवसर पर केन्द्रीय कानून ही स्वीकृत माना जाएगा। यह भी विस्मरण नहीं करना चाहिए कि एकीभूत तालिका में उद्धृत किसी विषय के सम्बन्ध में बनाया गया किसी

राज्य का कानून यदि राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रख लिया जाए और उसे यह स्वीकृति प्राप्त हो जाए, तो वह कानून केन्द्रीय कानून के विरोध में होते हुए भी स्वीकृत एवं वैध माना जाएगा। केन्द्र द्वारा शासित समस्त क्षेत्रों के सम्बन्ध में कानूनों का निर्माण संसद करेगी।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाएगा कि विधान की आधीनता में होते हुए भी संघ और उसकी इकाइयाँ (प्रथम नामावली के 'अ' और 'ब' भाग में प्रतिपादित) अपने-अपने क्षेत्रों में स्वतन्त्र और सर्वोच्च सत्ताधारी होंगे। कोई भी दूसरे के अधिकारों का अपहरण नहीं कर सकेगा। यदि अधिकार क्षेत्र के सम्बन्ध में कोई झगड़ा उठ भी खड़ा होता है तो इस प्रकार के झगड़े के निर्णय का पूर्ण अधिकार सर्वोच्च न्यायालय को होगा, और यह निर्णय अन्तिम होगा तथा दोनों दलों को स्वीकार करना पड़ेगा। इस सम्बन्ध में बम्बई के भूतपूर्व मुख्य मंत्री श्री बी. जी. खेर का कथन उल्लेखनीय है कि "प्रजातन्त्रात्मक सिद्धान्तों के अनुसार राजनैतिक शक्ति का निष्केन्द्रीकरण कर दिया गया है। केन्द्र और इकाइयों के कार्य क्षेत्र की सीमा को स्पष्ट रूप से पृथक करने के हेतु शक्ति वितरण किया गया है। इस सम्बन्ध में उठे हुए प्रत्येक झगड़े का निर्णय सर्वोच्च न्यायालय करेगा।"

व्यवस्थापक अधिकारों का वितरण

संघीय तालिका

नवीन विधान के अन्तर्गत इस तालिका में ९७ विषय हैं, जबकि सन् १९३५ के एक्ट के अन्तर्गत इस तालिका में केवल ५१ विषय थे। इनमें मुख्य हैं : रक्षा, अस्त्र-शस्त्र, बारूद गोला, विदेशी कार्य और अन्तर्राष्ट्रीय कर्तव्य, यातायात, परमाणु शक्ति, स्वदेश त्याग तथा देशान्तर वास, टकसाल और सिक्के, डाक और तार आदि, संघ की सम्पत्ति और उसकी आय, विदेशी ऋण, भारतवर्ष का रिजर्व बैंक, डाकखाना, सेविंग्ज़ बैंक, संघ द्वारा नियत शाखाओं द्वारा नमक का बनाया जाना तथा उसका वितरण तथा अन्य शाखाओं द्वारा इसका निरीक्षण, अफ़ीम, राष्ट्रीय महत्त्व के ऐतिहासिक स्मारक तथा कलात्मक भवन, यूनियन पब्लिक सर्विस तथा अन्य अखिल भारतीय सर्विस, आदि। इसके अतिरिक्त वे भी विषय हैं जिनका उल्लेख राजकीय अथवा एकीभूत तालिका दोनों में से किसी में नहीं है।

राजकीय तालिका

इस तालिका में वे विषय उद्धृत हैं जिनके सम्बन्ध में राज्य की व्यवस्थापिका सभाएं कानून बना सकेंगी। इनमें मुख्य हैं : जन सुरक्षा, पुलिस, न्याय प्रबन्ध, बन्दीगृह, स्थानीय सरकार, जन-स्वास्थ्य और स्वच्छता, मादक द्रव्य, वे शैक्षिक संस्थाएँ जिन्हें राज्य द्वारा आर्थिक सहायता प्रदान की जाती हो तथा जिन पर राज्य का ही

नियन्त्रण हो, संघीय तालिका में उद्धृत यातायात के अतिरिक्त शेष यातायात, कृषि, राज्य की सीमा में व्यापार और व्यवसाय, बेकार और अपंगुओं को सुविधा, राज्य की पब्लिक सर्विस और राज्य पब्लिक सर्विस कमीशन, राज्य का जनता का ऋण, मालगुज़ारी, कृषि की आय पर कर, सड़क अथवा नदी आदि पर से जाने वाले सामान और व्यक्तियों पर कर, चुंगी, वृत्तियों, व्यवसायों, व्यापार और नौकरियों पर कर, आदि।

एकीभूत तालिका

इस तालिका मे ४७ विषय हैं जिनके सम्बन्ध मे संसद और राज्यों की व्यवस्थापिका सभाओं—दोनो को ही कानून बनाने का अधिकार है। दोनो के कानूनो में विरोध होने पर ससद का कानून वैध घोषित किया जाएगा। इन विषयों में मुख्य हैं : फौजदारी कानून, फौजदारी कार्य-प्रणाली, प्रतिबन्धक अवरोध, विवाह और तलाक, दिवालियापन और पागलपन, धरोहर और संरक्षक, दीवानी कार्यप्रणाली, सर्वोच्च न्यायालय के अतिरिक्त अन्य न्यायालयों का अनादर, औषधियाँ, अफ़ीम के अतिरिक्त अन्य विष, आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था, व्यापार संघ, हित, श्रम, सुविधा, स्थानान्तरित हुए व्यक्तियों का पुनःस्थापन, स्थानान्तरित हुए व्यक्तियों की सम्पत्ति, आदि।

शासन सम्बन्धी अधिकारो का वितरण

जिस क्षेत्र के सम्बन्ध में संसद और राज्य की व्यवस्थापिका सभाएँ कानून बनाती हैं, उन क्षेत्रों के सम्बन्ध में क्रमशः केन्द्रीय कार्यकारिणी और राज्य की कार्यकारिणी शासन प्रबन्ध करेंगी। राज्य अपने किसी अधिकार का प्रयोग इस रूप में न कर सकेगा कि केन्द्र के अधिकारों को उनसे हानि पहुँचने की सम्भावना हो। केन्द्र के अधिकारों की अनुकूलता में ही राज्य अपनी शक्ति का प्रयोग कर सकेगा। इस सम्बन्ध में केन्द्र राज्यों को आदेश भी प्रदान कर सकता है।

भारत सरकार अन्य विषयों पर भी राज्यों की सरकार को आदेश प्रदान कर सकती है। राष्ट्रीय और सैनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण यातायात के साधनों की सुरक्षा तथा स्थायित्व के सम्बन्ध मे; प्रत्येक राज्य में पृथक रूप से रेल की सुरक्षा के सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार राज्यों की सरकारों को आदेश प्रदान कर सकेगी।

जिन विषयों पर संघीय सरकार का अधिकार है उन विषयों के शासन प्रबन्ध को राष्ट्रपति राज्य अथवा उसके किसी पदाधिकारी को सौंप सकता है। यह कार्य राष्ट्रपति उस राज्य से परामर्श लेकर ही करेगा। ससद भी कानून द्वारा राज्य अथवा उसके पदाधिकारियों को कुछ अधिकार और कर्तव्य प्रदान कर सकती है। इस प्रकार के प्रबन्ध में जो धन व्यय होगा, वह धन केन्द्रीय सरकार उस राज्य की सरकार को देगी।

पूर्वकाल के देशी राज्य जो अब भाग 'ब' में आगए हैं, यदि चाहें तो सशस्त्र सेनाएँ रख सकते हैं, परन्तु यह वे राष्ट्रपति के आदेशों के अनुसार ही कर सकेंगे।

न्याय के उत्तम प्रबन्ध के हेतु ससद एक कानून द्वारा सहायक न्यायालय भी खुलवा सकती है।

एक शक्तिशाली केन्द्र की उत्पत्ति की न्याय्यता

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि विधान के अन्तर्गत केन्द्र को अत्यन्त अधिक अधिकार प्रदान किए गये हैं। व्यवस्थापन सम्बन्धी विषयों में ससद को सर्वोच्च सत्ता, केन्द्र को प्रदान किए गए अवशेष अधिकार तथा सकट कालीन अवस्था सम्बन्धी विधान की धाराओं ने सघीय इकाइयों के अधिकार क्षेत्र को अत्यन्त सीमित बना दिया है। अति केन्द्रीकरण ने सघ की भावना में प्रतिबन्ध उपस्थित कर दिया है, और इसी के कारण इसकी कठोर आलोचना की गई है।

केन्द्र को इतने अधिक व्यापक अधिकार देश की विशालता और विभिन्नता के दृढ और विवश करने वाले कारणों के आधार पर प्रदान किए गए थे। विधान निर्माताओं के मस्तिष्क में सदा ही दो उच्चतम आदर्श स्थित रहे —राष्ट्रीय हित और देश की एकता। हमारे देश में प्रचलित विभाजन और पृथक करने की प्रवृत्ति के कारण हमने जो महान दु ख सहे, उन्हें हम कभी नहीं भूल सकते। विभिन्न भाषा, जाति, गोत्र और धर्मों का देश में होने के कारण भारतवर्ष के लिए यह आवश्यक था कि उसके विभिन्न अगों को सम्मिलित रखने के लिए एक केन्द्रीय शक्ति की स्थापना की जाए। इसके अतिरिक्त देश के विभाजन ने जो उथल पुथल कर दी उसके कारण एक शक्तिशाली केन्द्र की स्थापना और भी आवश्यक हो गई। सम्पूर्ण राष्ट्रीय आधार पर भारतवर्ष के आर्थिक विकास और भारतवर्ष के समस्त नागरिकों के जीवन के स्तर को ऊँचा उठाने की समस्या ने एक दृढ़ और शक्तिशाली केन्द्र की स्थापना का समर्थन किया। यह स्वाभाविक है कि आर्थिक एकता के पश्चात् राजनैतिक एकता का आगमन होता है। इसलिए बंगाल के सन् १९४३ की महामारी और अकाल तथा अन्य अनेक देशव्यापी दुर्घटनाओं को दृष्टिगत रखते हुए विधान निर्माताओं ने केन्द्र को ही शक्तिशाली बनाया। संकटकालीन अवस्था के अतिरिक्त तथा जब तक राष्ट्र के हितों पर आघात न हो, राज्य अपने अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र होंगे। सामान्य अथवा साधारण परिस्थितियों में विधान का स्वरूप संघात्मक होगा परन्तु असाधारण परिस्थिति में यह विधान एकात्मक के रूप में परिवर्तित हो जाएगा। इस प्रकार जैसा कि डाक्टर अम्बेदकर ने कहा है यह विधान एकात्मक और सघात्मक दोनों है। 'सघ' के स्थान पर 'यूनियन' शब्द का प्रयोग निश्चित तथा सचेत रूप से किया गया है, क्योंकि इस शब्द से एकता और संगठन का अर्थ झलकता है। राज्य इस सघ से पृथक नहीं हो सकते क्योंकि इसे

इन सब राज्यों को संगठित करने के अधिकार—व्यवस्थापक और शासन सम्बन्धी—प्राप्त हैं। इसी दृष्टिकोण की पुष्टि में डाक्टर श्यामाप्रसाद मुकर्जी ने लिखा है कि, "इन संकटकालीन अवस्थाओं का सामना करने के हेतु केन्द्र के लिए कुछ अधिकार सुरक्षित रखने चाहिए जो नीति के निर्धारण और लागू करने में पूर्ण और प्रतिबन्ध रहित हों। अन्त में जिस विधान का जन्म हुआ है वह इस सबका आश्वासन देता है और विश्रृंखलता तथा उत्पात अथवा उपद्रव के भय से रक्षा करता है।"[1] केन्द्र के यह महत्त्वपूर्ण अधिकार विधान की सामान्य विशेषता नहीं है। उनका प्रयोग केवल उसी समय किया जाएगा जब किसी संकट कालीन अवस्था में उनकी आवश्यकता होगी। इसकी आवश्यकता भी है क्योंकि देश के समान हित और समान लक्ष्य की प्राप्ति के हेतु केवल केन्द्र ही प्रयत्न कर सकता है, विभिन्न राज्य नहीं। इस सम्बन्ध में डाक्टर अम्बेदकर का कथन उल्लेखनीय है कि, "जो संकट कालीन अवस्था के लिए भी केन्द्र के इन महत्त्वपूर्ण अधिकारों की न्याय्यता को स्वीकार नहीं करते, उन्हें कदाचित् उस समस्या का स्पष्ट ज्ञान नहीं है, जो इस विषय के मूल में स्थित है।" अन्त में यह स्वीकार करना पडता है, जैसा कि डाक्टर श्यामाप्रसाद मुकर्जी ने लिखा है कि, "वैधानिक धाराएँ भले ही कुछ भी हों, व्यावहारिक रूप में उनकी सफलता राजकीय भावनाओं को निर्दयतापूर्वक कुचलने में नहीं बल्कि एकता की आवश्यकताओं और राजकीय स्वराज्य की आवश्यकताओं के मध्य में एक संतुलन के विकास में ही निहित है।"[2]

---

1 "There should be power reserved to the centre, full and untrammelled both in the formulation of the policy and its execution to deal effectively with such emergencies. The Constitution which ultimately emerged guarantees all this and guards against the dangers of disunity and turmoil."

—Dr. Shyama Prasad Mookerjee.

2 "Whatever may be the constitutional provisions, success in their practical working would, however, lie not in riding rough shod over provincial feelings but in evolving a balance between the exigencies of unity and the requirements of provincial autonomy."

—Dr. Shyama Prasad Mookerjee.

चौदहवाँ अध्याय

पब्लिक सर्विस

"अयोग्यता पर केवल पार्लियामेन्ट और जन सम्मति की प्रतिक्रिया द्वारा ही प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाता, बल्कि सिविल सर्विस की योग्यता द्वारा भी लगाया जाता है।" [1]

—जेनिंग्स

किसी भी देश में वहाँ की सिविल सर्विस शासन प्रबन्ध का मूलाधार होती है। यह पद स्थायी एव उच्च वेतन के होने के कारण देश के अत्युत्तम व्यक्तियों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। इस स्थायी सघ में जिसे प्राय. नौकर शाही के नाम से पुकारा जाता है, बडे अनुभवी व्यक्ति होते हैं जो किसी एक विशेष ज्ञान में पारगत होते हैं, और जो शासन प्रबन्ध का सचालन बड़ी योग्यता से करते हैं। यह अधिकारी अपने पद से सम्बन्धित वाह्य और अन्तर के प्रत्येक सकेत से परिचित होते हैं, और अपने ज्ञान द्वारा मन्त्रियों को यह आवश्यकता से अधिक सहायता पहुँचाते हैं, क्योंकि मन्त्रीगण राजनीतिज्ञ होने के नाते शासन सम्बन्धी समस्याओं से उतने अधिक परिचित नहीं होते। वास्तव में नौकरशाही शासन प्रबन्ध की एक वास्तविक सस्था है जबकि मन्त्रीगण अधिकतर केवल समर्थन करना जानते हैं, और नौकरशाही द्वारा किए गए निर्णय पर हस्ताक्षर मात्र कर देते हैं। जनता की दृष्टि में तो मन्त्री को "ज्ञान के भडार के रूप में प्रदर्शित किया जाता है।"

नवीन विधान के अन्तर्गत भी इस प्रकार की पब्लिक सर्विस और पब्लिक सर्विस कमीशन (लोक सेवा आयोग) की व्यवस्था की गई है। राज्यों की स्वय की पब्लिक सर्विस होते हुए भी, विधान के अन्तर्गत कुछ अखिल भारतीय सर्विस की व्यवस्था की गई है, जिसके सदस्यों की नियुक्ति सघ के शासन प्रबन्ध सम्बन्धी मुख्य पदों पर की जाएगी। इण्डियन एडमिनिस्ट्रेटिव सर्विस (Indian Administrative Service) और इण्डियन पुलिस सर्विस (Indian Police Service)

---

1 "The check upon the incompetence arises not merely from the reaction of parliamentary and public opinion, but also from the competence of the Civil Service" —Jennings

इसी प्रकार की सर्विस हैं। राज्य परिषद् को यह अधिकार प्राप्त है कि यदि वह राष्ट्रीय हित के लिए यह आवश्यक समझे तो उपस्थित सदस्यों के ⅔ बहुमत द्वारा एक प्रस्ताव पास करके इस प्रकार की अन्य सर्विस की व्यवस्था कर सकती है। इस विधान के लागू होने के पूर्व पब्लिक सर्विस अथवा संघ अथवा किसी राज्य के अन्तर्गत स्थापित किसी पद के सम्बन्ध में जो कानून लागू थे, वे अब भी लागू रहेंगे जब तक कि इस सम्बन्ध में कोई नवीन व्यवस्था स्थापित न कर दी जाए। विभिन्न राज्यों की पब्लिक सर्विस में लिए जाने वाले व्यक्तियों से सम्बन्धित नियम और प्रणाली के निश्चित करने का अधिकार विधान द्वारा उनकी व्यवस्थापिका सभाओं को प्रदान किया गया है। इस प्रकार अखिल भारतीय सर्विस का संचालन संसद करेगी, तथा विभिन्न राज्यों की व्यवस्थापिका सभाएँ अपने-अपने राज्य की पब्लिक सर्विस का सचालन करेंगी। जब तक कि इस व्यवस्था से सम्बन्धित कानूनों का निर्माण न हो जाए, उस समय तक के लिए विभिन्न सरकारों के अध्यक्ष अर्थात, भारतीय सर्विस के सम्बन्ध में राष्ट्रपति और विभिन्न राज्यों की पब्लिक सर्विस के सम्बन्ध में राज्यपाल अथवा राजप्रमुख, अथवा उनके द्वारा नियुक्त किए गए व्यक्ति इन सर्विस की भरती के सम्बन्ध में नियमों का निर्माण कर सकेंगे। इस प्रकार नियुक्त हुए भारतवर्ष के समस्त पदाधिकारी, चाहे वह संघ के रक्षा सम्बन्धी विभाग में हों चाहे शासन प्रबन्ध से सम्बन्धित विभाग में, राष्ट्रपति के प्रति विश्वासी रह कर ही अपने पद पर आसीन रह सकेंगे। इसी प्रकार विभिन्न राज्यों के पदाधिकारी भी राज्यपाल अथवा राजप्रमुख के प्रति विश्वासी रह कर ही अपने पद पर आसीन रह सकेंगे। नियमित सर्विस (contract services) इस धारा के अन्तर्गत नहीं आतीं। इस प्रकार के पदों पर कार्य कर रहे व्यक्तियों को यदि निश्चित अवधि के पूर्व हटाया जाय, और यदि उनसे सम्बन्धित सरकार के अध्यक्ष यह आवश्यक समझें तो उन्हें इसका प्रतिफल प्रदान किया जा सकता है। निश्चित अवधि से पूर्व उन्हें हटाए जाने का कारण उस पद को समाप्त करना अथवा दुराचरण के अतिरिक्त और कुछ भी हो सकता है।

संघ अथवा विभिन्न राज्यों में नियुक्त किए गए शासन प्रबन्ध से सम्बन्धित पदाधिकारियों को उनके पदस्थ करने, हटाने अथवा उन्हें निम्न स्थान प्रदान करने के सम्बन्ध में दो सुरक्षाएँ प्रदान की गई हैं :

(१) इस प्रकार के किसी पदाधिकारी को किसी ऐसे अधिकारी द्वारा पदस्थ अथवा हटाया न जा सकेगा जो उसके नियुक्त करने वाले अधिकारी के आधीन हो; और

(२) इस प्रकार के किसी पदाधिकारी को उस समय तक पदस्थ अथवा हटाया न जा सकेगा तथा उसे उस समय तक निम्न स्थान प्रदान न किया जा सकेगा

जब तक कि उसे इस बात का यथेष्ट अवसर प्रदान न कर दिया जाए कि वह स्वयं के विरुद्ध लगाए गए अभियोग के विरोध में कुछ बचाव उपस्थित कर सके।

परन्तु निम्नलिखित विषयों के सम्बन्ध में यह सुरक्षाएँ लागू नहीं होंगी :—

(अ) जब किसी पदाधिकारी के पदस्थ करने अथवा हटाने का कारण उस पदाधिकारी के विरुद्ध फौजदारी का कोई अभियोग हो।

(ब) जब इस प्रकार के पदाधिकारी को हटाने, पदस्थ करने अथवा निम्न स्थान प्रदान करने के लिए अधिकृत अधिकारी को कुछ कारणों द्वारा जिन्हें वह लिखित रूप में रखेगा, यह प्रतीत हो कि इस प्रकार के किसी पदाधिकारी को अपना पक्ष अथवा बचाव प्रदर्शित करने का अवसर प्रदान करना व्यवहारिक रूप से न्याय सगत न होगा,

(स) जब भारतवर्ष के राष्ट्रपति अथवा किसी राज्य के राज्यपाल अथवा राजप्रमुख को यह प्रतीत हो कि राष्ट्र अथवा किसी राज्य की सुरक्षा के हितार्थ यह उचित नहीं है कि उस पदाधिकारी को इस प्रकार का अवसर प्रदान किया जाय।

अवसर प्रदान न करने की न्यायसगत व्यवहारिकता से सम्बन्धित किसी सदिग्ध अथवा अनिश्चित प्रश्न का निर्णय वही अधिकारी करेगा जिसे शासन प्रबन्ध से सम्बन्धित किसी पदाधिकारी को हटाने, पदस्थ करने, अथवा उसे निम्न स्थान प्रदान करने का अधिकार होगा, और इस सम्बन्ध में उसका निर्णय अन्तिम होगा।

विधान के अन्तर्गत प्रस्तावित एक विशेष धारा के अनुसार इण्डियन एडमिनिस्ट्रेटिव सर्विस, इण्डियन पुलिस सर्विस, इण्डियन मेडीकल सर्विस, आदि उन सर्विस के सदस्यों को जो पूर्व समय में भारत सचिव की सर्विस के अतर्गत आजाती हैं, कुछ वैधानिक सुविधाएँ प्राप्त होती रहेंगी। जहाँ तक यह परिवर्तित परिस्थितियाँ इस विधान के लागू होने से पूर्व की सर्विस की प्राचीन प्रणाली एवं शर्तों के प्रयोग में रहने के अनुकूल है, उस समय तक वही नियम लागू रहेंगे। इनमें पदाधिकारियों की छुट्टियाँ, वृत्ति, वेतन, प्रतिफल, आदि से सम्बन्धित नियम भी सम्मिलित हैं।

पब्लिक सर्विस कमीशन[1]

विधान द्वारा सघ और प्रत्येक राज्य के लिए पृथक पब्लिक सर्विस कमीशनों की स्थापना की गई है। यदि दो अथवा दो से अधिक राज्य अपने लिए एक ही पब्लिक सर्विस कमीशन की स्थापना करना चाहें, और यदि इस प्रकार इच्छुक प्रत्येक राज्य की व्यस्थापिका सभा इस सम्बन्ध में प्रस्ताव पास कर दे तो ससद एक कानून द्वारा उन राज्यों के लिए एक सयुक्त पब्लिक सर्विस कमीशन की व्यवस्था कर सकती है। इस प्रकार के कमीशन को सयुक्त कमीशन के नाम से ही पुकारा जाता है। यदि किसी

---

[1] लोक सेवा आयोग

राज्य के राज्यपाल अथवा राजप्रमुख संघीय पब्लिक सर्विस से इस प्रकार की प्रार्थना करें तो संघीय पब्लिक सर्विस राष्ट्रपति की स्वीकृति के साथ, उस राज्य की कुछ अथवा समस्त आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कार्य कर सकती है।

संघीय पब्लिक सर्विस कमीशन अथवा संयुक्त कमीशन के सभापति अथवा प्रधान की नियुक्त राष्ट्रपति करेंगे, और विभिन्न राज्यों के कमीशनों के अध्यक्ष की नियुक्त उनके राज्यपाल अथवा राजप्रमुख करेंगे। इसी प्रकार संघीय पब्लिक सर्विस कमीशन और संयुक्त कमीशन के सदस्यों की संख्या राष्ट्रपति निश्चित करेंगे, तथा विभिन्न राज्यों के कमीशनों के सदस्यों की संख्या राज्यपाल अथवा राजप्रमुख करेंगे। प्रत्येक पब्लिक सर्विस कमीशन के कम से कम आधे सदस्य इस प्रकार के होंगे जो अपनी नियुक्ति के समय तक भारतवर्ष अथवा किसी एक राज्य की सरकार के अन्तर्गत किसी महत्त्वपूर्ण पद पर रह चुके होंगे।

पब्लिक सर्विस कमीशन का एक सदस्य ६ वर्ष की अवधि तक अपने पद पर रह सकेगा अथवा संघीय कमीशन के सम्बन्ध में पैंसठ वर्ष की आयु तक और संयुक्त कमीशन अथवा किसी राज्य के कमीशन के सम्बन्ध में साठ वर्ष की आयु तक—जो भी इन दोनों में से पहले घटित हो जाए—अपने पद पर आसीन रह सकेगा। इस प्रकार के सदस्य द्वितीय बार नियुक्त नहीं किए जा सकते। इस प्रकार के कमीशनों का कोई सदस्य अपने पद से त्याग पत्र दे सकता है, इसके अतिरिक्त उसे दुराचरण के आधार पर राष्ट्रपति पदस्थ भी कर सकता है यदि सर्वोच्च न्यायालय इस बात की घोषणा करे। इस प्रकार के किसी सदस्य को कुछ काल के लिए भी पदस्थ किया जा सकता है। यदि वह सदस्य संघीय कमीशन अथवा संयुक्त कमीशन का है तब तो उसे राष्ट्रपति पदस्थ करेंगे, यदि वह सदस्य किसी राज्य के कमीशन का है तो उसे उस राज्य के राज्यपाल अथवा राजप्रमुख पदस्थ करेंगे। इस प्रकार के कार्य का सम्पादन उसी समय हो सकेगा जब सर्वोच्च न्यायालय से इस सम्बन्ध में रिपोर्ट प्राप्त होने पर राष्ट्रपति इस प्रकार की घोषणा करदे। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति पब्लिक सर्विस कमीशन के किसी सदस्य को निम्नलिखित आधारों पर हटा सकते हैं :

(अ) यदि कोई सदस्य दिवालिया हो जाए;

(ब) यदि कोई सदस्य अपनी सदस्यता की अवधि में अपने इन कर्त्तव्यों के अतिरिक्त कोई ऐसा पद स्वीकार करले जिसमें उसे वेतन मिले;

(स) यदि राष्ट्रपति की सम्मति में कोई सदस्य अपनी मानसिक अथवा शारीरिक दुर्बलता के कारण पद ग्रहण करने योग्य न रहा हो। यदि कोई सदस्य स्वयं सरकारी ठेके को हाथ में लेता है, तो उस पर दुराचार का दोषारोपण किया जाएगा।

अवधि समाप्त होने पर संघीय कमीशन का अध्यक्ष भारत सरकार अथवा किसी राज्य की सरकार के अन्तर्गत कोई पद प्राप्त न कर सकेगा, किसी राज्य के

कमीशन का अध्यक्ष भी यद्यपि कोई सरकारी पद ग्रहण नहीं कर सकेगा परन्तु उसकी नियुक्ति संघीय कमीशन के एक सदस्य अथवा अध्यक्ष के स्थान पर की जा सकती है। अध्यक्ष के अतिरिक्त सघीय कमीशन का कोई सदस्य केवल संघीय कमीशन अथवा किसी राज्य के कमीशन का अध्यक्ष ही नियुक्त किया जा सकता है। इसी प्रकार किसी राज्य के कमीशन के अध्यक्ष के अतिरिक्त किसी अन्य सदस्य की नियुक्ति भी सघीय कमीशन के सदस्य अथवा अध्यक्ष के स्थान पर अथवा किसी राज्य के कमीशन के अध्यक्ष के स्थान पर ही हो सकती है। इन सब पदों के अतिरिक्त इन पदाधिकारियों की नियुक्ति भारत सरकार अथवा किसी राज्य की सरकार के अन्तर्गत किसी अन्य पद पर नहीं हो सकेगी।

पब्लिक सर्विस कमीशन के कार्य

पब्लिक सर्विस कमीशन का एक मुख्य कार्य है मुख्य पदों से सम्बन्धित परीक्षा का प्रबन्ध तथा सचालन करना। पब्लिक सर्विस कमीशन का कार्य केवल परामर्श प्रदान करने का है और न कि शासन प्रबन्ध से सम्बन्धित। दो अथवा दो से अधिक राज्यों के प्रार्थना करने पर सघीय पब्लिक सर्विस कमीशन ऐसे पदो की सयुक्त भरती से सम्बन्धित योजना के निर्माण और उसे कार्य रूप मे परिणत करने मे सहायता प्रदान करेगा जिन पदों के लिए विशेष योग्यता प्राप्त किए हुए व्यक्तियों की आवश्यकता होती हैं।

परिस्थिति के अनुसार सघीय अथवा किसी राज्य के किसी पब्लिक सर्विस कमीशन से निम्नलिखित विषयों के सम्बन्ध में विचार विमर्ष किया जा सकता है

(१) शासन प्रबन्ध सम्बन्धी सर्विस और पदों पर नियुक्ति करने का ढग,

(२) शासन प्रबन्ध सम्बन्धी पदाधिकारीयों का नियुक्ति, उन्नति और स्थान परिवर्त्तन;

(३) शासन प्रबन्ध से सम्बन्धित व्यक्तियों के अनुशासन सम्बन्धी विषय जिनमें इस प्रकार के विषयों मे सम्बन्धित प्रार्थना पत्र तथा निवेदन पत्र भी सम्मिलित हों,

(४) सर्विस के किसी सदस्य द्वारा अथवा उससे सम्बन्धित मॉगे गए कानूनी कार्यवाही के विरुद्ध रक्षा के अधिकार, और

(५) अपना कर्त्तव्य निभाते हुए यदि किसी पदाधिकारी को कुछ शारीरिक अथवा कोई अन्य प्रकार की हानि हो तो उसके लिए वृत्ति के पारितोषिक का अधिकार।

अखिल भारतीय सर्विस तथा अन्य सर्विस तथा पदों के सम्बन्ध में राष्ट्रपति अथवा राज्यपाल अथवा राजप्रमुख उन विषयों का उल्लेख करते हुए नियम बना सकते हैं, जिनमें किसी सामान्य अथवा किसी विशेष विषय अथवा किन्हीं विशेष परिस्थितियों में पब्लिक सर्विस कमीशन से विचार विमर्ष करना आवश्यक नहीं होगा। इस प्रकार निर्मित नियम चौदह दिन तक संसद अथवा सम्बन्धित राज्य की व्यवस्थापिका सभा के सन्मुख उपस्थित रहेंगे, और इन सस्थाओं को यह अधिकार है कि वह इन्हें खण्डित करदे अथवा इन्हे परिवर्त्तित करदे।

अपने-अपने विषयों के सम्बन्ध मे ससद और राज्यों की व्यवस्थापिका सभाएँ पब्लिक सर्विस कमीशनों के लिए अन्य कार्य प्रस्तावित कर सकती हैं। पब्लिक सर्विस कमीशनो का व्यय भारतवर्ष तथा सम्बन्धित राज्यों के सचित धन में से प्रदान किया जाएगा। सघीय कमीशन, विभिन्न राज्यों के कमीशनों तथा संयुक्त कमीशन का यह कर्त्तव्य है कि सम्पादित कार्य से सम्बन्धित एक वार्षिक रिपोर्ट राष्ट्रपति अथवा राजप्रमुख अथवा राज्यपाल के सम्मुख उपस्थित करेंगे, जो इस प्रकार प्राप्त की गई रिपोर्ट को एक लेखपत्र के साथ सम्बन्धित व्यवस्थापिका सभाओं के सन्मुख उपस्थित करेंगे। इस सम्बन्ध में राष्ट्रपति अथवा राज्यपाल अथवा राजप्रमुख उन कारणों और परिस्थितियों का भी उल्लेख करेंगे, जिनके अन्तर्गत कमीशन की सम्मति स्वीकार नहीं की गई थी।

पन्द्रहवाँ अध्याय

विधान का संशोधन

"अचल विधान वह है जो केवल एक विशेष, अतिरिक्त एव व्यवस्थित कार्य प्रणाली द्वारा ही, जो साधारण कानून-निर्माण की कार्य प्रणाली से भिन्न हो, परिवर्तित एव सशोधित किया जा सके।"[1] —सर जॉन मेरियट

मेरियट के इस दृष्टिकोण से तो हमारा विधान अचल ही ठहरता है क्योंकि हमारे विधान में भी सशोधन करने के लिए व्यवस्थापन की सामान्य प्रणाली से भिन्न, एक विशेष, तथा व्यवस्थित प्रणाली प्रस्तावित की गई है। हमारा विधान अचल अवश्य है, परन्तु लचीलेपन का भार लिए हुए है। कुछ विषयों के सम्बन्ध में हमारे विधान निर्माताओं ने अचलता को इतनी दूर कर दिया है कि विधान एक दम लचीला प्रतीत होता है। यहाँ यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि कुछ वैधानिक विषय इस प्रकार के हैं जिन्हें ससद द्वारा उसी प्रकार परिवर्त्तित किया जा सकता है, जिस प्रकार कि वह सामान्य कानूनों को पास करती अथवा उन्हें सशोधित करती है ; उदाहरण स्वरूप एक राज्य की व्यवस्थापक परिषद् (Legislative Council) को जन्म प्रदान करना तथा उसे समाप्त करना। विधान के अनुसार इस प्रकार के परिवर्तन वैधानिक सशोधन नहीं कहलाते। चाहे यह परिवर्तन वैधानिक सशोधन कहलाएँ अथवा न कहलाएँ परन्तु यह इतना अवश्य सिद्ध करते हैं कि हमारा विधान अचल होते हुए भी कितना लचीला है।

संशोधन की विधि

हमारे विधान में प्रस्तावित सशोधन की प्रणाली हमारे विधान को दो भागों में विभाजित कर देती है—सामान्य और विशेष। यद्यपि इस प्रकार का विभाजन हमारे विधान में लिखित नहीं परन्तु फिर भी इस प्रकार का विभाजन लक्षित होता है। सामान्य वैधानिक विषय वे हैं कि यदि उनमें किसी प्रकार का सशोधन किया जाय तो

---

1 "A rigid constitution is one which can be altered and amended only by the employment of some special and extraordinary and prescribed machinery, distinct from the machinery of ordinary legisla-

यह आवश्यक नहीं कि राज्य की व्यवस्थापिका सभाएँ एक विशेष प्रणाली द्वारा उन्हें प्रमाणित करें यद्यपि इन्हें संशोधित करने में हमें एक असामान्य प्रणाली का आश्रय लेना पड़ता है। इसके विपरीत विशेष विषय वे हैं जिनमें संशोधन करने के लिए इस असामान्य प्रणाली के साथ-साथ राज्य की व्यवस्थापिका सभाओं का एक विशेष प्रणाली द्वारा प्रमाणित करना आवश्यक है। इस प्रकार प्रमाणित होने के पश्चात् ही उनका संशोधन वैध स्वीकृत किया जा सकता है। यह संशोधन की प्रणाली के निम्नलिखित व्यापक एवं विस्तृत विवेचन से भली भाँति स्पष्ट हो जाएगा।

(अ) सामान्य विषय सम्बन्धी

इस प्रकार का संशोधन संसद में एक प्रस्ताव के उपस्थित करने से हो सकता है। यह प्रस्ताव संसद के प्रत्येक भवन में उपस्थित सदस्यों के $\frac{2}{3}$ बहुमत द्वारा पास होना चाहिए। यह $\frac{2}{3}$ बहुमत उन भवनों के सदस्यों की कुल संख्या का भी बहुमत होना चाहिए।

(ब) विशेष विषय सम्बन्धी

कुछ विषय इस प्रकार के हैं जिनमें कोई वैधानिक संशोधन केवल निम्नलिखित ढंग से ही हो सकता है :

प्रस्तावित संशोधन संसद के प्रत्येक भवन के $\frac{2}{3}$ बहुमत से पास होना चाहिए, और उसके पश्चात् ये राज्य की व्यवस्थापिका सभाओं की कुल संख्या के अर्द्ध भाग द्वारा प्रमाणित होने चाहिए।

यह विषय निम्नलिखित हैं :—

राष्ट्रपति के निर्वाचन की विधि, संघ और राज्यों के शासन सम्बन्धी अधिकार क्षेत्रों की सीमा, संघ और राज्यों का व्यवस्थापक सम्बन्ध, संघीय और राज्य के न्यायालय, व्यवस्थापक अधिकारों की तालिकाएँ, संसद में राज्यों का प्रतिनिधित्व और विधान के अन्तर्गत प्रतिपादित वैधानिक संशोधन की प्रणाली।

आलोचनात्मक निरीक्षण

हमारे विधान में इन विशेष विषयों को स्थान प्रदान करने का तात्पर्य है विधान के संघीय स्वरूप को दृढ़ करना, क्योंकि यदि इन विषयों से सम्बन्धित संशोधन में राज्यों को कोई अधिकार प्रदान नहीं किया जाता तो कदाचित् यह सम्भव था कि राज्यों का अस्तित्व ही नष्ट हो जाता। उदाहरणस्वरूप, यदि शक्ति वितरण में संशोधन करने के अधिकार को केवल संसद को ही सौंप दिया जाता, तो इस बात की यथेष्ट सम्भावना थी कि किसी भी क्षण संसद राज्यों के समस्त अधिकारों का अपहरण कर लेती।

पन्द्रहवाँ अध्याय

विधान का संशोधन

"अचल विधान वह है जो केवल एक विशेष, अतिरिक्त एवं व्यवस्थित कार्य प्रणाली द्वारा ही, जो साधारण कानून-निर्माण की कार्य प्रणाली से भिन्न हो, परिवर्तित एव सशोधित किया जा सके।"[1] —सर जॉन मेरियट

मेरियट के इस दृष्टिकोण से तो हमारा विधान अचल ही ठहरता है क्योंकि हमारे विधान में भी सशोधन करने के लिए व्यवस्थापन की सामान्य प्रणाली से भिन्न, एक विशेष, तथा व्यवस्थित प्रणाली प्रस्तावित की गई है। हमारा विधान अचल अवश्य है, परन्तु लचोलेपन का भार लिए हुए है। कुछ विषयों के सम्बन्ध में हमारे विधान निर्माताओं ने अचलता को इतनी दूर कर दिया है कि विधान एक दम लचीला प्रतीत होता है। यहाँ यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि कुछ वैधानिक विषय इस प्रकार के हैं जिन्हें ससद द्वारा उसी प्रकार परिवर्तित किया जा सकता है, जिस प्रकार कि वह सामान्य कानूनों को पास करती अथवा उन्हें संशोधित करती है; उदाहरण स्वरूप एक राज्य की व्यवस्थापक परिषद् (Legislative Council) को जन्म प्रदान करना तथा उसे समाप्त करना। विधान के अनुसार इस प्रकार के परिवर्त्तन वैधानिक सशोधन नहीं कहलाते। चाहे यह परिवर्त्तन वैधानिक संशोधन कहलाएँ अथवा न कहलाएँ परन्तु यह इतना अवश्य सिद्ध करते हैं कि हमारा विधान अचल होते हुए भी कितना लचीला है।

संशोधन की विधि

हमारे विधान में प्रस्तावित संशोधन की प्रणाली हमारे विधान को दो भागों में विभाजित कर देती है—सामान्य और विशेष। यद्यपि इस प्रकार का विभाजन हमारे विधान मे लिखित नहीं परन्तु फिर भी इस प्रकार का विभाजन लक्षित होता है। सामान्य वैधानिक विषय वे हैं कि यदि उनमें किसी प्रकार का सशोधन किया जाय तो

1. "A rigid constitution is one which can be altered and amended only by the employment of some special and extraordinary and prescribed machinery, distinct from the machinery of ordinary legislation" —Sir John Marriot

सोलहवाँ अध्याय

सन् १६५१ का विधान (प्रथम संशोधन) एक्ट

"भारतवर्ष मे अनेक वस्तुओं को ईश्वर-रूप प्रदान करने और इस प्रकार अपने असंख्य देवी-देवताओं की सख्या में वृद्धि करने का हम लोगों को एक अजीब सा अभ्यास पड गया है, तथा सैद्धान्तिक रूप में उनकी पूजा-अर्चना कर वास्तविक रूप में हम ऐसा कार्य करते हैं कि उनके जीवन का अन्त ही हो जाता है। इस हेतु यदि हम इस विधान की हत्या करने के ही इच्छुक है, तो पहले हमें इसका निर्माण करने दिया जाए—पवित्र और पावन निर्माण . , यदि कोई विधान जीवित रहना चाहता है तो वह ग्राह्य, लचीला एवं परिवर्तन योग्य होना चाहिए।"[1]

—*मिस्टर जवाहरलाल नेहरू.*

इन शब्दो के साथ २६ मई सन् १६५१ को हमारे प्रधान मन्त्री ने हमारे विधान में किए जाने वाले प्रथम संशोधन के प्रस्ताव को उपस्थित किया। विधान (प्रथम संशोधन) एक्ट द्वारा, जिसे १८ जून सन् १६५१ को राष्ट्रपति ने स्वीकृत किया था, विधान की कुछ महत्त्वपूर्ण धाराओं में परिवर्तन किया गया। इस संशोधन एक्ट द्वारा जो मुख्य परिवर्तन किए गए उनका वर्णन संक्षेप में निम्न प्रकार से किया जा सकता है:

प्रथम, इस संशोधन एक्ट का प्रभाव हमारे विधान की धारा १६ पर पड़ा है जिसका सम्बन्ध जनता के 'स्वातन्त्र्य-अधिकार' से है। धारा १६ की उपधारा '१' की उपधारा 'अ' द्वारा समस्त नागरिकों को भाषण और भाव-प्रकाशन का अधिकार

---

1 "In India, we have a strange habit of making Gods of various things and adding to our innumerable pantheon and having given them our theoritical worship, doing exactly the reverse. So, if we wish to kill this constitution, let us make it, sacred and sacrosanct ...., a constitution, if it is to live must be adaptable, flexible and changeable"
—Mr. Jawahar Lal Nehru.

इसके अतिरिक्त यह भी स्मरण रखने योग्य है कि जिस प्रकार कनाडा और आस्ट्रेलिया के विधानों के अन्तर्गत इकाइयों को अपने विधानों को सशोधिन करने का अधिकार प्रदान कर दिया गया है, उस प्रकार से भारतीय विधान में अपनी इकाइयों को अपने विधान में संशोधन करने की आज्ञा प्रदान नहीं की गई है। हमारे संघ का ताना-बाना यथेष्ट रूप से गठित है, इसमें से कोई इकाई पृथक नहीं हो सकती।

विधान में सशोधन करने के विषय की विधान सभा के कुछ सदस्यों ने बडी कटु आलोचना की थी। आलोचकों ने सशोधन की प्रणाली को कठिन, दुरूह एव पक्षपात पूर्ण वतलाया। इस मत की पुष्टि में उन्होंने यह तर्क उपस्थित किया कि यदि एक सीमित मताधिकार के आधार पर निर्वाचित विधान सभा विधान प्रस्तुत कर सकती है तो भविष्य मे बनने वाली ससद को जिसका निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर होगा, विधान में संशोधन करने का अधिकार क्यों न प्रदान किया जाए? डाक्टर अम्बेदकर ने इस मत का विरोध इस आधार पर किया कि ससद में सदा एक न एक दल का प्रभुत्व रहता है और वह दल अपने स्वार्थ की पूर्ति में रहता है, परन्तु विधान सभा इस प्रकार के दोषों से सर्वथा रहित है। इस स्थान पर डाक्टर अम्बेदकर के शब्दों को उद्धृत करना अनुचित न होगा·

"यही इस वात को स्पष्ट कर देता है कि सीमित मताधिकार के आधार पर निर्वाचित विधान सभा साधारण बहुमत से विधान प्रस्तुत कर सकती है और उस पर क्यों विश्वास किया जा सकता है, और वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित ससद पर इतना भी विश्वास क्यों नहीं किया जाता कि उसे उन्हीं साधनों द्वारा उसमें सशोधन करने का अधिकार प्रदान किया जा सके।"

सोलहवाँ अध्याय

सन् १९५१ का विधान (प्रथम संशोधन) एक्ट

"भारतवर्ष मे अनेक वस्तुओ को ईश्वर-रूप प्रदान करने और इस प्रकार अपने असख्य देवी-देवताओं की सख्या में वृद्धि करने का हम लोगो को एक अजीब सा अभ्यास पड गया है, तथा सैद्धान्तिक रूप मे उनकी पूजा-अर्चना कर वास्तविक रूप में हम ऐसा कार्य करते हैं कि उनके जीवन का अन्त ही हो जाता है। इस हेतु यदि हम इस विधान की हत्या करने के ही इच्छुक हैं, तो पहले हमें इसका निर्माण करने दिया जाए—पवित्र और पावन निर्माण . . . , यदि कोई विधान जीवित रहना चाहता है तो वह ग्राह्य, लचीला एवं परिवर्तन योग्य होना चाहिए।"[1]

—*मिस्टर जवाहरलाल नेहरू.*

इन शब्दो के साथ २९ मई सन् १९५१ को हमारे प्रधान मन्त्री ने हमारे विधान में किए जाने वाले प्रथम सशोधन के प्रस्ताव को उपस्थित किया। विधान (प्रथम सशोधन) एक्ट द्वारा, जिसे १८ जून सन् १९५१ को राष्ट्रपति ने स्वीकृत किया था, विधान की कुछ महत्त्वपूर्ण धाराओं में परिवर्तन किया गया। इस संशोधन एक्ट द्वारा जो मुख्य परिवर्तन किए गए उनका वर्णन संक्षेप में निम्न प्रकार से किया जा सकता है:

प्रथम, इस संशोधन एक्ट का प्रभाव हमारे विधान की धारा १९ पर पड़ा है जिसका सम्बन्ध जनता के 'स्वातन्त्र्य-अधिकार' से है। धारा १९ की उपधारा '१' की उपधारा 'अ' द्वारा समस्त नागरिकों को भाषण और भाव-प्रकाशन का अधिकार

---

1. "In India, we have a strange habit of making Gods of various things and adding to our innumerable pantheon and having given them our theoritical worship, doing exactly the reverse. So, if we wish to kill this constitution, let us make it, sacred and sacrosanct ...., a constitution, if it is to live must be adaptable, flexible and changeable." —Mr. Jawahar Lal Nehru.

प्रदान किया गया है। हमारे विधान की धारा १६ की-उपधारा '२' द्वारा इस अधिकार पर एक प्रतिबन्ध भी लगा दिया गया था कि मौखिक अथवा लिखित रूप में अप्रसिद्धि, न्यायालय का अनादर, नैतिकता से सम्बन्धित विषय, राज्य के विरुद्ध षड्यन्त्र रचने आदि के सम्बन्ध में जो कानून इस अधिकार को प्रदान किए जाने से पूर्व प्रचलित थे वे कानून अब भी लागू रहेंगे। इस अधिकार के प्रयोग के सम्बन्ध में कुछ प्रतिबन्ध लागू करने के लिए राज्य को यह अधिकार था कि कुछ नवीन कानूनों का निर्माण करे। इस प्रकार के प्रतिबन्धों के औचित्य एव अनौचित्य के सम्बन्ध में इससे पूर्व हमारे विधान मे किसी बात का वर्णन नहीं था। यदि इस अधिकार के प्रयोग द्वारा विदेशी राज्यों के प्रति मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध अथवा जन सुरक्षा पर आघात पहुँचने की सम्भावना हो अथवा किसी अपराध के घटित होने की सम्भावना हो तो इस अधिकार के प्रयोग पर राज्य कुछ प्रतिबन्ध लगा सकेगा या नही, इस सम्बन्ध मे भी विधान मौन था। इस संशोधन एक्ट द्वारा इन्हीं-रिक्त स्थानों की पूर्ति की गई है। अब राज्य इस अधिकार के प्रयोग के सम्बन्ध में उचित प्रतिबन्ध लागू कर सकता है। 'उचित' शब्द उस समिति द्वारा रखा गया गया था जिसके पास यह सशोधन प्रस्ताव विचारार्थ भेजा गया था। इस 'उचित' शब्द द्वारा ही इन प्रतिबन्धों का औचित्य एव अनौचित्य न्यायालय द्वारा निश्चित किया जा सकता है। इस प्रकार भाषण और भाव-प्रकाशन के इस अधिकार के सम्बन्ध मे प्रतिबन्ध लगाने में कार्यकारिणी अब निरकुशता से काम नहीं ले सकेगी। विदेशी राज्यों के मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध, जन सुरक्षा आदि के हितार्थ ही सरकार इस अधिकार के प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगा सकती है।

द्वितीय, इस संशोधन एक्ट का सम्बन्ध धारा १६ की उपधारा 'ग' से है जिसका सम्बन्ध कोई भी व्यापार, व्यवसाय करने अथवा जीविकोपार्जन के अधिकार की स्वतत्रता से है। इससे पूर्व वे ही कानून लागू थे जिनके द्वारा इस अधिकार के प्रयोग के सम्बन्ध में उचित प्रतिबन्ध लगाए जात थे। यह प्रतिबन्ध किसी विशेष व्यवसाय के सम्बन्ध में विशेष योग्यताएँ निर्धारित करने के रूप में भी हो सकते थे। 'उचित' शब्द से यह स्पष्ट है कि इन प्रतिबन्धों के औचित्य एव अनौचित्य का निर्णय किसी न्यायालय द्वारा किया जा सकता था। परन्तु इस सशोधन एक्ट द्वारा इन प्रतिबन्धों के सम्बन्ध मे 'उचित' शब्द का लोप कर दिया गया है। इस सम्बन्ध में देश के न्यायालयों को कोई अधिकार नही होगा। इस संशोधन एक्ट द्वारा राज्य को यह अधिकार भी प्रदान किया गया है कि वह नागरिकों के साथ से अथवा स्वतत्र रूप से कोई भी व्यापार अथवा व्यवसाय कर सकता है। इस सम्बन्ध में बनाए गए कानूनों पर भी न्यायालयों का कोई अधिकार नहीं होगा अर्थात् इस अधिकार के प्रयोग पर लगाए गए प्रतिबन्धों के औचित्य के सम्बन्ध में भारतवर्ष का कोई नागरिक प्रश्न नहीं कर सकेगा। इस सशोधन एक्ट की इस धारा द्वारा व्यवसाय और व्यापारों पर से वैयक्तिक सत्ता नष्ट करने और राष्ट्रीयकरण के द्वार खोलने का प्रयास किया गया।

इस प्रकार हमारे विधान में राज्य के समाजवाद के विकास के लिए भी एक अंग सुरक्षित हो गया।

तृतीय, प्रथम संशोधन एक्ट द्वारा विधान की धारा ३१ में भी कुछ परिवर्तन किया गया है जिस का सम्बन्ध सम्पत्ति के अधिकार से है। ३१ (अ) और ३१ (ब) यह दो धाराएँ और जोड़ दी गई हैं। राज्य द्वारा किसी सम्पत्ति को ग्रहण करने से सम्बन्धित कानून धारा ३१ (अ) के अन्तर्गत सुरक्षित माने गए हैं। किसी सम्पत्ति अथवा किसी अधिकार को ग्रहण करने अथवा इन अधिकारों को समाप्त करने अथवा संशोधित करने के सम्बन्ध में राज्य कानूनों का निर्माण कर सकेगा। उन्हें इसी आधार पर अनुचित नहीं माना जाएगा कि हमारे विधान की धारा ३१ की उपधारा २ द्वारा जनता को प्रदान किए गए सम्पत्ति के अधिकारों के यह विरुद्ध हैं।

इस धारा के अन्तर्गत यह प्रस्तावित किया गया है कि सम्पत्ति के ग्रहण करने के सम्बन्ध में यदि कोई कानून किसी राज्य की व्यवस्थापिका सभा द्वारा निर्मित है तो यह धारा वहाँ उसी समय लागू होगी जब वह कानून राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित रखा गया हो और उस पर राष्ट्रपति की स्वीकृति प्रदान की जा चुकी हो। इस प्रकार सम्पत्ति के अधिकार के आवरण में ज़मींदारी और जागीरदारी जैसी अमानुषिक प्रथाओं को सुरक्षित नहीं रखा जा सकेगा। एक्ट की नवीं नामावली के अन्तर्गत प्रस्तावित भूमि और उसके सुधारों की समस्या से सम्बन्धित कुछ कानूनों और नियमों को धारा ३१ (ब) द्वारा उचित एवं कानूनी घोषित किया गया है। धारा ३१ (ब) द्वारा उन कानूनों को भी उचित घोषित किया गया है जिन्हें न्यायालय द्वारा अनुचित घोषित किया गया हो। नवीं नामावली के अन्तर्गत प्रस्तावित यह एक्ट अनुक्रमणिका में दे दिए गए हैं। इस प्रकार धारा ३१ (ब) के द्वारा सन् १९५० के बिहार भूमि सुधार एक्ट, सन् १९५० के उत्तरप्रदेश ज़मींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार एक्ट, इत्यादि को कानूनी घोषित किया गया है। सारांश यह कि हमारे समाज की इन प्राचीन प्रथाओं को कानूनी सिद्धान्त और अयुक्तिपूर्ण तर्क-वितर्क द्वारा सुरक्षित नहीं रखा जा सकता।

चतुर्थ, इस संशोधन एक्ट द्वारा विधान की धारा ८५ मे एक गौण परिवर्त्तन किया गया है जिसका सम्बन्ध व्यवस्थापिका सभा के आमन्त्रित करने तथा स्थगित करने और लोक सभा के विसर्जित करने से है। इससे पूर्व यह निश्चित किया गया था कि प्रत्येक वर्ष में संसद के कम से कम दो अधिवेशन हुआ करेंगे और एक अधिवेशन की अंतिम बैठक तथा द्वितीय अधिवेशन की प्रथम बैठक के मध्य का समय ६ मास से अधिक न होगा। परन्तु संशोधन एक्ट में संसद के दो अधिवेशनों की धारा को त्याग कर ६ मास की धारा को स्थायी रखा गया है। यदि एक अधिवेशन ही अधिक समय ले ले तो यह सम्भव है कि वर्ष में एक ही अधिवेशन हो। एक अधि-

वेशन की अंतिम बैठक और द्वितीय अधिवेशन की प्रथम बैठक के मध्य का समय ६ मास से अधिक अब भी नहीं होगा।

पंचम, संशोधन एक्ट द्वारा विधान की धारा ८७ और १७६ में भी कुछ परिवर्तन किए गए हैं जिनका सम्बन्ध क्रमश. संसद में राष्ट्रपति और राज्य की व्यवस्थापिका सभाओं मे राज्यपालों द्वारा दिए जाने वाले भाषण से है। इससे पूर्व यह व्यवस्था थी कि राष्ट्रपति अथवा राज्यपाल को प्रत्येक अधिवेशन के आरम्भ में व्यवस्थापिका सभा मे भाषण देना पड़ता था। परन्तु अब यह प्रतिपादित कर दिया गया है कि राष्ट्रपति केवल लोक सभा के सामान्य निर्वाचन के पश्चात होने वाले प्रथम अधिवेशन और प्रत्येक वर्ष के प्रारम्भिक अधिवेशन में ही भाषण दिया करेगा। इसी प्रकार राज्यपाल केवल व्यवस्थापक समिति के सामान्य निर्वाचन के पश्चात् होने वाले प्रथम अधिवेशन और प्रत्येक वर्ष के प्रारम्भिक अधिवेशन में भाषण दिया करेगा। इससे पूर्व यह व्यवस्था थी कि भाषण में संकेत किए गए कुछ विषयों के सम्बन्ध में संसद अथवा व्यवस्थापिका सभा को अन्य विषयों से पूर्व वाद-विवाद करना पड़ता था। परन्तु इस संशोधन एक्ट के अन्तर्गत इस व्यवस्था को समाप्त कर दिया गया।

षष्ठ, धारा ३४१ और धारा ३४२ में भी कुछ गौण परिवर्तन किए गए हैं। इस सम्बन्ध में केवल शब्दावली में ही अन्तर किया गया है, उसके अर्थ में नहीं। और इस प्रकार एक वैधानिक आलोचक की दृष्टि से उनका कोई व्यावहारिक महत्त्व नहीं है, अतएव यहाँ उनका वर्णन नहीं किया गया है।

सप्तम, इस संशोधन एक्ट द्वारा धारा ३७२ में भी कुछ गौण परिवर्तन किए गए हैं जिसका सम्बन्ध प्रचलित कानूनों के लागू रहने से है। इससे पूर्व राष्ट्रपति को विधान द्वारा यह अधिकार सौंपा गया था कि इस विधान के लागू होने के दो वर्ष के समय में वह किसी कानून के सम्बन्ध में परिवर्तन कर सकता था परन्तु अब यह अवधि बढ़ा कर तीन वर्ष कर दी गई है।

अन्तिम, इस संशोधन एक्ट द्वारा धारा ३७६ में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन किया गया है जिसका सम्बन्ध हाई कोर्ट के न्यायाधीशों से है। धारा के अन्तर्गत यह प्रतिपादित किया गया था कि किसी प्रान्त की हाई कोर्ट के न्यायाधीश जो इस विधान के लागू होने से पूर्व तक अपने पद पर आसीन थे, अब राज्य की हाई कोर्ट के न्यायाधीश रहेंगे यदि उनकी इच्छा इसके विपरीत न हो। इस धारा में उन न्यायाधीशों के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा गया था जो भारतवर्ष के नागरिक न थे। संशोधन एक्ट के अन्तर्गत यह प्रतिपादित किया गया है कि

"इस प्रकार का कोई न्यायाधीश, इस बात का ध्यान न रखते हुए कि वह भारतवर्ष का नागरिक नहीं है, इस प्रकार की हाई कोर्ट का प्रधान न्यायाधीश अथवा

किसी अन्य हाई कोर्ट का प्रधान न्यायाधीश अथवा न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किए जाने योग्य होगा।"

इस प्रकार इस धारा के अनुसार वर्तमान भारतवर्ष के चार अभारतीय न्यायाधीश भी अपने भविष्य के बारे मे आशावादी हो सकते हैं, और भारतवर्ष के समस्त न्यायाधीश अपनी उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो सकते हैं।

उपसंहार

संक्षेप में सन् १६५१ के विधान (प्रथम संशोधन) एक्ट का सार यही है। उपर्युक्त वर्णन पर सामान्य सी दृष्टि डालने से हमारे विधान के ज्ञाता यह भली भाँति समझ सकते है कि इस प्रथम संशोधन एक्ट द्वारा हमारे विधान में महत्वपूर्ण सुधार हुए हैं। इसके साथ यह दृढ सम्भावना और शंकाएँ भी नष्ट हो जाती हैं कि यह विधान पूँजीपतियों को आश्रय देने वाला होगा। इसके शुभ पदार्पण के साथ ही हमारे देश की जागीरदारी और ज़मींदारी प्रथाएं भी विलीन हो गई। इन सबके अतिरिक्त संशोधन एक्ट समाजवाद के एक नवीन युग का—व्यवसायों के राष्ट्रीयकरण और पूँजीवाद के अन्त का श्रीगणेश करता है। पूँजीपति और उनके अमानुषिक शस्त्रों की रक्षा अब कोई न्यायालय भी नहीं कर सकेगा। परन्तु यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि इस संशोधन एक्ट के साथ-साथ ही भाषण और भाव प्रकाशन के अधिकार के अत्यन्त न्यून होने का भय भी है, विशेष रूप से हमारे देश की विदेशी नीति के सम्बन्ध में। विधान (प्रथम संशोधन) एक्ट के लाभ अधिक है अथवा हानियाँ"....."यह तो भविष्य ही बतला सकेगा।

अनुक्रमणिका १

सन् १९५२ के प्रतिबन्धक अवरोध (द्वितीय संशोधन) एक्ट की धाराएँ

(१) यह एक्ट ३१ दिसम्बर, सन् १९५४ तक लागू रहेगा। नवम्बर सन् १९५३ में विभिन्न राज्यों की सरकारों की सम्मति प्राप्त कर इसका पुनर्निरीक्षण किया जाएगा।

(२) प्रत्येक प्रकार के विषय में अवरोध का अधिक से अधिक समय अवरोध के दिनांक से बारह मास होगा।

(३) बिना किसी भेद भाव के प्रत्येक विषय अवरोध के दिनांक से ३० दिन के समय में एक परामर्शदात्री संस्था (प्रथम सशोधन १९५१) के सन्मुख उपस्थित किया जाएगा। यह संस्था निश्चित दिनाक से दस सप्ताह के समय में अपनी रिपोर्ट उपस्थित करेगी।

(४) अवरोध का आदेश प्रदान कर ज़िलाधीश उस आदेश को तुरन्त ही राज्य की सरकार के पास भेज देगा और उस विषय से सम्बन्धित अन्य महत्वपूर्ण सूचनाएँ भी उसे उपस्थित करनी होंगी। राज्य की सरकार उसे अधिक से अधिक बारह दिन के समय में स्वीकृत कर सकती है।

(५) अवरोध का कारण तथा ऐसी अन्य बातें जिनकी सहायता से उसे अपने बचाव में सरलता हो, व्यक्ति को शीघ्रातिशीघ्र (अवरोध के दिनाक से चौदह दिन के समय में) बतला दी जाएँगी। उसे इस प्रकार की कोई सूचना नहीं दी जाएगी जिससे जनहित अथवा जनसुरक्षा के स्थायी रखने में बाधा पहुँचे।

(६) अवरोध के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं .
(अ) राज्य-सुरक्षा, (ब) जन सुरक्षा और शान्ति, (स) आवश्यक सामग्री, (द) विदेशी सम्बन्ध।

(७) विषय के उपस्थित किए जाने के समय उस व्यक्ति को यह अधिकार नहीं होगा कि अपने पक्ष की ओर से वह किसी धर्मज्ञ को नियुक्त करले। उसे अपने विषय की अपील का अधिकार होगा। अपील उसकी इच्छानुसार नियुक्त किए गए

धर्मज्ञ द्वारा तैयार हो सकती है। (इस अधिकार का निश्चय भी विभिन्न राज्यों की सरकारों की सम्मति द्वारा निश्चित किया जायगा)।

(८) संस्था किसी अन्य सरकार अथवा उस व्यक्ति से भी कुछ अन्य सूचना प्राप्त कर सकती है। यह सूचना ज़िलाधीश की सूचना के अतिरिक्त होनी चाहिए। किसी अन्य व्यक्ति द्वारा भी यह सूचना प्राप्त की जा सकती है।

(९) अवरोध का नया आदेश उसी समय प्रस्तावित किया जा सकता है जब प्रथम अवरोध के आदेश की अवधि के समाप्त होने के पश्चात् कुछ नवीन घटनाएं उपस्थित होने लगी हो।

(१०) परामर्शदात्री संस्था की कार्य प्रणाली भारतवर्ष में समान होगी, और इस प्रकार की प्रणाली का निश्चय संसद अपने कानून द्वारा करेगी।

अनुक्रमणिका २

भारतीय विधान की चतुर्थ नामावली और सन् १६५० के जन प्रतिनिधात्मक एक्ट (अथवा सन् १६५० का XLIII एक्ट) की तीन नामावलियों से संकलित संघ की संसद और विभिन्न राज्यों की व्यवस्थापिका सभाओं की अनुमानित जन-संख्या और स्थान वितरण ।

राज्य का नाम	१ मार्च सन् १६५० को अनुमानित जनसंख्या	संसद		राज्यों की व्यवस्थापिका सभाएँ	
		राज्य परिषद्	जन परिषद्	व्यवस्थापका समिति	व्यवस्थापक परिषद्
भाग 'अ' के राज्य					
१. आसाम	८,५१०,०००	६	१२	१०८	
२. बिहार	३६,४२०,०००	२१	५५	३३०	७२
३ बम्बई	३२,६८०,०००	१७	४५	३१५	७२
४ मध्यप्रदेश	२०,६२०,०००	१२	२६	२३२	•
५. मदरास	५४,२६०,०००	२७	७५	३७५	७२
६ उड़ीसा	१४,४१०,०००	६	२०	१४०	••
७ पजाब	१२,६१०,०००	८	१८	१२६	४०
८ उत्तर प्रदेश	६१,६२०,०००	३१	८६	४३०	७२
६. पश्चिमी बगाल	२४,३२०,०००	१४	३४	२२८	५१
जोड	२६८,७८०,०००	१४५	३७४	२,२६४	३७६
भाग 'ब' के राज्य					
१ हैदराबाद	१७,६६०,०००	११	२५	१७५	
२ जम्मू और काश्मीर	४,३७०,०००	४	६		
३. मध्य भारत	७,८७०,१००	६	११	६६	•
४ मैसूर	८,०६०,०००	६	११	६६	४०
५. पेप्सू	३,३२०,०००	३	५	६०	•
६ राजस्थान	१४,६६०,०००	६	२०	१६०	••
७ सौराष्ट्र	३,६६०,०००	४	६	६०	
८. ट्रावनकोर कोचीन	८,५८०,०००	६	१२	१०८	•••
जोड	६८,५४०,०००	४६	६६	७६१	४०

राज्य का नाम	१ मार्च सन् १६५० को अनुमानित जन-संख्या	संसद		राज्यों की व्यवस्थापिका सभाएँ	
		राज्य परिषद्	जन परिषद्	व्यवस्थापक समिति	व्यवस्थापिक परिषद्
भाग 'स' के राज्य					
१. अजमेर	७३०,०००	१	२	३०	
२. कुर्ग	१७०,०००		१	२८	
३. भूपाल	८५०,०००	१	२	३०	
४ विलासपुर	१२०,०००	१	१	५	
५. हिमाचल प्रदेश	१,०८०,०००		३	३७	
६ देहली	१,५१०,०००	१	४	४०	
७. कूच	५५०,०००	१	२	..	
८. मनीपुर	५४०,०००	१	२	...	
६. त्रिपुरा	५८०,०००		२	...	
१०. विंध्य प्रदेश	३,८८०,०००	४	६	६०	
११. अण्डमान और निकोबार द्वीप-समूह	.. . .		१		
जोड	१०,०२०,०००	१०	२६	२३०	
कुल जोड	३४७,३४०,०००	२०४	४२६	३,२८५	४१६

अनुक्रमणिका ३

नवीं नामावली

(धारा ३१ ख)

(प्रथम संशोधन एक्ट के अनुसार)

1 The Bihar Land Reforms Act, 1950 (Bihar Act XXX of 1950).

2. The Bombay Tenancy and Agricultural Lands Act, 1948 (Bombay Act LXVII of 1948).

3 The Bombay Maleki Tenure Abolition Act, 1949 (Bombay Act LXI of 1949)

4 The Bombay Taluqdari Tenure Abolition Act, 1949 (Bombay Act LXII of 1949)

5 The Panch Mahals Mehwassi Tenure Abolition Act, 1949 (Bombay Act LXIII of 1949)

6. The Bombay Khoti Abolition Act, 1950 (Bombay Act VI of 1950)

7. The Bombay Paragana & Kulkarni Watan Abolition Act, 1950 (Bombay Act LX of 1950).

8 The Madhya Pradesh Abolition of Proprietary Rights (Estates, Mahals, Alienated Lands) Act, 1950 (Madhya Pradesh Act 1 of 1951).

9 The Madras Estates (Abolition and Conversion into Ryotwari) Act, 1948 (Madras Act XXVI of 1948).

10 The Madras Estates (Abolition and Conversion into Ryotwari) Amendment Act, 1950 (Madras Act 1 of 1950)

11. The Uttar Pradesh Zamindari Abolition and Land Reforms Act, 1950 (Uttar Pradesh Act 1 of 1951).

12 The Hyderabad (Abolition of Jagirs) Regulation, 1358 F (No LXIX of 1358 Fasli)

13 The Hyderabad Jagirs (Commutation) Regulation, 1359 F. (No. XXV of 1359, Fasli).

पंचम खण्ड

देशी राज्य

(सन् १९३५ के एक्ट के अन्तर्गत और उसके पश्चात

प्रार्थना करने पर ही इस प्रकार की सकट कालीन अवस्था की

१६ अगस्त सन् १६५२ को काश्मीर की विधान स

समझौते को एक स्वर से स्वीकृत कर दिया। उपर्युक्त धाराएँ इ

विधान सभा द्वारा केवल इसी संशोधन के लिए स्थान खोजना

वह "उस भावना की अकथ प्रशसा के चिन्ह अंकित कर सर्व

विषयों पर विचार विमर्ष हुआ और जिसके द्वारा स्वीकृत वि

भारतवर्ष और काश्मीर को एक करने वाली इस स्वर्ण शृङ्खल

स्वरूप को निखारते हुए आय मंत्री मिस्टर अफज़लबेग ने कहा

"भाग 'ब' के भारतीय सघ के राज्यों के समान स्वर

ग्रहण नहीं करेगा। जो कुछ हमें प्रदान किया गया है वह स

तक कि हमारी विधान सभा उसमें कुछ परिवर्त्तन न करदे

परिवर्त्तित करने के सम्बन्ध में हम सहमत हो जाएँ तो जनता के

होगा।"[१]

राज्यों में प्रजातन्त्र की बेला

निरंकुश रूप से शासित देशी राज्यों को भारतीय विध

व्यवस्था के योग्य बनाना भी एक समस्या थी। "राज्यों के लि

निर्मित करने के लिए" विधान सभा ने राव समिति की स्थापना

निम्नलिखित सुझाव उपस्थित किए :—

(अ) राज्यों को प्रान्त के समान की स्थिति प्रदान की जा

(ब) इसलिए परिणामस्वरूप, देशी राज्य संघीय और

सम्बन्धित समस्त विषयों के सम्बन्ध में संघ में प्रवेश करें।

(स) शासक राज्य का अध्यक्ष होगा "वह अपनी सत्ता